के.पी.एस.मेनन
मलाबार से मास्को तक
एक आत्म

To
DR. BHUSHANLAL KAUL,
SRINAGAR, KASHMIR.

GHOLAM MOHIUDDIN,
DACCA, BANGLADESH.

G. Mohiuddin
25/8/73
SRINAGAR

समाचार
से
मारको
तक

के. पी. एस. मेनन

मलाबार

से मास्को
तक

अनु: नूरनबी अब्बासी

This translation of MANY WORLDS by K. P. S. Menon is published by arrangement with the Oxford University Press.

○

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा तथा युवक सेवा मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशकों के सहयोग से कार्यान्वित योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

अनुवादक : नूरनबी अब्बासी
पुनरीक्षक : महेन्द्र चतुर्वेदी

2203, गली डकौतान, तुर्कमान गेट,
दिल्ली–6

प्रथम संस्करण : मई, 1970

मूल्य : बारह रुपये

मुद्रक : नवयुगान्तर प्रेस, शारदा रोड, मेरठ ।

आवरण : तूलिकी

आवरण मुद्रक : परमहंस प्रेस, दरियागंज, दिल्ली

दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए शिक्षा तथा युवक सेवा मंत्रालय के तत्त्वावधान में पुस्तकों के प्रकाशन की विभिन्न योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। हिन्दी में अभी तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है। इसलिए ऐसे साहित्य के प्रकाशन को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह तो आवश्यक ही है कि ऐसी पुस्तकें उच्च कोटि की हों, किन्तु यह भी जरूरी है कि वे बहुत महंगी न हों ताकि सामान्य हिन्दी पाठक उन्हें खरीद कर पढ़ सकें। इन उद्देश्यों को सामने रखते हुए जो योजनाएँ बनाई गई हैं उनमें से एक योजना प्रकाशकों के सहयोग से पुस्तकें प्रकाशित करने की भी है। इस योजना के अधीन भारत सरकार प्रकाशित पुस्तकों की प्रतियां निश्चित संख्या में खरीद कर प्रकाशकों को मदद पहुँचाती है।

प्रस्तुत हिन्दी संस्करण के मूल लेखक श्री के० पी० एस० मेनन का भारतीय सिविल-सेवा के इतिहास में अप्रतिम स्थान है। "ब्रिटिश शासन की फ़ौलादी काठी" के अंग होते हुए भी उनका हृदय राष्ट्रीय भावना से सदा ओत-प्रोत रहा। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत सरकार में उनकी सेवाओं का महत्त्व ज़रा भी कम नहीं हुआ, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। प्रस्तुत पुस्तक श्री मेनन के 40 वर्षीय कार्यकाल का बड़ा आकर्षक चित्रण प्रस्तुत करती है।

सेन-फ्रांसिस्को सम्मेलन, संयुक्त-राष्ट्र कोरिया आयोग तथा विदेश मंत्रालय के सदस्य और राजनयिक के रूप में उनका योगदान अविस्मरणीय रहेगा।

मुझे विश्वास है कि प्रकाशकों के सहयोग से प्रकाशित साहित्य हिन्दी को समृद्ध बनाने में सहायक होगा और इस व्यवस्था के फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित अधिकाधिक पुस्तकें हिन्दी के पाठकों को उपलब्ध हो सकेंगी।

कृष्ण दयाल भार्गव

निदेशक

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय

अनुवादकीय

प्रस्तुत आत्मकथा के लेखक श्री कुमार पद्म शिवशंकर मेनन वैसे तो भारतीय सिविल-सेवा के अग्रगण्य अधिकारियों में रहे हैं और अपने सेवा-काल में देश तथा विदेश में एक प्रशासन अधिकारी तथा राजनयिक के रूप में विश्व ख्याति प्राप्त कर चुके हैं, किन्तु मेरा उनसे परिचय सबसे पहले उस समय हुआ जब 1962 में उनके पटेल स्मारक व्याख्यान आकाशवाणी से प्रसारित हुए। उन्हीं व्याख्यानों ने मुझे श्री मेनन की सर्वतोमुखी प्रतिभा से अवगत कराया और मैंने अनुभव किया कि वे न केवल एक सफल व्याख्यानदाता हैं, इतिहास और राजनीतिशास्त्र के प्रकांड विद्वान हैं बल्कि इन सबसे बढ़कर यह कि उनमें बड़ी प्रबल विनोद-वृत्ति भी है जो सर्वत्र सुलभ नहीं। उसीका यह प्रभाव हुआ कि उनकी जब और जो भी रचना या लेख किसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ मैं उसे पढ़ने और उससे आनंदित होने का लोभ संवरण न कर सका। उनकी पुस्तक **द लैंप एण्ड लैंपस्टैंड** पढ़कर मैं उनकी महत्ता से अभिभूत हो गया और जब 1968 में उनकी आत्मकथा **मेनी वर्ल्ड्स** मेरे हाथ लगी तो उसने अब तक की कमी पूरी कर दी। यहाँ तक कि अब तक जिस व्यक्ति को पढ़-सुनकर उसके प्रति आदर और श्रद्धा के भाव जगे थे, अब उससे संपर्क स्थापित करने और भेंट करने की इच्छा बलवती हो उठी। और उसी इच्छा का सुखद परिणाम—उनकी आत्मकथा का यह हिन्दी अनुवाद—आपके हाथों में हैं।

वैसे तो अनुवाद-कार्य को हमारे यहाँ कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता और विशेषकर सृजनात्मक साहित्य की तुलना में तो उसका मूल्य और भी नगण्य हो जाता है, लेकिन श्री मेनन के प्रति श्रद्धा और उनके आदर्श, वैविध्यपूर्ण और अनुकरणीय जीवन को हिन्दी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने की प्रबल इच्छा ने मुझे यह कार्य करने के लिए प्रेरित किया और मैंने यह अनुभव किया कि जितना परिश्रम लेखक ने इसे लिखने में किया होगा, यदि इसे मेरी अविनम्रता न समझा जाए, तो कहना चाहिए कि शायद उतना ही मुझे करना पड़ा है। किन्तु इसका सबसे बड़ा सुख और पारिश्रमिक मेरे लिए यही है कि यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है और मेरी यह कल्पना कि हिन्दी जगत श्री मेनन के जीवन और उनके कारनामों से परिचित हो, साकार हो रही है। यही मेरे लिए सबसे बड़ा संतोष है।

अपने इस काम के दौरान श्री मेनन ने अपनी व्यस्तता के बावजूद जिस स्नेह और आत्मीयता से मेरी सहायता की और मेरी शंकाओं का समाधान किया,

उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। साथ ही कवितांशों के हिन्दी अनुवाद में मेरे मित्र डॉ० मस्तराम कपूर ने और दक्षिण भारतीय नामों के शुद्ध नागरीकरण में कुमारी कोमल वल्लि ने जो सहायता मुझे दी उसके लिए मैं उन दोनों का कृतज्ञ हूँ। शब्दकार ने जिसे प्रकाशन-क्षेत्र में आये अभी कुछ ही अर्सा हुआ है और जो अभी घुटनों चलने की अवस्था में है, इतने बड़े और महत्वपूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन का भार स्वीकार करके अपने साहस और भावी प्रगति की क्षमता का जो सबूत दिया है उसके लिए मैं श्री जवाहर चौधरी के प्रति आभार प्रकट करना भी अपना कर्त्तव्य समझता हूँ यद्यपि मैं जानता हूँ वे मुझसे इस प्रकार की औपचारिकता की अपेक्षा नहीं करते।

गणराज्य दिवस
1970

—नूरनबी अब्बासी

प्राक्कथन

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि मेरी पुस्तक 'मैनी वर्ल्ड्स' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। हिन्दी चूंकि ऐसी भाषा है जिसे भारत की अधिकांश जनता बोलती और समझती है इसलिए उस भाषा में अपनी पुस्तक के प्रकाशन से लेखक का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। मेरी इस पुस्तक का दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी अनुवाद हो चुका है। जिन अध्यायों में चीन, रूस और संयुक्त राष्ट्र संघ से संबंधित अनुभव दिये गए हैं उनमें जितनी रुचि एक दक्षिण भारतीय पाठक को हो सकती है उतनी ही उत्तर भारत के पाठक को भी होगी। भारतीय सिविल-सेवा के अंतिम कारनामे और स्वाधीन भारत की प्रथम चहचहाहट भी इन दोनों के लिए रोचक सिद्ध होगी। इस शताब्दी के प्रारंभ में केरल के जीवन का जो चित्रण प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है उसमें उत्तर भारतीय पाठक को विशेष आकर्षण तथा नवीनता मिलेगी क्योंकि हम नायरों में जिस मातृकुलीय प्रथा तथा अन्य रीति-रिवाजों का प्रचलन है वे आर्य उत्तरवासियों को उतने ही विचित्र लगेंगे जितने यूरोप और अमरीकावासियों को लगते हैं।

इस पुस्तक में एक ऐसे व्यक्ति का जीवनचरित अंकित है जो बैलगाड़ी में बैठकर स्कूल जाया करता था, जिसने 14 वर्ष की आयु में जाकर कहीं मोटर कार के दर्शन किये थे और जिसने अब मनुष्य को चंद्रमा पर पहुँचते हुए भी देखा है। पुस्तक अच्छी हो या बुरी, इतना निश्चित है कि इसमें उपदेशात्मकता नाम को नहीं। न ही मैं हिन्दी संस्करण में कोई ऐसी बात कहना चाहता हूं। हाँ, मुझे यह आशा जरूर है कि एक ऐसे भारतीय की आत्मकथा सामान्य उत्तर भारतीय पाठक के लिए दिलचस्प साबित होगी और राष्ट्रीय एकता के लिए हमारे प्रयत्नों में सहायक होगी जिसने अपने जीवन का अधिक समय दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत में बिताया है और जो दोनों प्रदेशों में समान रूप से सुखी रहा है, जिसके विध्यांचल के इस ओर जितने मित्र हैं उतने ही मित्र उसके उस ओर भी रहे हैं। मुझे यह भी आशा है कि ऐसे समय में जब श्री जवाहर लाल नेहरू जीवित थे और महात्मा गाँधी की भावना अभी विद्यमान थी मैंने विदेशों में जो अनुभव प्राप्त किये वे अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव के उद्देश्य को पूरा करने में सहायक सिद्ध होंगे क्योंकि इसी सद्भाव को प्राप्त करने के लिए उन दोनों ने--

चाहे उनके मार्ग भिन्न रहे हों—उतने ही उत्साह के साथ प्रयत्न किये थे जितने किसी अन्य व्यक्ति ने कभी किये होंगे।

यह पुस्तक आज से सात वर्ष पहले लिखी गई थी और तब से अब तक दुनिया कहीं आगे जा चुकी है। मैं अपने जीवन के सत्तर वर्ष पूरे कर चुका हूँ और मेरा निवृत्ति-काल का जीवन वैसा नहीं रह पाया जैसे की मैंने कल्पना की थी। इसीलिए मैंने उपसंहार के अंश को बढ़ाकर यह प्रयत्न किया है कि पुस्तक को अद्यतन बना दूं। इस परिवर्तन को छोड़कर शेष पुस्तक मेरी अंग्रेज़ी पुस्तक 'मेनी वर्ल्ड्स' का ही हिन्दी अनुवाद है जो ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित हुई थी।

मुझे इस बात की भी ख़ुशी है कि मेरी आत्मकथा के हिन्दी संस्करण के प्रकाशन का बीड़ा श्री जवाहर चौधरी ने उठाया है जो विगत दस-पंद्रह वर्ष से हिन्दी प्रकाशन-व्यवसाय में हैं और अपने सुरुचिपूर्ण प्रकाशनों तथा उच्च स्तरीय ग्रंथ-निर्माण के कारण ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। मैं इसे भी अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे श्री नूरनबी अब्बासी जैसे कुशल अनुवादक मिले जो मेरे लिए केवल अनुवादक ही नहीं, बल्कि एक मित्र भी हैं और मैं उनका आभारी हूँ क्योंकि पुस्तक के हिन्दी संस्करण का विचार उन्हीं का है और उन्हीं के विचार का साकार रूप—यह पुस्तक—आपके हाथों में है।

के. पी. एस. मेनन

के. पी. एस. मेनन

अनुक्रम

अनुजी को

जो भारत और विदेश में
हमेशा मेरे साथ रही हैं
इस पुस्तक में वर्णित अनुभव
जितने मेरे हैं उतने ही उनके भी...
उन्होंने मेरे अनुभवों की मिठास को
बढ़ाया और उनकी तुर्शी को कम किया है
लेकिन फिर भी जो इन सबसे दूर और
ऊपर बनी रही हैं...

के॰ पी॰ एस॰ मेनन

केरल

००

मेरा जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में कोट्टयम नामक एक छोटे से क़स्बे में हुआ था। कोट्टयम उस समय तिरुवांकुर (त्रावणकोर) राज्य में था लेकिन जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो उसका विलय कोचीन और ब्रिटिश मलाबार में हो गया और उसका नाम केरल पड़ गया। केरल भारत का सबसे छोटा राज्य है। इसे विश्वख्याति उस समय मिली जबकि 1956 में साम्यवादियों को आम चुनाव में बहुमत प्राप्त हुआ और वहाँ उन्होंने अपनी सरकार बनाई। यही एक ऐसा अवसर था जबकि साम्यवादी दल को संसदीय पद्धति के अनुसार हुए यथार्थ चुनावों में किसी राज्य में विजय प्राप्त हुई थी और उनके हाथ में सत्ता आई थी। इससे भारत या अन्य किसी देश में संसदीय पद्धति से उन्होंने कभी सत्ता प्राप्त नहीं की थी।

केरल एक प्रशासनिक इकाई तो स्वतन्त्रता के बाद बना किन्तु इससे बहुत पहले वहाँ एक सांस्कृतिक एकता मौजूद थी जिसके कारण भारत के अन्य राज्यों में उसका एक विशिष्ट स्थान था। यह संकीर्ण भूमि-खण्ड भारत के दक्षिण-पश्चिम में मलाबार तट पर स्थित है जिसके पश्चिम में अरब सागर और पूर्व में पश्चिमी घाट हैं। इस प्रदेश की रहन-सहन की अपनी एक विशिष्ट पद्धति है। ऐसा इसलिए नहीं है कि केरल बाह्य प्रभावों से हमेशा मुक्त रहा है बल्कि उसने उन प्रभावों को ग्रहण करके उन्हें अपने विशिष्ट रूप में ढाल लिया है। यहाँ हिन्दू भी बसते हैं और ईसाई तथा मुसलमान भी। शंकराचार्य जिनकी गणना गौतम बुद्ध के बाद भारत के महानतम दार्शनिकों में होती है, इसी प्रदेश के निवासी थे। ईसा मसीह के शिष्य संट टॉमस ने पहली शताब्दी ईसवी में इसी प्रदेश के निवासियों को सबसे पहले मसीही धर्म में शामिल किया था और उन ईसाइयों के वंशजों ने सीरियाई ईसाई संप्रदाय का निर्माण किया था जो बहुत खुशहाल संप्रदाय माना जाता था। इसी प्रकार पहले भारतीय मुसलमान भी मलाबार के मोपले थे जो अरब व्यापारियों की संतान थे। उन्होंने वहाँ की स्त्रियों से विवाह किये और वहीं बस गये। संसार में शुरू-शुरू में जो यहूदी बने थे उनमें से भी कुछ केरल ही के थे। इस धार्मिक संकुलता के बावजूद यहाँ के लोगों का एक सजातीय स्वरूप रहा। वे एक ही भाषा बोलते थे, उनकी एक ही वेशभूषा थी, एक ही

परम्परा पर उन्हें गर्व था और उनके रीति-रिवाज और रहन-सहन के ढंग भी समान थे। उदाहरण के लिए ओणम जो मलाबार का एक महान् पर्व है उसे हिन्दू, ईसाई और मुसलमान सभी समान उत्साह से मनाते हैं। इस पर्व के सम्बन्ध में यह किंवदंती है कि उस दिन महाबली नामक प्राचीन राजा यह देखने के लिये पृथ्वी पर अवतरित होता है कि उसकी प्रजा किस प्रकार जीवन यापन कर रही है।

इस प्रदेश का प्रमुख सम्प्रदाय नायरों का है जिनमें तब तक मातृकुलीय प्रथा का प्रचलन था। इस प्रणाली के अनुसार मनुष्य अपनी माता के परिवार का सदस्य माना जाता था, अपने पिता के परिवार का नहीं। स्त्री को परिवार का केन्द्र माना जाता था और उसी से वंशपरम्परा चलती थी। धन-सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी पिता की ओर से न मिलकर माता की ओर से प्राप्त होता था। किसी भी पुरुष की जायदाद या मकान की उत्तराधिकारिणी उसकी अपनी संतान न होकर उसकी बहन की संतान होती थी। तिरुवांकुर और कोचीन के राजघरानों में राजगद्दी राजा के पुत्र को न मिलकर उसके भानजे को मिला करती थी। मेरे बाल्यकाल में तिरुवांकुर के जो महाराजा थे उनकी कोई बहन नहीं थी। इसलिए उन्हें बहनें गोद लेने पर बाध्य होना पड़ा। अपनी वंशपरंपरा जारी रखने के लिये उन्होंने दो लड़कियों को गोद लिया था जिनमें से छोटी लड़की ने एक पुत्र को जन्म दिया और इस प्रकार उन्हें एक भानजा मिल गया जो उनका उत्तराधिकारी बना। महाराजा के पुत्रों का कोई महत्त्व नहीं था, यहाँ तक कि एक भूतपूर्व महाराजा का पुत्र बस-ड्राइवर था।

यह विचित्र प्रथा इतने समय तक कैसे जारी रही इसके पक्ष में अनेक तर्क दिये गये हैं। इनमें से एक यह है कि नायर युद्धप्रिय जाति थी, पुरुष बाहर लड़ाइयों पर चले जाते थे और स्त्रियाँ गृहस्थी चलाती थीं। दूसरा तर्क यह है कि प्राचीन काल में नायरों में बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित थी और ऐसे में जबकि एक स्त्री के अनेक पति होते थे, यह कहना कठिन था कि संतान उनमें से किसकी है। मानव विज्ञानियों के अनुसार मलाबार में—और मलाबार में ही क्यों, सभी स्थानों में—मातृत्व ही एक वास्तविकता है, पितृत्व एक सिद्धान्त मात्र। और मातृत्व के इसी सुनिश्चित तथ्य की नींव पर मलाबार की मातृकुलीय प्रथा का निर्माण हुआ था।

यह प्रथा मातृसत्तात्मक न होकर मातृकुलीय थी। कालांतर में गृहस्थी की वास्तविक व्यवस्था स्त्री के परिवार के ज्येष्ठ पुरुष सदस्य के हाथों में आ गई और वह प्रायः अत्याचारी बन गया। किन्तु इसके बावजूद स्त्रियों के अधिकार हमेशा क़ायम रहे और केरल में तो हर स्त्री अपना अधिकार प्राप्त करना जानती

थी। आर्थिक दृष्टि से नायर स्त्री सर्वथा स्वतन्त्र थी। उसकी दृष्टि में पति न तो उसका स्वामी था और न ही उसका भाग्य-विधाता क्योंकि उसके लिए पति को अपने से बड़ा या अधिक महत्त्वपूर्ण मानने का कोई ठोस कारण नहीं था। नायरों में विवाह कोई संस्कार नहीं माना जाता था जैसा कि आम हिन्दुओं में होता है। न तो कोई पुरोहित विवाह पर मंत्रोच्चार करता था या वर-वधू के लिए परमात्मा से वरदान माँगता था और न ही यह कहता था 'जिन्हें ईश्वर ने इस गठबंधन में बाँध दिया उन्हें कोई अलग नहीं कर सकता'। न उनके लिए विवाह कोई बंधनकारी क़रार ही था जैसा कि मुसलमानों में होता है, बल्कि विवाह की अवधि उतनी ही होती थी जितनी कि पति-पत्नी चाहते थे। विवाह-बंधन समाप्त करने के लिए उन्हें विवाह-विच्छेद न्यायालय की कष्टकर प्रक्रिया का सामना नहीं करना पड़ता था। यदि कोई स्त्री अपने पति के व्यवहार से ऊब जाती थी तो उससे पिण्ड छुड़ाने के लिए उसे केवल इतना करना पड़ता था कि वह अपने पति के सैंडल घर के बाहर निकाल कर रख देती थी जिसका अभिप्राय यह होता था कि अब तुम्हारे लिए इस घर में कोई जगह नहीं है। यहाँ यह भी बता दूँ कि अहम्मन्य नायर स्त्री अपने पति के घर जाकर न रहती थी बल्कि पति उसके पास जाकर रहता था। इस प्रकार केरल में विवाह-प्रथा पुरुष के अत्याचार का साधन नहीं बन सकी थी, न ही वह कोई धार्मिक बंधन था जो दो व्यक्तियों को आजीवन एक दूसरे से बाँध देता।

लेकिन इस सबके बावजूद यह स्वतन्त्रता उच्छृंखलता का रूप धारण न कर सकी। लेकिन मेरा विचार है कि नायर स्त्री अपने वैवाहिक सम्बन्धों में अन्य स्थानों की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वच्छंद या मनमौजी नहीं रही। उनकी स्वतन्त्रता उन्हें स्वयं संयम की ओर प्रवृत्त करती थी। जब मैं सोवियत संघ में था तो मैंने वहाँ भी देखा कि यद्यपि तलाक़ की वहाँ बहुत सुविधाएँ उपलब्ध हैं लेकिन फिर भी पारिवारिक जीवन के प्रति समादर का भाव उतना ही अधिक है जितना कि संसार के किसी भी देश में हो सकता है।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में नायर परिवारों में मातृकुलीय प्रथा का बहुत प्रचलन था। लेकिन उनमें भी कुछ परिवारों में इसका विघटन शुरू हो चुका था और उनमें से एक मेरा परिवार भी था। मेरे पिता के लिए अपनी पत्नी और बहन के साथ सहज निर्वाह कठिन हो गया था जबकि वे दोनों स्त्रियोचित गुणों से सम्पन्न थीं। मेरे पिता श्री कुमार मेनन ओट्टपालम (ब्रिटिश मलाबार) के एक कृषक के पुत्र थे। उन्होंने 16 वर्ष की आयु में क़ानून का डिप्लोमा प्राप्त किया।

वे फ़ौरन वकालत शुरू कर देना चाहते थे, लेकिन ब्रिटिश शासनकाल में उनके लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था, अतः 1866 में वे तिरुवांकुर राज्य में कोट्टयम नामक स्थान को चले गये। वहाँ उन्होंने ज़िला मुंसिफ़ की पुत्री से विवाह कर लिया और एक मकान भी बना लिया जहाँ वे अपनी पत्नी और संतान के साथ पचास वर्ष तक रहे। लेकिन उस अर्से में वे अपने खुद के परिवार—ओट्टपालम में अपनी बहन और उसकी संतान—के प्रति उदासीन नहीं रह सके। उनका यह हाल था कि यदि वे एक रुपया अपनी पत्नी पर खर्च करते तो एक ही रुपया उन्हें अपनी बहन को भी देना पड़ता था जबकि मेरी माँ और मेरी बूआ दोनों इस बात की शिकायत करती थीं कि वे दूसरी के ऊपर ज़्यादा खर्च करते हैं और उसके ऊपर कम। इन दोनों स्त्रियों में स्वभावतया एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा थी और मुझे आज तक याद है कि उन दोनों की कलह के कारण मेरे पिता को कभी-कभी बड़ा क्लेश सहन करना पड़ता था।

मेरी माँ क़िस्से सुनाने में पटु थीं और हमें अपने विवाह का क़िस्सा अक्सर सुनाया करती थीं। उस ज़माने में विवाह की बातचीत लड़की के चाचा या कभी-कभी उसके माता-पिता किया करते थे। लेकिन मेरी माँ के पिता इतने उदार विचार वाले थे कि उन्होंने विवाह से पहले ही घर में उन लोगों के बारे में बता दिया था जिनसे विवाह की बातचीत सम्भव थी। उनमें से एक कुमार मेनन थे जो सूरत-शक्ल के तो कोई ख़ास अच्छे न थे लेकिन थे बुद्धिमान। दूसरा व्यक्ति सुन्दर भी था और धनवान भी, लेकिन उसके चरित्र के सम्बन्ध में उन्हें कुछ संदेह था। उनका विचार था कि यदि उनकी लड़की ने कुमार मेनन से शादी की तो उसकी संतान बुद्धिमान होगी और यदि उसने दूसरे व्यक्ति से विवाह किया तो उसके बच्चे सुन्दर होंगे। 'तुम किससे विवाह करना चाहती हो ?' 'जैसा पिता जी ठीक समझें।' मेरी माँ ने उत्तर दिया। लेकिन मन-ही-मन वे यह आशा करती रहीं कि यदि कुमार मेनन पसन्द कर लिये जायें तो अच्छा हो, और ऐसा ही हुआ भी। हमारी माँ कहा करती थीं कि उनकी यही पसन्द अच्छी साबित हुई क्योंकि दूसरे व्यक्ति का बड़ा बुरा हश्र हुआ। वह व्यभिचार-चक्र में पड़ गया और अन्त में इसी दुर्व्यसन में उसकी मृत्यु हो गई। एक बार वह किसी मकान की दूसरी मंजिल पर खड़ा निर्माण-कार्य की देख-रेख कर रहा था कि उसकी नजर नीचे से गुज़रती हुई एक सुन्दर युवती पर पड़ी और वह उसे ऐसी टकटकी बाँध कर देखता रहा कि उसका पैर लड़खड़ा गया और वह ऊपर की मंज़िल से नीचे गिरा और मर गया।

जहाँ तक सूरत-शक्ल का प्रश्न है मेरे पिता और माता में भारी अन्तर था। मेरे पिता का क़द छोटा था, शरीर दुबला-पतला था और वे देखने में बिल्कुल

प्रभावहीन थे, जबकि मेरी माँ देखने में बड़ी सुन्दर और क़द में लम्बी थीं। लेकिन उनका सौंदर्य उनकी शिक्षा के लिए घातक सिद्ध हुआ। इसके सम्बन्ध में वे हमें यह कहानी सुनाया करती थीं :

'एक दिन मैं अपनी सहेलियों के साथ स्कूल जा रही थी। मेरी उम्र उस समय चौदह वर्ष की थी। कुछ लड़के हमारे सामने से आये और मेरी ओर संकेत करके कहने लगे, "इस छोकरी की छातियाँ बड़ी शानदार हैं।" वे समझे होंगे मैं उनकी बात नहीं समझूँगी, लेकिन मैं समझ गई। उस समय मैं अंग्रेज़ी के कुछ शब्द जानती थी, जो अब बिल्कुल भूल गई हूँ। मेरे तो तनबदन में आग लग गई और मैंने मलायलम की एक गाली उन्हें दी जिसका बहुत ही सभ्य भाषा में अनुवाद होगा "तेरी माँ के नारियल"। लेकिन किसी तरह मेरे पिता को इस घटना का पता चल गया और उन्होंने फ़रमान जारी कर दिया, "जानम्मा कल से स्कूल नहीं जायेगी।" बस उनका यह कहना था कि मेरी शिक्षा समाप्त हो गई और उसी का यह परिणाम है कि मैं बिल्कुल निरक्षर भट्टाचार्य बनी हुई हूँ।

उस ज़माने में माँ-बाप उन ख़तरों से अवगत थे जो लड़कियों को स्कूल भेजने में पेश आते हैं। स्त्री-शिक्षा का रिवाज अभी शुरू नहीं हुआ था और तिरुवांकुर में भी जहाँ ग्रेजुएट स्त्रियों का अब बाहुल्य है, चालीस वर्ष बाद जाकर स्त्री-शिक्षा का प्रचलन हो पाया था। पहली मलयाली लड़की जिसने बी० ए० पास किया था और जो शायद बहुत अर्से तक अकेली बी० ए० रही', उसे लोग मज़ाक में बी० ए० पारकुट्टी अम्मा कहा करते थे। यहाँ तक कि मेरी पीढ़ी तक आते-आते भी यह हाल था कि माता-पिता लड़कियों को शिक्षा देना कुछ बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं समझते थे। मुझे अच्छी तरह याद है, हैदराबाद में मेरे एक दोस्त थे जमालुद्दीन जिनकी पुत्री कॉलेज में दाख़िल होना चाहती थी। माँ तो अपनी पुत्री की इच्छापूर्ति के पक्ष में थीं किन्तु पिता उसके विरोधी थे। चुनाँचे दोनों में बड़ी लम्बी और गरमागरम बहस हुई और जमालुद्दीन को हार माननी पड़ी और उनकी लड़की अरविन कॉलेज, दिल्ली में पढ़ने के लिए चली गई।। उस लड़की ने अपने सक्रिय और उत्तेजनापूर्ण कॉलेज जीवन के बारे में बड़े उल्लास के साथ अपने माता-पिता को लिखा : 'यहाँ की हर चीज़ मुझे बड़ी ही चित्ताकर्षक लगी : भोजन स्वादु होता है, लड़कियाँ शिष्ट और मिष्टभाषिणी हैं, अध्यापकगण स्नेहशील हैं और पिंगपांग पर तो मैं जान देती हूँ।'

जमालुद्दीन ने पत्र पढ़कर अपनी पत्नी को सुनाया और उत्तेजित होकर कहा, 'देखा तुमने ! मैं तो पहले ही से जानता था कि यह होगा। वह पिंगपांग नाम के किसी चीनी लड़के से इश्क़ करने लगी है।'

मेरे बाल्यकाल की अधिकांश स्मृति मेरी माँ से जुड़ी हुई है। मुझे याद है वे

किस तरह मुझे गोद में लिये अपनी उँगलियों से मेरे नथुने दबाया करती थीं। वे मुझे अपने अहाते के हौज़ में डुबोतीं और और फिर बाहर निकाल लेती थीं और जब मेरा सिर पानी के अंदर चला जाता था तो मैं साँस लेने के लिए अपने हाथ-पैर फड़फड़ाता और पानी से बाहर निकलने का प्रयत्न करता था और आनन्द तथा भय की मिश्रित अनुभूति से काँपता हुआ बाहर निकल आता था। पानी में उस क्षणिक संघर्ष के दौरान मुझे ऐसा लगता था कि अब मरा, अब मरा, लेकिन जब मैं निकल आता था तो मेरा मुख उल्लास से जगमगा उठता था। मुझे यह भी याद है कि मैं किस तरह अपनी माँ के स्तन चिचोड़ा करता था। स्तनपान वैसे तो संसार में सभी बालक करते हैं किन्तु उस क्रिया को स्मरण कर पाना विरले ही जानते हैं। इस घटना को याद रखने का कारण यह नहीं है कि मेरी स्मरण-शक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक सबल है, बल्कि इसका एक मात्र कारण यह है कि मैंने दूसरों की तुलना में अधिक दिनों तक अपनी माँ का दूध पिया है। मेरी माँ के सत्रह वर्ष तक कोई संतान नहीं हुई थी, इसलिए वे मुझे उस समय भी दूध पीने से मना न करती थीं जबकि स्तनों में दूध उतरना बंद हो गया था। मैं चार वर्ष तक स्तनपान करता रहा और जब मेरा छोटा भाई पैदा हो गया तब कहीं जाकर मैंने दूध छोड़ा। मेरी उम्र अभी तीन वर्ष की ही थी जब मुझे स्कूल में दाखिल कर दिया गया था और ज्योंही स्कूल की छुट्टी होती मैं दौड़ा हुआ माँ के वक्षस्थल से चिपट जाता और दो-चार मुँह उनके स्तनों में मार लेता। मेरी इस आदत के कारण स्कूल में मेरा नाम **मुल कुडियन** यानी स्तनपायी पड़ गया था। मेरा वहाँ एक और नाम भी था **मून्नुमुलयन** यानी तीन चूचुक वाला क्योंकि मेरे बायें वक्ष के नीचे एक मस्सा है जो अपने आकार-प्रकार में बिल्कुल चूचुक जैसा है। मैं अपने इस नाम पर बहुत झेंपता-शर्माता था। एक दिन तंग आकर मैंने अपने नाखूनों से वह मस्सा छील डाला और उसमें से खून निकलने लगा। कई वर्ष बाद जब मैंने मद्रास में इंग्लैंड जाने के लिए पासपोर्ट के लिए आवेदनपत्र भेजा तो मुझे आवेदनपत्र के एक खाने में अपने शिनाख्त-चिह्न बताने थे। पासपोर्ट-अधिकारी ने मेरे शरीर की जाँच करते हुए लिखा : 'तीन चूचुक'।

लेकिन वह अधिकारी उस फ्रांसीसी पासपोर्ट-अधिकारी जैसा शूरवीर नहीं था जिसने आवेदन-पत्र देने वाली एक स्त्री की आँखों का वर्णन इन शब्दों में किया था : 'काली, लंबी, कांतिमान् किन्तु एक कम।'

पाश्चात्य या पश्चिम से प्रभावित पाठकों को यह बात कुछ अरुचिकर-सी प्रतीत होगी कि हमारी माँ अपनी शानदार छातियों का ज़िक्र हमसे क्यों करती थीं, या मैंने उसका उल्लेख क्यों किया। इसका केवल एक कारण है कि इस विषय में भारतीय और पाश्चात्य परिकल्पनाएँ भिन्न हैं। यहाँ मुझे श्रीमती नेथैनियल

हॉथॉर्न* के अति शील का स्मरण हो आता है जिन्होंने अपने पति की डायरियों में जहाँ कहीं 'टाँग' का उल्लेख हुआ था उसे हर जगह काट दिया था। मानव शरीर के विभिन्न अंगों के प्रति इस दृष्टिकोण का एक और उदाहरण श्रीमती लॉय हैंडरसन का है जो उस समय भारत में अमरीकी राजदूत की पत्नी थीं। उन्होंने कोणार्क मंदिर की कुछ युगनद्ध मूर्तियाँ देखकर मुझसे कहा था—भगवान करे इन मूर्तियों पर कोई परमाणु बम गिरा दे। हाइड्रोजन बम का तब तक आविष्कार नहीं हुआ था, अन्यथा वे उसी की प्रार्थना करतीं। इससे उस मनोवृत्ति का पता चलता है जिसका स्रोत मध्ययुगीन ईसाई दृष्टिकोण था जिसके अनुसार मानव शरीर को पाप की पोट और शैतान का घर समझा जाता था। इसके विपरीत भारतीय कलाकार मानव शरीर को एक दिव्य ज्योति मानता है और उसका चित्रण कला तथा साहित्य दोनों में करता है। यदि कोई साहसी चित्रकार मरियम पारसा का चित्रण उन्हीं मुद्राओं में करे जिनमें भारतीय देवी-देवता अजंता और एलौरा की गुफ़ाओं में चित्रित हैं तो पश्चिम देशवासियों की नैतिक धारणाओं को भारी चोट न पहुँचेगी ? समरसेट मॉम ने कहा है, 'आधुनिक संस्कृति, विशेषकर आंग्ल संस्कृति की एक भारी मूर्खता यह है कि उसने मनुष्य के स्वाभाविक क्रियाकलाप पर एक पर्दा डाल दिया है। **शालीनता का तक़ाज़ा है** नाम के निषेध-पत्र न केवल गली-कूचों की दीवारों पर लगे हुए हैं बल्कि वे अंग्रेजों की आत्माओं पर अंकित हो चुके हैं जिसका परिणाम यह है कि सामान्य और आवश्यक क्रियाकलाप के शब्दों में भी अश्लीलता की ध्वनि आ गई है। इस दृष्टिकोण की तुलना उस निश्छल सादगी से कीजिए जिससे अन्य युगों में अत्यंत शालीन मनीषियों ने उन वस्तुओं को देखा था।'

नायरों के लिए वक्षस्थल के उल्लेख से बचने का कोई कारण यों भी नहीं था कि वहाँ वह निर्वसन होता है। मलाबार की स्त्रियाँ केवल एक धोती पहनती थीं और सामान्य रूप से उनके शरीर का ऊपरी भाग खुला रहता था। यदि संयोगवश किसी स्त्री ने अपना कंधा कपड़े से ढँक भी लिया होता तो किसी भी प्रतिष्ठित व्यक्ति को देखते ही वह उसे हटा लेती थी जिससे दर्शक को यह आभास न हो कि वह इतनी धृष्ट है कि उसने अपना सारा शरीर कपड़े से ढँक रखा है। हमारे अपने परिवार में भी मानव शरीर के कुछ अवयवों का उल्लेख वर्जित नहीं माना जाता था। इस विषय में हमेशा मतभेद बना रहेगा कि मानव शरीर को गुप्त या रहस्यमय बना देना अधिक श्रेयस्कर और बुद्धिमत्तापूर्ण है या उसके बारे में किसी

* उन्नीसवीं शताब्दी की प्रसिद्ध अमरीकी उपन्यासकार जिनका 'स्कारलेट लेटर' नामक उपन्यास प्रख्यात है।

प्रकार का निषेध न लगाकर उसे साधारण वस्तु समझना। मेरा विश्वास है कि, हम लोगों के मन जो किसी निषेध के क़ायल न थे, अन्य देशों के नवयुवकों से कुछ कम पवित्र न थे जहाँ माता-पिता अपने छोटों के सामने इन बातों का नाम तक लेने में संकोच करते हैं।

मेरे बचपन में जिस प्रकार मेरा मानसिक विकास हुआ उसका समस्त श्रेय मेरी माँ को है। बचपन ही में वे हमें रामायण और महाभारत की कहानियाँ सुनाया करती थीं। चौदह-पंद्रह वर्ष की आयु तक मैं रोज़ाना उनके पास बैठ जाता था और उनको पुराणों का पाठ करते हुए सुना करता था। धीरे-धीरे और अनायास ही उन पुराणों के अनेक अंश मुझे कंठाग्र हो गये थे। परिणामस्वरूप मेरी कल्पना उर्वरा होती गई और पौराणिक कथाओं के पात्र हाड़-मांस का रूप धारण करते गये। वस्तुतः वे मेरे हर घड़ी के संगी बन गये। पाण्डवों और कौरवों के बीच हुए अठारह दिन के युद्ध का सारा ब्यौरा मुझे शब्दशः याद हो गया था, हर दिन के प्रमुख आहतों के बारे में मुझे पूरी जानकारी थी और जिस शौर्य और पराक्रम के साथ पाण्डवों के समर्थक सैनिक वीर गति को प्राप्त हुए उसे सुनकर मुझे रोमांच हो आता था। महाभारत के प्रमुख पात्रों में क्या अंतर था यह मैं जानता था और मैं प्रायः पाण्डवों की तुलना अपने परिवार के सदस्यों से किया करता था। मेरे सबसे बड़े भाई जो बड़े विनम्र और शांत स्वभाव के थे धर्मपुत्र-से लगते थे, मेरे बड़े भाई गोपि जो बड़े हृष्ट-पुष्ट और शक्तिशाली थे भीम जैसे लगते थे और मैं अपनी तुलना कुछ तो अपने अहं के कारण और कुछ अपनी माँ की प्रेरणा के फलस्वरूप अर्जुन के साथ किया करता था। चूँकि हमें यह शिक्षा दी गई थी कि आत्मा का पुनर्जन्म होता है इसलिए मैंने इस सिद्धांत का प्रतिपादन भी किया था कि हम अपने पिछले जन्म में पाण्डव थे। किन्तु मेरी माँ ने मुझे बताया कि ऐसा संभव नहीं है क्योंकि पांडवों को तो सदियों पहले निर्वाण प्राप्त हो चुका था। मैं रामायण तथा महाभारत दोनों की कथा जानता था और यह कहने का दुस्साहस भी कर लेता था कि मुझे हनुमान अपने स्वामी राम से अधिक प्रिय हैं क्योंकि राम ने सीता के साथ जो व्यवहार किया था उसके लिए मैं उन्हें कभी क्षमा न कर सका। मेरी माँ इस प्रकार के अपावन निर्णयों के लिए हमें मना करती थीं। स्वर्ग के आनंद और नरक के भय के विषय में भी मैं सब कुछ जानता था। मुझे मालूम था कि किस-किस पाप के लिए क्या-क्या दंड दिया जायेगा और इसलिए उनसे बचने की कोशिश करता था। एक बार मेरी माँ ने मुझे बताया कि किसी ज़माने में शिव भिखारी का रूप धारण करके पृथ्वी पर अवतरित होंगे

और मनुष्य की सद्‌वृत्ति और उदारता देखने के लिए घर-घर फिरेंगे। यह क़िस्सा सुनने के बाद मैंने सोचा कि जो भिखारी हमारे घर आते हैं और जिनकी अच्छी-ख़ासी भीड़ रहती थी—संभव है उनमें कोई शिव का अवतार हो जो भिखारी बनकर आ गया हो। अतः मैं भिखारियों के प्रति पहले की अपेक्षा अधिक उदारता का व्यवहार करने लगा। जब मैंने अपनी माँ से हिरण्यकशिपु की कथा सुनी तो एकबारगी मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो मैं चारों ओर से ईश्वर से घिरा हुआ हूँ।

लेकिन वास्तव में मैं अकेले ईश्वर से ही न घिरा था, मुझे भूतों ने भी घेर रखा था। मलाबार में हिन्दू धर्म आदिम जीववाद की ही एक परिणति मात्र था। हर प्रकार की आत्माएँ वहाँ विद्यमान थीं—कुछ सौम्य आत्माएँ तथा कुछ दुष्टात्माएँ—जिन्हें मनुष्य को प्रसन्न या संतुष्ट करना पड़ता था। हर जगह भूतों की भी भरमार थी। रोज़ ही दिन बीतने के बाद और सोने के पहले हमारे पड़ौसी भूतों के क़िस्से लेकर आ जाते थे। उनमें अक्सर आने वाला बूढ़ा रामन कुंजु कणियार था जो वैद्य भी था और ज्योतिषी भी। वह हमें किसी स्त्री का क़िस्सा सुनाता जो प्रसव पीड़ा में मर गई थी लेकिन जिसकी चीख़ें पिछली रात को उसे सुनाई दी थीं; एक आदमी जिसे हत्या के अपराध में फाँसी दे दी गई थी बिना सिर के घूमता-फिरता देखा गया था, और जब वह आधी रात को किसी रोगी को देखने गया तो एक अग्निपिण्ड उसके पीछे लग गया और देखते-देखते उसने एक राक्षस का रूप धारण कर लिया और जब उसने मंत्रोच्चार किया तो वह आकृति अदृश्य हो गई। मेरे माता-पिता इन कहानियों पर विश्वास करते थे या नहीं—मैं नहीं जानता, लेकिन मुझे तो उन पर विश्वास था। हर रात जब मैं सोने लगता तो मुझे ठण्डे पसीने आने लगते थे और मैं तीन चार बजे तक का वक्त जागकर गुज़ारा करता था।

कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि रातें आँखों ही में बसर हो गईं। एक दिन मैंने एक चाल चली। मैंने अपने तकिये के नीचे कुछ कंकर रख लिये और जब मेरे माता-पिता सो गये तो उन्हें आस-पास इतने ज़ोर से फेंका कि शोर से उनकी आँख खुल गई। लालटैन जलाई गई और पत्थर फेंकने वाले चोर की तलाश हुई लेकिन चोर कहीं होता तो मिलता। जब घर वाले जाग गये तो मेरा भय कुछ कम हो गया और मेरी भी आँख लग गई। अगले दिन हम खिड़की-दरवाज़े सब बंद करके सोये लेकिन फिर भी पत्थर आये। रामन कुंजु कणियार को बुलाया गया और उसे सारा वृत्तांत सुनाया गया। उसने कहा कि यह सब सौम्य आत्मा कुट्टिच्चात्तन का काम है। यह एक प्रकार का प्रेत है जो कुछ और घरों में भी ऐसी ही हरकतें कर रहा है। कणियार ने उस प्रेतात्मा को शांत करने के लिए

कोई उपाय भी बताया। कणियार द्वारा सुझाये गये प्रायश्चित के उपाय किये गये और पत्थरों का आना बंद हो गया। लेकिन मैंने इस डर से पत्थर बिखेरना बंद कर दिया कि कहीं कुट्टिच्चात्तन सचमुच मुझसे क्रुद्ध न हो जाये।

एक और अवसर ऐसा आया जब मैं भय से अभिभूत होकर एक ऐसी करतूत कर बैठा जिसकी स्मृति मुझे आज भी लज्जित कर देती है। उस दिन कुछ असाधारण रूप से भयानक क़िस्से-कहानियाँ सुनने के बाद मैं हमेशा की तरह अपने छोटे भाई के साथ एक ही चटाई पर लेट गया। मेरे माता-पिता की तो फ़ौरन आँख लग गई लेकिन मैं जागता रहा और मुझे कल्पना में भूत-ही-भूत दिखाई देते रहे। मेरा अहं भला मुझे यह कब करने देता कि मैं अपनी माँ को जगाकर कहूँ कि मुझे डर लग रहा है। लिहाज़ा मैंने बिस्तर पर ही पेशाब कर दिया और माँ को जगाकर कहा कि चंद्रन (मेरे छोटे भाई) ने पेशाब कर लिया। मेरी माँ की प्रतिक्रिया ठीक वही हुई जिसकी मैंने कल्पना की थी। उन्होंने चंद्रन को डाँटा और मुझसे कहा तू चलकर मेरे पलंग पर लेट जा। और माँ के साथ उस रात की नींद में जो चैन और आंनद मुझे मिला, आज भी मुझे याद आता है। मेरी यह तिकड़म ऐसी कारगर रही कि मैंने अगले दिन भी वही किया ताकि अपनी माँ से लिपटकर चैन की नींद सो सकूँ। कणियार को फिर बुलाया गया और उसे बताया गया कि चंद्रन का सोते में पेशाब निकल जाता है। कणियार ने उसे कुछ दवा दी और साथ ही यह इलाज भी बताया कि चंद्रन को हाथी के पैरों के बीच चलाओ। चुनांचे मेरे सामने ऐसा किया गया। जब मैंने चंद्रन की आँखों में दहशत देखी तो मेरा मन ग्लानि से भर गया और मैंने घर जाकर माँ को यह बता दिया कि यह सब मेरा ही किया-धरा था। उन्होंने मुझे प्यार से चूमा और कहा कि मुझे तुम्हारे सच बोलने से बड़ी खुशी हुई है। उन्होंने मेरे लिए कुछ लड्डू बनाये और हर रोज़ मुझे अपने पास सुलाने लगीं। वह दिन गया और यह दिन आया फिर हमारे घर में कभी भूत-प्रेत के क़िस्से न सुनाये गये।

मेरे बचपन की दुनिया न केवल देवताओं और प्रेतात्माओं से आज़ाद थी बल्कि उसमें पशु भी थे। हमारे बग़ीचे में साँप, गिलहरियाँ, बिच्छू, मेंढक, कनखजूरे, गिरगिट, मधुमक्खी, घूस, जोंक, भाँति-भाँति की छिपकलियाँ सभी कुछ थे। वे सब के सब बिन बुलाये वहाँ आ गये थे 'और क़ब्ज़ा सच्चा झगड़ा झूठा' कहावत चरितार्थ करते हुए बड़े मज़े से हमारे अहाते में बस गये थे। उनमें से किसी के प्रति हम में घृणा या उपेक्षा का भाव नहीं जागा क्योंकि हमारी दृष्टि में वे सभी विधि के बनाये जीव थे—यहाँ तक कि साँपों को भी जो उनमें सबसे अधिक ख़तरनाक थे हमने कभी नहीं मारा बल्कि उनको भी हमेशा मनाते ही रहते थे और कभी-कभी तो उनकी पूजा भी करते थे। उनके लिए वहाँ विशेष

मंदिर बने हुए थे।

इनमें से कुछ प्राणी ऐसे भी थे जिन्हें हमने पाल रखा था—जैसे कुत्ता, बिल्ली, गाय, बकरी, मुर्गियाँ और बैल। कुत्ते के प्रति हमें रुचि नहीं, घोर अरुचि थी। वैसे तो वह उपयोगी था लेकिन उसकी आदतें ऐसी गंदी थीं और वह उन्हें दूर करने का कभी कोई प्रयत्न भी नहीं करता था, इसलिए उसे अपवित्र माना जाता था और उसके साथ भंगी का-सा व्यवहार किया जाता था। भंगी और कुत्ते में भी अंतर था, भंगी यह तो जानता है कि कहाँ बैठे लेकिन कुत्ते का इससे कोई सरोकार नहीं था। लिहाज़ा हम उसे घर से बाहर करके आँगन में बैठाते-बैठाते थक जाते थे। बिल्ली की ओर मेरा दृष्टिकोण तब तक तटस्थता का बना रहा जब तक कि एक दिन मेरी माँ ने एक स्त्री को बिल्ली की संज्ञा न दे दी। मैं नहीं जानता था कि उस स्त्री और बिल्ली में क्या खराबी थी लेकिन चूँकि मेरी माँ को वे दोनों पसंद नहीं थीं इसलिए मुझे भी उन दोनों से घृणा हो गई और आज भी मैं बिल्ली या उसकी प्रजाति के अन्य पशुओं के प्रति अपनी घृणा कम नहीं कर पाया हूँ।

अन्य पशुओं के प्रति हमारा बड़ा स्नेह था और हम उनके आभारी भी थे। गाय सारे परिवार के लिए दूध देती थी, बकरी का दूध केवल मैं ही पीता था क्योंकि रामन कुंजु कणियार ने मेरे दुर्बल शरीर के लिए बकरी का दूध बताया था। बैल मुझे और मेरी भाभी को बैलगाड़ी में स्कूल ले जाने के काम आते थे। उस ज़माने में बैलगाड़ी ही यातायात का सामान्य साधन थी। मुर्गियों से हमें अण्डे मिलते थे और अंत में उनका मांस भी हमारे ही काम आता था।

मेरा सबसे अधिक प्रिय पशु हथिनी थी जिसका नाम लक्ष्मी था। वह बड़ी विशाल और शक्तिशाली थी लेकिन बच्चों के साथ उसका व्यवहार बड़ा शालीन था। मैं उसके मुँह में हाथ डाल देता था और वह उसे तब तक मुँह में लिये रहती जब तक मैं स्वयं उसे न निकाल लेता। कभी-कभी मैं उसे नारियल दे देता और वह अपने रहस्यमय कौशल से दाँत बाहर निकालती, नारियल तोड़ती और गरी न केवल खुद खाती बल्कि मुझे भी खिलाती। अक्सर मैं उसकी सूँड पर खड़ा हो जाता और वह बड़ी सावधानी से मुझे झुलाकर अपनी पीठ पर बिठा लेती और मैं मंदिर-यात्रा के समय वहीं बैठा रहता। मुझे इस प्रकार बैठा देखकर मेरे सहपाठी बड़े प्रभावित होते थे। बल्कि उनको मुझसे ईर्ष्या भी होती थी। पचास वर्ष बीत जाने के बाद जब मुझे भारत के बालकों की ओर से रूस के बच्चों को मैत्री के संदेश के साथ भेजे गये दो हाथियों—रवि और शशि—की औपचारिक रूप से अगवानी करने के लिए मास्को से ओडेसा जाना पड़ा तो मुझे लक्ष्मी की बहुत याद आई। उस समय मेरे साथ सोवियत विदेश कार्यालय के नयाचार विभाग के

प्रतिनिधि, यूक्रेन के प्रधान मंत्री और ओडेसा के महापौर उपस्थित थे। ये छोटे हाथी जवाहरलाल नेहरू की ओर से उपहारस्वरूप भेजे गये थे और उन्हें रूस भेजते समय उन्होंने मुझे एक पत्र में लिखा था 'आपके अलावा ये दोनों भी भारत के राजदूत हैं, अंतर केवल यह है कि ये दोनों विशेष रूप से सोवियत संघ के बालकों के प्रति प्रत्यायित किये गये हैं।'

मेरे पिता इतने अधिक व्यस्त रहते थे कि मुझमें रुचि लेना उनके लिए संभव न था, वे हर समय मुवक्किलों से घिरे रहते थे। कोट्टयम जैसे छोटे-से क़स्बे में पचास वर्ष तक वे वकालत करते रहे और केवल अपनी योग्यता तथा चरित्र के बल पर उन्होंने एक वकील और नागरिक के रूप में वहाँ की जनता में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। उनका सम्मान न्यायालय के बाहर भी यथावत् बना रहा। 1866 में जब उन्होंने वकालत प्रारंभ की थी तो वहाँ केवल सात वकील थे, और देखते-देखते उनकी संख्या 700 तक पहुँच गई थी। इनमें कुछ ऐसे भी थे जिनके पास अंग्रेज़ी की डिग्रियाँ थीं। मेरे पिता के न्यायिक कौशल के बारे में अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हो गई थीं। एक बार वे मुक़दमे की तैयारी किये बिना ही न्यायालय चले गये और वादी की ओर से पैरवी शुरू करदी जबकि वे प्रतिवादी के वकील थे। उनका नायब वकील घबरा गया और उसने उन्हें एक पर्चा लिखकर दिया कि आप वादी की नहीं, प्रतिवादी की ओर से वकील हैं। मेरे पिता बेधड़क बोलते रहे, श्रीमन, अब तक मैंने वे तर्क आपके सम्मुख प्रस्तुत किये जो मेरे प्रतिपक्षी विद्वान वकील वादी की ओर से प्रस्तुत कर सकते थे। अब मैं उन्हीं तर्कों का खंडन आरंभ करता हूँ।' और उन्होंने यह सब ऐसे प्रभावशाली ढंग से किया कि वे मुक़दमा जीत गये।

मेरे बड़े भाई शिवराम पिल्लै ने भी वकालत का पेशा अपनाया। उन्होंने कच्ची उम्र में ही शादी कर ली और वे पलै चले गये जहाँ एक नई मुंसिफ़ी अदालत क़ायम हुई थी। उनकी पत्नी अम्मुकुट्टि अक्कन (भाभी) बड़ी दयालु प्रकृति की महिला थीं। वे तीस वर्ष तक एक पतिव्रता पत्नी के रूप में अपने पति की सेवा करती रहीं और 1923 में जब मेरे भाई का देहांत हो गया तो वे उतनी ही सेवापरायण वधू के रूप में मेरी माँ की सेवा करती रहीं। उनकी अपनी कोई पुत्री तो थी नहीं जो उनकी देखभाल करती। यदि मेरी भाभी प्राचीन चीन में जन्मी होतीं तो उनकी आदर्श सेवाओं के पुरस्कारस्वरूप उनका एक स्मारक बनाया गया होता। 1944 में जब मैं चुंगकिंग से लौटकर चेंगटू आ रहा था तो रास्ते में मैंने एक स्मारक देखा जिस पर एक स्त्री की स्मृति में एक

शिलालेख अंकित था कि उस स्त्री ने बड़ी आदर्श निष्ठा और भक्ति-भाव के साथ अपनी श्वश्रु की सेवा की थी और वह उसी में इतनी व्यस्त रहती थी कि उसे जीवन में कभी मुस्कराने का भी अवसर नहीं मिला था। शिलालेख का पहला अंश तो अम्मुकुट्टि अक्कन पर पूर्णत: चरितार्थ होता था, किन्तु दूसरे अंश से उन्हें कोई सरोकार न था क्योंकि वे न केवल मुस्कराती थीं, बल्कि खूब मुस्कराती थीं।

अम्मुकुट्टि अक्कन मेरे भाई की **मोरप्पेणु** या अधिकार-संपन्न कन्या थीं जिनका पाणिग्रहण करने का अधिकार मेरे भाई को था क्योंकि वे हमारे मामा की पुत्री थीं। इस प्रकार के विवाहों से यह बात सुनिश्चित हो जाती है कि लड़की चाहे परोक्ष रूप से ही सही, अपने पिता की संपत्ति की अधिकारिणी होती है जो बूआ के माध्यम से उसकी संतान को प्राप्त होती है। अम्मुकुट्टि अक्कन की एक बड़ी सुन्दर बहन थी माधवी। जब मैं 1922 में इंग्लैण्ड से वापस आया था तो वह विवाह-योग्य थी और मेरी **मोरप्पेणु** थी। उसकी स्कूल की सहेलियाँ उसे आई० सी० एस० अधिकारी की भावी पत्नी कहकर छेड़ा करती थीं। मेरे मामा ने बड़े अविचल भाव से यह प्रस्ताव मेरे सामने रखा, लेकिन तब तक मातृकुलीय प्रथा का ह्रास हो चला था और मामा की उतनी न चलती थी। मुझे माधवी से लगाव था लेकिन एक बहन के रूप में। मेरे विवाह के कुछ ही दिन बाद उसके भी हाथ पीले हो गये और वह युवावस्था में ही मर गई। लेकिन मरने से पहले उसके कई बच्चे हो चुके थे और मैं उसे छेड़ा करता था कि जब तुझे इतनी ही तेज़ी से बच्चे पैदा करने थे जितनी तेज़ी से मेरे हो रहे हैं तो तूने मुझसे ही बयाह कर लिया होता।

मेरी पहली लंबी यात्रा वह थी जब मैं अपने भाई के घर पलै गया था। उस जमाने में कोट्टयमवासियों की यात्रा चार पुलों के भीतरी क्षेत्र तक सीमित थी। प्रत्येक पुल शहर के केन्द्र से एक-डेढ़ मील की दूरी पर स्थित था। कंजिक्कुड़ि पूर्व में, नागमपाडम उत्तर में, कारप्पुड़ा पश्चिम में और कोडिम्माता दक्षिण में। इसलिए बाईस मील की पलै यात्रा मेरे लिए बड़ी उत्तेजनापूर्ण और साहसपूर्ण सिद्ध हुई। एक दिन शाम के समय जब हम लोग खाना खा चुके तो अपनी बैलगाड़ी में सवार हो गये और भूसे के ऊपर चटाई बिछाकर एक-दूसरे से सटकर बैठ गये। कोट्टयम से पलै तक के रास्ते के कुछ भाग पर डाकुओं का साम्राज्य था। इसलिए मेरे पिता ने आग्रह किया कि गाड़ीवान के अलावा हममें से भी कोई एक बारी-बारी से जागता रहे। ऐसा हमारे लिए यों भी कठिन न था क्योंकि रास्ते के झटके हमें अक्सर चौंका देते थे और आँख खुल जाती थी। लेकिन उन झटकों और डाकुओं के डर के बावजूद जब हमारी यात्रा संपन्न हो गई

और पौ फटने पर हम अपने गंतव्य पर पहुँचे तो मुझे कुछ खुशी न हुई।

अपने दूसरे भाई गोपि से भी मुझे बहुत लगाव था लेकिन साथ ही मैं उनसे डरता भी बहुत था। प्राय. लोगों की उनके प्रति यही प्रतिक्रिया होती थी। वे बड़े ज़िंदादिल और जीवट के व्यक्ति थे और उनके कारण कोट्टयम का निद्रालु वातावरण सदैव क्षुब्ध रहता था। वे बड़े अच्छे वक्ता थे और यंगमेन्स क्रिश्चियन एसोसिशन तथा यंगमेन्स हिन्दू एसोसिएशन के बड़े उत्साही कार्यकर्त्ता थे। कुछ समय तक उन्होंने हिन्दू पुनरुत्थान आन्दोलन में भी भाग लिया था। सुबह सवेरे वे घर-घर जाकर लोगों को जगाते थे ग्रौर अपनी भारी-भरकम आवाज़ से भजन गाया करते थे। कृष्ण पिल्लै नामक एक स्कूल इंस्पैक्टर से वे प्रभावित थे जो एक समाज सुधारक था और उसने जाति प्रथा तथा हिन्दू समाज की अन्य कुरीतियों के विरुद्ध ग्रावाज़ भी उठाई थी। पिल्लै ने इन सुधारों का श्रीगणेश अपने परिवार से किया था। उसने महिलाओं को यह उपदेश दिया कि वे सुबह उठते ही तालाब के ठण्डे पानी से स्नान किया करें। लेकिन हुआ यह कि वे सवेरे के रसोई आदि कार्य से निवृत्त होकर स्नान करने लगीं। उसके बाद कृष्ण पिल्लै ने एक चाल चली : वह ज़मीन पर गिर पड़ा और ऐसा अभिनय करने लगा मानो उस पर मिरगी का दौरा पड़ा है। कणियार जो उसे देखने आया, उसका लँगोटिया यार था। उसने कहा कि देवी भगवती का प्रकोप है क्योंकि मकान गंदा है और घर वालों ने सुबह उठते ही स्नान नहीं किया है। उसके बाद से स्त्रियाँ सूर्योदय होते ही पहले स्नान करती थीं और परिणामस्वरूप कृष्ण पिल्लै को मिरगी के दौरे पड़ने भी बन्द हो गये थे।

गोपि भाई की ज़िंदादिली पुरानी पीढ़ी को तो एक आँख न भाती थी लेकिन नई पीढ़ी के लोग इसी कारण उनसे ईर्ष्या करते थे। वे सुन्दर और साहसी थे इसलिए लड़कियाँ भी बहुत जल्दी उनसे प्रभावित हो जाती थीं। वे उन्हें छेड़ते भी थे और उनसे अजीब-अजीब शरारतें किया करते थे। विशेष रूप से बेकर मेमोरियल हाइ स्कूल की लड़कियाँ तो उनका नाम सुनकर सहम जाती थीं। वे उन पर सीटियाँ बजाते थे और उन्हें घर के नामों से पुकारा करते थे और वे बेचारी झेंप कर अपनी धोती में मुँह छिपाकर खिलखिला पड़ती थीं। उन्हीं में से एक लड़की ऐसी भी थी जिसके भाग्य में उनकी पत्नी होना बदा था। कभी-कभी गोपि भाई मर्यादा का उल्लंघन कर बैठते थे। उस ज़माने में कोट्टयम बहुत ही आचार-परायण शहर था लेकिन कुट्टा नामक एक सीरियाई ईसाई लड़की ऐसी भी थी जिसने एक नगर-वधू के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली थी और कुछ चुने हुए लोगों का उसके यहाँ आना-जाना था। मुझे याद है मेरी माँ ने बड़े भयभीत स्वर में अपनी कुछ सहेलियों को बताया था कि 'बहन, कुट्टा मुई ने तो मेरे बेटे गोपि

पर भी डोरे डालने शुरू कर दिये थे।' कुट्टा की आयु उस समय 20–25 वर्ष की रही होगी, वह बड़ी हट्टी-कट्टी लड़की थी। तीस वर्ष के बाद जब मैंने उसे देखा तो वह बूढ़ी डायन-सी लगती थी। अब वह पुट्टु* बेचकर अपनी जीविका चलाती थी। गोपि भाई बीते दिनों की याद ताज़ा करने के लिए अब भी उसी से पुट्टु ख़रीदने का आग्रह करते थे और अपनी पत्नी से कहा करते थे कि कुट्टा के पुट्टु का स्वाद कुछ और ही है।

उस समय तिरुवांकुर का एक दीवान अपनी लंपटता के लिए प्रसिद्ध था। जब कभी वह कहीं दौरे पर जाता तो वहाँ के अधिकारियों से यह आशा करता कि वे उसके रात्रि के आमोद-प्रमोद की व्यवस्था करें। एक बार वह कोट्टयम गया। कोट्टयम का तहसीलदार ब्राह्मण था और उसकी पत्नी बहुत सुन्दर थी। अतः उसने यह बहाना बना दिया कि मेरी पत्नी तो रजस्वला है, अलबत्ता कुट्टा रात को दीवान साहब का दिल बहला देगी। कुट्टा के सौंदर्य को बढ़ाने के लिए उसने अपनी पत्नी का हार उसे पहना दिया। कुट्टा ने अपना कर्त्तव्य-पालन तो बड़ी सफलता से किया किन्तु हार लौटाने से इन्कार कर दिया। यह बात सारे शहर में फैल गई और इसने एक लतीफ़े का रूप धारण कर लिया। तहसीलदार का लड़का हमारे साथ पढ़ता था और कुछ शरारती लड़के उसे छेड़ा करते थे, 'क्यों भई, तो कुट्टा ने तुम्हारी माँ का हार लौटा दिया था या नहीं ?'

गोपि भाई की हरकतें मेरे माता-पिता के लिए असह्य हो गई थीं। वे बहुत बुद्धिमान थे और अंग्रेज़ी तथा इतिहास में हमेशा पहला नम्बर लाते थे। लेकिन गणित में वे कोरे थे और बिना गणित में पास हुए वे इण्टरमीजिएट की परीक्षा पास नहीं कर सके। जब वे दो बार फ़ेल हुए तो उन्हें मद्रास भेज दिया गया। वहाँ भी वे गणित में ही फ़ेल हुए और लौटकर फिर कोट्टयम आगये, लेकिन इस मरतबा वे वहाँ से एक ऐसी चीज़ लाये जो कोट्टयम वालों ने पहले कभी देखी ही न थी—साइकिल। एक दिन एक नंबूद्री ने देखा कि मेरा भाई साइकिल चला रहा है और उसके मुँह में सिगरेट लगी हुई है तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उस बेचारे ने वह दृश्य पहले कभी न देखा था। उसने अपने घर वालों को जाकर बताया कि मैंने अभी एक बड़ी अजीब चीज़ देखी। एक आदमी एक गाड़ी पर बैठा था और उसके मुंह में धुँआ जा रहा था। मेरा ख़याल है कि धुँआ-अंदर जाकर उसकी गुदा से बाहर निकलता होगा और उसी से उस गाड़ी के पहिये चलते होंगे।

मेरे पिता गोपि भाई से बहुत तंग आ गये थे। किसी ने उन्हें सुझाया कि तुम अपने बेटे को इंगलैण्ड भेज दो। वहाँ वह इण्टरमीजिएट पास किये बिना ही

* पिसे हुए चावल और कतरे हुए नारियल से बना एक पकवान।

वकालत की परीक्षा पास कर लेगा। साथ ही कभी-कभी गोपि जैसे निकम्मे इंग्लैण्ड जाकर बिल्कुल वदल भी जाते हैं। लेकिन इसके अलावा मेरे पिता को इस खतरे से भी आगाह कर दिया गया कि अंग्रेज़ लड़कियाँ होती बड़ी खून चूसने वाली हैं और विदेशी तो उन्हें दिखाई दिया नहीं और उन्होंने उसे निगला नहीं। लेकिन हमारे भाई साहब तैयार नहीं थे कि उन्हें कोई लड़की निगल ले। लिहाज़ा यह निश्चय हुआ कि इंग्लैण्ड जाने के पहले ही उनकी शादी कर दी जाए और उन्होंने यह शर्त मान ली। उन्होंने कोट्टयम के पेशकार की सुन्दर लड़की से विवाह किया और उसके तीसरे दिन इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान किया।

कोच्चेटात्ति, मेरी भाभी, हमारे यहाँ प्रचलित रीति के अनुसार हमारे घर पर ही रहीं। उनकी उम्र चौदह वर्ष की थी और मैं आठ वर्ष का था। मैं उनसे बहुत हिल गया था। हम साथ-साथ स्कूल जाते, साथ-साथ घर का काम करते, एक ही हौज़ में नहाते और एक ही चटाई पर सोया करते थे। मुझे तो उनसे इतना लगाव हो गया था कि उनसे क्षण भर का वियोग भी मुझे खलता था। एक बार जबकि रजस्वला होने के कारण वे अलग कमरे में सोई थीं तो मुझे अकेले नींद नहीं आई थी। मेरी माँ ने मुझे लोरी देकर सुलाने की कोशिश की थी, लेकिन बेकार। परिणामस्वरूप कोच्चेटात्ति को मेरे कमरे में सोने की अनुमति दी गई और मैं भी खुशी-खुशी सो गया। लेकिन दूसरे दिन मुझे यह सज़ा मिली कि चूँकि मैंने एक गन्दी स्त्री का स्पर्श किया है इसलिए मैं भी गन्दा हो गया और मुझे किसी अन्य व्यक्ति को छूने के पहले हौज़ में डुबकी लगानी चाहिए। मेरा छोटा भाई जिसकी उम्र अभी पाँच वर्ष की थी भाभी को 'गोपि की बहू' कहते सुना करता था। चुनाँचे वह उन्हें 'बहू' कहने लगा। यह सुनकर कोच्चेटात्ति ने हँसकर कहा, 'मेरी स्थिति भी विचित्र है। एक भाई से मेरी शादी हुई है, दूसरा मुझे बहू कहता है और तीसरे के साथ मुझे सोना पड़ता है।'

इससे पहले कि कोई ग़लतफ़हमी पैदा हो, मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि कोच्चेटात्ति के साथ मेरे सम्बन्ध बिल्कुल बाल-सुलभ थे। यह कहना इसलिए आवश्यक है कि कहीं कैथरिन मेयो का कोई चेला इस पुस्तक को पढ़कर ग़लत नतीजे न निकाल ले। कैथरिन मेयो ऐसे अश्लील विचारों वाली महिला थी जो कहती थी कि प्रत्येक भारतीय का जीवन जन्म से मृत्यु तक विषय-वासना पर ही केन्द्रित रहता है। यदि उस समय मेरी आयु दुगुनी होती तो शायद कोच्चेटात्ति के साथ मेरा स्नेह शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम कहलाता लेकिन जैसा वह था उसे शायद बचकाना प्रेम कहा जा सकता है।

1908 में मेरे भाई एक विजेता के से अंदाज़ में इंग्लैण्ड से वापस आये। कोट्टयम में वही पहले व्यक्ति थे जो 'इंग्लैण्ड-रिटर्न्ड' माने जाते थे। उनकी

वापसी पर उनके हुलिये और आचरण के बारे में लोगों की बड़ी विचित्र कल्पनायें थीं। वे समझते थे कि एक तो उनका रंग निखर जायेगा और साथ ही वे अंग्रेज़ों की तरह बोलने लगेंगे। और हुआ भी कुछ ऐसा ही। इंग्लैण्ड में अपने प्रवास के दौरान उन्हें कुछ झुककर चलने की आदत हो गई थी। लिहाज़ा उनके देखा-देखी हमने भी कुछ झुककर चलना शुरू कर दिया और समझा कि शायद यह भी कोई फ़ैशन होगा कि चलते समय धड़ और टाँगें एक विशेष कोण पर रखी जाएँ। भाई की घड़ी भी जेब में न होकर उनकी कलाई पर बँधी हुई थी, अब वे सेफ़्टीरेज़र से दाढ़ी बनाते थे, उस्तरे से नहीं और रुमाल बजाय जेब के अपनी क़मीज़ के कफ़ में रखा करते थे। इन सबके अलावा वे अपने साथ एक बाजा भी लाये थे और यह बाजा—ग्रामोफ़ोन—कोट्टयम में पहली बार आया था। उन्होंने कालेज की भवन-निर्माण निधि की सहायता के लिए एक संगीत-कार्यक्रम का भी आयोजन किया जिसका टिकट यद्यपि चार आने था लेकिन उस कार्य-क्रम से एक हज़ार रुपये की आमदनी हुई। गोपि भाई कोट्टयमवासियों के लिए चार दिन की चाँदनी सिद्ध हुए।

वे इंग्लैण्ड से वापस आकर एक मास कोट्टयम में ठहरे और फिर वकालत करने मदुरै चले गये। उनके जाने से मेरे दिल को बड़ी ठेस पहुँची क्योंकि उनके साथ मेरी भाभी भी चली गईं। वे स्टीमर पर सवार होकर जब अपनी यात्रा के लिए चलीं तो बड़े स्नेह से उन्होंने हमें विदा कही। उस समय उनके उल्लास की सीमा न थी लेकिन वह उल्लास कितना क्षणिक था! सोलोन* ने ठीक ही तो कहा था, 'मृत्यु से पहले सुख कहाँ?' मेरी भाभी के जीवन के अंतिम दस वर्ष बड़े कष्टों में बीते। उन्होंने अपने सदाबहार पति के साथ क़दम मिलाने की बड़ी कोशिश की, लेकिन व्यर्थ। उनके चार बच्चे हुए जिनमें से तीन ने तो उन्हें सुख पहुँचाया लेकिन चौथे के कारण उन्हें इतने दुःख उठाने पड़े कि कलेजा छलनी हो गया। 50–55 वर्ष की आयु में ही उन्हें विभिन्न रोगों ने आ घेरा और 1955 में उनकी स्थिति चिंताजनक हो गई। जब वे अपनी अंतिम साँसें गिन रही थीं, तो मैं उनके पास मौजूद था। डॉक्टरों को उनके बचने की कोई उम्मीद न रही थी लेकिन मृत्यु जिस मंथर गति से आई और जिस प्रकार वह तिल-तिल करके मरीं उस पर सभी डॉक्टर चकित थे, क्योंकि उनके प्राण एक क्षीण धागे से बँधे रहे। अंततः वह धागा टूटा और उनके प्राण पखेरू उड़ गये। हम लोगों को उनसे असीम लगाव था। किन्तु हमने उनकी मृत्यु पर चैन की साँस ली क्योंकि ईश्वर ने उन्हें वर्षों की पीड़ा से मुक्त कर दिया था।

जब मेरी भाभी कोट्टयम से गई थीं तो मेरी उम्र चौदह-पन्द्रह वर्ष की थी

* एथेंस का दार्शनिक (लगभग 500 ई० पू०)—अनु०

और मैंने किशोरावस्था की गुदगुदी महसूस करना शुरू ही किया था। कोट्टयम के लड़कों में कुछ चुलबुलाहट के आसार दिखाई देने लगे थे और चर्च मिशनरी सोसाइटी कॉलिज के पीछे **अ्रण्णन कुन्नू** (गिलहरी पहाड़ी) इसी प्रकार के क्रिया-कलाप के कारण बदनाम हो चुकी थी। लेकिन वहाँ की वह चुलबुलाहट या प्रेमलीला उन भयंकर पाशव क्रियाओं और अस्वाभाविक यौन सम्बन्धों की तुलना में बहुत ही साधारण थी जो मुझे कुछ वर्ष बाद उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त में देखने को मिले। पेशावर में और उसके आस-पास लोगों में जितना द्वेष, आवेश और रक्तपात स्त्रियों के कारण दिखाई देता था उतना ही लड़कों के लिए भी पाया जाता था। मुझे पेशावर का एक वीभत्स काण्ड याद है जबकि दो हृष्ट-पुष्ट पठानों ने शाही गार्डन में एक छोटे लड़के के साथ अपनी वासना-पूर्ति की और अंत में इस डर से उसे मार डाला कि कहीं वह उन्हें पकड़वा न दे।

कोट्टयम में मेरा भी प्रेम-सम्बन्ध एक सुन्दर और बुद्धिमान लड़के से हो गया था जो वहाँ की एक आलीशान इमारत में रहता था। मुझे उसके साथ रहते हुए गर्व का अनुभव होता था। वह भी बड़े उत्साह से मुझे प्रेम पत्र लिखा करता था। जब मैं उनके उत्तर देने बैठता तो वह भावुकता और उत्साह कहाँ से लाता, अतः मैं **नेलसन्स लेटर्स टू लेडी हैमिल्टन** नामक पुस्तक में से पूरे-के-पूरे अंश नक़ल करके लिख देता था। यह पुस्तक मेरे भाई इंग्लैण्ड से लाये थे। हमारा यह बालाचार दो-चार वर्ष तक चला फिर बन्द हो गया और हम दोनों उसे भूल गये। लेकिन हमारी मैत्री आज भी उसी तरह जारी है।

इसी ज़माने में मेरा क़द बढ़कर पाँच फ़ीट ग्यारह इंच हो गया और मैं अपने पिता से पाँच इंच ऊँचा हो गया। लेकिन मैं था बिल्कुल ताँतिया और मेरी माँ ने समझ लिया था कि मैं वैसा ही कमज़ोर रहूँगा। वे मुझे अपने दुबले-पतले शरीर के कारण फ़ुटबाल खेलने से मना करती थीं और मेरे अध्यापकगण भी उनके प्रति ऐसे कृपाशील थे कि मुझे स्कूल की क़वायद से भी छूट दे देते थे। उस समय फ़ुटबाल हुल्लड़बाज़ी का खेल माना जाता था। अक्सर ऐसा होता था कि खेल समाप्त होने पर हारी हुई पार्टी रेफ़री को पीट देती थी और वह बेचारा अपनी जान बचाने के लिए भाग निकलता था। एक बार जब एक ज़ोरदार मैच ख़त्म हुआ तो मैंने देखा कि मैदान के चारों तरफ़ सिपाही रेफ़री को बचाने के लिए दौड़े और उसे अपने साथ ले गये। हमारे स्कूल में दो दल थे : एक खिलाड़ियों का और दूसरा अध्येताओं का। मेरी गिनती बाद वाली श्रेणी में की जाती थी और मैं खिलाड़ियों को बड़ी ईर्ष्या की दृष्टि से देखा करता था। मेरे स्वास्थ्य के प्रति मेरी माँ की चिंता ने मुझे सदा के लिए पंगु कर दिया था और मैं खेल-कूद में कभी दिलचस्पी न ले सका। अलबत्ता ऑक्सफ़ोर्ड में मैंने थोड़ा अभ्यास बाँस से डिंगी

चलाने का किया था और सीमाप्रांत में थोड़ी घुड़सवारी की थी।

बचपन में ही मेरे जीवन पर एक बड़ा हितकर प्रभाव मसीही धर्म का पड़ा था। उसी जमाने में एक बूढ़ी, सुंदर ईसाई महिला हर रविवार को बाइबिल लिये हमारे घर आया करती थीं। वे एक चटाई पर आकर बैठ जातीं जो उन्हीं के लिए सुरक्षित थी और 'न्यू टेस्टामेण्ट' में से दो-चार अध्याय पढ़कर सुनाया करती थीं। फिर वे हमारे साथ चाय पीतीं। कभी-कभी वे अपने साथ सीरियाई ईसाई पकवान चुरुट्टू* भी लाती थीं। और जिस शांति और शालीनता के साथ वे आती थीं वैसे ही वापस चली जाती थीं। न मालूम वे इतने नियमित रूप से हमारे यहाँ क्यों आती थीं ? संभवत: ईसाई मिशन वाले उन्हें कुछ रुपये इसी काम के लिए देते थे कि वे हिन्दू घरों में जाकर बाइबिल का पाठ करें। उन्होंने किसी को ईसाई मत में शामिल नहीं किया और न ही यह उनका लक्ष्य था, अलबत्ता उन्होंने बहुतों को अपना मित्र बना लिया था।

स्कूल में हम अधिक गंभीरता से बाइबिल का अध्ययन करने लगे। प्रति-दिन स्कूल के पहले घण्टे में धार्मिक ग्रंथों की शिक्षा दी जाती थी। हमने पहले चार सिद्धान्त और ईसा के पट्ट शिष्यों के आचरण तथा भजन तो एक-के-बाद एक लगातार पढ़ लिये लेकिन बाइबिल का हमारा अध्ययन, बाद के शेक्सपियर के अध्ययन की भाँति, केवल परीक्षा की दृष्टि से ही हुआ था। बाद में जाकर जब इम्तहानों का हौवा न रहा और मैंने ज्ञानार्जन के उद्देश्य से बाइबिल का पारायण किया तब कहीं मेरी समझ में उसका सौंदर्य और वाग्मिता आई और उसमें मुझे आनन्द भी आया। स्कूल में ईसा मसीह की प्रतिमा के प्रति हमारा आकर्षण तो था लेकिन चूंकि हमारे मस्तिष्क में रामायण और महाभारत की पौराणिक गाथाएं भरी पड़ी थीं इसलिए वह हमें पर्याप्त रूप से रोमांटिक न लगा। निस्संदेह ईसा मसीह के चमत्कार विस्मयकारी थे, लेकिन राम के साहस और शौर्य की कथाएँ कितनी आश्चर्यजनक थीं जिन्होंने सेनापति हनुमान के नेतृत्व में वानर सेना के साथ समुद्र पार करके लंका में प्रवेश किया और प्रतापी रावण तथा उसकी विशाल सेना को परास्त किया था। या दूसरी ओर कृष्ण का अलौकिक क्रीड़ा-कौतुक भी कम विस्मयकारी न था, जिनकी 16008 पटरानियाँ थीं और वे उन सभी को संतुष्ट रख सकते थे। हमारा निष्कर्ष तो यह था कि आखिर ईसा मसीह भगवान के पुत्र ही तो थे, हमारे राम और कृष्ण तो स्वयं भगवान के अवतार थे।

हमारे अध्यापकों को हमें बाइबिल पढ़ाते हुए कुछ विशेष कठिनाई थी। बाइबिल का मलयालम अनुवाद निकृष्ट कोटि का था। वह शाब्दिक

* चावल, आटे, गुड़, शहद और नारियल से बना एक मिष्टान्न।

अनुवाद था और इसी कारण उसमें मूल का सौंदर्य और शक्ति तो कहाँ से आती, कहीं-कहीं तो वह बिल्कुल ही उपहासास्पद हो गया था। भगवान मसीह की प्रार्थना का मलयालम अनुवाद ही उदाहरण के लिए ले लें। **गिव अस दिस डे अवर डेली ब्रेड** में 'ब्रेड' शब्द का अनुवाद अप्पम किया गया था। अप्पम गेहूँ से बनाई जाती है जो मलाबार भर में कहीं नहीं खाई जाती। हमारा प्रमुख खाद्य चावल है। मलाबारी बालक यदि कहे कि 'हमें आज हमारा दैनिक भोजन अप्पम दो' तो इसे उतना ही हास्यास्पद माना जायेगा जितना किसी अंग्रेज़ बच्चे से यह सुनना कि 'हमें आज हमारी दैनिक सूजी दो।' इसी प्रकार **लीड अस नॉट इनटु टेम्प्टेशन** का अनुवाद इतना भद्दा किया गया था कि उसका अर्थ यह निकलता था, 'हमें अपनी परीक्षा में असफल नहीं होना चाहिए'। और भगवान मसीह की प्रार्थना के इस अंश का मैं प्रायः पाठ किया करता था और मेरा मनोरथ भी हमेशा पूरा होता था।

मसीही धर्म का तो हम पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा, किन्तु हमारे ईसाई अध्यापकों के जीवन ने हमें अवश्य प्रभावित किया। वे उन लोगों में से थे जिन्होंने समझ-बूझ कर ईसा मसीह की शिक्षाओं के अनुकूल अपने जीवन को ढाला था। जैसे निष्ठावान, निःस्वार्थ और समर्पणशील क्रिश्चियन मिशनरी सोसाइटी स्कूल के सीरियाई ईसाई अध्यापक थे वैसे धर्मपरायण लोग मुझे कहीं देखने को नहीं मिले। उनमें मद्रास विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक काल के ग्रेजुएट थे जिन्होंने यदि सरकारी सेवा स्वीकार की होती तो वे उसी युग में ऊँचे-से-ऊँचा पद प्राप्त कर सकते थे, लेकिन उन्होंने 80 रुपये मासिक वेतन पर ही संतोष किया और अपने जीवन का लक्ष्य उस समूची पीढ़ी के मनुष्यों के जीवन-निर्माण को बनाया जिसके कुछ सदस्यों ने न केवल भारत में यश प्राप्त किया वरन् बाहर भी उनकी कीर्ति फैली। इन अध्यापकों की विशेषताएँ वे सद्गुण थे जिन्हें विशेष रूप से मसीही धर्म के सद्गुण माना जाता है। उनमें विनम्रता थी, सहिष्णुता थी, उत्सर्ग की भावना थी और उत्साह था। यदि उपर्युक्त लक्षणों में से किसी एक का भी आभास मेरे सरकारी या निजी जीवन में कहीं दिखाई दिया है तो इसका श्रेय मेरे उन्हीं ईसाई गुरुजनों को दिया जाना चाहिए। किन्तु मेरी पीढ़ी के अनेक नवयुवकों में जो वीरोचित गुण थे, जिन्होंने उन्हें स्वतन्त्रता-संग्राम में प्रमुख भूमिका निर्वाह करने के लिए प्रेरित किया, वे मुझमें नहीं थे और उनकी कमी के लिए अपने उन अध्यापकों को जिम्मेदार ठहराना मेरे लिए अशोभन होगा।

निस्संदेह मेरे सभी अध्यापक एक जैसे नहीं थे। श्री पी० एम० कुरियन का जो स्कूल के हेडमास्टर थे, बड़ा प्रभावशाली व्यक्तित्व था और वे बड़े कठोर अनुशासक थे। उनकी मृत्यु से कुछ सप्ताह पहले मैं उनसे मिलने गया था। उस समय

वे 84 वर्ष के थे और एक लम्बी बीमारी से तभी स्वस्थ हुए थे, लेकिन कुछ ही दिन बाद किसी और बीमारी ने उन पर आक्रमण किया। इस बुढ़ापे और कमज़ोरी के बावजूद उनकी आँखों में वही पुरानी आग थी और आवाज़ में वही पुराना दम बाक़ी था। यहाँ तक कि मैं—जो उस समय सोवियत संघ, हंगरी और पोलैंड में भारत का असाधारण राजदूत और पूर्णाधिकारी मंत्री था—उनके व्यक्तित्व से इतना अभिभूत था कि ऐसा महसूस कर रहा था मानो मैं स्कूली बच्चा हूँ जिसे अध्यापक के सामने ला खड़ा किया है। लेकिन श्री के० सी० चेरियन स्वभाव में भिन्न थे। यदि श्री कुरियन अपने व्यक्तित्व-बल से शासन करते थे तो श्री चेरियन अपनी सज्जनता से विद्यार्थियों के हृदयों पर शासन चलाते थे। उनकी चाल में वह तेज़ी न थी जो श्री कुरियन की चाल में पाई जाती थी। बल्कि इसके विपरीत उनके क़दम ज़मीन पर नपे-तुले पड़ते थे। उनके धैर्य की यह स्थिति थी कि चाहे तूफ़ान ही क्यों न आ जाए लेकिन वे कभी विचलित न होते थे। इसी तरह उनकी वाणी भी संयत थी, वे अनावश्यक रूप से एक शब्द का भी प्रयोग न करते थे, लेकिन उनकी कक्षा में पूर्ण अनुशासन रहता था। मैं उनका प्रिय शिष्य था और एक प्रकार से मैं उनका ऋणी भी हूँ क्योंकि उन्होंने ही मुझे अंग्रेज़ी कविता के भण्डार से परिचित कराया था। टेनिसन उनके प्रिय कवि थे। छुट्टियों के दिन वे मुझे अपने घर बुलाते थे, मेरा परिचय अपने आह्लादकारी परिवार से कराते थे और फिर हम मिलकर 'दि लेडी शैलट', 'सर गैलाहाड' और 'इन मेमोरियम'* पढ़ा करते थे।

अपने स्कूल के दिनों में टेनिसन की कविता ने मुझे बहुत मोहित कर लिया था, लेकिन ज्यों-ज्यों मेरी उम्र ढलती गई और मैं अधेड़ उम्र को पहुँचा, टेनिसन की कविता में मेरी रुचि घटने लगी। उसकी कविता बहुत ही सपाट, समतल और अतिकाव्यात्मक थी। कहीं-कहीं उसका भाव पक्ष भी मुझे सदंभ लगने लगा था। मुझे उसके इस दृष्टिकोण पर बड़ा क्रोध आता था :

मुझे चीन के पूरे युग से यूरोप के पचास वर्ष अधिक प्रिय हैं।

उस की दृष्टि :—

एक सदियों पुरानी दैवी घटना,
जिसकी प्रेरणा से समस्त सृष्टि को स्पंदन मिलता है।

---

* टेनिसन की प्रख्यात कविताएँ।

पर टिकी हुई थी। सृष्टि के अधिकांश भाग में बल्कि यूरोप ही में मानवता जिस दरिद्रता और उत्पीड़न का शिकार थी उसके प्रति वह बिल्कुल उदासीन दिखाई पड़ता है। विक्टोरियन युग के कवियों में मुझे टेनिसन से अधिक ब्राउनिंग पसंद था। ब्राउनिंग की कल्पना के पेच-ओ-खम और उनकी ऊबड़ खाबड़ काव्य-शैली मुझे टेनिसन की शांत तथा समतल शैली से अधिक भाती थी। मैंने अपनी पुस्तक **दिल्ली-चुंकिंग** में लिखा है कि मैंने हिमालय की क्रोड़ में बहती एक नदी के किनारे पैदल यात्रा की थी 'जो टेनिसन के सोते की भाँति कलकल करती थी और टेनिसन की ही भाँति बलबल करती थी जैसा कि उन्होंने अपनी प्रेरणाविहीन तथा पूर्ण रूप से आत्मसजग कविताओं में किया है।' इस वाक्यांश से श्री के० सी० चेरियन को ठेस पहुँची, उनका विचार था कि मैंने ऐसा कहकर एक बड़े कवि का अनादर किया है।

श्री चेरियन के लिए आदर या श्रद्धा का परम महत्त्व था। एक बार घण्टे भर तक वे टेनिसन की इन पंक्तियों की विशेषता पर व्याख्यान देते रहे थे :

> ज्ञान चाहे कितना ही बढ़ता जाए,
> किन्तु हमें श्रद्धा का दामन न छोड़ना चाहिए।

मरने से कुछ मास पूर्व उन्होंने मुझसे कहा था कि वर्तमान पीढ़ी में श्रद्धा का बड़ा अभाव है, यही कारण है कि मानवता की यह दशा हो गई है। मैंने उनकी बात स्वीकार करते हुए टी० एस० इलियट की ये पंक्तियां उद्धृत कीं :

> कहाँ वह जीवन जो भोग में खो गया ?
> प्रज्ञा का ज्ञान में तिरोभाव हो गया !
> कहाँ वह ज्ञान जो आँकड़ों में भटक गया ?
> बीस शताब्दियों का कालचक्र हमको,
> ईश्वर से दूर, धूल में पटक गया।

श्री के० सी० चेरियन इन पंक्तियों को सुनकर द्रवित हो उठे। उन्होंने ये पंक्तियाँ पहले कभी न सुनी थीं। उन्होंने उन्हें अपनी उद्धरण-पुस्तक में उतार लिया जिसे वह सत्तर वर्ष की आयु में भी अपने पास रखा करते थे। यह उद्धरण उनकी पुस्तक का अन्तिम उद्धरण था और मेरी उनसे अन्तिम भेंट भी।

मेरे पिता अंग्रेज़ी के क ख ग से भी परिचित न थे । उनको यह आशंका हुई कि अंग्रेज़ी शिक्षा मुझे आचार भ्रष्ट करने लगी है। हम कुछ मित्रों ने जो अभी चौदह-पन्द्रह वर्ष के ही थे, एक संस्था स्थापित की जिसका बड़ा भारी-भरकम नाम रखा 'द राइजिंग स्टार लिटररी एसोसिएशन' । मैं इस संस्था का अध्यक्ष चुना गया । मैं ही इसका पहला वक्ता भी था और मेरा विषय था 'अंध-विश्वास'। केरल, उस ज़माने में अंधविश्वास-ग्रस्त राज्य था और कुछ हद तक आज भी है । यहाँ तक कि हमारे चलने-फिरने पर भी ज्योतिषी की आज्ञा आवश्यक थी । जब कभी हम अपने जीवन का कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहते, उसका मुहूर्त ढूँढ़ना आवश्यक होता था और मुहूर्त ग्रहों की दशा तथा अनेक तत्त्वों पर निर्भर होता था । सगाई हो या ब्याह, बहू का गौना हो या नवजात शिशु का नामकरण, अन्नप्राशन हो या मुंडन संस्कार, यात्रारंभ हो या ओषधि-पान या वृक्षारोपण, शुभ मुहूर्त का मालूम करना ज़रूरी था । इसी तरह सगनों का भी महत्त्व था । यदि यात्रा पर जाते समय सबसे पहली चीज़ राजा, हाथी, गाय, वेश्या, शव, मदिरा, ज्वाला, घी, दही, शहद, चंदन, श्वेत पुष्प या कच्चा मांस दिखाई दे जाए तो उसका अर्थ था कि यात्रा सफल होगी और लाभकर भी। और यदि इसके विपरीत कोई पुजारी, विधवा, विकलांग, भंगी, गधा, भैंस, बिल्ली, तेल, नमक या जलाने की लकड़ी देख ले तो उसकी यात्रा अनिष्टकर होगी । यदि कोई रविवार को दूज का चाँद देख ले तो उसका अर्थ था आगामी चांद्र मास सुख-सुविधा में व्यतीत होगा । सोमवार लज्जा का, मंगल मृत्यु का, बुध भय का, गुरुवार धन का, शुक्रवार सुख का और शनिवार बीमारी का प्रतीक था । यदि कोई लड़की पहली बार रविवार को रजस्वला होती थी तो ऐसा माना जाता था कि वह अविवाहित रहेगी । सोमवार सतीत्व का, मंगलवार वैधव्य का, बुधवार मातृत्व का, गुरुवार अच्छी संतान का, शुक्रवार सौंदर्य का और शनिवार विपत्ति का प्रतीक माना जाता था । इन विश्वासों के थोथेपन और अनौचित्य के सम्बन्ध में मैंने राइज़िंग स्टार लिटररी एसोसिएशन की गोष्ठी में बड़ा धुआँधार भाषण दिया । सभा हमारे मकान 'गोपि विलास' के बरामदे में हुई थी और मेरे माता-पिता ने मेरा भाषण कहीं से सुन लिया और वे दंग रह गये। इस प्रकार के धर्म-विरुद्ध विचारों की अभिव्यक्ति न केवल विद्रोहात्मक थी वरन् पाप भी थी। मेरे पिता संस्था के सदस्यों के जाने की प्रतीक्षा करते रहे और उनके जाते ही वे मुझ पर बरस पड़े । कुसंस्कारों के विरुद्ध युवावस्था के मेरे विद्रोह का बस वही अंत था । उसके बाद मैं सुविधानुसार उनको मानकर संतोष कर लेता था हालाँकि मेरा उन पर विश्वास तब भी नहीं था । मुझे यह बात स्वीकार करने में तनिक संकोच नहीं है कि मैंने अपने सार्वजनिक तथा घरेलू जीवन में इसी प्रवृत्ति को

महत्त्व दिया है कि जो बातें महत्त्वहीन हैं उनका कम-से-कम विरोध किया जाए और मेरी सार्वजनिक ज़िन्दगी या घरेलू ज़िन्दगी में यदि मुझे कोई सफलता मिली है तो उसका श्रेय मेरी इसी प्रवृत्ति को दिया जाना चाहिए।

एक ऐसा अंधविश्वास है जो बचपन ही से मेरे पीछे लगा हुआ है। मुझे **करिणवक्कु** या 'काली जीभ' समझा जाता है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ मैंने किसी व्यक्ति या वस्तु की प्रशंसा में कुछ कहा और उसके साथ कोई दुर्घटना घटी। आज भी कोट्टयम में एक नारियल का वृक्ष है जिसमें समय से पहले ही यानी पौधा लगने के तीसरे वर्ष से ही फल आने लगे थे। मैं उस समय तीन साल का था, मेरी माँ बताती हैं कि उसे देखकर मैंने चकित स्वर में कहा था, 'अरे यह कितना सुन्दर फल है !' और बस उस वर्ष अन्तिम बार उस पेड़ में फल आये। बच्चों के लिए तो मैं विशेष रूप से ख़तरनाक साबित हुआ हूँ। जब कभी मैं किसी भी बच्चे को देखकर कहता कि यह तो बड़ा मोटा-ताज़ा है या बड़ा प्यारा बच्चा है या गोल-मटोल है तो उसकी माँ भय से काँप जाती और मुझसे आग्रह करती कि इसका हाथ या मुँह चूमो क्योंकि यह मान्यता है कि ऐसा करने से ही मेरी अशुभ वाणी का अनिष्टकारी प्रभाव नष्ट हो सकता है। एक बार मैं कोलंबो में श्रीमती कैथेल जेकब का अतिथि था। वहाँ मैंने उनकी मुर्ग़ियों की बड़ी प्रशंसा की क्योंकि वे बड़ी सुन्दर और स्वस्थ मुर्ग़ियाँ थीं और श्रीमती कैथेल स्वयं उन पर बड़ा गर्व करती थीं, जो वास्तव में ठीक भी था। अगली बार जब मैं उनके यहाँ ठहरा और मैंने मुर्ग़ियों के बारे में पूछा तो वे बोलीं, 'अरे साहब उनका ज़िक्र आप न करें। जिस दिन आप गये उसके अगले दिन से ही मुर्ग़ियाँ गर्दनें डालने लगीं और एक-के-बाद-दूसरी मरनी शुरू हो गई, और अब उनमें से एक भी नहीं बची है।' एक बार मैं श्री एन० आर० पिल्लै का शिमला में मेहमान था। हम दोनों बचपन के साथी थे। एक दिन उसने मेरे सामने अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए अपनी माँस पेशियाँ दिखाई। मैंने उन्हें देखकर प्रशंसात्मक स्वर में कह दिया कि तुम्हें तो पहलवान होना चाहिए था। उस दिन शाम को जब वह सचिवालय से लौटा तो उसे सख़्त नज़ला-ज़ुकाम था जो बढ़कर इंफ़्लुएंज़ा में तबदील हुआ और नतीजा यह हुआ कि वह बिचारा हफ़्ते भर बिस्तर से लगा रहा। लेकिन मेरे सबसे विख्यात अनिष्ट-भाजन स्तालिन थे। मैं उनसे 1953 में मिला। विश्व भर के समाचारपत्रों में यह ख़बर छपी क्योंकि स्तालिन से मुलाक़ात करना एक दुर्लभ सुयोग माना जाता था। ये अफ़वाहें भी उड़ रही थीं कि स्तालिन बीमार हैं, मृतप्राय हैं, या शायद मर भी गये।* क्रेमलिन से भारतीय

* एक अमरीकी समाचारपत्र ने तो यहाँ तक कहा कि जिस व्यक्तिसे मैं मिला था वह स्तालिन था ही नहीं बल्कि कृतिकोव नामक व्यक्ति था जो बोलशाइ थ्येटर में अभिनेता था और जिसने स्तालिन का अभिनय किया था।

राजदूतावास लौटने पर मैंने पत्रकारों को बताया कि स्तालिन पूर्णत: स्वस्थ दिखाई देते थे। यह 18 फ़रवरी की घटना है। स्तालिन 28 फ़रवरी को बीमार हुए और 5 मार्च को उनका देहावसान हुआ। इसके तीन सप्ताह बाद मैंने हंगरी में भारत के राजदूत के रूप में अपने प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत किये और मैं प्रधान मन्त्री राकोसी से मिला। घण्टे भर की बातचीत के बाद राकोसी ने कहा, 'मैंने जो कुछ आपसे कहा है आप वह सब पत्रकारों को बता सकते हैं सिवाय एक बात के कि मैं पूर्णत: स्वस्थ दिखाई देता हूँ।' बाद में मैंने अक्सर यह महसूस किया कि काश मैंने उनसे रुख़सत होकर यह कह दिया होता कि राकोसी स्वस्थ नज़र आते थे। इसका कारण यह है कि यदि किसी एक व्यक्ति को हंगरी की क्रांति के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता था तो वह यही दुष्ट यहूदी था जो यद्यपि हंगरी का मूल निवासी था किन्तु उसने हंगरी को पूर्णत: रूसनिष्ठ या स्तालिननिष्ठ बना दिया था। उसीने अपने देश की जनता के मस्तिष्क में स्तालिनवादी तत्त्व बलात् ठूँस दिये थे। लेकिन कब तक? आखिर यह सब उनके लिए असह्य हो गया, वे विक्षुब्ध हो उसके विरुद्ध विद्रोह कर बैठे और उन्होंने न केवल उसे झकझोर दिया बल्कि हंगरी में साम्यवादी जुए की बुनियादें भी हिलाकर रख दीं।

मेरे विचार में मेरी 'काली जीभ' की व्याख्या बेकन के अंधविश्वासविषयक निबन्ध की इस उक्ति में मिल सकती है जहाँ वह कहता है: 'जो लोग निशाना लगाते हैं वही कुछ कर गुज़रते हैं और जो निशाना ही नहीं लगाते उनका कोई महत्त्व नहीं।'

मेरा सामाजिक अन्त:करण जितनी सरलता से रुष्ट होता था, उसी सरलता से तुष्ट भी हो जाता था। मुझे याद है मेरी बारहवीं या तेरहवीं वर्षगाँठ थी जब मेरे पिता ने मेरे अध्यापकों को, जो सभी ईसाई थे, अपने घर खाने पर निमंत्रित किया था। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन सबके लिए भोजन बजाय खाने के कमरे के बरामदे में परोसा गया। इससे भी बढ़कर दु:खद बात यह थी कि भोजन समाप्त होने के पश्चात् उन सबको खुद ही केले की पत्तलें बरामदे में से हटानी पड़ीं क्योंकि नायर जाति का कोई भी नौकर उस पत्तल या प्लेट को हाथ नहीं लगाता था जिसमें किसी ईसाई ने भोजन किया हो। मैंने अपनी माँ से पूछा कि मेरे अध्यापकों के साथ आखिर ऐसा अभद्र व्यवहार क्यों किया गया? 'हमारे यहाँ का यही रिवाज है।' उन्होंने उत्तर दिया। अध्यापकों ने भी इस पर कोई रोष प्रकट नहीं किया, न ही वे इसे निरादर का प्रतीक मानते थे। वस्तुत: वे भली प्रकार जानते थे कि मेरे माता-पिता उनका बड़ा सम्मान करते हैं।

उन्होंने भी उसे रीति-रिवाज की संज्ञा देकर टाल दिया था। कुछ वर्ष बीत जाने पर जब मैंने सोफ़ोक्लीज़ की निम्नलिखित पँक्तियाँ पढ़ीं तो मुझे इस घटना और केरल में रीति-रिवाज के प्रकोप की याद आई।

बता सकते हो कि रूढ़ि कब से है ?
शाम पिछली से या पिछले साल से ?
नहीं दिन वर्ष कुछ वह जानती
अस्तित्व उसका है अनादिकाल से

हमारे यहाँ यह रिवाज चला आता था कि सवर्ण हिन्दू तो घर में प्रवेश कर सकता है, ईसाई की पहुँच केवल बरामदे तक हो सकती है, ईज़वा केवल बग़ीचे तक जा सकते हैं और परया केवल हमारे घर के सामने सड़क पर खड़े हो सकते हैं। एक बार मैंने अपने पिता की वर्षगाँठ पर देखा था और मुझे बड़ा अचम्भा हुआ था कि वहाँ के सैकड़ों हरिजन हमारी पत्तलों पर बची जूठन पर टूट पड़े थे। मेरी जिज्ञासा का निवारण मेरे बड़े-बूढ़ों ने उस समय यह कहकर कर दिया था कि ये लोग वास्तव में अपने पूर्व जन्म में किये पापों का फल भोग रहे हैं। और यदि ये इस जीवन में अपना आचरण ठीक रखेंगे तो अगले जन्म में इनका जीवन सुधर जायेगा। इसी प्रकार यदि तुम इस जन्म में सदाचरण नहीं करते तो तुम भी अगले जन्म में इन्हीं अछूतों की तरह हो जाओगे। और यदि इसके विपरीत तुम सदाचारी और सद्‌गुणी बने रहे तो शायद तुम्हारा अगला जन्म और ऊँची जाति में हो जाए, सम्भव है तुम ब्राह्मण कुल में जन्म ले लो। लेकिन मैंने उसी क्षण यह निश्चय कर लिया था कि मैं बहुत अधिक सदाचारी जीवन व्यतीत नहीं करूँगा क्योंकि अगले जन्म में ब्राह्मण बनकर मैं अण्डा, मछली, और मुर्ग़ी खाने के आनन्द से वंचित रहना नहीं चाहता था। इसके अलावा इसका एक कारण शायद यह भी था कि हमारे स्कूल में ब्राह्मण लड़कों को अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता था। हालाँकि इसमें उन बेचारों का कोई दोष न था, उनकी स्मरण-शक्ति अद्‌भुत थी, सभी विषयों में और विशेषकर गणित में वे अच्छे अंक भी प्राप्त करते थे, वेदों के पढ़ने की उन्हें स्वतन्त्रता थी जबकि हम उनसे वंचित थे, और प्रतिदिन **उट्टुपुरा** (सदाव्रत) में उन्हें मुफ़्त भोजन भी मिलता था। उस ज़माने में तिरुवांकुर ब्राह्मणों को सभी मंदिरों में राज्य की ओर से मुफ़्त भोजन दिया जाता था क्योंकि लोगों का विश्वास था कि राज्य की समृद्धि के लिए ब्राह्मणों की प्रार्थना आवश्यक है। कुछ वर्ष बाद तिरुवांकुर के एक ब्राह्मण दीवान ने अपूर्व साहस का परिचय देकर यह प्रथा समाप्त कर दी

क्योंकि यह स्वयं ब्राह्मणों के लिए बड़ी अहितकर थी।

मेरे पिता उस ज़माने के पिताओं की भाँति बड़े कठोर अनुशास्ता थे। उनके मुँह से निकली बात क़ानून की हैसियत रखती थी और हम सबको उनके बनाये हुए टाइम टेबल का सख़्ती से पालन करना पड़ता था। हम छह बजे उठते, सात से आठ तक स्कूल का काम करते, साढ़े आठ बजे चावल-काँजी खाते, उसके बाद स्कूल जाते जहाँ बीच में एक घण्टे की छुट्टी होती और फिर साढ़े चार तक स्कूल में रहते, पाँच से छह बजे तक हम अपने ही बाग़ में खेल खेलते, सात बजे अपने परिवार की प्रार्थना में सम्मिलित होते, फिर सात से आठ तक स्कूल का काम करते, सवा आठ बजे रात्रि का भोजन करते और नौ से दस बजे तक रामायण तथा महाभारत का पाठ सुनते थे। हमारी यह दिनचर्या ठीक उसी नियमितता के साथ जारी रहती जिस प्रकार सूर्य वर्ष भर निश्चित समय पर उदय होता है और निश्चित समय पर अस्त हो जाता है।

अपने जीवन के पहले बारह वर्ष तक मैं कोट्टयम में ही जमा रहा। उन दिनों मनोरंजन के लिए यात्रा करने का कोई रिवाज ही न था। कभी-कभार कोई वृद्ध दम्पति अपनी वसीयत लिखकर अलबत्ता बनारस चले जाते थे। बनारस की तीर्थयात्रा इस आशा से की जाती थी कि यदि तीर्थस्थान पर जाकर मरें तो हमारी अस्थियाँ गंगाजी में छोड़ दी जाएँ, और यह इच्छा कभी-कभी पूरी भी हो जाती थी। यह भी कभी-कभार ही होता था कि कोई उग्र-स्वभाव नवयुवक अपने मामा से लड़-भिड़कर श्रीलंका या मलाया के रबड़ या चाय-बाग़ान में क़िस्मत आज़माने के लिए निकल पड़ता था। तेरह-चौदह वर्ष की आयु तक जो सबसे लम्बी यात्रा मैंने की वह कोट्टयम से तिरुअनन्तपुरम तक की थी। तिरुअनन्तपुरम तिरुवांकुर की राजधानी थी। यहाँ मेरे पिता कोट्टयम से निर्वाचित सदस्य के रूप में 'प्रजा सभा' के अधिवेशन में सम्मिलित होने जाया करते थे। कोट्टयम से तिरुअनन्तपुरम की दूरी यद्यपि 96 मील की थी लेकिन उसमें हमें तीन दिन लगे थे। अहा! कैसी भव्य और सुखकर यात्रा थी वह! एक देहाती नाव में बैठे हैं, नदियों और नहरों और समुद्रताल में होती हुई वह गुजर रही है। ज्योंही नदी या समुद्रताल का वह अंश आया है जहाँ पानी इतना गहरा है कि नाविकों के लिए पतवार चलाना मुश्किल हो रहा है तो वे गाना गाते हुए मस्तूल खोल देते हैं और मस्तूल हवा के थपेड़ों से फूल जाते हैं और कभी हवा के ज़ोर से उलट जाते हैं और आगे को झुक जाते हैं। मल्लाह लोग मछलियाँ पकड़ रहे हैं और उन्हें पका कर हमें भी खिला रहे हैं और ख़ुद भी खा रहे हैं। एलिप्पि या कोयिलोण में नावें तट पर बाँध दी गई हैं और हम लोग नाव से निकलकर अपना खाना पकाने के लिए रेत पर उतर गये हैं। वहाँ हमने समुद्र में स्नान करके खाना

खाया है। नदी के किनारे नारियल के वृक्ष झूम-झूम कर हमारा स्वागत कर रहे हैं और हवा के थपेड़ों से चूर वे झुककर हमें नमस्कार कर रहे हैं। अष्टमुडी झील में तूफ़ान उठ रहा है और उसके थपेड़े हमें महसूस हो रहे हैं, पिताजी ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं कि हमें इस संकट से उबार! किन्तु झील से उठती लहरें हमारी नाव को वेग से खींच कर समुद्र की ओर ले जा रही हैं जो वहाँ से कुछ फ़र्लांग की दूरी पर रह गया है। प्रकृति हमारा आलिंगन कर रही है, कभी हमें झकझोरती है लेकिन अगले ही क्षण उसकी मुस्कान और उदारता हमें प्रसन्न कर देती है और इस प्रकार वह अपनी विभिन्न मुद्राएँ प्रदर्शित कर रही है। आह, अब हमारे भाग्य में ऐसी यात्रा कहाँ? अब कोट्टयम से तिरुअनन्तपुरम जाने के लिए नाव के तीन दिन नहीं बल्कि कार से तीन घण्टे लगते हैं और यदि कोट्टयम और तिरुअनन्तपुरम के बीच हवाई सेवा स्थापित हो जाए, जैसी कि कोचीन और तिरुअनन्तपुरम के बीच है, तब तो यात्रा केवल आधे घण्टे की रह जायेगी। जब सर चार्ल्स बेल ने दलाई लामा को यह बताया कि मिस एमी जॉनसन लन्दन से आस्ट्रेलिया अकेली एक वायुयान में उड़कर मिनटों-सेकण्डों में पहुँच गई थीं तो उन्होंने चकित स्वर में पूछा था, 'लेकिन उस महिला को ऐसी जल्दी क्या थी?' और उनके उस विस्मय में कितना तीखा व्यंग्य था।

घर के अतिरिक्त बस एक ही ऐसी संस्था थी जिससे हमें वही स्नेह था जो घर से, और वह था मंदिर। तिरुनाक्करा मंदिर हमारे लिए न केवल एक आराधना-गृह, एक सामाजिक सभा ही था बल्कि एक संस्कृति-केन्द्र भी था। हम वहाँ विशेषकर परीक्षा के दिनों में जाते थे और ईश्वर से प्रार्थना करते थे कि हे भगवान, गणित का पर्चा कठिन न बनवाना। एक नवयुवक और एक नवयुवती जिनको बड़े-बूढ़ों और ज्योतिषियों ने यह बता दिया था कि तुम्हारी आपस में शादी होगी—लेकिन उनका विवाह से पहले एक दूसरे से मिलना वर्जित था—इसलिए वे बज़ाहिर तो मन्दिर में पूजा के लिए आते थे लेकिन वास्तव में वे एक-दूसरे से मिलने के लिए जाया करते थे। उनके मित्र टहोके देते और उनकी खिल्ली उड़ाते हुए कहते थे, 'देख, देख वह आया तेरी प्रेमी, या वह रही तुम्हारी प्रेमिका।' उस मन्दिर में रामायण और महाभारत की कथा प्राचीन नृत्य शैली कथकली में प्रस्तुत की जाती थी, या ओट्टम तुल्लल* के माध्यम से गाकर। गाने की लय के साथ अभिनय भी होता था। या चक्यर, जो कि पुश्तैनी कथा वाचकों के कुल का सदस्य होता था, महाकाव्यों में से कथाएँ सुनाता था और पौराणिक गाथाओं के नायकों तथा खलनायकों की तुलना उनके आधुनिक प्रतिरूपों से किया

---

*नृत्य की शैली विशेष।

करता था। इस प्रकार वह नगर के बड़े-बड़े अधिकारियों की, जो जनता में बदनाम थे, ऐसी खिल्ली उड़ाता था कि श्रोता हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते थे। इन सबसे बढ़कर अप्रैल मास में आने वाला मंदिर-उत्सव था जो नृत्य, संगीत तथा आतिशबाजी आदि के साथ मनाया जाता था। इस पर्व पर हाथी भी बड़ी साज-सज्जा के साथ निकलते थे। एक बार एक मत्त हाथी बिफर गया और उसने अपने मालिक को जो शराब पिये हुये था, मौत के घाट उतार दिया और इस खबर की महीनों सारे शहर में चर्चा रही।

अपने जीवनकाल की संध्या में यदि कोई व्यक्ति अपने आरम्भिक जीवन के वैभव का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करता है तो यह स्वाभाविक ही है। किन्तु वस्तु-निष्ठ दृष्टि से देखा जाय तो मैं कहूँगा कि मुझसे अधिक सुखी बचपन शायद ही किसी का रहा होगा। मुझ पर सभी अपना स्नेह उँड़ेलते थे—मेरी माँ का अतिशय स्नेह, पिता का दूसरों की अपेक्षा मुझ पर अधिक स्नेह और इन सबसे बढ़कर मेरे अध्यापकों का स्नेह जो प्रोत्साहन तथा प्रशंसा से युक्त था। मुझमें आस्था भी असीम थी। संसार के क्रिया-कलाप ईश्वर की कृपा से ठीक हो रहे थे। उस समय मैं स्वप्न में भी यह नहीं सोच सकता था कि मेरे कोट्टयम से जाने के तीन वर्ष के अन्दर ही मानव समाज का एक भारी जनसमूह ईश्वर को स्वर्ग लोक तथा मृत्युलोक दोनों स्थानों से अपदस्थ करने का एक सुनिश्चित प्रयास करेगा या मेरे भाग्य में यह बदा है कि मैं अपने जीवन के नौ वर्ष स्वदेश के प्रतिनिधि के रूप में उन अधर्मी रूसियों के बीच व्यतीत करूँगा जो ईश्वर में विश्वास न रखते हुए भी मानवीय गुणों से सम्पन्न हैं। मेरी जन्म-कुंडली प्रख्यात ज्योतिषी कवि पंतालम कृष्ण वारियर ने तैयार की थी जिसमें बताया गया था कि मेरे ग्रहों का योग 'अन्य देशवासम्' का सूचक है। यह भविष्यवाणी तो सच्ची सिद्ध हुई क्योंकि 1914 के बाद मैं यदा कदा ही केरल आ सका था। दूसरी भविष्यवाणी 'सुन्दर स्त्री संभोगम्' थी जिससे अनुजी बड़ी क्षुब्ध हुई थीं। लेकिन मैंने उन्हें तत्काल बहला-फुसला कर शांत कर दिया और कहा कि 'स्त्री' मेरे संदर्भ में बहुवचन में न होकर एक वचन में प्रयुक्त हुआ है।

इस शती के आरम्भिक वर्षों में तिरुवांकुर के जीवन में समस्या का नितांत अभाव था। राजनीतिक समस्या तो कोई थी ही नहीं। ब्रिटिश साम्राज्य अपरिवर्तनीय, शाश्वत और यहाँ तक कि परोपकार-परायण माना जाता था। सद्गुण वती विक्टोरिया ने इतने लम्बे समय तक उस साम्राज्य का नेतृत्व किया कि ऐसा लगता है उनके गुणोंका उनकी मृत्यु के बाद भी कुछ अंश उस साम्राज्य

में क़ायम रहा। कुछ लोगों ने ब्रिटिश साम्राज्य की सदाशयता पर अपने संदेह प्रकट किये हैं किन्तु उसके अस्तित्व को वे भी मान्यता देते हैं। उस समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की भी माँग स्वाधीनता या डोमीनियन पद की न होकर अधिक से अधिक यही थी कि साम्राज्य के अन्दर रहते हुए हमें बृहत्तर स्वायत्त शासन प्रदान किया जाए। भारत का इतिहास इस प्रकार लिखा गया था और इस प्रकार हमें पढ़ाया गया था कि हम क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स को नायक और सिराजुद्दौला तथा अवध की बेगम को खलनायक मानते थे। स्कूल में निबन्ध-लेखन का एक प्रिय विषय था 'भारत में ब्रिटिश शासन के लाभ'। यह तो सच है कि बंग-भंग के फलस्वरुप राष्ट्रीयता की भावना ब्रिटिश माल के बहिष्कार और आतंकवाद की स्फुट घटनाओं के रूप में उभर रही थी, किन्तु इस जागरण का तिरुवांकुर पर कोई प्रभाव न पड़ा था। वहाँ की जनता अपने महाराजा की परिक्रमा से ही संतुष्ट थी। वहाँ के महाराजा बहुत सम्मानित व्यक्ति थे। यद्यपि शंकरन तंपी और शरवणा के विरुद्ध तो कहीं-कहीं खुसर-पुसर सुनाई दे जाती थी किन्तु महाराजा का व्यक्तिगत जीवन सर्वथा अनिंद्य था और लोग उन्हें देवता मानते थे। मेरी माँ प्रार्थना के समय उनका नाम लेना न भूलती थीं। वे उन्हें 'स्वर्णिम महाराजा जो हमारे अन्नदाता हैं' कहकर उनके मंगल और दीर्घायु की कामना करती थीं।

तिरुवांकुर में राजनीतिक समस्या तो थी ही नहीं, कोई सामाजिक समस्या भी नहीं थी। अलबत्ता वहाँ सामाजिक भेदभाव विद्यमान था और जाति-प्रथा जितनी व्यापक केरल में थी भारत में और कहीं नहीं थी। वहाँ न केवल चार प्रमुख जातियाँ थीं, बल्कि इनमें से प्रत्येक की सैकड़ों उपजातियाँ भी थीं, और एक जाति का सदस्य दूसरी जाति के सदस्य के साथ विवाह तो क्या भोजन भी नहीं कर सकता था। अधिकांश उपजातियाँ व्यवसायमूलक थीं। राजगीर का पुत्र राजगीर, बढ़ई का पुत्र बढ़ई और ज्योतिषी का पुत्र ज्योतिषी होता था और इस प्रकार पैतृक व्यवसाय ही उन उपजातियों का आधार था। सरकारी कार्यालयों के लिए कोई छीना-झपटी न होती थी और यही बाद में चलकर केरल के विनाश का कारण बना। वहाँ मानव आचार के नियंता उसके अधिकार न होकर उसके कर्त्तव्य माने जाते थे और जनता सामान्यतः गीता के इस उपदेश का पालन करती थी :

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

किसी ने कल्पना भी न की होगी कि वही केरल जो मेरे बचपन में इतना शांत और स्तब्ध था, पचास वर्ष के भीतर ही हर प्रकार की फूट और मतभेद से ग्रस्त हो जायेगा। अब वहाँ वर्गीय, साम्प्रदायिक, सैद्धांतिक सभी प्रकार का भेद-भाव विद्यमान है। कौन जानता था कि यह राज्य भारत में सबसे पहली—और शायद अंतिम भी—साम्यवादी सरकार का आसन बनेगा। और यही राज्य जहाँ किसी समस्या का नाम-निशान तक न था भारत का समस्या-प्रधान राज्य बन जायेगा ?

मद्रास

० ०

सन् 1914 जिस प्रकार इतिहास में एक मोड़ बनकर आया उसी प्रकार वह मेरे जीवन का भी एक मोड़ साबित हुआ। उन्नीसवीं शती के अनेक सुखद भ्रम बचकाने नज़र आये और मेरा बचपन भी सहसा समाप्त हो गया। 1914 में मैंने मैट्रिक की परीक्षा पास की और कॉलेज में प्रवेश की तैयारी करने लगा। घर में इस विषय को लेकर बड़ी गरमागरम बहस हुई कि मुझे अपनी पढ़ाई कोट्टयम में जारी रखनी चाहिए या तिरुअनंतपुरम में या मद्रास जाना चाहिए। मेरे भाई मद्रास भेजने के पक्ष में थे। उनका विचार था कि मद्रास जाने से मेरा मानसिक क्षितिज व्यापक हो जायेगा और मेरे गुण उभर आयेंगे। किन्तु मेरी माँ विरोधी दल का नेतृत्व कर रही थीं। वे समझती थीं कि मैं अभी उम्र में छोटा हूँ, कमज़ोर हूँ और मानसिक दृष्टि से इतना कच्चा हूँ कि मद्रास जैसे दूर स्थान पर मुझे भेजना उचित नहीं है। यह सच है कि मेरा भाई भी मद्रास पढ़ने गया था, लेकिन वह मेरी अपेक्षा आयु में बड़ा और शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट था। मेरे भाई का तर्क यह था कि मेरी शारीरिक दुर्बलता और मानसिक अपरिपक्वता को देखते हुए यह और भी आवश्यक है कि मुझे मद्रास भेज दिया जाए, क्योंकि वहाँ रहकर मैं आदमी बन जाऊँगा। इस पर मेरे पिता ने उपहासपूर्ण स्वर में कहा—जी हाँ, तुम्हारा जैसा आदमी जो साइकिल पर घूमे, बालमणि पावडर से अपने नथुने भरे रहे और तंबाकू से अपने कपड़े गंदे करता फिरे ? इस प्रकार दोनों पक्षों में खूब तर्क-वितर्क हुआ और अंततः मेरी माँ मान गईं और मुझे मद्रास भेज दिया गया।

वहाँ जाकर शुरू के कुछ दिनों तो मुझे घर की बहुत याद आई। वह पहला अवसर था जब मैं अपने परिवार से बिछुड़ा था। मेरा घर ही मेरा संसार था। वही सच्चे अर्थों में मेरा विद्यापीठ था, क्रिश्चियन मिशनरी सोसाइटी स्कूल तो मात्र एक सहायक संस्था थी जो मुझे परीक्षा की तैयारी में मदद देती थी। घर पर रहकर पुराणों के निरंतर अध्ययन तथा महाकाव्यों के पाठ का ही यह परिणाम था कि मैं जीवन और मृत्यु, सत्-असत् तथा उचित-अनुचित के रहस्यों से परिचित हुआ। घर ही मेरे लिए खेल का मैदान भी था। दूसरे लड़के तो बाहर मैदान में जाकर फ़ुटबाल जैसा अनियमित और मारधाड़ का खेल खेला

करते थे, लेकिन चूँकि मैं दुबला-पतला और कमज़ोर था इसलिए मुझे घर के आँगन में ही कुछ शिष्ट खेल खेलने भर की अनुमति दी गई थी। हमारा घर ही हमारे लिए क्लब की हैसियत भी रखता था। वहीं राइज़िंग स्टार लिटररी एसोसिएशन के सदस्य आकर विभिन्न विषयों पर विचार-विनिमय करते थे, हाँ ये विषय 'अंधविश्वास' की तुलना में कुछ कम अप्रीतिकर हुआ करते थे।

मद्रास आकर तो ये सब बातें बीती हुई याद बन कर रह गईं। वहाँ मुझे विशेष रूप से कोट्टयम के अपने बग़ीचे की याद बहुत सताती रही। उस बग़ीचे के पेड़-पौधे मेरे साथी-संगी बन गये थे: 'लाल नारियल' का वृक्ष जिसमें अन्य वृक्षों की तरह हरे रंग के फल नहीं आते थे बल्कि सुनहरे फल आते थे; नीम का पेड़ जिसके पत्तों की चेचक की बीमारी के दिनों में बड़ी माँग रहती थी क्योंकि नीम चेचक का मारक माना जाता था; काजू का दरख़्त जिस पर हम पत्थर फेंका करते थे और जिसके फलों को पकने के पहले ही हम उन्हें पत्थरों से मार कर गिरा लिया करते थे; कटहल का पेड़ जिसके फल ऐसे लटके रहते थे जैसे किसी अधेड़ उम्र की एमेज़ान स्त्री के गोल-गोल स्तन। इनके अलावा फ़र्न, जायफल के पौधे और लताएँ—छुई-मुई का पौधा जो छूते ही मुर्झा जाता था; चमेली का पौधा जिससे हमारे घर की स्त्रियाँ शाम को हौज़ में स्नान के बाद फूल तोड़ती थीं और उन्हें अपने जूड़ों में लगाया करती थीं, और परिणाम यह होता था कि रात को सारा घर एक नशीली सुगंध से महक उठता था। यह सुगंध स्त्रियों के जूड़ों में लगे चमेली के फूलों की, उनके माथों पर मले चंदन की और शरीर पर लगी उबटन की मिली-जुली सुगंध होती थी।

और अब इन तमाम चीज़ों से दूर मैं मद्रास में एगमोर की नैवल हॉस्पिटल रोड पर बने नं० दो के मकान में रह रहा था। मकान गली के नुक्कड़ पर स्थित था इसलिए उसमें कोई बग़ीचा नहीं था। उसी से लगी हुई एक **पारच्चेरि** (अछूतों की बस्ती) थी जहाँ स्त्री-पुरुष अपने मवेशियों के साथ और उन्हीं का-सा जीवन व्यतीत करते थे। वहाँ से जो सड़ाँध आती थी वह हमारे मकान के सामने से गुज़रती हुई नाली की दुर्गंध से टक्कर लेती थी। वहाँ हर साल हैज़ा फैलता था और सैकड़ों निवासी उसके शिकार होते थे। हमारे सिर पर भी हर वक़्त यह ख़तरा मँडराता रहता था कि बस अब हमारी बारी आई। नैवल हॉस्पिटल रोड पर तीन-चार मकान यूरेशियनों के थे जहाँ से दिन-रात ग्रामोफ़ोन की ढमाढम की आवाज़ सुनाई देती रहती थी।

मेरे छात्रावास के सभी साथी मुझसे उम्र में बड़े थे। मैं तो उनके सामने अपने को बहुत ही कच्चा और नौसिखुआ महसूस करता था। वे सब भरे-पूरे जवान थे और मैं अभी बच्चा ही था—और बच्चा भी कैसा अपनी माँ का

लाड़ला। पहले-पहल तो मैं उनसे डरता रहता था क्योंकि वे बड़े अशिष्ट और अक्खड़ थे और उनकी भाषा भी बहुत ही फूहड़ और भद्दी थी। मेरी स्थिति एक ऐसे पौधे की-सी थी जिसे तापघर में उगाया गया हो और फिर अचानक उसे धूप और हवा में छोड़ दिया गया हो। लेकिन धीरे-धीरे मैं अपनी झेंप पर क़ाबू पाता गया और मुझमें कुछ मर्दों का-सा साहस भी पैदा होने लगा।

मद्रास में मेरे दो साथी ऐसे थे जो मेरे आजीवन मित्र बन गये। एक एन० कृष्णन तंपी और दूसरा के० आर० गोपाल पिल्लै। उन दोनों में जो स्वभावगत भिन्नता थी वह अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्णन तंपी ने अपना समस्त जीवन तिरुवांकुर की स्वास्थ्य-सेवा में बिता दिया और अपनी उद्यमशीलता तथा लगन से वहाँ हैज़ा, चेचक तथा फ़ाइलेरिया जैसी महामारियों का प्रायः उन्मूलन कर दिया। इन घातक रोगों का हर वर्ष उस राज्य पर प्रकोप होता था। दूसरी ओर के० आर० गोपाल पिल्लै ने जीवन में कुछ भी करके न दिया। अलबत्ता एक काम उसने सफलतापूर्वक किया और वह यह था कि उसने शादी कर ली। लेकिन शीघ्र ही उसने यह महसूस किया कि विवाहित जीवन कोरा जंजाल है और उसने उस लड़की को छोड़ दिया। इस सबके बावजूद वह बड़ा दिलचस्प और ज़िन्दादिल आदमी था। वह कोट्टयम में घर-घर जाकर अपने मित्रों से मिलता था। नये मित्र बनाता, अपनी रोचक बातों से बूढ़ी स्त्रियों का दिल बहलाता, और तरुण लड़कियों को उनके गाने सुनकर प्रसन्न किया करता था। और जब कभी उसकी सत्तर वर्षीय वृद्ध माँ का स्वास्थ्य ठीक होता तो वह तिरुवांकुर के एक-एक क़स्बे में जाकर यही काम किया करता था। वह जहाँ भी पहुँच जाता वहाँ का वातावरण सौम्यता और मैत्री-भाव से भर जाता था। यदि ऐसा व्यक्ति सोवियत संघ में होता तो उसे साइबेरिया भेज दिया जाता। सोवियत संघ के संविधान में लिखा है : जो हाथ-पैर नहीं हिलाता उसे खाने को भी नहीं मिलेगा। लेकिन के० आर० गोपाल पिल्लै ने यह दिखा दिया है कि आदमी बिल्कुल निठल्ला रहकर भी न केवल ख़ुद सुखी रह सकता है बल्कि दूसरों को भी सुखी बना सकता है। यदि समाज में उस जैसे व्यक्ति न हों तो वह समाज कितना नीरस और अरोचक हो जायेगा; किन्तु साथ ही यदि समाज का हर सदस्य उसकी तरह निष्क्रिय और अकर्मण्य हो जाए तो समाज रहेगा ही कहाँ ?

मद्रास में हम बड़ी मितव्ययिता से जीवन व्यतीत करते थे। हमारा मासिक भत्ता, जिसमें कॉलेज की फ़ीस भी शामिल थी, कुल तीस रुपये था। खाने-पीने पर हम 18 रुपये प्रति मास से अधिक ख़र्च नहीं कर सकते थे। हमारे लॉज में भोजन का प्रबंध सामूहिक रूप से होता था और हर महीने हममें से ही एक व्यक्ति उसका हिसाब-किताब देखता था। जब मेरी बारी आई तो मैं बड़ी उलझन

में पड़ गया। मैं न तो रसोइये पर नियंत्रण रख सकता था और न ही उसका लेखा जाँच सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि उस महीने प्रत्येक व्यक्ति का मासिक व्यय 18 रुपये से बढ़कर 20 रुपये हो गया। मेरे साथियों ने मेरी कड़ी आलोचना की और फलस्वरूप मैं फूट पड़ा। तब उन्हें मुझ पर दया आई और उन्होंने मुझे उस कठिन कार्य से मुक्त कर दिया। इसी प्रकार की स्थायी छूट मुझे शादी के बाद भी मिल गई थी। मेरे लिए सबसे अप्रिय काम पैसों का हिसाब रखना है। मुझे जब यह मालूम हुआ कि अनुजी का दिमाग़ इन कामों में खूब चलता है और वे घर के आय-व्यय का भार लेने के लिए तैयार हैं, तो मुझे बड़ी राहत मिली। नौकरी ख़त्म होने के समय, जब मैं मास्को में राजदूत था, मेरी मासिक आय 9700 रुपये थी। इनमें से 250 रुपये स्टेट बैंक ऑफ इंडिया में मेरे नाम जमा हो जाते थे और बस यही रक़म ऐसी थी जिसे मैं अपनी कह सकता था। मैं इस राशि को चंदों में खर्च करता था।

मद्रास में रहने से मेरी अनेक ग्रंथियों का उपचार हो गया जो कोट्टयम में ही पैदा होनी शुरू हो गई थीं। वहाँ मैं आत्म-केन्द्रित होता जा रहा था। मद्रास ने मुझे अपने साथियों की संगति में रहने का आदी बनाया। वहाँ रहने से मेरा भूत-प्रेत का भय भी जाता रहा। यदि मैं यह कहूँ तो कोई अत्युक्ति न होगी कि कोट्टयम में मैं दो तरह की दुनिया में रहता था। एक दुनिया मेरी माँ के इर्द-गिर्द आबाद थी और दूसरी दुनिया में भूत-प्रेत और पिशाच बसते थे। ज्योंही मैं मद्रास में दाखिल हुआ ये सारे भयानक प्राणी अदृश्य हो गये। उनका प्राकृतिक निवास तिरुवांकुर के समुद्रताल और नदी के किनारे थे और वहाँ के घने जंगल थे जहाँ हर समय अँधेरा रहता था। मद्रास में, जहाँ धूप और रोशनी थी, उनके पनपने की कोई संभावना नहीं थी। न ही मद्रास में कोई रामन कुंजु कणियार था जो उनके बारे में अनेकों कहानियाँ सुनाकर मेरे कल्पना-लोक में उन्हें बसा देता।

मद्रास में मेरा जो परिवेश था उसमें अनेक चीजें ऐसी थीं जिनमें मुझे रुचि थी और वहाँ मैं अंतर्मुखी न रहकर बहिर्मुखी होता गया। वहीं मैंने इतना व्यायाम किया जितना जीवन में कुल मिलाकर भी न किया था। मैं दूर-दूर तक टहलने जाता, विशेषकर मैं टहलता-टहलता समुद्र तट पर पहुँच जाता—वही समुद्र तट जिसे उस समय मद्रास की गरिमा माना जाता था। मैंने वहाँ टेनिस खेलना भी शुरू कर दिया और समाचारपत्र पढ़ने की भी आदत डाल ली। कोट्टयम में तो मैं सिर्फ़ एक अख़बार ही पढ़ा करता था **मलयाल मनोरमा** जो उस समय साप्ताहिक पत्र था। घर के सभी सदस्य हर शनिवार की शाम को

दिये के आसपास एकत्र हो जाते और **मलयाल मनोरमा** पढ़ते और उसमें भी ख़ासकर मेरे भाई का 'लंदन का पत्र' पढ़ा करते थे। मद्रास में हम सरकार समर्थक **मद्रास मेल**, सरकार विरोधी **न्यू इन्डिया** और शांत, मध्यममार्गी **हिन्दू** पढ़ते थे।

मद्रास में मेरा विचार-जगत तिरुवांकुर की अपेक्षा बहुत बड़ा हो गया था। मेरे सहपाठी मद्रास प्रेसिडेंसी के विभिन्न भागों से आये थे और विभिन्न भाषाएँ बोलते थे : तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम। कुछ छात्र उत्तर भारत के भी वहाँ पढ़ने आते थे। उनमें सबसे अधिक आकर्षक एक कश्मीरी लड़की कुमारी हण्डू थी जो क़द में ऊँची और छरहरे बदन की सुन्दर लड़की थी, वही आगे चलकर लेडी रामाराव बनी। अंग्रेज़ी साहित्य के प्राध्यापक मार्क हंटर की वह प्रिय शिष्या थी। अधिकतः होता यह था कि विभिन्न प्रदेशों के छात्र अपने-अपने ग्रुप बनाते थे और दूसरों से अलग-अलग रहते थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि साम्प्रदायिक और धार्मिक बंधन टूट जाते थे और विभिन्न प्रान्तों के विद्यार्थियों में भी मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो जाते थे।

यहाँ मैं मद्रास के अपने एक ऐसे अद्‌भुत अनुभव का भी उल्लेख कर दूँ जिसने मुझे बड़ी उलझन में डाल दिया था। मेरा ही हमउम्र एक नवयुवक, जो सौंदर्य-प्रेमी होने के साथ-साथ एक हद तक आदर्शवादी भी था, मेरे निकट संपर्क में आया। उसका कलाकारों के घराने से सम्बन्ध था और वह स्वयं भी कलाकार था। उसका चेहरा आकर्षक था और ओंठ लाल थे जो भारतीयों में कम के होते हैं। उससे मेरी मैत्री सर्वथा सात्विक थी, बल्कि यदि शुद्ध आध्यात्मिक कहा जाए तो ग़लत न होगा। शुरू-शुरू में जब वह मेरी ओर प्रवृत्त हुआ तो मुझे न केवल प्रसन्नता हुई बल्कि मैंने बड़े गर्व का अनुभव किया। उसने यह सुझाव रखा कि हमारी दोनों की मैत्री विवाह के द्वारा अधिक दृढ़ हो सकती है—लिहाज़ा उसकी शादी मेरी भतीजी के साथ हो जाए और मैं उसकी रिश्ते की बहन से विवाह कर लूँ। मैं एकदम तैयार तो हो गया, लेकिन मेरी सहमति कुछ उत्साहविहीन-सी थी। हम अक्सर टहलते-टहलते समुद्र के किनारे पहुँच जाते, रेत पर बैठ जाते और वहाँ किनारे की ज़मीन पर वह मेरी भतीजी का तथा मैं उसकी बहन का नाम लिखता और फिर हम देखते कि पानी की बढ़ती हुई लहरों ने वे नाम मिटा तो नहीं दिये और यदि पानी उन्हें मिटा देता तो हम अपशकुन माना करते थे। मैं तो इन सारी बातों को यों ही मज़ाक़ समझ रहा था लेकिन मैंने बाद में यह अनुभव किया कि वह इस विषय में ख़ासा गम्भीर था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसका आग्रह बढ़ता गया। जब भी वह मुझे किसी और के साथ देखता, ईर्ष्या से जल उठता। लेकिन जब उसने इस प्रकार मेरी

आत्मा पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न किया तो मैं उससे बचने लगा क्योंकि मेरी आत्मा ने उसके इस दृष्टिकोण पर अंदर-ही-अंदर विद्रोह किया। लेकिन अन्दर-ही-अन्दर मैं विद्रोह कर भी सकता था, बाहर तो मुझमें इतना साहस था नहीं कि उसे झिड़क दूँ और न ही मैं इतना निष्ठुर हो सकता था कि उसे कष्ट पहुँचाऊँ। अलबत्ता, कुछ वर्ष पश्चात् जब मैं ऑक्सफ़ोर्ड गया तो उसका साथ छूट गया। मैंने वहाँ जाकर उसे पत्र लिखना बन्द कर दिया और वह इतना अभिमानी था कि खुद पत्र-व्यवहार नहीं कर सकता था। तीन वर्ष बाद जब मैं भारतीय सिविल सेवा में प्रविष्ट हुआ तो मुझे उसका एक पत्र मिला जो भावातिरेक से भरा हुआ था। उसमें उसने अपने अगाध स्नेह और मेरे मौन पर अपनी व्यथा व्यक्त की थी और मुझे उसकी बहन तथा अपनी भतीजी के बारे में हुए क़रार की याद दिलाई थी। उसने लिखा था कि मुझे अब भी तुम्हारी भतीजी से प्रेम है और मेरी बहन भी अब तक तुम पर जान छिड़कती है। मैंने जवाब में उसे लिखा कि वे सब भूली-बिसरी बातें हो गईं, और मैं बचपन की उस घटना को बिल्कुल भूला चुका हूँ। खेद है कि मैंने तुम्हें पहले इस बात से अवगत नहीं कराया, जिसके लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ। मेरे इस उत्तर से उसके दिल को भारी ठेस पहुँची और उसने जो भी लड़की पहले मिली उससे विवाह का प्रस्ताव रखकर उससे शादी कर ली। शादी के पहले ही दिन वह उससे ऊब गया और उसे छोड़-कर उसने दूसरा विवाह कर लिया, फिर उसे भी छोड़ दिया और अंत में वह अध्यात्मवाद की ओर प्रवृत्त हुआ—उसने दाढ़ी बढ़ा ली और योगी बन गया।

मैं स्वीकार करता हूँ कि शायद उसके जीवन-नाटक का मैं ही खलनायक था। मुझे उसे धोखे में नहीं रखना चाहिए था या यों कहिये कि मुझे उस पर यह प्रकट नहीं करना चाहिए था कि यदि वह मुझे धोखा देरहा है तो मैं उसमें आसानी से फँस जाऊँगा। लेकिन उस ज़माने में बल्कि उसके कई वर्ष बाद तक मेरी यह स्थिति थी कि मैं अपने स्वाभाविक संकोच के कारण कभी किसी व्यक्ति के मुंह पर 'नहीं' कहने का साहस नहीं कर सकता था। जब चीनी क्रान्ति के पहले मुझे चीन भेजा गया तब मैं समझता था कि चीनियों की भी यही कमज़ोरी होती है। चीनी विदेश कार्यालय ने शायद ही कभी हमें नकारात्मक उत्तर दिया हो। हमें उनके उत्तर के संदर्भ के बारे में उसके आने में हुए विलंब, सरकार की प्रतिक्रिया प्रकट करने वाले अधिकारी का स्वर आदि देखकर यह अनुमान लगाना पड़ता था कि उत्तर नकार में है। किसी ने महिला और राजनयिक के बीच अंतर बताते हुए कहा है कि यदि कोई महिला 'नहीं' कहे तो उसका तात्पर्य 'शायद' होता है, यदि वह 'शायद' कहे तो उसका अर्थ 'हाँ' होता है और यदि वह 'हाँ' कह बैठे तो वह महिला ही नहीं है। इसके विपरीत जब एक राजनयिक 'हाँ' कहता

है तो उसका मतलब होता है 'शायद' और जब वह 'शायद' कहता है तो उसका अर्थ है 'नहीं' और यदि वह 'नहीं' कह दे तो वह काहे का राजनयिक। अपने मद्रासी मित्र से 'नहीं' कहने में मुझे जो संकोच रहा और मेरे 'हाँ' कहने से भी जब 'शायद' अर्थ ही निकला तो मुझे यह मान लेना चाहिए कि मेरे भावी जीवन के लक्षण मुझमें तभी उभरने लगे थे।

केवल राजनयिकों की ही क्या बात है, अन्य व्यक्ति भी जो दूसरे क्षेत्रों में प्रतिष्ठित हो चुके हैं अपने साथियों और मित्रों के साथ अपने व्यवहार में इसी नीति का पालन करते हैं। बेंजामिन फ्रैंकलिन* ने कहा है, ''मैंने यह नियम बना लिया था कि मैं ऐसी कोई बात न कहूँगा जिससे दूसरे का प्रत्यक्ष खंडन हो और उसकी भावनाओं को ठेस पहुँचे और न ही अपनी बात इतनी निश्चयात्मकता से कहूँगा कि दूसरा उस पर बहस कर सके। साथ ही मैंने अपनी भाषा के ऐसे शब्दों और अभिव्यक्तियों का प्रयोग भी अपने लिए वर्जित कर दिया था जिससे किसी सुनिश्चित मत की ध्वनि निकलती हो, जैसे **निश्चित रूप से** अथवा **निस्संदेह** आदि। इसके विपरीत मैंने ऐसे शब्द अपनाये थे जैसे, **मेरा विचार है, मुझे ऐसा लगता है** अथवा **मैं समझता हूं** कि यह बात यों नहीं यों होगी, या **मैं तो फ़िलहाल ऐसा समझता हूं**। जब कभी किसी व्यक्ति ने ऐसी बात कही जिसे मैं ग़लत समझता था तो मैंने उसका एकदम खंडन कभी न किया, न ही उसके कथन की मूर्खता उस पर प्रकट की। बल्कि मैंने अपना उत्तर इस प्रकार देना शुरू किया कि हो सकता है परिस्थिति विशेष में या कुछ खास मामलों में आपकी राय ठीक हो लेकिन प्रस्तुत संदर्भ में मुझे लगता है कि बात कुछ भिन्न है, आदि आदि। मैंने अपने आचार-व्यवहार में जो यह परिवर्तन पैदा किया इसका लाभ भी मुझे तत्काल ही मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारी बातचीत में कभी कटुता नहीं आने पाई बल्कि वह हमेशा सुखद वातावरण में जारी रही। जिस विनम्र ढंग से मैंने अपना मत प्रकट किया उसको तत्काल मान लिया गया और उसका खंडन भी बहुत ही कम हुआ। जब कभी मैं ग़लती पर हुआ तब भी मुझे कोई मन:संताप नहीं हुआ और जब कभी मेरी बात सही हुई तो मैं दूसरों को अपनी ग़लती मानने और अपना समर्थन करने के लिए तैयार कर सका।'' कुल मिलाकर देखें तो यही मेरा भी अनुभव रहा है।

मेरा मद्रास पहुँचना था कि पहला विश्वयुद्ध छिड़ गया। ग्रेट ब्रिटेन की उस विकट अग्नि-परीक्षा में सभी ओर से राजभक्ति का प्रदर्शन किया जा रहा

* अमरीकी राजनीतिज्ञ और दार्शनिक (1706–1790)

था। मुझे याद है मद्रास की एक आम सभा में भारतीय राजनीतिज्ञों, उच्च-न्यायालय के न्यायाधीशों, डॉक्टरों, वकीलों, अध्यापकों और विद्यार्थियों ने ब्रिटेन के पक्ष को न्यायोचित ठहरा कर बड़े धुआँधार भाषण दिये थे और उसकी विजय के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान देने की तत्परता प्रकट की थी। किन्तु द्वितीय महायुद्ध के छिड़ने पर इस प्रकार का कोई लोक प्रदर्शन नहीं किया गया, यद्यपि उस समय ब्रिटेन का पक्ष अधिक न्यायपूर्ण था। उस समय जनमत कांग्रेस की इस घोषणा से प्रभावित था कि ब्रिटेन ने युद्ध में कूदने से पहले भारत से कोई परामर्श नहीं किया था और चर्चिल ने ब्रिटेन के युद्ध-लक्ष्य प्रकट करने से इन्कार कर दिया था। वास्तव में देखा जाए तो चर्चिल ने जान-बूझकर भारत को अटलांटिक चार्टर के अधिकार-क्षेत्र से निकाल दिया था जिसकी संयुक्त घोषणा चर्चिल और राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने की थी। इसके अलावा रूज़वेल्ट की चार स्वतन्त्रताएँ किसी भी रूप में भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्थानापन्न नहीं हो सकती थीं जिसके लिए यहाँ की जनता तन-मन से प्रयत्नशील थी।

मद्रास में हमें दूसरे शौक़ों के अलावा एक शौक़ आम सभाओं में भाग लेने का भी था। हम दर्जनों व्याख्यान सुनने जाया करते थे। व्याख्यान सुनने का चस्का मुझे कोट्टयम में एस० के० नायर नामक व्यक्ति ने लगाया था। उसका व्यवसाय ही व्याख्यान देना था और उसका व्यक्तित्व भी बड़ा प्रभावशाली था। उसके मूँछें भी थीं और गलमुच्छे भी और वह हमेशा अच्छी-से-अच्छी अंग्रेज़ी वेशभूषा में रहता था। उसकी ख़ासी बड़ी तोंद थी जिस पर एक सुनहरी घड़ी और ज़ंजीर लटकती रहती थी। वह अपनी तोंद के इस्तेमाल से अपने भाषण को अधिक सबल बना दिया करता था। एक बार मैंने देखा कि उसने कभी अपनी तोंद दायीं ओर को मोड़ी और कभी बायीं ओर, और कहा, 'मैं न हिन्दू हूँ, न बौद्ध, न ईसाई और न मुसलमान,' और फिर तोंद को सामने करके और उसे ऊपर-नीचे हिलाकार ज़ोर देते हुए कहा, 'मैं उदासीनतावादी हूँ।' एस० के० नायर प्रायः तिरुवांकुर से ग़ायब रहता था। और जब वह लौटकर आता तो कहता, 'जब मैं जापान के मिकादो के साथ चाय पी रहा था, या सुन यात-सेन ने मुझसे रात को खाने पर राज़दारी के लहजे में कहा,' इत्यादि, इत्यादि। न जाने वह उन लोगों से कभी मिला भी था या नहीं मुझे आज तक मालूम न हो सका।

व्याख्यान ही एस० के० नायर की जीविका का एक मात्र साधन था। जब भी वह तिरुवांकुर के किसी क़स्बे में जाता तो वहाँ के किसी ऐसे बड़े अधिकारी से संपर्क स्थापित करता जो बदनाम होता या जिसका अतीत संदिग्ध होता और उसके सामने व्याख्यान के लिए सौ टिकट रख देता जो एक रुपया फ़ी टिकट की दर से बेचे जाने होते। यदि वह अफ़सर टिकट बेचने में असफल

रहता तो नायर अपने व्याख्यान के दौरान उसकी कमज़ोरियों का बड़ी बेदर्दी से पर्दा फ़ाश करता और वह बेचारा सारे क़स्बे के उपहास का विषय बन जाता। लेकिन यहाँ यह बता देना भी ज़रूरी है कि एस० के० नायर अपनी वाक्पटुता और विदग्धता से हुई आमदनी का हमेशा सदुपयोग किया करता था। उसी आय से उसने अपने भतीजे जी० पी० शेखर को उच्च शिक्षा दिलाई। जी० पी० शेखर के पिता जी० पी० पिल्लै बड़े कट्टर देशभक्त और प्रतिष्ठित पत्रकार थे और अभी उनका पुत्र छोटी उम्र का ही था कि उनका देहांत हो गया था। पिल्लै की पत्नी मद्रास और मलाबार में अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थी।

जी० पी० शेखर की मैत्री अर्डली नार्टन से भी हो गई थी जो अंग्रेज़ वकील था और भारत के न्यायालयों में उसकी बड़ी अच्छी प्रैक्टिस थी। वह शेखर के माता-पिता का भी निकट मित्र था। ऐसी निकटता भारत में दुर्लभ थी इसलिए लोग उनके सम्बन्ध में उलटी-सीधी बातें बनाने लगे क्योंकि सामाजिक दृष्टि से अंग्रेज़ लोग भारतीयों से अपने को कुछ फ़ासले पर रखते थे। मद्रास में उस ज़माने में रूढ़िवाद अपनी चरम सीमा पर था। जाति-प्रथा बड़ी बलवती हो रही थी और मान्य परिपाटी से हटकर जो भी आचरण किया जाता, चाहे वह कितना ही निरीह क्यों न होता, रोषपूर्ण दृष्टि से देखा जाता था। और विशेषकर यदि वैसा आचरण करने वाली स्त्री हो तो उसे और भी खतरनाक समझा जाता था।

मद्रास के एक और परिवार से मेरा संपर्क था, जिसके बारे में भी तरह-तरह की बातें मशहूर थीं। डॉ० स्वामिनाथन एक मेधावी ब्राह्मण वकील थे जिन्होंने एक अब्राह्मण नायर लड़की से विवाह कर लिया था जो उम्र में उनसे बहुत छोटी थीं। उन्हें अम्मु पर अपार गर्व था और वे चाहते थे कि उसे अंग्रेज़ी संस्कृति की नीलमपरी बना दें। अम्मु को प्रकृति ने अपार सौंदर्य प्रदान किया था और उसने सहज ही पाश्चात्य संस्कृति का मुलम्मा अपने ऊपर चढ़ा लिया था। मेरे भाई उन्हें अच्छी तरह जानते थे और उन्होंने मुझसे भी कहा था कि तुम जाकर उनसे मिलना। मुझे उनसे मिलने की कोई विशेष इच्छा नहीं थी क्योंकि हम दोनों में कोई साम्य था ही नहीं, हम दोनों के रास्ते अलग-अलग थे। मैं दब्बू-झेंपू विद्यार्थी था और वह एक निडर तितली थी जो अपने सौंदर्य और तड़क-भड़क से समाज को मोहित कर लेती थी। लेकिन चूँकि भाई का आग्रह था इसलिए मैंने अपना एक मात्र सूट पहना, रेल का एक आने का टिकट ख़रीदा और चेटपुट जाकर गिलक्रिस्ट गार्डन्स में स्थित उनके मकान में उनसे मिला। मकान में एक बटलर ने मेरा स्वागत किया जो एक लम्बा कोट पहने और पगड़ी बाँधे हुए था। उसने मुझे काग़ज़ का एक पुर्ज़ा दिया और कहा इस पर

अपना नाम और काम लिख दो। काम तो मुझे कोई था नहीं, अलबत्ता मैंने अपना नाम लिख दिया और वह बटलर मुझे एक खूबसूरत ड्राइंग रूम में ले गया जहाँ मैं कुछ देर प्रतीक्षा करता रहा। कुछ ही मिनट बाद पंखे खोल दिये गये और मुझे सीढ़ियों पर किसी के चलने की खटखट की आवाज़ सुनाई दी। क्षण भर ही बीता होगा कि मैंने देखा एक अपूर्व कांतिमयी महिला मेरे सामने खड़ी थीं जिन्हें देखकर मैं स्तंभित रह गया। उन्होंने मुझे ढाढ़स बँधाने की भरसक कोशिश की लेकिन उनकी इस कोशिश से मेरी घबराहट और बढ़ती गई। कोई आधा घण्टे के बाद जब एक सुन्दर व्यक्ति वहाँ पहुँचा तो मुझे कुछ तसल्ली हुई। परिचय कराने पर मालूम हुआ कि वह बैरिस्टर ईथिराज है। वह बहुत ही शांत और शालीन था और उन दोनों का वार्तालाप अत्यन्त सुरुचिपूर्ण तथा शिष्टता के वातावरण में हुआ। उन्हें बातें करते देख मुझे बड़ी ईर्ष्या हुई। अम्मु के संकेत पर उसने मुझे अपनी कुत्ता टमटम में बैठाया और उसे खुद ही चलाता हुआ मुझे अपने निवास पर छोड़ गया। मैंने अपने साथियों को बड़े गर्व से बताया कि मैंने आज समाज के उच्च वर्ग की पहली झलक देखी लेकिन वह झलक मेरे लिए कैसी कड़ी परीक्षा साबित हुई यह मैंने किसी को न बताया।

जब मैंने अम्मु स्वामिनाथन को दुबारा देखा तो लगभग तीस वर्ष बीत चुके थे। अब हम उन्हें चेरि अम्मा या 'नन्हीं अम्मा' के नाम से पुकारते थे। इस अर्से में हम दोनों में क्या-क्या कुछ परिवर्तन न हुए थे। मैं भारतीय सिविल सेवा में कुछ-न-कुछ नाम कर चुका था और चीन में भारत का एजेंट-जनरल नियुक्त हो चुका था। डॉ० स्वामिनाथन का देहान्त हो चुका था। उनकी दो पुत्रियाँ थीं जिन्हें भारतव्यापी ख्याति मिल चुकी थी। इनमें से एक तो लक्ष्मी थी जो सुभाष चंद्र बोस के नेतृत्व में संघटित आज़ाद हिन्द फ़ौज (आई० एन० ए०) में रानी झाँसी सैनिक दल की कमांडर थी और दूसरी मृणालिनी थी जो नर्तकी के रूप में सुविख्यात हुई। ईथिराज ने जो मुझे अपनी कुत्ता टमटम में घुमाकर मेरे निवास पर छोड़ गया था, लाखों रुपये कमाये जिनमें से दस लाख मद्रास के एक महिला कॉलेज को दान दे दिये। वही व्यक्ति जो तीस वर्ष तक मद्रास के अत्यंत वरणीय ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करता रहा था, अब अपनी अंग्रेज़ पत्नी का वफ़ादार पति बन चुका था। वह अंग्रेज़ स्त्री इंग्लैण्ड में उसके साथ पढ़ा करती थी, वह उसे भूल चुका था लेकिन एक दिन सहसा वह हिन्दुस्तान आ गई और उसकी पत्नी बन गई। उधर अम्मु स्वामिनाथन राजनीति में आकर संसद-सदस्य बन गई थीं। वे एक सफल कार्यकर्त्री थीं और भारत के शिष्ट मंडल के एक आदर्श सदस्य के रूप में जापान और ईथोपिया जैसे दूरस्थ देशों में जा चुकी थीं।

मद्रास ही में सबसे पहले मैं अंग्रेज़ों के संपर्क में आया। कोट्टयम में तो केवल एक ही अंग्रेज़ था और वे थे श्री एफ० एन० आस्कविथ जो क्रिश्चियन मिशनरी सोसायटी स्कूल के प्रधानाचार्य थे। उनकी तावदार मूँछें थीं और उनके यहाँ एक जंगी कुत्ता था जो क्लास रूम में भी उनके पीछे-पीछे चला आता था। लेकिन उनका-सा अनुशासन बहुत कम स्कूलों में रहा होगा। एक बार मलयालम के मुंशी जिनकी कक्षा में हमेशा हो-हल्ला मचा रहता था, आस्कविथ साहब के पास गये और उनसे शिकायत की कि तीन विद्यार्थियों ने मेरे साथ बदतमीज़ी की है। उनमें से एक तो (दंडस्वरूप) दिया हुआ काम कर रहा है, दूसरा बेंच पर खड़ा है और तीसरा मेरी जेब में है। मुंशी जी की जेब में उस लड़के का नाम था जिसने दिया हुआ काम करने तथा बेंच पर खड़ा होने से इन्कार कर दिया था। आस्कविथ साहब ने उस लड़के की बेंत से पिटाई की। एक और अवसर ऐसा आया जब पड़ोसी छात्र का चाकू चुराने के अपराध में एक लड़के को सारे स्कूल के सामने दण्ड दिया गया था। उस ज़माने में शारीरिक दंड को बुरी नज़र से नहीं देखा जाता था।

तिरुवांकुर में अंग्रेज़ों की बड़ी इज्ज़त थी। लेकिन उन लोगों के सम्मान में कुछ मात्रा हास-परिहास की भी थी। लोग यह समझते थे कि अंग्रेज़ों के पूँछ होती है। हमारे पिता ने हमें एक क़िस्सा सुनाया था कि एक बार तिरुवांकुर हाइकोर्ट का जज हंट, जो एक अंग्रेज़ था, निरीक्षण के लिए कोट्टयम आया। एक नंबूद्री ने कई बार उसकी कुर्सी के चक्कर काटे और यह देखना चाहा कि उसकी दुम कहाँ है। अंग्रेज़ों की पूँछ के बारे में एक ऐसी कहानी प्रसिद्ध थी जिस पर सभी को विश्वास हो जाता था। जब हनुमानजी राम के सहायतार्थ भारत से छलाँग मार कर सीता की खोज में लंका पहुँचे तो एक सुन्दर अप्सरा उनके सामने आ खड़ी हुई। उसे देखकर हनुमानजी के मन में उसको प्राप्त करने की इच्छा बलवती हो उठी। लेकिन उनकी वह इच्छा उन्हें अपने कर्त्तव्य से च्युत न कर सकी। फिर भी अनायास उनके पसीने की एक बूँद समुद्र में गिर पड़ी जिसे एक मछली निगल गई। मछली तैरती-तैरती कहीं दूर जा निकली और उत्तर में किसी द्वीप पर जाकर उसने अंडे दिये। अंग्रेज़ जाति उसी मछली की संतान है।

मद्रास में अंग्रेज़ों की संख्या तिरुवांकुर से कहीं अधिक थी। जिन्हें हम जानते थे वे सब मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज के प्रोफ़ेसर थे। इस कॉलेज के संस्थापक डॉ० विलियम मिलर थे, जो कई वर्ष तक उसके प्रिंसिपल भी रहे। यहाँ तक कि लोग उस कॉलेज को मिलर स्कूल कहने लगे। मद्रास में जब मैं कॉलेज के अंतिम वर्ष में था तो एक भारतीय श्री जे० बी० राजू को वहाँ प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त किया गया था और अंग्रेज़ों के इस निर्णय को बड़ा साहसिक और उदारता-

पूर्ण माना गया था। श्री राजू बड़े सुन्दर वक्ता थे, लेकिन मेरे विचार में उनकी वक्तृता में वाचालता अधिक थी। उनके एक प्रिय व्याख्यान का विषय था ईश्वर के अस्तित्व के बारह प्रमाण। जब मैं ऑक्सफ़ोर्ड गया तो वहाँ श्री राजू के बारे में एक अजीब कहानी सुनने में आई। कुछ वर्ष पूर्व वे वहीं से पढ़कर आये थे। वहाँ भी वे एक धाराप्रवाह वक्ता के रूप में विख्यात थे, साथ ही उन्होंने मिशनरी कामों में भी ख़ासी दिलचस्पी दिखाई थी। एक बार वे एक ऐसी लड़की के साथ देखे गये जिसका नाम प्रॉक्टर की काली पुस्तक में दर्ज था। जब राजू से स्पष्टीकरण माँगा गया तो उन्होंने कहा, 'श्रीमन् मैं तो उस लड़की को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न कर रहा था।' प्रॉक्टर ने उन्हें समझाया और कहा कि आप दूसरों को सन्मार्ग पर लाने की बजाय अपनी पढ़ाई की ओर अधिक ध्यान दें।

क्रिश्चियन कॉलेज के अंग्रेज प्रोफ़ेसर बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनमें से एक तो कॉर्ली साहब थे जो बड़े मेधावी थे और ऑक्सफ़ोर्ड में सेंट जॉन्स कॉलेज में पढ़ाते थे। उनका कूबड़ निकला हुआ था और वे धूप की तलाश में मद्रास आ गये थे। दूसरे इतिहास के प्रोफ़ेसर मैक्फ़ेल साहब थे, उनके पास क़िस्से-कहानियों का एक अक्षय भंडार था जिन्हें वे साल-ब-साल दोहराते चले जाते थे। तीसरे मैकार्टनी साहब थे जो आधे अंधे थे, लेकिन जब वे अंग्रेज़ी कविता पढ़ाते थे तो मालूम होता था वे कविता से असाधारण रूप से प्रेरित हैं। चौथे पिटेंड्रिघ साहब थे जिनका उनके मन की कोमलता के कारण दादी अम्मा पिटेंड्रिघ नाम पड़ गया था और पाँचवें मेस्टन साहब थे जो यू० पी० के गवर्नर के भाई थे। जब कभी पिटेंड्रिघ साहब की कक्षा में शोर-गुल होता था तो उन्हीं को अनुशासन स्थापित करने के लिए बुलाया जाता था। उनमें सबसे महान् वहाँ के प्रिंसिपल डॉ० स्किनर थे। उनके आदर्श महान् थे और उनके व्यक्तित्व से विद्यार्थी बहुत प्रभावित थे। वे उनका आदर भी करते थे, उनसे डरते भी थे और उनसे प्रेम भी करते थे। वे बारी-बारी से अपने छात्रों को चाय पीने के लिए अपने बँगले पर बुलाते थे जो एगमोर में स्थित था। एक बार जब हमने देखा कि चाय बहुत गरम है, तो उसे ठण्डी करने के लिए सासर में उँडेल लिया। श्रीमती स्किनर ने बड़ी विनम्रता से हमें बताया कि ऐसा करना उचित नहीं और हमें यह कहावत सुनाई कि 'जैसा देस वैसा भेस।' एक ढीठ लड़का बोल उठा, 'आख़िर यह भारत ही तो है, फिर आप यहाँ रहकर हमारा अनुकरण क्यों नहीं करतीं?' लेकिन श्रीमती स्किनर यों हार मानने वाली नहीं थीं उन्होंने तुरंत कहा, 'ठीक है जब मैं आपके घर आऊँगी तो आपका ही अनुकरण करूँगी।'

क्रिश्चियन कॉलेज के सभी प्रोफ़ेसर सम्मान्य व्यक्ति थे। लेकिन एक अन्य ईसाई मिशन में एक दंपति के साथ हमारा अनुभव बड़ा विचित्र रहा। मान्यवर

एफ० डबल्यू० हैण्डरसन और उनकी पत्नी का मकान आसपास के छात्रों के लिए हमेशा खुला रहता था जहाँ वे अपने मैदान में उन्हें टेनिस भी खिलाया करते थे। मैं और मेरे साथी उनकी इस उदारता का पूरा फ़ायदा उठाया करते थे। हमें उनके मकान पर लेशमात्र भी असुविधा नहीं होती थी और हमें वहाँ रोजाना टेनिस खेलकर और हर हफ़्ते चाय पीकर बड़ा आनंद आता था। श्रीमती हैंडर-सन हफ़्ते में एक बार हमें चाय पिलाया करती थीं। एक दिन हैण्डरसन साहब ने प्रस्ताव रखा कि हम सब एक ग्रुप फ़ोटो खिचवाएँ, हम सब भी खुशी-खुशी राज़ी हो गये। कुछ मास बाद हमने अपना फ़ोटो एक विदेशी पत्रिका में देखा जिसका शीर्षक था : 'भगवान ख्रीष्ट के अधुनातन अनुयायी।' इसी विषय को लेकर उस दिन रात को हमारे छात्रावास में बड़ी गरमागरम बहस हुई। मेरे कुछ मित्रों ने सुझाव दिया कि आज से हमें कभी हैण्डरसन के मकान पर क़दम भी नहीं रखना चाहिए क्योंकि यह फ़ोटो सरासर धोखा है। हम सब हिन्दू हैं, भगवान ख्रीष्ट के अनुयायी नहीं। लेकिन कुछ साथियों का तर्क यह था कि हमें ऐसा बढ़िया खेल का मैदान और वह भी मुफ़्त और कहाँ मिलेगा ? कुछ साथियों का विचार था कि हैण्डरसन ने यह तिकड़म इसलिए की है कि जिन लोगों से उन्हें पैसा मिलता होगा उनको यह बताना पड़ता होगा कि हमने यहाँ इतने लोगों को ईसाई बनाया। और उन्हीं पैसों से उनका घरबार भी चलता होगा और ये खेल के मैदान भी। मेरे साथियों में एक ने मेरी ओर संकेत करते हुए कहा, 'क्या तुमसे अधिक सच्चा हैण्डरसन का कोई शिष्य हो सकता है जबकि बाइबिल की परीक्षा में तुम्हीं को हमेशा पहला इनाम मिलता है ?' अंत में यह निश्चय हुआ कि हमारा एक शिष्ट-मंडल हैण्डरसन साहब से जाकर मिले और अपने फ़ोटो के प्रकाशन तथा उसके मिथ्या शीर्षक पर अपना आश्चर्य और आक्रोश प्रकट करे। हैण्डरसन साहब ने भी आश्चर्य व्यक्त किया। उन्होंने यह तो माना कि फ़ोटो उन्होंने उस पत्रिका में प्रकाशन के लिए भेजा था लेकिन शीर्षक की ज़िम्मेदारी उन्होंने अपने सिर लेने से इन्कार कर दिया। संभवत: पत्रिका के संपादक ने वह शीर्षक स्वयं लिख दिया होगा, मैं संपादक को पत्र लिखकर उनसे क्षमायाचना के लिए कहूँगा। लेकिन वह क्षमायाचना न होनी थी, न हुई और हम हैण्डरसन साहब के मैदान में बराबर टेनिस खेलते रहे और उनके आतिथ्य का लाभ उठाते रहे। श्रीमती हैण्डरसन ने इस घटना के बाद शनिवार की चाय के कप के साथ एक केक पीस भी जोड़ दिया।

मद्रास में कॉलेजों की कमी न थी, किन्तु क्रिश्चियन कॉलेज उनमें सर्वश्रेष्ठ था। कम-से-कम हम तो यही समझते थे। सरकार द्वारा संचालित प्रेसिडेंसी कॉलेज की स्थिति तो निस्संदेह बेहतर थी, उसके प्रोफ़ेसरों के वेतन भी अधिक

थे और वहाँ के छात्रों की वेशभूषा भी अच्छी थी। लेकिन हमारा विचार यह था कि वहाँ से लड़के सिर्फ दंभी बन कर निकलते हैं। दूसरी ओर लोयोला कॉलेज था जिसकी मद्रास में कुछ वर्ष बाद स्थापना हुई थी, लेकिन उसकी केवल एक विशेषता थी कि वह विद्यार्थियों को प्रथम श्रेणी प्राप्त करने की कला सिखाता था। कालांतर में मुझे एहसास हुआ कि उन कॉलेजों के बारे में हमारे निर्णय कितने विवेकहीन और अनुदार थे। मैं लोयोला कॉलेज के प्रिंसिपल डॉ० जैरोम के० डिसोज़ा के सम्पर्क में आया; वैसे तो वे जेज़ुइट पादरी थे लेकिन उनमें वह धार्मिक असहिष्णुता नाम को नहीं थी जिसे यूरोपीय इतिहास के कुछ अध्येताओं ने जेज़ुइट पंथ के साथ जोड़ दिया है। रोमन कैथोलिक होने के बावजूद वे कैथोलिक से अधिक भारतीय थे और देशभक्ति में भी उतने ही उत्साहशील थे जितने कैथोलिकवाद में। जब मैं भारत सरकार में विदेश-सचिव था तो हमने उन्हें कई बार संयुक्त राष्ट्र की महासभा के शिष्ट-मंडल में सम्मिलित किया था। वे भारत सरकार के बड़े प्रभावशाली प्रवक्ता थे और गोआ तथा पांडिचेरी के मामलों पर तथा पुर्तगाल से हमारे संबंधों पर उनके विचारों का बड़ा महत्त्व था। विशेष रूप से दक्षिण अमरीकी राज्यों के प्रतिनिधि उनको बहुत मानते थे। वे बड़े प्रकाण्ड विद्वान थे लेकिन विद्वता या पांडित्य ने उनकी मानवसुलभ प्रवृत्तियों को नष्ट नहीं किया था, वे जीवन की सामान्य क्षुद्रता पर नाक-भौं नहीं चढ़ाते थे। 1948 में जब वे पेरिस में आयोजित महासभा के अधिवेशन में सम्मिलित हुए तो फ्रांस के एक समाचारपत्र ने लिखा, 'भारतीय शिष्टमंडल का सबसे प्रभावशाली सदस्य एक लम्बा और सुन्दर रोमन कैथोलिक पादरी है जो संयुक्त राष्ट्र की लॉबी में अक्सर दिखाई दे जाता है, उसके एक हाथ में मदिरा का ग्लास और दूसरे में एक लड़की होती है।' मैं नहीं जानता कि डॉ० डिसोज़ा ने अपने सौम्य व्यक्तित्व की छाप लोयोला कॉलेज पर छोड़ी या नहीं। अलबता, जहाँ तक मेरे कॉलेज का प्रश्न है उस पर वहाँ के बड़े-बड़े प्रिंसिपलों—मिलर, स्किनर और बॉयड—की छाप आज भी देखी जा सकती है।

क्रिश्चियन कॉलेज में जितना ध्यान सामाजिक तथा पाठ्यक्रमेतर क्रिया-कलाप पर दिया जाता था मद्रास की शायद ही किसी और संस्था में दिया जाता होगा। वाद-विवाद संस्थाओं और स्वाध्याय मंडलों के गठन को वहाँ बहुत प्रोत्साहन दिया जाता था। वहाँ समय-समय पर वाक्-प्रतियोगिताओं का भी आयोजन किया जाता था। इन प्रतियोगिताओं में से एक में मैंने भी भाग लिया था, **द चाइल्ड इज फ़ादर ग्राफ़ द मैन**। हमें दो घण्टे उस विषय पर सोचने के लिए दिये गये ताकि हम पंद्रह मिनट का भाषण तैयार कर सकें। मुझे उसमें पहला पुरस्कार पाकर बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि दूसरे प्रतियोगी सभी मुझसे

बड़े थे। अपनी उस अप्रत्याशित सफलता का एक ही कारण मेरी समझ में आता है कि मैंने जो वहाँ एक बचकाना चुटकुला सुनाया था वह पिटेंड्रिघ साहब को भा गया, उस प्रतियोगिता की अध्यक्षता वही कर रहे थे। बचपन में पड़ी आदतें मनुष्य के जीवन के अन्त तक जारी रहती हैं---इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए मैंने कहा, 'जो लड़का धूम्रपान जैसे कुव्यसन का शिकार होगा उसका अन्त व्हिस्की की खाड़ी में जाकर ही होगा।' चूँकि पिटेंड्रिघ साहब खुद उस खाड़ी से अपरि-चित नहीं थे इसलिए वे उसके ख़तरों को ज़्यादा अच्छी तरह समझते थे।

क्रिश्चियन कॉलेज के प्रोफ़ेसरों के साथ हमारे सम्पर्क ने अंग्रेज़ों के बारे में हमारे पक्षपात को पुष्ट कर दिया। सद्‌गुणवती विक्टोरिया की अनुश्रुति ने ग्रेट ब्रिटेन के प्रति हमारे दृष्टिकोण को ग़लत धारणाओं से रंजित कर दिया था। ब्रिटिश साम्राज्य को, जिसमें कभी सूर्यास्त न होता था, हम बड़ा हितकारी शासन मानते थे और जिन ब्रिटिश स्त्री-पुरुषों से हम तब तक मिले थे वे सभी हमें बड़े आदरणीय और प्रशंसनीय लगे थे। लेकिन रफ़्ता-रफ़्ता हम यह महसूस करने लगे थे कि ब्रिटेनवासियों की संख्या मद्रास में ख़ासी बड़ी है। वे लोग हमारी तरह ट्राम या बस से यात्रा नहीं करते थे। हर रोज़ सुबह साढ़े नौ बजे हम पून-मल्ली हाइ रोड और नैवल हॉस्पिटल रोड के जंक्शन पर ट्राम की प्रतीक्षा किया करते थे कि कब ट्राम आये और हम उसमें बैठकर क्रिश्चियन कॉलेज जायें। सैकड़ों ठाठदार कारें और बग्घियाँ हमारे सामने से गुज़रतीं और हम देखते कि उनमें अंग्रेज़ बैठे हैं। जब मैंने अपनी छुट्टियाँ अपने भाई के साथ मदुरै में बिताईं तो मैंने यह देखा कि ज़िले के सभी बड़े अधिकारी अंग्रेज़ हैं—ज़िलाधीश, ज़िला और सेशन जज, डी० एस० पी०, एक्ज़िक्यूटिव इन्जीनियर। उनके रहने के बँगले कितने शानदार थे ! उनके कितने ही वर्दीपोश नौकर-चाकर थे। हमने अख़बारों में यह भी पढ़ा था कि सेना में भी हिन्दुस्तानियों के साथ भेदभाव का व्यवहार किया जाता है। भारतीयों को 'किंग्स कमीशन' नहीं दिया जाता था बल्कि उन्हें एक निम्नतर कमीशन—जो 'वाइसरायज़ कमीशन' कहलाता था—देकर टाल दिया जाता था; यहाँ तक कि मिशनरी संस्थाओं में भी भारतीयों को घटिया ओहदों पर रखा जाता था। मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में भी एक को छोड़कर शेष सभी प्रोफ़ेसर अंग्रेज़ थे, अलबत्ता लेक्चरर और ट्यूटर सभी भारतीय थे। यह सब देखकर हमारे उपचेतन में यह विचार उठता था कि इस सारी व्यवस्था में कहीं कुछ दाल में काला ज़रूर है।

जिस व्यक्ति ने हमें इसका एहसास दिलाया वह स्वयं एक अंग्रेज़ महिला

थीं जिनका नाम था श्रीमती एनी बेसेन्ट। वे बड़ी सशक्त वक्ता थीं और उनका भाषण बड़ा मनोमुग्धकारी होता था। उन्होंने सबसे पहले भारत में ब्रिटिश शासन की असंगतियों के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। उनका तरीक़ा बहुत सीधा-सादा था। वे हमारी प्राचीन वैभवशाली संस्कृति का बड़ा सुन्दर चित्र प्रस्तुत करतीं और कहा करती थीं कि भारत की सभ्यता उस काल में भी बहुत विकसित हो चुकी थी जब प्राचीन जातियाँ फ़िरंगी, हूण, स्लाव, गॉथ, मंगोल, अंग्रेज और सैक्सन यूरोप में एक-दूसरे से युद्ध करते फिरते थे। फिर वे भारत की वर्तमान स्थिति का उल्लेख करतीं—अब यही देश दरिद्र है, अज्ञानग्रस्त है और बीमारी तथा अंधविश्वासों से भरा हुआ है। फिर वे ज़ोर देकर यह कहतीं कि अगर भारत के शासन की बागडोर भारतवासियों के हाथ में नहीं आती तो इन कुरी-तियों को दूर करने की कोई संभावना नहीं है। जो कुछ वे कहती थीं वह इतना प्रभावशाली नहीं था जितना कि उनके कहने का ढंग। जब वे अपना भाषण आरम्भ करतीं तो उनका स्वर धीमा होता, हाथ सीने पर बँधे होते और आवेश नाम को न होता। लेकिन धीरे-धीरे उनका स्वर प्रखर होता जाता और जब वे अपनी तर्क-शृंखला के चरमोत्कर्ष पर पहुँचतीं तो भावावेश से उनका सारा शरीर काँपने लगता, उनके बाल जो कंघी से बने होते थे, खड़े हो जाते और ऐसा लगता मानो उन पर कोई देवी आ गई हो और उनकी वह दशा देखकर हम दंग रह जाते थे। जब हम लौटकर होस्टल पहुँचते तो हमें ऐसा अनुभव होता मानो किसी ने हमें ऊपर उठा दिया है।

श्रीमती बेसेंट हमारे राजनीतिक आदर्शों की प्रतिमा थीं। किन्तु कुछ ही समय बाद कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने उनकी विचारमूर्ति कलंकित कर दी। एक ब्राह्मण लड़के के पिता ने मद्रास हाइ कोर्ट में श्रीमती बेसेंट के शिष्य लीड बीटर के विरुद्ध मुक़दमा दायर कर दिया और उस पर आरोप लगाया कि उसने मेरे लड़के को हस्तमैथुन करना सिखाया है। थियॉसाफ़िकल सोसाइटी की, जिसकी अध्यक्षा श्रीमती बेसेंट थीं, बुतपरस्ती मुझे कभी न भाई थी और लीड बीटर के मुक़दमे ने मेरी उस वितृष्णा को और भी दृढ़ कर दिया।

इस कांड के बाद भी श्रीमती बेसेंट मद्रास के राजनीतिक जीवन पर छाई रहीं। लेकिन कुछ ही समय में उनका एक सबल प्रतिद्वन्द्वी डॉ० टी० एम० नायर के रूप में उभर आया। उनका भी व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था और वे बड़े ज़ोरदार वक्ता थे। उनकी वाणी में श्रीमती बेसेंट जैसी उड़ान और मर्मस्पर्शी वाग्मिता तो नहीं थी लेकिन उनके भाषण उनसे भी ज़्यादा दिलचस्प और मज़ेदार होते थे क्योंकि उनमें हास्य का पुट हुआ करता था। वे मद्रास में अ-ब्राह्मण आंदोलन के संस्थापकों में से थे। उनके सबसे बड़े शत्रु तो ब्राह्मण थे लेकिन वे अंग्रेज़ों

को भी बख़्शना नहीं जानते थे। एक बार उन्होंने आवेश में आकर कहा था, 'किसी भी यूरोपियन को ज़रा कुरेदकर देखें तो पता चलेगा कि वह बर्बर है।' एक अन्य अवसर पर जब भाषा विज्ञान का एक प्रोफ़ेसर इंग्लैण्ड से बुलाया गया तो डॉ० नायर ने उसकी नियुक्ति का विरोध करते हुए कहा कि यह सिर्फ़ पैसा बरबाद करना है। और जब सरकारी प्रवक्ता ने उस नियुक्ति को न्यायोचित ठहराया तो उन्होंने उत्तर दिया, 'यदि सरकार अपने पक्ष में केवल यही तर्क दे सकती है तो या तो विज्ञान मात्र धोखा है या यह प्रोफ़ेसर पाखंडी है।' कभी-कभी तो वे एकदम अश्लीलता पर उतर आते थे। एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने श्रीमती बेसेंट का चित्रण इन शब्दों में किया: 'वह ऐसी स्त्री है जिसमें गहन प्रवेश, तुरत आधान और सहज प्रसूति की क्षमता है।' अपनी विनाशकारी रसिकोक्ति, व्यंग्य और हास्य कटूक्ति और वक्रोक्ति की सहायता से डॉ० नायर ने श्रीमती बेसेंट को जनता की दृष्टि में नीचे गिरा दिया।

ब्राह्मणों की उनके प्रति अरुचि स्वाभाविक ही थी क्योंकि प्रांत में अब तक जो उनकी प्रबल स्थिति थी उसे ख़तरा महसूस होने लगा था। और जब 1918 के जाड़ों में डॉ० नायर अपने ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन के लिए ब्रिटिश जनता का समर्थन प्राप्त करने इंग्लैण्ड गये तो ब्राह्मणों का भय दुगुना हो गया। ब्राह्मण-विरोधी पत्र **जस्टिस** ने लिखा कि मायलापुर के ब्राह्मणों ने मंदिरों में जाकर नारियल चढ़ाये और प्रार्थना की कि ईश्वर करे डॉ० नायर अब भारत लौट कर न आयें। न जाने इस समाचार में कोई सचाई थी या नहीं, लेकिन यदि ऐसा हुआ था तो उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई; डॉ० नायर को इंग्लैण्ड में निमूनिया हो गया और वहीं उनका देहान्त हो गया। मैं उस समय ऑक्सफ़ोर्ड में पढ़ रहा था। समाचार सुनते ही मैं लन्दन गया। वहाँ थोड़े से भारतीय जिनमें अधिकतर विद्यार्थी थे, दिवंगत नेता की अंत्येष्टि के लिए मौजूद थे। सर्दी के दिन थे, सुबह सवेरे हमने उनके भारी शव का गोल्डर्स ग्रीन में दाह संस्कार कर दिया।

यद्यपि मैं डॉ० नायर के साहस का बड़ा प्रशंसक था और उनकी वक्तृता पर मुग्ध हो जाता था, लेकिन मेरी सहानुभूति श्रीमती बेसेंट के आंदोलन के साथ थी। बंगाल आदि प्रान्तों के लोग मद्रास को उस समय अंधकारमय प्रान्त कहा करते थे क्योंकि जो राष्ट्रवादी भावना उस प्रान्त में व्याप्त थी, उसका मद्रास में अभाव था। मद्रास को उसकी जड़ता से जगाने वाली श्रीमती बेसेंट ही थीं।

मद्रास में दिसम्बर, 1914 में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो मैं भी उसमें सम्मिलित हुआ था। कांग्रेस का वही एक अधिवेशन था जिसमें मैंने भाग लिया था क्योंकि आई० सी० एस० में आजाने के बाद राजनीति

में भाग लेना मेरे लिए वर्जित हो गया था। इस अधिवेशन में मैंने अपनी मासिक 30 रुपये की स्वल्प वृत्ति में से 10 रुपये भी दिये थे और स्वयंसेवक बना था। सर भूपेन्द्रनाथ बसु ने उस अधिवेशन की अध्यक्षता की थी। जैसा कि सामान्यत: अधिवेशनों में होता है, भाषणों की वहाँ भरमार थी। लेकिन वक्तृता का वह सहज प्रवाह एक अप्रत्याशित घटना के कारण सहसा भंग हो गया। कोई नेता भाषण दे रहा था कि हॉल में पीछे से किसी ने तालियाँ बजाना शुरू कर दिया, फिर क्या था, सभी श्रोता करतल ध्वनि करने लगे और मैं यह जाने बिना कि आखिर ऐसा हो क्यों रहा है खुद भी तालियाँ बजाने लगा। फिर क्या देखता हूँ कि सब लोग अपने-अपने स्थान पर खड़े हो गये हैं, मैं भी खड़ा हो गया। मुड़ कर देखा तो एक दुबला-पतला व्यक्ति अपने परिसहायक के साथ मंच की ओर जा रहा है और कांग्रेस के अध्यक्ष बड़े आदर के साथ उसका स्वागत कर रहे हैं। यह सम्मानित व्यक्ति मद्रास के गवर्नर लॉर्ड पेंटलैण्ड थे। कांग्रेस के प्रख्यात वक्ता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से अनुरोध किया गया कि वे एक प्रस्ताव रखें जिसमें ब्रिटिश क्राउन के प्रति भारत की वफ़ादारी की प्रतिज्ञा की जाए। इस संपूर्ण घटना से उस समय कांग्रेस की भावना का भली प्रकार अनुमान किया जा सकता है। तब तक कांग्रेस विदेशी शासन की कट्टर विरोधी नहीं हुई थी, उसका उद्देश्य बृहत्तर स्वशासन के लिए अपनी मर्यादा की रक्षा करते हुए एक विनीत प्रार्थना करना भर था। महात्मा गाँधी अभी दक्षिण अफ्रीका से लौटकर आये ही थे और जवाहरलाल नेहरू तो अभी कैंब्रिज में पढ़ ही रहे थे।

अधिवेशन में गवर्नर का आगमन भारतीय राष्ट्र के प्रति ब्रिटिश सरकार की सद्भावना का एक विशेष संकेत था और इस संकेत का कारण यह था कि प्रथम महायुद्ध हो रहा था। भारत उस युद्ध में विजय के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहा था और भारतीय सैनिक सभी मोर्चों पर बड़ी वीरता से लड़ रहे थे। ऐसी स्थिति में ग्रेट ब्रिटेन के लिए यही हितकर था कि उसे भारत का समर्थन मिलता रहे। इसके अलावा युद्ध ने आदर्शवाद की भावना जगा दी थी और ग्रेट ब्रिटेन तथा भारत में ऐसे अनेक लोग थे जो यह अनुभव करते थे कि यही ऐसा अवसर है जबकि हम ब्रिटेन से भारतीय राष्ट्रवाद की माँगें मनवा सकते हैं।

मैं मद्रास की एक और सभा में सम्मिलित हुआ था जो युद्ध की पहली वर्षगाँठ मनाने के लिए हुई थी। उस सभा के अध्यक्ष मद्रास के गवर्नर थे और प्रमुख वक्ता थे सर शंकरन नायर जिनकी नियुक्ति वाइसराय-परिषद् के सदस्य के रूप में हो चुकी थी किन्तु अभी उन्होंने कार्य आरंभ नहीं किया था। सभा में वे नियत समय पर पहुँच गये और एक यूरेशियन सारजेंट ने उनसे पास माँगा। सर शंकरन ने सारजेंट को अपने बारे में बताया और कहा कि मुझे कोई पास नहीं

भेजा गया। लेकिन सारजेंट ने साफ़ कह दिया कि मैं बिना पास के किसी को अंदर नहीं जाने दूँगा। यह सुनकर सर शंकरन अपनी कार में बैठकर घर लौट गये। उन्होंने कपड़े उतार दिये और तेल की मालिश करवाने जा रहे थे कि गवर्नर का परिसहायक उनके बँगले पर पहुँचा। उसने सारजेंट के अप्रिय व्यवहार के लिए उनसे क्षमा याचना की और सभा में वापस चलने के लिए निवेदन किया। सर शंकरन ने अपनी असमर्थता प्रकट की और लौटने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप सभा उनके बिना ही हुई। इस घटना से सर्वत्र सनसनी फैल गई और समाचारपत्रों ने भी इस मामले को खूब उछाला। वस्तुतः सभा की व्यवस्था में ही खामी थी लेकिन अखबारों ने दलील दी कि एक भारतीय का जान-बूझ कर अपमान किया गया है। उन्होंने लिखा कि सर शंकरन को तो बिना पास के नहीं जाने दिया लेकिन बीसों ऐसे अंग्रेज थे जिनसे पास के बारे में पूछा तक नहीं गया।

सर शंकरन नायर तीसरे भारतीय थे जिनकी नियुक्ति वाइसराय की कार्यकारी परिषद् के सदस्य के रूप में की गई थी। जब लॉर्ड मॉर्ले ने पहली बार यह प्रस्ताव रखा कि परिषद् में एक भारतीय की भी नियुक्ति की जाए तो सुना है एडवर्ड सप्तम ने आश्चर्य से कहा था, 'क्या कहा मेरी परिषद् में बहुस्त्रीक जाति का सदस्य आजाए ?' वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् के पहले भारतीय सदस्य सर एस० पी० सिनहा थे जो बाद में लॉर्ड सिनहा हुए। वही एक मात्र भारतीय थे जिन्हें लॉर्ड की पदवी से विभूषित किया गया था। वही पहले भारतीय थे जिन्हें किसी प्रांत का गवर्नर बनाया गया था। इस प्रयोग की फिर 1946 तक कभी पुनरावृत्ति नहीं हुई जबकि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य अपनी अंतिम साँसें गिन रहा था। उनके बाद यह सम्मान सर अली इमाम को मिला। ये दोनों व्यक्ति लॉ मेंबर (विधि सदस्य) थे किन्तु सर शंकरन को एक संग्राही विभाग का जो शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि विभाग कहलाता था, भार सौंपा गया। अनेकों यूरोपीय विभागाध्यक्ष उनके अधीन थे और उस समय यह सम्मान एक अनूठी बात मानी जाती थी।

ब्रिटिश सरकार की उस समय यह नीति थी कि जो लोग योग्य होने के साथ-साथ देशभक्ति की भावना से अनुप्राणित हैं उन्हें कांग्रेस से तोड़ा जाए और सरकार में मिला लिया जाए। सर शंकरन 1897 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष रहे थे। उस ज़माने में कांग्रेस एक अभिजात संस्था थी। सामान्य जनता की आवश्यकताओं से उसे कोई सरोकार न था, न ही वह स्वतंत्रता संग्राम में

जनता की संभाव्य शक्तियों को कोई महत्त्व देती थी। लेकिन भारत के राजनीतिक क्षेत्र में अब एक ऐसा व्यक्ति आ गया था जिसने आम जनता से अपना तादात्म्य कर लिया था और देश की मुक्ति के लिए उनकी शक्ति को संघटित कर लिया था। 1916 में जब वे मद्रास गये तो मैंने उन्हें देखा और उनका भाषण भी सुना। जिस सभा में महात्मा गाँधी ने भाषण दिया वह उन अन्य सभाओं से भिन्न थी जिनमें मैं सम्मिलित हो चुका था। दूसरी सभाओं की तरह वह किसी बंद हॉल में जैसे वाई० एम० सी० ए० या वाई० एम० आई० ए० में न होकर खुले मैदान में यानी क्रिश्चियन कॉलेज के ग्राउण्ड में हुई थी। श्रोताओं का यह हाल था कि हर दरवाजा, हर खिड़की, पेड़ की एक-एक शाखा सभी कुछ ठसाठस भरा हुआ था। वातावरण एक ऐसे नेता की प्रतीक्षा में व्याकुल था जो दक्षिण अफ्रीका में घोर जातिवाद के विरुद्ध अपने महान् संघर्ष के फलस्वरूप व्यापक ख्याति प्राप्त कर चुका था। जब वे पहुँचे तो एक छोटे, दुबले-पतले, जीर्ण-शीर्ण व्यक्ति लग रहे थे। उनकी वेशभूषा साधारण थी किन्तु उसकी सादगी भी आँखों को भली लग रही थी। तब तक उन्होंने भारतीय किसान की वेशभूषा यानी धोती ग्रहण नहीं की थी। उनका भाषण ठीक एक घण्टे तक हुआ। वह मेरे अब तक सुने हुए भाषणों से भिन्न था। न उसमें वाग्मिता का कोई कौशल था, न कहीं हास्य का पुट था और न ही कहीं व्यंग्य-बाण थे। उस भाषण में वाक्पटुता नाम को भी नहीं थी, बल्कि वह एक प्रकार से बिल्कुल सपाट था—कोई उतार-चढ़ाव तक उसमें न था। वह तो बस झरता जाता था, गेरसोप्पा प्रपात में रानी झरने की तरह बहता जाता था। ये प्रपात एशिया में सबसे ऊँचे हैं और चार विभिन्न झरनों से बने हैं जिनके नाम हैं राजा, रानी, रोअरर और रॉकेट। राजा झरने की गति बड़ी राजसी और शानदार है। रानी झरना भी बड़ी सौम्य और सतत गति से बहता है। उसके प्रवाह में एक प्रकार की गरिमा है और साथ ही सोद्देश्यता भी। रोअरर का निस्सरण एक विवर से एक भयंकर गर्जन के साथ होता है और रॉकेट का प्रवाह इतना तीव्रगामी है जैसा कि जेट विमानों का। मैंने ऐसे अनेक भारतीय वक्ताओं के भाषण सुने हैं जिन्हें रोअरर या रॉकेट कहा जा सकता था और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, कुछ ऐसे थे जो राजा की श्रेणी में आते हैं। लेकिन महात्मा गाँधी के भाषण की तुलना तो रानी के साथ की जा सकती थी : उनकी वाणी से निस्सृत सत्य शिव था और इसीलिए सुन्दर भी।

महात्मा गाँधी का भाषण सुनने के बाद जब हम घर पहुँचे तो हमारे मस्तिष्क उनकी वाणी और आचार के सौंदर्य से भरे हुए थे। उस समय हम भारतीय राजनिति में उनके प्रादुर्भाव के महत्त्व का अनुभव न कर सकते थे। कुछ ही समय पश्चात् उन्होंने पूर्ण स्वराज्य की एक नयी अवधारणा को जन्म दिया।

श्रीमती बैसेंट का विचार था कि वे अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर रहे हैं। उनकी सीमित दृष्टि केवल गृह शासन या डोमीनियन पद तक जा सकती थी। लेकिन अब भारतीय पोत को एक ऐसा साहसी नौचालक मिल गया था जो उसे गृह शासन की जलसंधि और डोमीनियन पद की खाड़ी से निकालकर स्वाधीनता के संक्षुब्ध सागर से पार कराने के लिए कटिबद्ध था। महात्मा गाँधी के आगमन के साथ ही श्रीमती बेसेंट का कीर्त्ति-दीप टिमटिमाने लगा। अपने अस्तित्व को बचाने के लिए वह भड़का भी, किन्तु व्यर्थ। उगते हुए सूर्य के सामने टिमटिमाता तारा भला कैसे टिक सकता था!

ऑक्सफ़ोर्ड

००

मैंने 1918 में मद्रास विश्वविद्यालय से डिग्री प्राप्त की। मेरे घर में फिर इस विषय पर विवाद शुरू हो गया कि अब इसे कहाँ भेजा जाए। गोपि भाई मुझे ऑक्सफ़ोर्ड भेजने के पक्ष में थे और मेरी माँ भी इस बार किसी प्रकार का विरोध करना नहीं चाहती थीं। मेरे पिता का कुछ ही मास पहले देहान्त हो चुका था और गोपि भाई ही अब हमारे पिता के स्थान पर थे। यही कारण था कि माँ ने सब कुछ उन्हीं पर छोड़ दिया था हालाँकि मन-ही-मन वे बड़ी चिन्तित थीं क्योंकि युद्ध चल रहा था और वे सुन चुकी थीं कि जर्मनी लंदन पर बमबारी कर रहा है।

जर्मनों का पनडुब्बी अभियान अपनी चरम सीमा पर था और भूमध्य सागर से कोई नाव गुज़रने नहीं दी जाती थी। इसलिए हमें एक जापानी जहाज़ **मिशिमा मारु** में बैठकर पूरे उत्तमाशा अंतरीप का चक्कर काटकर जाना पड़ा था। हमारी समुद्र-यात्रा में 65 दिन लगे थे, हम अगस्त के मध्य में कोलंबो से चले थे और अक्तूबर के अंत में कहीं जाकर लंदन पहुँचे थे।

रास्ते में पहली बंदरगाह जो हमने देखी वह डलोगोआ थी जो बड़ा सुखद-सुहावना स्थान था। हमारा अगला पड़ाव केपटाउन था लेकिन उसे उतना सुखकर स्थान नहीं कहा जा सकता। भारतीयों के अतिरिक्त जहाज़ के शेष सभी यात्रियों को केपटाउन में उतरने की अनुमति दे दी गई थी। हम भारतीय कुल पाँच-छह थे और हमें कई घण्टे जहाज़ पर रुकना पड़ा था। हमें रोकने का उद्देश्य इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि हमें यह एहसास दिलाया जाये कि हम सृष्टि के निम्नतर प्राणी हैं। इस बात का एहसास हमें उस समय भी दिलाया गया जब हम जहाज़ से उतरे। हर दो-चार गज़ के बाद हमसे पासपोर्ट माँगे जाते थे। हमने एक रेस्तराँ में जाना चाहा, लेकिन नहीं, वह केवल यूरोपियनों के लिए आरक्षित थी। हमने एक सिनेमा में जाने की भी कोशिश की और टिकट भी खरीद लिये थे। टिकट हमारे साथी इनामउर्रहीम ने खरीदे थे जो गोरा-चिट्टा था और उस पर बड़ी आसानी से दक्षिण यूरोपियन होने का शुबहा भी हो सकता था, लेकिन जब एक अफ़सर ने देखा कि हम भी उसके पीछे-पीछे जा रहे हैं तो उसने हमें बड़ी अशिष्टता से रोका और वहीं निकाल बाहर किया। उसने हमें टिकट के पैसे लौटाने से भी इन्कार कर दिया और कहा कि तुमने

पहले खरीदे ही क्यों थे जबकि तुम्हें जानना चाहिए था कि भारतीयों का सिनेमा में प्रवेश वर्जित है। जब हम केपटाउन से चले तो हमें अपने अपमान का पूरा एहसास था और हमारे मन में न केवल दक्षिण अफ्रीकी सरकार के विरुद्ध क्रोध था बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति भी हममें असीम विक्षोभ भरा हुआ था।

हमारा जहाज़ अफ्रीका के पश्चिमी तट के सहारे उत्तर की ओर चला और हम सिएरा लिओन जाकर रुके। वहाँ से सभी जहाज़ एक क़ाफ़िले के रूप में इंग्लैण्ड जाने वाले थे। वहाँ, उस 'अंग्रेज की क़ब्र' के अंदर, हमें दस दिन तक रुकना पड़ा। हम मच्छरदानियाँ लगाकर सोते थे, और कुनैन की गोलियों का सेवन करते रहते थे। तट पर इसलिए नहीं जा सकते थे कि वहाँ पीत ज्वर फैल रहा था। आख़िरकार एक क़ाफ़िला तैयार हुआ और हम अक्तूबर के मध्य में सिएरा लिओन से रवाना हुए। जर्मन यू-नावें आयरिश सागर में असाधारण रूप से सक्रिय थीं। हमें वहीं पर यह मालूम हुआ कि तीन अन्य जहाज़ **द गैलवे कासल, लीनस्टर** और **हिराना मारु**, जिसका साथी हमारा जहाज़ था—नष्ट किये जा चुके हैं। जब हम लिवरपूल में जाकर उतरे तब कहीं हमारी जान में जान आई। लंदन में हम 21, क्रॉमवेल रोड पर ठहरे। यह एक सरकारी छात्रावास था जिसे सरकार चलाती थी और वह विशेषकर नवागंतुक भारतीयों के लिए बनाया गया था। मिस बेक ने, जो छात्रावास की प्रभारी थीं, हमारा स्वागत किया और हर संभव सुविधा हमारे लिए उपलब्ध की। बज़ाहिर वे हमें बड़ी विनीत महिला लगीं लेकिन कुछ भारतवासियों ने हमारे कान में कहा कि वह तो इंडिया ऑफ़िस की गुप्तचर है। उस ज़माने में इंग्लैण्ड में जो भारतीय बस गये थे उनमें विचित्र प्रकार की ग्रंथियाँ जड़ पकड़ गई थीं। इंग्लैण्ड के उन्मुक्त वातावरण का उन पर यह प्रभाव पड़ा कि वे सभी ऐंग्लो इंडियन अधिकारियों को सशंक नेत्रों से देखने लगे और इंडिया ऑफ़िस तो उनकी दृष्टि में एक अनिष्टकर संस्था बन गई थी।

लंदन में हमें सूचित किया गया कि मैं क्राइस्ट चर्च में और जी० के० चटटूर न्यू कॉलेज में दाख़िल होगा। चेट्टूर मेरे साथ क्रिश्चियन कॉलेज में रह चुका था और अब लंदन-यात्रा में भी **मिशिमा मारु** पर मेरे साथ था। जब हम ऑक्सफ़ोर्ड पहुँचे तो शाम हो चुकी थी, कुहरा छाया हुआ था और खासी ठण्ड पड़ रही थी। रेलवे स्टेशन वीरान पड़ा था और दूर-दूर तक कोई सवारी दिखाई नहीं देती थी। बड़ी मुश्किल से एक टैक्सी हमारे हाथ आई जिसमें बैठकर हम आर्म्स होटल पहुँचे जहाँ हमें रात गुज़ारनी थी। पहली नज़र में तो ऑक्सफ़ोर्ड ने हमें बिलकुल प्रभावित नहीं किया। हम एक बग्गी में बैठे जिसका कोचवान

बूढ़ा था और शराब पिये हुए था। वह हमें गंदी गलियों से घुमाता हुआ ले गया जहाँ हर तरफ़ क़साइयों की दूकानें और शराब की भट्टियाँ ही दिखाई देती थीं। सड़कें सुनसान थीं और उन पर लगे खंभों की रोशनियाँ टिमटिमा-सी रही थीं ताकि कोई जर्मन बमबार ऊपर से शहर को न पहचान ले। कहीं कोई बूढ़ा शराब में मस्त घूमता हुआ या कोई गाना गुनगुनाता हुआ दिखाई दे जाता और कहीं कोई घायल सैनिक किसी कुरूप स्त्री की बग़ल में हाथ डाले बैठा हुआ नज़र आ जाता। चलते-चलते फिर हम एक साफ़-सुथरी चौड़ी सड़क पर पहुँचे जो इतनी विशाल थी कि उसे देखकर हमारा एकाकीपन का एहसास और भी बढ़ गया। वहाँ भी वही दृश्य दिखाई दिया : बूढ़े लोग और सैनिक घायल नशे में मस्त और शोकाकुल बैठे हैं। दूसरे दिन सुबह उठकर हमने देखा कि कॉलेजों में भी हू बोल रही है। सारे हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ नागरिकों को युद्ध में भेज दिया गया था। अब जो ट्यूटर रह गये थे वे सब बूढ़े थे और छात्रों में कुछ विकलांग थे या कुछ विदेशी थे जो वहाँ मौजूद थे। कई कॉलेजों की इमारतों में सेना के रंगरूट भरे हुए थे। विश्वविद्यालय जिसमें सामान्य रूप से 4000 अंडर ग्रेजुएट हुआ करते थे अब वहाँ उस संख्या का दसवाँ भाग भी न रहा था। मेरे अपने कॉलेज में जो ऑक्सफ़ोर्ड का सबसे बड़ा कॉलेज था जहाँ आम दिनों में 400 छात्र हुआ करते थे अब केवल 40 छात्र रह गये थे।

जिस दिन हम वहाँ पहुँचे उसी दिन हम डीन टॉमस स्ट्राँग से मिलने गये। मैं तो उनके व्यक्तित्व पर मुग्ध हो गया। उन्होंने हमें बताया कि मैं एडविन मॉण्टेग्यू को, जो सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इण्डिया हैं, जानता हूँ और भारत के स्वायत्त शासन के लिए उन्होंने जो योजनाएँ रखी हैं, मैं उनका समर्थक हूँ। डीन वहाँ तीन विषयों के विशेषज्ञ माने जाते थे—धर्मशास्त्र, संगीत और फ्रांसीसी लाल मदिरा। वहाँ एक व्यंग्य चित्र था जिसमें उन्हें एक बटलर के रूप में चित्रित किया गया जो कप में चाय डाल रहा है। व्यंग्य चित्र के नीचे यह शीर्षक था 'क्या आपको टी स्ट्राँग पसंद है ?'* निश्चय ही छात्रों में वे अपने पूर्ववर्ती डीन डॉ० फ़ेल से अधिक लोकप्रिय थे। मेरे ऑक्सफ़ोर्ड छोड़ने के कुछ ही दिन पहले डीन स्ट्राँग रिपन के बिशप नियुक्त हुए थे और कालांतर में वे ऑक्सफ़ोर्ड के बिशप बन कर लौट आये थे। मैं 1934 में उनसे कटेस्डन में मिला था। वे कुछ झुक गये थे और कमज़ोर भी हो गये थे, फिर भी उनकी वत्सलता और स्नेह-शीलता में कोई कमी नहीं आई थी।

हमारे सीनियर सेन्सर का नाम ओवेन था। एक दिन जब मैं उन्हें पत्र

---

* यहाँ टी T और Strong में श्लेष है, एक अर्थ Thomas और दूसरा चाय तथा स्ट्राँग में डीन का नाम और साथ ही चाय की विशेषता दोनों व्यक्त हुई हैं।

लिखने बैठा तो मैंने एक साथी से उनके आद्यक्षरों के बारे में पूछा। उसने बताया डी० टी० और मैंने वही पत्र पर लिख दिया। ओवेन साहब ने दूसरे दिन मुझे बुलाया और गरज कर कहा, 'क्या तुम पत्र लिखने से पहले मेरे आद्यक्षरों के बारे में किसी से पूछ नहीं सकते थे?' बाद में मुझे मालूम हुआ कि उनके आद्यक्षर एस० जी० थे और डी० टी० छात्रों ने उन्हें चिढ़ाने के लिए रख दिये थे। डी० टी० का अर्थ था **डिलीरियम ट्रिमेंस** (नशे का प्रमाद) और चूँकि प्रतिष्ठित श्रेण्य अध्येता और सुखवादी होने के नाते वे यूनानी देवता बाकस के भक्त थे इसलिए लोगों का विचार था कि वे इस बीमारी से पीड़ित हैं।

इतिहास में ऑनर्स परीक्षा पास करने के पहले मुझे इतिहास के पूर्वार्ध की परीक्षा पास करना ज़रूरी था। आर्थर हैसल मेरे पहले ट्यूटर थे। वे न केवल एक बड़े इतिहासवेत्ता थे बल्कि उन्होंने इतिहास पर असंख्य पुस्तकें भी लिखी थीं। जब मैं उनसे मिला था तो वे अपनी तेंतालीसवीं पुस्तक लिखने में व्यस्त थे। उन्होंने मुझसे जो पहला निबंध लिखवाया वह इंग्लैण्ड के सुधार आंदोलन के बारे में था। 11 नवम्बर को सुबह ग्यारह बजे जब मैं उन्हें अपना निबन्ध पढ़कर सुना रहा था तो ग्रेट टॉम* बजने लगा—और हैसल साहब 'हो गई शांति, हो गई शांति!' चीखते हुए कमरे से बाहर निकल गये थे। युद्ध के दौरान विगत चार वर्षों से वह नहीं बजा था।

जब दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ तो किसी ने कहा था, 'शांति छिड़ गई है।' पहले महायुद्ध के अंत में हमने वास्तव में यह समझा था कि शांति स्थापित हो गई है और कम-से-कम हमारी पीढ़ी तक तो शांति बनी रहेगी। यह हमारी नादानी नहीं तो और क्या थी कि हम राजनीतिज्ञों के इन नारों के झाँसे में आ गये थे: 'युद्ध का अंत करने के लिए युद्ध,' 'संसार को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित बनाने के वास्ते युद्ध'। 11 नवंबर, 1918 को ऑक्सफ़ोर्ड में बड़ा आनंदोत्सव मनाया गया। ऑक्सफ़ोर्ड के नागरिकों और विश्वविद्यालय के सदस्यों के बीच जो प्राचीन भेदभाव चला आ रहा था। वह भी भुला दिया गया और रात्रि के आमोद-प्रमोद में सभी ने मिलकर भाग लिया। इसके साथ-साथ प्रत्येक कॉलेज में अलग-अलग उत्सव भी मनाये गये। हमारे यहाँ एक विशाल विजय-भोज का आयोजन किया गया जिसमें मैंने जीवन में पहली बार मदिरा-पान किया। इसके बाद पेक वाटर मैदान में आग जलाई गई जिसमें हमने टूटी हुई मेज़-कुर्सियाँ, फटे-पुराने कपड़े और अपने नये गाउन डालकर उसे प्रज्वलित रखा। डीन स्ट्रॉंग ने कहा, 'इन गाउनों के जलाने से अगले सत्र में इनकी भरपूर फ़सल उग आयेगी।' और ऐसा ही हुआ भी। अंडरग्रेजुएटों की संख्या 400 से बढ़कर 4000 हो गई।

* ऑक्सफ़ोर्ड के क्राइस्ट चर्च कॉलेज का गजर।

अप्रैल 1919 में मैंने अपनी इतिहास की पूर्वार्ध परीक्षा विशेष योग्यता के साथ पास की। हैसल साहब का कहना था कि तुम अब इतना आगे बढ़ गये हो कि मेरे बस के नहीं रहे, अब मैं तुम्हें कुछ तरुण और अधिक योग्य ट्यूटरों के सुपुर्द कर दूंगा। लिहाज़ा उसके बाद से जब तक मैं ऑक्सफ़ोर्ड में रहा तब तक कीथ फ़ेलिंग और जे० सी० मास्टरमैन मेरे ट्यूटर रहे। फ़ेलिंग साहब टोरी दल के थे और उसी दल के इतिहाज्ञ भी, और मास्टरमैन साहब उदार दल के समर्थक थे। इन दो गुरुओं ने मेरे प्रति जितना स्नेह रखा और मुझे जितना प्रोत्साहन दिया, उतना शायद और कोई न दे सकता था। उन्होंने किसी तरह यह अंदाज़ा कर लिया कि मुझमें प्रथम श्रेणी प्राप्त करने की क्षमता है और फिर उसी को लक्ष्य बनाकर वे मुझे पढ़ाने लगे। मुझे प्रसन्नता है कि मैंने उन्हें निराश नहीं किया।

मैंने ऑक्सफ़ोर्ड के विद्यार्थी का सतही दंभ और हाव-भाव ग्रहण करने का भी यत्न किया। मैंने अपने सूट उतार कर रख दिये और उनका केवल तभी उपयोग किया जब मैं हर सत्र में तीन दिन के लिए अपना 'बार-डिनर' खाने लंदन जाया करता था। मैं मटियाली फ़लालेन की पतलून और ट्वीड का कोट पहना करता था, हैट मैंने लगाना छोड़ दिया था। व्याख्यानों में मैं उतने ही नियमित रूप से जाया करता था जितना भारत में, लेकिन मुझे जल्दी ही मालूम हो गया कि उन व्याख्यानों में उपस्थित रहना आवश्यक नहीं था। वे कमज़ोर छात्रों के लिए थे और मैं इसी खुशफ़हमी में मुब्तिला रहा कि मैं प्रथम श्रेणी की ओर अग्रसर हूँ। मुझे यह भी पता चला कि ऑक्सफ़ोर्ड में साल भर तो मौज-मज़े करने चाहिए और गर्मी के मौसम में खूब मेहनत से पढ़ना चाहिए। लेकिन मैं इसकी क्षतिपूर्ति इस प्रकार कर लिया करता था कि अपनी छुट्टियाँ डेवनशायर या लेक डिस्ट्रिक्ट के किसी शांत स्थान में जाकर बिताया करता था और डटकर मेहनत किया करता था। मैंने ऑक्सफ़ोर्ड की ठेठस्थानिक शब्दावली तो बड़े परिश्रम से अपना ली थी लेकिन वहाँ का लब-ओ-लहजा ग्रहण न कर सका। स्त्रियों के प्रति मुझ में एक स्वस्थ घृणा उत्पन्न हो गई थी, क्योंकि उनके लिए यद्यपि ऑक्सफ़ोर्ड के द्वार खुल चुके थे लेकिन फिर भी वे लिहाज़-मुरव्वत के ही सहारे वहाँ आ सकती थीं। अपने को स्त्रियों से श्रेष्ठतर समझने के कारण ही मैं जब तक ऑक्सफ़ोर्ड में रहा ब्रह्मचारी रहा।

मुझे ऑक्सफ़ोर्ड का छात्र होने पर तो गर्व था ही, इससे बढ़कर अभिमान मुझे अपने हाउस का सदस्य होने पर था। क्राइस्ट चर्च या हाउस ऑफ़ क्राइस्ट

सामान्यतः हाउस ही कहलाता था। उस हाउस में रहना और वहाँ के वातावरण में साँस लेना भी एक प्रकार की शिक्षा थी। कॉलेज के कण-कण से मुझे लगाव था : टॉम टॉवर जिसे क्रिस्टॉफ़र रेन ने बनाया था; ग्रेट टॉम जो ऑस्नी ऐबे से लिया गया था और जो रात के नौ बजे 101 बार टनटन बजाया करता था; टॉम क्वाड और उसका मर्करी फ़व्वारा जहाँ के० एम० पणिक्कर को एक बार डुबकी लगानी पड़ी थी; पेक वाटर क्वाड, जहाँ मैं पहले तीन सत्रों तक रहा था और मीडो बिल्डिंग्स जहाँ मेरे अंतिम तीन सत्र व्यतीत हुए थे; क्राइस्ट चर्च के सुंदर घास के मैदान जहाँ बैठकर मैं ऑक्सफ़ोर्ड मजलिस के भाषण तैयार किया करता था और अपनी भाभी के लिए कविताएँ लिखा करता था; खूबसूरत टयूडर ज़ीना जिससे चढ़कर हम अपने डाइनिंग हॉल में जाया करते थे, और वह डाइनिंग हॉल जिसमें रेनॉल्ड्स और गेन्सबारो* जैसे चित्रकारों के बनाये हुए चित्र लगे हुए थे और फिर हमारा वह रसोई घर जिसके कारण सोलहवीं सदी में यह उलाहना प्रचलित हो गया था कि वूल्ज़े स्थापना तो एक कॉलेज की करना चाहता था लेकिन बना गया एक सराय। मैं हाउस की सारी परम्पराओं से परिचित हो गया था। भारत वापस आ जाने पर मैं अक्सर अपने ऑक्सफ़ोर्ड-जीवन के क़िस्से सुनाया करता था। और उन क़िस्सों का एक प्रिय उपसंहार यह होता था कि सोलहवीं शताब्दी में कार्डिनल वूल्ज़े ने क्राइस्ट चर्च की स्थापना की थी। सोलहवीं शताब्दी में जब कैवेलियरों और राउण्डहेडों में संघर्ष हुआ तो उस समय वही राज घराने का प्रिय स्थान था, और अठारहवीं शताब्दी में उसी ने लॉक जैसे दार्शनिक और वैज़ली जैसे मेथॉडिस्ट को जन्म दिया, उन्नीसवीं सदी में तीन प्रधान मंत्री वहाँ से निकले, ग्लैडस्टन, रोज़बेरी और सॉल्सबरी और बीसवीं सदी में वहाँ से दीक्षित होने वाले ये तीन थे : एंथनी ईडन, एस० डब्ल्यू० आर० डी० भण्डारनायक और मैं।

एक प्रकार से देखा जाए तो ऑक्सफ़ोर्ड और क्राइस्ट चर्च के प्रति मेरा गर्व-भाव बिल्कुल निर्वैयक्तिक था। अंग्रेज़ों में विरले ही मेरे मित्र बन पाये थे। मेरे ज़माने में अंडरग्रेजुएटों की दो श्रेणियाँ थीं, एक तो वे छात्र जो सीधे स्कूल से आये थे और दूसरे वे जो युद्ध से ऑक्सफ़ोर्ड लौट आये थे। इनमें से पहली श्रेणी के छात्र मुझसे छोटे थे और दूसरी श्रेणी के मुझसे बड़े। और जब बीस वर्ष की आयु हो तो दो या तीन साल छोटे या बड़े होने से बहुत फ़र्क पड़ जाता है। इसके अलावा एक कारण यह भी था कि भूतपूर्व सैनिक बड़े दृढ़स्वभाव और परिश्रमी लोग थे, उन्हें मित्र बनाने से कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैं स्वभाव से झेंपू और

* सर जोशुआ रेनॉल्ड्स, इंग्लैण्ड का 18 वीं शताब्दी का चित्रकार; टॉमस गेन्सबारो, रेनॉल्ड्स का समकालीन चित्रकार। अनु०

दब्बू था और जूनियर कॉमन रूम में बल्कि अन्यत्र भी अपने सहपाठियों के सामने हमेशा मुँह बंद रखता था। वस्तुत: खेल का मैदान मित्र बनाने के लिए सबसे अच्छी जगह थी, लेकिन मैं खेल-कूद में बहुत कमज़ोर था। मैं थोड़ा-बहुत टेनिस खेल लेता था लेकिन टेनिस, ऐसा खेल ही नहीं जिसमें आपके दोस्त बन सकें। अलबत्ता नाव चलाने में मैंने कुछ दक्षता प्राप्त कर ली थी और मैं 'आठ-नाविकों' की श्रेणी में पहुँच गया था जहाँ मुझे प्राय: अपने साथियों की झिड़कियाँ सहनी पड़ती थीं। मेरा खयाल है कि मेरी और मेरी तरह अधिकांश भारतीय विद्यार्थियों की एक कमज़ोरी यह थी कि हममें एक प्रकार की ग्रंथि घर कर गई थी और उसका कारण था भारत और ग्रेट ब्रिटेन के अस्वाभाविक संबंध क्योंकि इनमें से एक शासक था और दूसरा शासित। यह हमारी हीनता ग्रंथि थी या महत्ता ग्रंथि मैं नहीं जानता, कदाचित यह हमारी हीनता ग्रंथि ही थी जिसने महत्ता ग्रंथि का रूप धारण कर लिया था। इसी ग्रंथि ने भारतीय और अंग्रेज़ विद्यार्थियों के बीच एक ऐसा व्यवधान खड़ा कर दिया था जिसके कारण उस ज़माने में इन दोनों में कोई सच्ची मित्रता स्थापित नहीं हो पाती थी।

जब मैं ऑक्सफ़ोर्ड में पहले वर्ष में था तो मेरे विचार कहीं और ही रहते थे। भारत में बड़ी उथल-पुथल हो रही थी। युद्ध के दौरान भारतवासियों की यह आशा टूट चुकी थी कि युद्ध की समाप्ति के बाद वे स्वायत्त शासन की ओर अग्रसर होंगे और भारत सरकार ने देश में दमन चक्र चला दिया था। घोर जन-विरोध के बावजूद रॉलेट ऐक्ट पास हो गया था। देश भर में इसके विरुद्ध प्रदर्शन हुए और पंजाब में तो विद्रोह भड़क उठा, मार्शल लॉ लागू कर दिया गया, अनेक दारुण घटनाएँ घटीं—जैसे जलियाँवाला बाग़ का हत्याकांड और 'पेट के बल चलने का कुख्यात दंडादेश' जिसके बारे में चर्चिल ने कहा था कि 'इस आदेश के द्वारा सभ्यता के सिद्धांतों का घोर उल्लंघन किया गया है।' देश की ऐसी ही भयानक परिस्थितियाँ थीं जब महात्मा गाँधी ने अपना असहयोग आंदोलन शुरू किया था। पहले पहल तो सरकार यह समझती रही कि आंदोलन शीघ्र ही अपनी मौत आप मर जायेगा लेकिन वह तो दावानल की तरह फैल गया। महात्मा गाँधी ने सरकार के साथ असहयोग करने और सभी ब्रिटिश संस्थाओं, न्यायालयों, कॉलेजों और स्कूलों का बहिष्कार करने के लिए जो देश का जो आह्वान किया उसकी गूंज इंग्लैण्ड में भी सुनी गई। मेरे एक साथी ए० के० पिल्लै तो इस ललकार से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने महात्मा गाँधी को एक तार भेजकर यह मालूम किया कि क्या आपका यह आह्वान इंग्लैण्ड पर भी लागू

होगा ? तत्काल उत्तर आया कि 'हाँ'। उसके बाद ए० के० पिल्लै ने अपनी पढ़ाई समाप्त कर दी और भारत लौट आया। हमने बड़े स्नेह के साथ उसे विदा किया और उसके सम्मान में बड़े उत्साहपूर्ण भाषण दिये और फिर अपने अध्ययन में जुट गये। ए० के० पिल्लै ने एक ऐसी लड़की से विवाह कर लिया जिसकी केवल यह विशेषता थी कि वह रामकृष्ण पिल्लै की पुत्री थी जिन्होंने तिरुवांकुर के एक निरंकुश दीवान को ललकारा था और जो गद्दी से उतार दिये गये थे। लेकिन वह बेचारा भारतीय राजनीति में अपना कोई स्थान न बना सका। कुछ वर्ष पश्चात् वह लौटकर इंगलैण्ड आया। उसने वकालत की परीक्षा पास की और कांग्रेस छोड़कर समाजवादी दल में शामिल हो गया और युवावस्था में ही उसकी मृत्यु हो गई।

भारत में जो घटनाएँ घट रही थीं और विशेषकर पंजाब में जो नर-संहार हुआ था उस पर हमारे मन आक्रोश से भरे हुए थे। हमारे यहाँ अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए एक मंच था जो ऑक्सफ़ोर्ड मजलिस कहलाता था। इस भारतीय संस्था ने अनेक क्रांतिकारियों को जन्म दिया था जिसमें से कुछ उस समय भी यूरोप में घूम-फिर रहे थे। मजलिस में हमने बड़े उग्र भाषण दिये जिन्हें हम देशभक्तिपूर्ण समझते थे लेकिन अंग्रेज उन्हीं को विद्रोहपूर्ण मानते थे। देशभक्ति की इस भावना को मन में सँजोए हम आई० सी० एस० की तैयारी में भी बड़े उद्यम के साथ लगे हुए थे। उस समय हमें क्षण भर के लिए भी यह विचार न आया कि ब्रिटेन-विरोधी भाषणों और भारतीय सिविल सेवा में प्रवेश करने की महत्त्वाकांक्षा में कितनी भारी असंगति है क्योंकि भारतीय सिविल सेवा उस ज़माने में भारत में ब्रिटिश सरकार का प्रमुख आधार था। मेरी ईमानदारी और विनम्रता मुझे अपने पक्ष में यह तर्क देने से रोकती है कि जो कुछ बाद में हुआ उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हमें उसी समय यह अनुमान था कि आई० सी० एस० में भर्ती होकर हम स्वाधीन भारत की उन लोगों की अपेक्षा अधिक योग्यता से सेवा कर सकेंगे जो देशभक्ति के महान् आंदोलन से ऐसे अभिभूत हुए थे कि अपनी पढ़ाई अधूरी छोड़कर बिना पूरी तैयारी के ही कर्म-भूमि में उतर गये थे।

मैं अपने तीसरे सत्र में मजलिस का अध्यक्ष चुना गया था और इस बात पर बड़ा गर्व करता था कि अगले तीन वर्ष तक मुझे क्राइस्ट चर्च के भूतपूर्व अध्यक्ष के नाम से संबोधित किया जाता रहा। मैं एक समर्थ वक्ता के रूप में विख्यात हो चुका था लेकिन आज जब मैं अपने उन भाषणों को देखता हूँ तो बड़ा लज्जित होता हूँ। उनमें सार की कमी थी। मैं एक चुटकुले की खातिर या प्रभावशाली प्रतिकाष्ठा के लिए सब कुछ बलिदान कर देता था क्योंकि चुटकुले

से श्रोता तत्काल प्रभावित होते थे और वाह-वाह करने लगते थे। जिस समय मैं मजलिस का अध्यक्ष था, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ऑक्सफ़ोर्ड आये थे। उनकी लम्बी दाढ़ी, ढीले-ढाले वस्त्र और रुपहली वाणी को देखने से वे किसी और ही लोक के प्राणी नज़र आते थे। वे पहले भारतीय थे जिनको उनके साहित्य पर नोबेल पुरस्कार मिला था, लेकिन पंजाब में मार्शल लॉ के दौरान वहाँ की जनता पर हुए अत्याचार के विरोध में जब उन्होंने अपनी 'नाइट' की उपाधि वापस कर दी तो अंग्रेज़ों की दृष्टि में उनका वह मान न रह गया था लेकिन अब फिर वे अंग्रेज़ों के कृपा-पात्र बन गये थे। अंग्रेज़ लोग गाँधीजी की तुलना में, जिन्होंने देश भर में क्रांतिकारी भावना का संचार किया था, ठाकुर को कुछ संयत और उदार समझते थे और उनकी उदारचित्तता ने राष्ट्रवादी संघर्ष की कटुता को कम कर दिया था। मजलिस और ऑक्सफ़ोर्ड यूनियन ने मिलकर ठाकुर के सम्मान में एक सभा आयोजित की थी। होरे बेलिशा ने यूनियन के अध्यक्ष और मैंने मजलिस के अध्यक्ष के रूप में ठाकुर के स्वागत में भाषण दिये। मैंने कहा कि 'हम आपका केवल एक कवि के रूप में ही स्वागत नहीं कर रहे हैं, एक देशभक्त, या एक दार्शनिक के रूप में ही सम्मान नहीं कर रहे हैं, बल्कि ऑक्सफ़ोर्ड मजलिस के एक सम्मानित सदस्य के रूप में भी आपका अभिनंदन कर रहे हैं।' ऑक्सफ़ोर्ड के श्रोतागण से यह आशा की जाती थी कि वे इस प्रकार के सूक्ष्म संकेत को समझेंगे और उसकी दाद देंगे।

भारत के भूतपूर्व वाइसराय लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड को एक बार मजलिस में आमंत्रित किया गया। विषय था : 'क्या वाइसराय के रूप में आपने जो कार्रवाई की थी वह आवश्यक और उपयोगी थी ?' उस कार्रवाई में पंजाब का मार्शल लॉ भी शामिल था। विपक्ष का प्रमुख वक्ता मैं ही था। मैंने लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड का स्वागत करते हुए अपना भाषण इस प्रकार शुरू किया : ऑक्सफ़ोर्ड मजलिस आपका केवल इसलिए अभिनंदन नहीं कर रही कि आप भारत के भूतपूर्व वाइसराय रह चुके हैं बल्कि हम ऑक्सफ़ोर्ड के खिलाड़ी 'ब्लू' तथा 'ऑल सोल्स* के फ़ेलो' के रूप में आपका स्वागत करते हैं। कुछ सप्ताह पहले एक विवाद हुआ था कि समाज के लिए खिलाड़ी का अधिक मूल्य है या प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण विद्यार्थी का ? दो खिलाड़ी प्रथम श्रेणी के पक्ष में बोले और दो प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण छात्रों ने खिलाड़ियों के पक्ष में भाषण दिये। उसी संदर्भ में मैंने कहा, 'इसी प्रकार लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड को आज दो भाषण देने होंगे एक तो सदन के दूसरे पक्ष की ओर से भारत के भूतपूर्व वाइसराय की हैसियत से और दूसरा सदन के इस

* ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय का प्रख्यात अनुसंधान संस्थान। अनु०

पक्ष की ओर से एक सज्जन व्यक्ति के रूप में'। सदन ठहाकों से गूँज उठा जिसमें लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड भी शामिल हुए।

ऑक्सफ़ोर्ड में अपने पहले वर्ष में जी० के० चेट्टूर मेरा अंतरंग साथी था। वह मद्रास का बड़ा प्रतिभाशाली विद्यार्थी रहा था और अंग्रेजी साहित्य में उसे प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई थी। उसके बारे में यह भी निश्चय था कि वह आई० सी० एस० में निस्संकोच ले लिया जायेगा : लेकिन इंग्लैण्ड जाकर उसने इन आशाओं को झुठला दिया क्योंकि वहाँ उसमें काव्य-शक्ति का स्फुरण होना शुरू हो गया था। उसने कवि की-सी भाव भंगिमाएँ अपना लीं। बाल बढ़ा लिये, टाई की जगह गुलुबंद बाँधने लगा, साइकल पर एक ओर दोनों पैर किये उसे चलाने लगा और इस विशिष्ट ढंग से नाव चलाने लगा कि एक बार आइसिस में गिर पड़ा और अगर उसका साथी नाविक उसे न बचाता तो डूब कर मर भी गया होता। जब रवीन्द्र नाथ ठाकुर ऑक्सफ़ोर्ड आये तो चेट्टूर ने अपनी कुछ कविताएँ संशोधन के लिए उन्हें पेश कीं। ठाकुर ने उससे कहा कि इन सबको जला डालो और अपनी मातृभाषा में कविता करना शुरू कर दो।

जैसा कि कवि के लिए स्वाभाविक है, चेट्टूर भी सौंदर्य का बड़ा भारी पुजारी था। जब हंसा मेहता ऑक्सफ़ोर्ड गईं तो वह उन्हें अपना दिल दे बैठा। और उसी भावावेश में उसने हंसा मेहता से एक प्रश्न भी पूछ लिया : क्या यह सच नहीं है कि आपको दूसरों की अपेक्षा मुझसे अधिक लगाव है ? लेकिन जब हंसा मेहता ने उसी स्वर में और वैसी ही भाषा में वही प्रश्न यों दोहराया : आख़िर आपको यह ग़लत-फ़हमी हुई कैसे कि मुझे दूसरों की अपेक्षा आपसे अधिक लगाव है ? तो चेट्टूर का नशा हिरन हो गया और उसका दिल उसे वापिस मिल गया। लेकिन इस सूखे और अप्रिय उत्तर के बावजूद जब वे ऑक्सफ़ोर्ड से लौटने लगीं तो चेट्टूर एक कविता और फूलों का एक गुलदस्ता लेकर उनको छोड़ने स्टेशन गया। लेकिन जब जेनेवा पहुँचकर उन्होंने उसके बजाय मुझे पत्र लिखा तो चेट्टूर को बड़ी ठेस पहुँची।

एक बार मैं और चेट्टूर डेवनशायर के लिंटन नामक स्थान में 'वैली ऑफ़ द राक्स' होटल में साथ-साथ ठहरे हुए थे। वहाँ एक बड़ी सुन्दर लड़की थी जिसे आकृष्ट करने का चेट्टूर ने भरसक प्रयास किया। जब वह सफल न हो सका तो उसने एक चाल चली। उसने अपने नाम एक पत्र लिखने का निश्चय किया जिसमें अपने को 'हिज़ हाइनेस द राजा ऑफ़ मन्करा' लिखा। उसने सोचा कि जब होटल के सभी निवासी अपने पत्र लेने के लिए एकत्र होंगे तो इस पत्र

पर लड़की की नजर जरूर पड़ेगी और उसके बाद वह मुझ में दिलचस्पी लेने लगेगी। मैं और चेट्टूर समीप के एक डाकघर में गये और वह पत्र डाल आये जो उसके भाग्य का निर्णायक था। उसने होटल के मैनेजर से जाकर कहा कि मेरे कुछ पत्र राजा, मंकरा के नाम से आयेंगे। मैं हूँ राजा ही लेकिन आजकल छद्म वेश में यात्रा कर रहा हूँ, इसलिए मैं आपको सूचित कर रहा हूँ कि कहीं मेरे पत्र इस बहाने वापस न कर दिए जाएँ कि इस नाम का कोई व्यक्ति होटल में ठहरा हुआ ही नहीं है। पत्र वहाँ पहुँचा और चूंकि मैनेजर राजा के गुमनाम या छिपे रहने की इच्छा पूरी करना चाहता था इसलिए उसने यह किया कि उस पत्र को एक दूसरे लिफ़ाफे में रखकर उस पर जी० के० चेट्टूर का नाम लिख दिया और उसके पास भेज दिया। चेट्टूर ने समझ लिया कि उसकी ग्रह-दशा अनुकूल नहीं है और उसने अपना विचार त्याग दिया।

कुछ ही दिन बाद जब मैंने देखा कि मेरा स्वभाव उससे मेल नहीं खाता तो मैंने उसका साथ छोड़ दिया। मित्र के रूप में चेट्टूर बड़ा दुराग्रही और हठी था। 'इन मेमोरियम'* से प्रभावित होकर उसने अपने मैत्री-सम्बन्धी विचार बहुत ही अत्युक्तिपूर्ण बना लिये थे। यह कविता उसे कंठस्थ थी और इसके अनेक अंश वह अपने विचारों के समर्थन में मुझे सुनाया करता था। वह चाहता था कि मैं उसके साथ वैसा ही मैत्रीपूर्ण आचारण करूँ जैसा आर्थर हैलन लॉर्ड टेनिसन के साथ किया करता था। यह बात मेरे लिए असह्य थी इसलिए मैंने चुपचाप उससे किनाराकशी इख्तियार कर ली और चूंकि वह भी यह समझ चुका था कि मैं उसकी मेधा को समझने में और उसकी प्रशंसा करने में असमर्थ हूँ इसलिए उसने भी मुझे छोड़ दिया।

चेट्टूर से मेरी मैत्री का समाप्त होना था कि मेरे मित्रों का एक ताँता बँध गया। अनेक विद्यार्थी मेरे मित्र बन गये। लेकिन उनके सम्बन्धों में दूसरों को उकता देने वाली वह भावुकता नहीं थी जिसके कारण मेरी और चेट्टूर की मैत्री का अंत हुआ था। ऑक्सफ़ोर्ड में मेरे ये मित्र थे : डी० एस० रेड्डी जिनकी उपमा एक अनगढ़ मणि से दी जा सकती है, जो बाह्यत: बड़े दुराचारी से लगते थे लेकिन थे बिल्कुल गऊ जैसे भोले-भाले; के० एस० शवाक्ष जिन्होंने घूसा-बाज़ी में ऑक्सफ़ोर्ड में पुरस्कार प्राप्त किया था और जो जीवन भर अफ़सरी और आडम्बर में उलझे रहे थे; एम० सी० चागला जो गंभीर (लेकिन हमारी संगति में नहीं), शान्त और अध्ययन शील थे; जे० एस० ए० राजू जिन्होंने सारा जीवन हास-परिहास में गुज़ारा और फिर समय से पहले ही इस संसार से विदा

---

* लॉर्ड अल्फ्रेड टेनिसन (1809-1892) का प्रख्यात शोक गीत जो उसने अपने मित्र आर्थर हैलन की मृत्यु पर लिखा था अनु०

हो गये; फिर ए० एन० तंपी जो क्राइस्ट चर्च के टेनिस के खिलाड़ी थे और जिन्होंने मेरे साथ तिरुवांकुर के महाराजा की तानाशाही के विरुद्ध एक लेख लिखा था, जबकि उनका अपना सम्बन्ध राज परिवार से था; पी० एन० सप्रू जो यद्यपि हमेशा खोये-खोये रहते थे लेकिन जो हम सबसे बढ़कर प्रीतिकर थे और अपनी अन्यमनस्कता के बावजूद एक हाइ कोर्ट के जज बने थे; टी० सी० गोस्वामी जिनके पास रॉल्स रॉइस कार थी, और जो मोतीलाल नेहरू की छत्र-छाया में राजनीतिक क्षेत्र में आये; उन्होंने लॉर्ड सिनहा की पुत्री से विवाह कर लिया था और वे जिस तेजी से चमके थे उसी तेजी के साथ बुझकर रह गये; मुहम्मद हबीब जो अलीगढ़ विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर थे और भारतीय इतिहास के संधिकाल पर अध्ययन-मनन करते हैं, वे न केवल अपना काम करते थे बल्कि दूसरे के काम से भी कभी नहीं कतराते थे, के० टी० एन० मेनन जो हमारे ऑक्सफ़ोर्ड के साथियों में सबसे अधिक उच्छृङ्खल और रूढ़िमुक्त थे और आज उतने ही शांत और गम्भीर बन गये हैं। उन्होंने एक अंग्रेज़ महिला से विवाह कर लिया, मसीही धर्म स्वीकार कर लिया और इंग्लैण्ड में पादरी के रूप में बस गये हैं; लियाक़त अली खाँ एक अच्छे खिलाड़ी और मिलनसार दोस्त थे। वे भारत वापस आकर मुस्लिम लीग के राजनीतिक भँवर में फँस गये, पाकिस्तान के पहले प्रधान मंत्री बने और अपने जीवन के उत्कर्ष-काल में एक मुसलमान हत्यारे की गोली का निशाना बन गए; श्रीलंका के एस० डब्ल्यू० आर० डी० भण्डारनायक जो स्वभाव में लियाक़त से बिल्कुल भिन्न थे यानी वे बड़े प्रति-भाशाली और उत्साही थे, लेकिन संयोग ऐसा हुआ कि दोनों का राजनीतिक जीवन एक-सा रहा, वे भी उग्र सिंहल राष्ट्रवाद के आन्दोलन के फलस्वरूप प्रधानमन्त्री के पद पर जा बैठे और धर्मांध सिंहली की गोली से मारे गये; बी० आर० सेन जिनका घोड़ा ऑक्सफ़ोर्ड के घुड़सवारी के स्कूल में हमसे हमेशा आगे रहता था और जिनका पदीय अश्व भी बहुत आगे निकल चुका है क्योंकि वे तीन बार खाद्य और कृषि संगठन के महानिदेशक चुने जा चुके हैं, और अन्त में हम में सबसे अधिक उदात्त और उदार चेता मुहम्मद मुजीब, जो अध्ययनशील भी हैं और स्वयं लेखक भी, जिन्होंने अपना समस्त जीवन जामिया मिल्लिया इस्लामिया के लिए अर्पित कर दिया है। यद्यपि उनका जीवन बड़ा सादा और संयत है फिर भी अपने पुराने मित्रों के साथ बैठकर वे मदिरा-पान से भी संकोच नहीं करते और अश्लील चुटकुले का आनन्द भी उठाते हैं।

चेट्टूर से मेरी भेंट ऑक्सफ़ोर्ड से भारत आने पर सिर्फ एक ही बार हुई थी। उन दस वर्षों में जब वह ऑक्सफ़ोर्ड से लौटा था, उसके स्वभाव में भारी परिवर्तन आ गया था। जिस काव्य-देवी ने ऑक्सफ़ोर्ड में उसके अध्ययन पर

विचित्र प्रभाव डाला था, अब अदृश्य हो चुकी थी और अब वह अपनी सृजन-प्रतिभा की अभिव्यक्ति कविता में न करके गद्य में करने लगा था। जब मैं उससे मिला उस समय वह मंगलौर के एक कॉलिज का प्रिंसिपल था। वह छात्रों तथा अध्यापकों में लोकप्रिय था और वे सभी उसका बड़ा आदर करते थे। उसने ऑक्सफ़ोर्ड पर एक पुस्तक भी लिखी थी जिसका नाम था **दि लास्ट एन्चैंटमेंट**। वह अपने विवाहित जीवन से बड़ा प्रसन्न था। उसका विवाह मलाबार की एक अत्यन्त सुन्दर और गुणवती लड़की से हुआ था और उसने उसके प्रति अपना प्रेम प्रकट करते हुए उसी के नाम 'चोचा, चोचा, चोचा' की टेक में कुछ सॉनेट भी लिखे थे। किन्तु दुर्भाग्यवश उसका वह सुख अचिर रहा। उसे कैंसर हो गया और वह व्यक्ति जिसे मृत्यु से घृणा थी, अभी चालीस वर्ष भी न जिया था कि मृत्यु की गोद में जा सोया।

मैं अपने एक ऐसे अनुभव के लिए चेट्टूर का ऋणी हूँ जो मुझे कभी न भूलेगा। जब वह मजलिस का अध्यक्ष था तो उसने डब्ल्यू० बी० यीट्स* को व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया था। मैंने अपने जीवन में उससे बढ़कर सुन्दर व्याख्यान फिर कभी नहीं सुना उसमें सभी कुछ सुन्दर था—उसकी शैली, विषय, व्याख्यान का ढंग और स्वयं व्याख्याता भी। व्याख्यान का विषय था : 'कविता : मेरी पीढ़ी के संदर्भ में।' उन्होंने कहा, मेरा यह प्रयत्न रहा है कि दैनिक जीवन की भाषा का कविता में प्रयोग करूँ। यह एक दु:साध्य कार्य था। एक बार सिंज के नाटक **प्लेबॉय ऑफ़ द वेस्टर्न वर्ल्ड** के प्रदर्शन के कारण हंगामा उठ खड़ा हुआ और उसे घण्टों उपद्रवियों से लड़ना पड़ा और यह सब केवल इस कारण कि उसमें लड़की की शमीज़ का उल्लेख आ गया था। यीट्स ने कुछ भारतीय कवियों का भी बड़े स्नेहपूर्ण स्वर में उल्लेख किया जिनको वे जानते थे, जैसे मनमोहन घोष और पुरोहित स्वामी। उन्होंने उन दोनों की कुछ कविताओं के उद्धरण भी सुनाये। व्याख्यान समाप्त होने के बाद उन्होंने बहुत से प्रश्नों के उत्तर भी दिए। मजलिस एक देश-भक्त संस्था थी और भारत में क्रांति लाने के लिए लालायित थी। हम सबके क्रांतिकारी विचार फ्रांस की क्रांति से अनुप्रेरित थे, हमारा आदर्श महात्मा गाँधी का अहिंसापूर्ण विद्रोह कभी नहीं रहा था। एक वरिष्ठ भारतीय छात्र अब्दुर्रहमान सिद्दीक़ी ने एक प्रश्न किया जो प्रश्न कम और बयान ज़्यादा था, जिसमें साग्रह कहा गया था कि भारत केवल हिंसात्मक ढंग से ही स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है। अब हमें यीट्स का दूसरा ही रूप देखने

* अंग्रेजी का प्रख्यात कवि विलियम बटलर यीट्स (1895–1939) जो अपनी रहस्यवादी कविताओं के लिए विख्यात है। —अनु०

को मिला। हिंसा के उल्लेख मात्र से ही वे उत्तेजित हो गये। उन्होंने कहा कि मुझे हिंसा से सख्त नफ़रत है। मैं जानता हूँ हिंसा किसे कहते हैं, मेरे अपने देशवासियों ने इसे अपनाया था। उन्होंने अत्याचारी की हिंसा का सामना हिंसा के ज़रिये किया था। लेकिन उससे उन्हें क्या मिला? उसका केवल एक परिणाम निकला कि उनकी आत्माएँ कलुषित हो गईं। सारे यूरोप में हिंसा का बोलबाला है और अगर हिंसा की ये लपटें भारत में भी पहुँच गई तो सभ्यता का विनाश हो जायेगा। और यही व्यक्ति था जिसने लिखा था :

दिन की पीठ पर अजगर सवार,
नींद पर डरावने सपनों का भार
एक सैनिक नशा—
जो माँ की हत्या कर सकता है,
और अपने लहू ही में घिसटने के लिए
उसे द्वार पर डालकर
साफ़ बच सकता है
पहले की तरह रात भीगेंगे ठण्डे पसीने से
हमने अपने चिंतन को दर्शन का रूप दिया
बिल में परस्पर लड़ते मांस-भक्षी कीड़ों से
विश्व को नियम में बाँधने का प्रयत्न किया

अपने व्याख्यान के दौरान यीट्स ने जो कविताएँ सुनाई थीं उनमें से एक आज भी मेरे कानों में गूंज रही है। और वह थी अर्नेस्ट डॉसन की 'मैं अपने आचरण में तेरे प्रति वफ़ादार रहा हूँ और सिनारा!' इस सुन्दर काव्य-त्रिकोण के व्यक्तियों से यीट्स व्यक्तिगत रूप से परिचित थे और उन्होंने यह कविता बड़े भाव-भीने स्वर में सुनाई। उसे सुनकर हमें ऐसी भावनात्मक अनुभूति हुई मानो यह सब हमारे ही साथ हुआ हो।

इंग्लैण्ड में मेरी कोई सिनारा न थी। हाँ, मेरे साथियों की एक या दो प्रेमिकाएँ ज़रूर थीं। ऑक्सफ़ोर्ड का जीवन इतना व्यस्त, इतना संपन्न और इतना सक्रिय था कि मेरे लिए प्रेमालाप अथवा पाशव तुष्टि की लालसा करना असम्भव था। हालाँकि हम वहाँ जो जीवन बिता रहे थे उसे 'अर्जित आलस्य' कहा जाता था लेकिन इसके बावजूद हमारा वातावरण शुद्ध रूप से बौद्धिक था। मैं कोई आधे दर्जन क्लबों का सदस्य था और एक क्लब का जो 'नाइनटीन क्लब' कहलाता

था, मैं संस्थापक-सदस्य भी था। उस ज़माने में जो कुछ मेरे हाथ लगता मैं उसी को पढ़ लिया करता था। बाडलिएन में मैं घण्टों बैठा करता था और मेरे बारे में कहा जाता था कि यह विद्यार्थी ऑल सोल्स पुस्तकालय का सदस्य बनने योग्य है। मैं बहुत कम व्याख्यानों में जाता था। जिनके व्याख्यानों को सुनने मैं खास तौर से जाया करता था उनमें प्रो० एडम्स थे जो कालांतर में ऑल सोल्स के वार्डन बन गये थे। वे हमें प्रतिनिधि प्रशासन पढ़ाया करते थे। उस समय न प्रो० एडम्स जानते थे और न मैं ही कि वह समय आ रहा है जबकि प्रतिनिधि शासन यूरोप के अधिकांश भाग में दम तोड़ रहा होगा और जब जर्मनी और इटली में तानाशाह अपने ही राज्यों में स्वतन्त्रता का दमन करेंगे और अन्य राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के लिए ख़तरा पैदा करेंगे तो संसद माता कातर दृष्टि से उनकी ओर देखेगी और दस-बीस वर्षों की निरन्तर उदासीनता के बाद वही माता सहसा नींद से जागेगी, उनकी ओर बढ़ेगी और वह एक अन्य राज्य की सहायता से, जिसने प्रतिनिधि प्रशासन को पहले ही रद्द कर दिया होगा, उन्हें नष्ट-भ्रष्ट करके रख देगी।

ऑक्सफ़ोर्ड में हमारा न केवल मानसिक व्यायाम होता था बल्कि शारीरिक व्यायाम भी ख़ासा हो जाता था। मैं वहाँ घुड़सवारी करता था, नाव चलाता था और टेनिस खेला करता था। इन तीनों खेलों के प्रति मुझ में उत्साह तो बहुत अधिक था फिर भी मैं उनमें कोई विशेष कौशल प्राप्त नहीं कर सका था। नाव चलाने में मुझे बड़ा आनंद आता था। मैंने एक नाव किराये पर ले ली थी और उसका नाम 'साधना' रख दिया था। चेट्टूर ने अपनी नाव को हंसा नाम दिया था जो उसकी आंतरिक लालसा का प्रतीक था। कुछ नावों के नाम बड़े दिलकश थे : एक का नाम था **पी० टी० ओ०** और दूसरी का **साँस प्योर एत् साँस शेपरोन***। हर रोज़ हम नाव खेते-खेते स्ले के काफ़े तक पहुँच जाते। वहाँ हम आइसक्रीम और स्ट्रॉबेरी खाते और स्ले के पुरखों की दास्तानें सुना करते थे। वह अपनी वंश-परम्परा का सूत्र जॉफ़री चॉसर † से जोड़ा करता था। वहीं मैंने घुड़सवारी भी सीख ली थी। क्योंकि आई० सी० एस० की अंतिम परीक्षा में हमें घुड़सवारी की भी परीक्षा देनी होती थी। यह परीक्षा वूलविच में होती थी। परीक्षा में ज़ीन कसना, लगाम बाँधना, दुलकी चाल चलना, पोइयों चलना और कूदना शामिल था। जब हम परीक्षा दे चुके तो कैप्टन बैरी ने जो हमारे परीक्षक थे, हमसे कहा, 'साहबान, आप सब पास हो गये, जब आप हिन्दुस्तान वापस जाएं तो मेरी राय है कि आप लोग मोटर साइकलें माँगें।'

---

* बिना किसी भय और बिना किसी संरक्षक के।

† इंग्लैण्ड का चौदहवीं शताब्दी का कवि जो अंग्रेज़ी कविता का जनक माना जाता है। —अनु०

हमारी छुट्टियाँ ऑक्सफ़ोर्ड के सत्रों से कहीं अधिक कष्ट-साध्य थीं, लेकिन वह कष्ट कुछ भिन्न था। उन्हीं दिनों हम अपने अधूरे काम पूरे कर लिया करते थे। इसके अलावा उसी अर्से में हम ब्रिटेन के ग्राम्य प्रदेश के बहुविध सौंदर्य की भी तलाश करते रहते थे। हमने अपनी कुछ छुट्टियाँ डेवन शायर में बिताई थीं जहाँ पहाड़ियाँ झुककर समुद्र को नमस्कार करती थीं। हम डेवन की बंजर ज़मीन की यात्रा कभी घोड़े पर करते और कभी पैदल जाया करते थे। यह स्थान मुझे अपनी प्रिय पुस्तक **लोर्नाडून** की बहुत याद दिलाता था। एक छुट्टी हमने नॉर्थ वेल्स के डिफ़रिन नामक स्थान पर भी गुज़ारी थी। वहाँ जिस मकान में हम रहे थे वह बड़ा अजीब-सा था और उसे हम 'कूडी बहाऊ' कहा करते थे। उसका सही नाम मैं अब भूल गया हूँ। जिस समय मैं, राजू और मुजीब अपनी पढ़ाई में व्यस्त थे, हामिद को एक लुहार की लड़की से प्रेम हो गया और वह उस पर कविताएँ लिखने लगा। हमने इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड दोनों का लेक डिस्ट्रिक्ट भी देखा। हमें स्कॉटिश लेक डिस्ट्रिक्ट का अकृत्रिम वैभव और इंगलिश लेक डिस्ट्रिक्ट की शांति और स्तब्धता बहुत पसंद आई। हम स्किडा, हेलवेलिन और बेन लोमोंड पर चढ़े। इन तीनों में सब से अधिक दुर्गम हेलवेलिन ही था। जब मैं उसकी चोटी पर पहुँचा तो मेरा सिर चकराने लगा। मेरे साथी चेट्टूर और राजू मुझसे आगे निकल चुके थे और आँख से ओझल हो गये थे। अब न मैं आगे जाने की स्थिति में था और न पीछे लौटने की और घबराहट में फिसलता हुआ नीचे एक झील में गिरने से बचा जहाँ एक साँड ने मेरे जिस्म में सींग घुसेड़ने में कसर न छोड़ी थी। आख़िरकार जब मैं अपनी होटल में वापस आया तो देखा कि मेरे साथी डेढ़-दो घण्टे पहले ही वहाँ पहुँच चुके थे। वे मेरे न पहुँचने के कारण चिन्तित थे। चेट्टूर ने तो मेरे भाई के नाम एक तार और मेरी स्मृति में एक कविता तक लिख ली थी।

उस समय मेरी उम्र तेईस वर्ष की थी और अभी मुझे स्त्री की हवा भी नहीं लगी थी। जब ऑक्सफ़ोर्ड के हम तीनों साथी—राजू, चेट्टूर और मैं—एडिनबरा गये तो वहाँ एक भारतीय ने जो वर्षों से वहीं रहता आया था और जिसका एक नियमित रनिवास था, हमारा परिचय अपनी तीन मित्रों से कराया और हमसे आग्रह किया कि आप लोग इन्हें लेकर अलग-अलग दिशाओं में घूम आइये। जिस लड़की के साथ मैं गया वह बेचारी बड़ी ही विनम्र थी। मैं उसके साथ घूमने चला तो गया लेकिन यह न जानता था कि अब करूँ क्या। मुझे अब तक याद है कि जब हम लौटकर अपने मेज़बान के पास आये तो उसके चेहरे पर तिरस्कार के लक्षण झलक रहे थे और उस लड़की ने उससे कहा था, 'इन्होंने तो कुछ भी नहीं किया।' लेकिन मैं यह बता दूँ कि यूरोप से लौटने के पहले मैंने और

मेरे दूसरे साथियों ने वह वर्जित फल चख लिया जो महाद्वीप के बाज़ारों में दुकानों पर सजा हुआ था। लेकिन उससे हमें लेशमात्र भी संतोष नहीं हुआ। और जब कभी बाद में उसकी याद आई तो दिल को बड़ी कोफ़्त-सी हुई।

जून, 1921 में मैंने इतिहास में ऑनर्स की परीक्षा पास की। लिखित पर्चों के बाद हमारी मौखिक परीक्षा हुई। मौखिक परीक्षा का उद्देश्य परीक्षार्थी को ऊपर उठाना होता है नीचा दिखाना या गिराना नहीं। अगर मौखिक परीक्षा कम देर चले तो समझ लीजिए कि परीक्षक ने आपके लिखित पर्चों के आधार पर यह तय कर लिया है कि आपको पास किया जाए या फ़ेल और आपको कौन सी श्रेणी दी जाए। यदि वह परीक्षा लंबी खिंच जाए तो इसका मतलब यह हुआ कि आपकी सफलता कुछ अनिश्चित है। मेरी परीक्षा तो एक मिनट भी न चली। मुख्य परीक्षक ने मुझे बताया कि तुमने सभी पर्चों में बड़े अच्छे अंक प्राप्त किये हैं। और तुमने अपने कॉलेज तथा विश्वविद्यालय का नाम ऊँचा किया है। यह सब सुनकर मैं हक्का-बक्का रह गया क्योंकि उसका सीधा-सादा मतलब यह था कि मुझे वह प्रतिष्ठा मिली है जिसके लिए सैकड़ों लालायित रहते हैं। यानी ऑक्सफ़ोर्ड में प्रथम श्रेणी। इस समाचार ने मुझे इतना उत्तेजित किया कि रक्त मेरे सिर में चढ़ गया और उस दिन तीसरे पहर तक मेरे सिर में दर्द रहा। लेकिन जब कुछ सप्ताह बाद मैंने अपना नाम उत्तीर्ण छात्रों की सूची में सबसे ऊपर देखा तब मुझमें ऐसी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। भारतीय सिविल सेवा, गृह सिविल सेवा और उपनिवेशी सिविल सेवा की संयुक्त परीक्षा में मैं सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुआ था।

परीक्षा अगस्त के पूरे महीने चलती रही। पहला पर्चा निबंध का था जिसमें मुझे 75 प्रतिशत अंक मिले। अंतिम पर्चा मेरे प्रिय विषय राजनीति शास्त्र का था जिसमें मुझे 91 प्रतिशत अंक मिले। जब मैं प्रश्नों के उत्तर देने के लिए पर्चे पर पर्चे माँगता रहा तो परीक्षा के पर्यवेक्षक महोदय ने जो एक उदारमना वयोवृद्ध व्यक्ति थे, हँसी से मेरी उत्तर पुस्तिका को हाथ में तोलते हुए कहा, 'क्या अब इसे छपने भेज दिया जाए ?'

लिखित परीक्षा के बाद व्यक्तित्व परीक्षण हुआ जिसमें पाँच परीक्षक बैठे, उनमें एक महिला थीं। मुझे अब केवल दो परीक्षक याद हैं प्रोफ़ेसर रैम्जे मूर और डॉ० लिड्सै जो बाद में जाकर मास्टर ऑफ़ बैलिओल* बने। मेरी घबराहट दूर करने के लिए उन्होंने मेरे घर और मेरे पूर्ववृत्त के बारे में प्रश्न पूछने शुरू किये। वे जानते थे मैं तिरुवांकुर का रहने वाला हूँ, इसलिए मुझसे पूछा, 'अच्छा

* बैलिओल नामक कॉलेज का अध्यक्ष। —अनु०

तो आप नेटिव (देशी) रियासत के रहने वाले हैं ?' मैंने कहा, 'बल्कि यों कहिए मैं भारतीय रियासत का निवासी हूँ।' उसके बाद 'नेटिव' शब्द पर हमने चर्चा की और यह बताया कि 'नेटिव' जैसे निरीह शब्द ने किस प्रकार और क्यों एक अपमानजनक अर्थ ग्रहण कर लिया। उन लोगों का विचार था कि इसके पीछे जितनी अंग्रेज़ों की महत्ता ग्रंथि काम कर रही है उतनी ही नेटिव लोगों की हीनता ग्रंथि भी। फिर मुझसे तिरुवांकुर के महाराजा के बारे में प्रश्न किया गया। मैंने उत्तर दिया कि वे बड़े सम्मानित शासक हैं और प्रजा उनको संत समझती है, अलबत्ता यह शिकायत लोगों को ज़रूर है कि उनके कुछ कृपापात्र भ्रष्टाचारी हैं। 'एक भ्रष्ट कृपापात्र रखना अच्छी बात है या दो ?' उन्होंने पूछा। मैंने जवाब दिया कि जनता की दृष्टि से तो एक के बजाय दो कृपापात्र बेहतर होते हैं क्योंकि एक को दूसरे के विरुद्ध इस्तेमाल किया जा सकता है। परीक्षकगण ने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। फिर उन्होंने यह जानते हुए कि मैं नायर संप्रदाय का सदस्य हूँ मुझसे मातृकुलीय प्रथा के उद्गम और प्रकृति के संबंध में अनेक प्रश्न पूछे। धीरे-धीरे वे मुझे कुछ ऊँचे धरातल पर ले जाने लगे। उनके प्रश्नों में से एक यह था कि आप आयरलैण्ड की समस्या और भारत की समस्या में क्या अंतर समझते हैं। उस समय आयरिश समस्या की बड़ी चर्चा थी। मैंने कहा कि इंग्लैंड के लिए आयरलैंड केवल एक घरेलू समस्या है जबकि भारत की समस्या सारे साम्राज्य की समस्या है। मैं नहीं जानता डि वैलरा* मुझसे सहमत होते या न होते, लेकिन मुझे लगा कि परीक्षकों ने मेरा जवाब पसंद किया। कुल मिलाकर व्यक्तित्व परीक्षण मेरे लिए बड़ा सुखद अनुभव रहा। चालीस वर्ष बाद जब मैं भारतीय प्रशासन सेवा और भारतीय विदेश सेवा के लिए उम्मीदवार चुनने के लिए हर साल इंटरव्यू बोर्ड में बैठा करता था तो 1921 में आई० सी० एस० के अपने इंटरव्यू को मैं हमेशा आदर्श के रूप में अपने सामने रखता था।

परीक्षाफल प्रकाशित हुआ तो मैं डेवनशायर में इल्फ्राकोंब नामक स्थान पर छुट्टी गुज़ार रहा था। जब मैंने देखा कि मैं सर्वप्रथम आया हूँ तो मेरे हर्ष का पारावार न रहा, लेकिन साथ ही कुछ अवसाद का भी आभास मुझे हुआ। ऑक्सफ़ोर्ड में प्रथम आने के बाद आई० सी० एस० में प्रथम आना एक प्रकार का रसापकर्ष ही था। मेरे पास बधाई के अनेक तार आये जिनमें से एक में लिखा था: 'तुम्हारे हाल पर तरस आता है।' और वास्तव में मुझे खुद को भी खेद हुआ। आई० सी० एस० का अपना आकर्षण सही, लेकिन क्या मैं वह परीक्षा पास करके अपने ही देश में एक विदेशी सरकार की सेवा करने नहीं जा रहा था ? लेकिन इन कष्टकर विचारों को मैंने अपने तक ही रखा।

---

* आयरिश राजमर्मज्ञ जो 1937-48 तथा 1951-54 में वहाँ के प्रधान मंत्री रहे। —अनु०

आई० सी० एस० परीक्षा पास करने के बाद भी मैं भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध बड़े प्रचंड भाषण देता रहा। मेरी स्थिति कितनी अयुक्तियुक्त थी इसका आभास मुझे तब हुआ जब इंडिया ऑफ़िस से मेरे नाम बुलावा आया। एक अधिकारी ने मुझे बिठाया और जब मैंने उससे अपने बुलाये जाने का कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया, 'ज़रा ठहरिए, अभी मालूम हुआ जाता है।' वह मुझे एक लंबे और अँधियारे गलियारे से एक कमरे में ले गया जहाँ सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट्स कौंसिल के दो सदस्य मौजूद थे। उनमें से जो वरिष्ठ सदस्य थे उन्होंने **इण्डस** नाम पत्रिका के कुछ उद्धरण पढ़ कर सुनाये। यह पत्रिका उस समय इंग्लैण्ड से प्रकाशित होती थी और उसमें लिखा था कि श्री के० पी० एस० मेनन ने अपने एक भाषण में कहा है कि भारत अधिक समय तक ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं रह सकता। सदस्य ने कहा अगर आपका यह विश्वास है तो यह आपके आई० सी० एस० के प्रतिज्ञापत्र के प्रतिकूल है जिसके पहले ही खंड में कहा गया है कि मैं सम्राट जॉर्ज पंचम और उनके उत्तराधिकारियों के प्रति सदा वफ़ादार रहूँगा। मैंने अपने उत्तर में कहा कि मैं साम्राज्य और राष्ट्रमंडल को अलग-अलग मानता हूँ। भारत अपनी वर्तमान स्थिति में साम्राज्य के अंदर तो नहीं रह सकता, अलबत्ता एक समान सदस्य के रूप में राष्ट्रमंडल में ज़रूर रह सकता है। 'तो इसका मतलब यह है कि अखबार वालों ने आपको गलत समझा।' उसने कहा। 'अच्छा अब आप इस प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर कर दीजिए।'

इसके एक महीने बाद मैं लंदन से भारत के लिए रवाना हुआ। टिलबरी के रास्ते में मेरे साथ एक अनहोनी हुई। एक भारतीय लड़की ने जिससे मेरी मैत्री थी और बस, सहसा मेरे कान में कहा, 'जब तुम यहाँ से चले जाओगे तो मेरे दुख-दर्द का कौन साथी रहेगा के० पी० एस० ?' मैं दंग रह गया। यदि यही बात उसने एक दिन पहले कही होती तो शायद मैं उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रख देता। इसलिए नहीं कि मुझे उससे प्रेम था बल्कि वह मुझे पसन्द थी और मैं कभी अनजाने में भी उसका दिल दुखाना सहन न कर सकता था। बीस वर्ष बाद मेरी उससे फिर मुलाक़ात हुई। बड़ी होकर वह बहुत मोटी हो गई थी लेकिन अभी तक थी अविवाहिता और उसने डॉक्टरी के पेशे में बड़ा नाम कमा लिया था।

इंग्लैण्ड पहुँचने के ठीक चार वर्ष और चार मास बाद मैं ऑक्सफ़ोर्ड से रवाना हुआ था। वहाँ से चलते समय मुझे यह एहसास था कि मैं अपने जीवन का बेहतरीन हिस्सा अपने पीछे छोड़ जा रहा हूँ।

त्रिच्चिनाप्पल्ली

००

मेरे भाई और भाभी मुझे लेने बम्बई आ गये थे, वहाँ पहुँचकर उन्होंने मुझे अपने संरक्षण में ले लिया। वे मुझे अपनी सृष्टि मानते थे जो ठीक भी था। यह मेरे भाई की ही उदारता थी जिसकी बदौलत मैं इंग्लैंड गया और आई० सी० एस० में भर्ती हो गया था। और कोई भी भाभी इस बात से ख़ुश नहीं हो सकती थी कि उसका पति अपने बच्चों से ज़्यादा अपने भाई पर ख़र्च करे। लेकिन मेरे और उनके सम्बन्ध सामान्य देवर-भाभी के से नहीं थे। हम साथ-साथ खेले, साथ-साथ पढ़े, एक ही कमरे में रहे और यौन-सम्बन्धों को छोड़कर कहा जाए तो एक-दूसरे के दिल की धड़कन भी रहे थे।

चन्द दिन बम्बई में गुज़ारने के बाद हम लोग रेल में सवार होकर मद्रास के लिए रवाना हुए। मैं, भाई, भाभी और कुडवा (मेरा आई० सी० एस० का साथी) चारों एक ही डिब्बे में थे। आधी रात गये कुछ दंगाई अंग्रेज़ सैनिक हमारे डिब्बे में घुस आये। वे सब शराब पिये हुए थे, उन्होंने बत्ती ढूँढ़ने की कोशिश की लेकिन वह मिल न सकी। फिर उन्होंने अंधेरे में महसूस किया कि कोई बर्थ पर सो रहा है। वह चीख़ने लगा, 'निकाल बाहर करो इसे।' कुडवा ने कुछ कहना चाहा लेकिन उस बेचारे की आवाज़ निकल ही न सकी। इतने में क्या देखता हूँ कि मेरे भाई ने अपने श्रेष्ठ अंग्रेज़ी लहजे में कहा, 'ख़ामोश रहो, मूर्खो, ! ब्रिगेडियर मैक्कर्माइक की आँख न खुल जाएँ।' बस फिर क्या था ब्रिगेडियर शब्द को सुनते ही टामियों की नानी मर गई और अगला स्टेशन आते ही वे चुपके से एक-एक करके डिब्बे से उतर गये। अपने भाई की हाज़िरदिमाग़ी और सूझबूझ को देखकर मैंने उनकी सराहना की क्योंकि यदि वे न होते तो उन शराबी फ़ौजियों के साथ हम पर न जाने क्या बीतती।

लेकिन आगामी कुछ हफ़्तों तक गोपि भाई के प्रति मेरी सराहना में कुछ अंश आक्रोश का भी मिला रहा। वे मुझे जगह-जगह लिये फिरे और उन्होंने अपने मित्रों से मुझे इस प्रकार मिलवाया जैसे मैं पुरस्कार की वस्तु हूँ। उनके मित्रों में सभी प्रकार के लोग शामिल थे। चूँकि वे एक फ़ौजदारी वकील थे इसलिए उनका सम्पर्क-क्षेत्र बड़ा व्यापक था। उनके मित्रों में राजकुमार भी थे और प्रोफ़ेसर भी, पादरी भी थे और वेश्याएँ भी, मिशनरी भी थे और हत्यारे भी

जिनकी उन्होंने अपनी कुशलता से वकालत करके जानें बचाई थीं। मुझे आश्चर्य इस बात पर था कि भाई सभी परिचितों से समान रूप से बेतकल्लुफ़ थे और वे सब भी उन्हें अपना परम मित्र मानते थे। मुझे उनके साथ उन सब लोगों के घर जाना पड़ा और बड़ी अनिच्छा से उनका आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा। कभी उनकी उकता देने वाली चापलूसी की बातें सुननी पड़ीं और कभी उनके भद्दे-गंदे लतीफ़े सुनने पड़े और यह ज़ाहिर करना पड़ा कि मैं भी उनका वैसा ही दोस्त हूँ जैसे मेरे भाई थे।

आई० सी० एस० में नवागंतुक को यह बताने का अधिकार होता था कि वह किस प्रांत विशेष में नौकरी करना चाहता है। सामान्यत: वह अपना पूरा सेवाकाल वहीं बिता सकता है बशर्ते कि उसे केन्द्रीय सचिवालय में न बुला लिया जाए या किसी केन्द्रीय विभाग जैसे सीमा शुल्क या विदेश और राजनीति विभाग में उसकी नियुक्ति न कर दी जाए। मैंने बिहार प्रांत को अपने लिए चुना था। यह अपेक्षाकृत एक नया प्रांत था जो बंगाल से अलग करके बनाया गया था और मैं समझता था कि वहाँ मेरे लिए कुछ दिलचस्प संभावनाएँ होंगी, लेकिन इसका वास्तविक कारण यह था कि मैं गोपि भाई के मित्रों के सर्वव्यापी आलिंगन से भागना चाहता था। लेकिन मैंने देखा कि वह हज़रत मुझसे अधिक चतुर निकले। वे जाकर सीधे मद्रास के गवर्नर लॉर्ड विलिंगडन से मिले और उनसे निवेदन किया कि मेरे भाई की तैनाती मद्रास में कर दी जाए। मेरे भाई मद्रास विधान परिषद् के सदस्य थे और लॉर्ड विलिंगडन विधायकों को घूस देकर उनका मुँह बन्द रखना ख़ूब जानते थे। अत: उन्होंने सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट को तार दिया और नतीजा यह निकला कि मेरी तैनाती मद्रास प्रेज़िडेंसी में हो गई। बाद में गोपि भाई लॉर्ड विलिंगडन से फिर मिले और इस बार उनका निवेदन और भी विचित्र था। उन्होंने कहा कि मेरे भाई को मेरे ही प्रांत के किसी निकटवर्ती ज़िले में तैनात करवा दीजिए। लॉर्ड विलिंगडन ने फिर तत्काल उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और मुझे त्रिच्चिनाप्पल्ली में तैनात कर दिया गया जो कि मदुरै के बिल्कुल पास है। इस प्रकार प्रयास करने और इच्छुक होने के बावजूद मैं अपने भाई की गिरफ़्त से न निकल सका, और सच पूछिये तो अब मैं उनसे बचकर भागना चाहता भी नहीं था क्योंकि मुझे वास्तव में उनसे बहुत लगाव था, अलबत्ता उनकी मित्र-मंडली से मैं ज़रूर डरता था क्योंकि उनमें देवता भी थे और दानव भी। अब यह कहना ज़रा कठिन है कि मैं देवताओं से अधिक डरता था या दानवों से।

त्रिच्चिनाप्पल्ली में अपनी नियुक्ति के पहले मुझे पन्द्रह दिन की आकस्मिक

छुट्टी मिली। मैं एक सप्ताह अपने भाई के पास मदुरै में रहा और एक हफ़्ता मैंने अपनी माँ के पास कोट्टयम में बिताया। जब मैं मदुरै पहुँचा तो वहाँ मेरा बड़ा अद्भुत स्वागत हुआ। गोपि भाई के मित्र जो समाज के विभिन्न स्तरों से सम्बद्ध थे सब-के-सब रेलवे स्टेशन पर एकत्रित हो गये और मुझे एक सजी-धजी कार में बिठाकर मदुरै की सड़कों से घुमाते हुए घर ले गये। रास्ते भर ढोल-ताशे बजाए गए, शंखध्वनि हुई और अनेक धुनें बजाई गईं। रास्ते में लोग मुझे ऐसे घूर-घूर कर देख रहे थे जैसे मैं कोई दूल्हा हूँ। उस तमाशे और उपहासास्पद प्रदर्शन से मैं मन-ही-मन बड़ा लज्जित हुआ लेकिन मुझमें इतना साहस न था कि मैं अपने मन के भाव अपने भाई पर प्रकट करके उनका दिल दुखाऊँ।

एक हफ़्ते तक मैं कोट्टयम में माँ के साथ रहा। अब कोट्टयम भी पहले जैसा न रहा था। मुझे महसूस हुआ कि वहाँ के जीवन में न अब वह पहले की-सी सौम्यता है, न शांति और न ही वह संतुलन जो मैंने वहाँ देखा था। कुबेर ने उस क़स्बे पर अधिकार कर लिया था। कोट्टयम के लोग या कहना चाहिए उनका एक हिस्सा बड़ा धनवान् और समृद्ध हो गया था। यह सब इस आविष्कार का परिणाम था कि हाइ रेंज – जो वहाँ से निकट थी—रबर की खेती के लिए बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हुई थी। यह आविष्कार पालम पाडम टॉमस ने किया था। वे मेरे पिता की ही तरह एक वकील थे लेकिन बाद में वे वकालत छोड़कर खेती की ओर प्रवृत्त हुए। उन्होंने पीरू मेडु और मुंडक्कयम के घने, मच्छर-ग्रस्त और हाथियों से भरे-पूरे वन साफ़ करने शुरू कर दिये ताकि वहाँ रबर उगाया जा सके। उनकी देखा-देखी औरों ने भी ऐसा ही किया। पहले महायुद्ध के दौरान रबर की क़ीमतें चढ़ने लगीं। निम्न मध्यवर्ग के लोग देखते-देखते लखपति बन गये। पालम पाडम ने आजीवन अपनी सादगी क़ायम रखी लेकिन दूसरों के दिमाग़ ख़राब होते देर न लगी। अब वे लोग घोड़ागाड़ी या बैलगाड़ी में चलना अपनी हतक समझने लगे, अब वे मोटरें ख़रीदने लगे। जब मैं बच्चा था तो कोट्टयम में नाम को भी मोटरकार न थी, बल्कि तिरुअनंतपुरम तक में सिर्फ़ एक कार थी जो ब्रिटिश रेजिडेण्ट की थी। अब किसानों को ताड़ी और अर्क से संतोष न होता था उन्हें व्हिस्की और ब्रांडी चाहिए थी। विदेशी शराब की दुकानें कोट्टयम में धड़ाधड़ खुलने लगीं और उनके साथ ही विदेशी दवाओं की दुकानें भी क़ायम होती गईं। एस्पिरिन नामक दवा की गोली जिसका अब तक किसी ने नाम भी न सुना था, खुले आम बिकने लगी और लोग अपनी स्नायुओं का तनाव दूर करने के लिए उसका प्रयोग करने लगे थे। रामन कुंजु करियार ने उस दवा को ज़हर घोषित कर दिया था।

रबर-रोपण के लिए संघर्ष अभी तक सीरियाई ईसाई सम्प्रदाय के लोगों

तक सीमित था। नायर उन्हें गिरी हुई निगाह से देखकर ही अपने को संतुष्ट कर लेते थे। लेकिन शीघ्र ही उनका संप्रदाय भी परिवर्तन के इस भँवर-जाल में फँस गया। साहसिक नवयुवक भारी संख्या में केरल से बाहर जीविका की तलाश में निकलने लगे और संयुक्त परिवार-प्रथा टूटने लगी। मातृसत्तात्मक प्रथा भी पुरानी चीज़ बन गई। पत्नी और बहिन के बीच जो कलह सदियों से चली आती थी, उसने और भयानक रूप धारण कर लिया और उसका अंत पत्नी की विजय के रूप में हुआ। नायरों का सामंती दंभ अब दूसरे सम्प्रदायों को प्रभावित न कर पाता था। नवधनिक ईसाईयों ने जिनमें न वह विनम्रता थी और न ही वह उत्सर्ग की भावना जो क्रिश्चियन मिशनरी सोसाइटी स्कूल के ईसाई अध्यापकों की विशेषता थी, यह निश्चय किया कि जब नायर सम्प्रदाय के लोग उन्हें गिरी निगाह से देखते हैं और उन्हें डाईनिंग रूम की बजाय बरामदे में बिठाकर खाना खिलाते हैं तो क्या कारण है कि उनके यहाँ का निमंत्रण स्वीकार किया जाए। अब नायरों की भी आँख खुली और उन्होंने दूसरे उद्यमशील सम्प्रदायों की प्रगति की दौड़ में अपने को पीछे पाया तो वे भी अपने को संगठित करने लगे। उन्होंने नायर सर्विस सोसाइटी की स्थापना की जिसके नेता मन्नथ पद्मनाभन जैसे साहसी और पराक्रमी व्यक्ति थे। अब उनकी उम्र 95 वर्ष की और है वे 'भारत केसरी' के नाम से जाने जाते हैं क्योंकि उन्हीं के के नेतृत्व में न केवल नायरों ने बल्कि ईसाईयों और अन्य सम्प्रदायों के सदस्यों ने भी जो केरल में साम्यवादी सरकार से असंतुष्ट थे, 1959 में उसके विरुद्ध विद्रोह किया था और उस सरकार का तख़्ता उलट दिया था।

रबर के आविष्कार का एक और प्रभाव भी पड़ा। उसके कारण धन-वानों और दरिद्रों का अन्तर बढ़ गया। धनी अपने धन-दौलत के अभिमान में चूर रहते थे और दरिद्र अपनी दरिद्रता से घृणा करते थे। कर्म का सिद्धान्त अब लोगों को सुलाने में असमर्थ था। यहाँ तक कि अछूत भी अपनी आवाज़ उठाने लगे। प्राचीन आचार संहिता प्रभावहीन हो चुकी थी और नई का अभी तक प्रचलन नहीं हुआ था। इसी आपाधापी के वातावरण में स्त्रियों ने अपने वक्ष ढँकने शुरू कर दिये। पहले यह तब्दीली क़स्बों में शुरू हुई फिर देहात में फैल गई। केरल का भोलापन समाप्त हो गया।

इस सारे परिवर्तन के बावजूद मैं कोट्टयम में बड़े सुख से रहा। मैं चाहता था अपने प्रवास का एक-एक क्षण अपनी माँ के पास बैठकर बिताऊँ। उनकी चारपाई पर बैठकर उनके पैर दबाऊँ, उनसे बातें करूँ और उनकी सुनूँ। मेरे लिए उनकी बातें संगीत से अधिक प्रिय थीं। लेकिन अफ़सोस मुझे ऐसा नहीं करने दिया गया। 'इंग्लैंड रिटर्ण्ड' और आई० सी० एस० होने के नाते मैं घर भर के

लिए एक अजूबा था। सुबह से शाम तक मेरा प्रदर्शन होता था। लोगों को यह देखकर आश्चर्य होता था कि मैं उन्हीं के से कपड़े पहनता हूँ और पतलून वग़ैरा नहीं पहनता जैसा कि मेरे भाई करते थे जब वे इंग्लैंड से लौट कर आये थे। उन्हें यह देखकर भी ताज्जुब होता था कि मैं छुरी-काँटों के बजाय केले के पत्तों से ही खाना खाता हूँ। यहाँ तक कि शौचादि का मेरा ढंग भी उन्हीं जैसा था। मैं अपने साथ शौचासन लिये नहीं घूमता था जैसा कि गोपिनाथ पंडलाई अक्सर किया करते थे। वे पहले तिरुवांकुरवासी थे जो भारतीय सैन्य सेवा में भर्ती हुए थे। कुछ लोगों को यह देखकर खुशी होती थी कि मेरी सभी आदतें वही हैं जो वहाँ के रहने वाले दूसरे लोगों की थीं। लेकिन कुछ ऐसे भी थे जिन्हें यह सब देखकर निराशा हुई थी, वे यह समझते थे कि एक आई० सी० एस० अधिकारी का लुंगी पहने फिरना असंगत है।

कोट्टयम से मैं तिरुअनंतपुरम गया जहाँ मुझे अनेक स्वागत-समारोहों में सम्मिलित होना पड़ा। मैं ही पहला तिरुवांकुरवासी था जो उस पूजागृह—आई० सी० एस०—में प्रविष्ट हुआ था। मुझसे दस वर्ष पहले एक सज्जन पद्मनाभ पिल्लै थे जिन्होंने यही परीक्षा पास की थी लेकिन कुछ द्वेषी लोगों ने सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट को इस आशय का तार भेज दिया था कि उन्होंने अपनी उम्र ग़लत बता दी है। नतीजा यह हुआ कि एक आयोग नियुक्त कर दिया गया जिसके दो जज सदस्य थे। उन्होंने देखा कि उस व्यक्ति की उम्र स्कूल रजिस्टर में कुछ और लिखी है और आई० सी० एस० में बैठते समय कुछ और। इस असंगति को उस व्यक्ति की जानी-बूझी बेईमानी समझ लेने का कोई कारण तो न था लेकिन सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट ने उसे इस आधार पर ख़ारिज कर दिया कि एक आई० सी० एस० अधिकारी को संदेह से परे होना चाहिए।

मेरे सम्मान में जो सभाएँ हुईं वे निश्चय ही अच्छी न थीं। लेकिन जो भोज आयोजित किये गये वे तो और भी बदतर थे। वे सभी भोज किसी परमार्थ-भाव से नहीं दिये गये थे। भारतीय सिविल सेवा के सदस्य होने के नाते मैं सबसे अधिक वरणीय वर था और उन भोजों में भावी श्वसुर अपनी अदृष्ट पुत्रियों का गाना सुनाकर मुझे मोहित करना चाहते थे, बल्कि कभी-कभी तो उनमें से कुछ ने मुझे अपनी पुत्री की झलक भी दिखा दी थी। उनमें से एक तो मुझे खास तौर से याद है जिसका लम्बा क़द था और जो बड़ी आकर्षक थी। लेकिन वह ऐसी घबराई हुई थी कि एक खंभे से लगकर ऐसे खड़ी थी मानो उसने अपने को उसके साथ इस तरह लपेट लिया हो जैसे कोई बेल आम के पेड़ से लिपट जाती है। उसे देखकर मेरे मन में कोई विशेष भाव नहीं जगा। उसका विवाह मेरे एक मित्र के साथ हो गया। वह बड़ी अच्छी पत्नी और आतिथ्यपरायण गृहिणी सिद्ध

हुई, लेकिन बेचारी को कैंसर हो गया और अभी वह चालीस वर्ष की भी न हुई थी कि कालकवलित हो गई।

मदुरै और तिरुअनंतपुरम में जो सभाएँ और भोज हुए उनसे मैं उकता गया और जब जनवरी 1923 के पहले सप्ताह में मैं त्रिच्चिनाप्पल्ली के लिए रवाना हुआ तो मैंने चैन की साँस ली। मेरे कलक्टर पर्सी मैकक्वीन साहब थे। ऐसा कहा जाता था कि आई० सी० एस० अफ़सर की वृत्ति के बनने बिगड़ने का दारोमदार उसके पहले कलक्टर पर होता है। लेकिन वे बेचारे बेहद शरीफ़ आदमी थे, उनसे यह आशा की ही नहीं जा सकती थी कि वे किसी की वृत्ति बिगाड़ देंगे। वे उन निरंकुश नौकरशाहों में से नहीं थे जो अपने अधीनस्थ तरुण अधिकारियों का जीवन अपने विशिष्ट ढंग से बनाने के लिए लालायित रहते हैं। मैकक्वीन साहब के मन में यह स्वस्थ शंका थी कि उनका अपना ढंग दूसरों के लिए आदर्श बनने योग्य था भी या नहीं। वास्तव में जितनी घबराहट मुझे उनसे प्रशिक्षण प्राप्त करने में अनुभव हो रही थी, उतनी ही उनको मुझे प्रशिक्षित करने में महसूस हो रही थी। त्रिच्चिनाप्पल्ली पहला ज़िला था जहाँ के वे कलक्टर नियुक्त हुए थे। और मैं पहला परखाधीन अधिकारी जो उनके मातहत रखा गया था। इसके अलावा उनकी गणना भारतीय सिविल सेवा के जाज्वल्यमान नक्षत्रों में नहीं होती थी। मलाबार में सब-कलक्टर के पद पर रहते हुए उन्होंने उत्तर मलाबार की एक अछूत संप्रदाय की लड़कियों के साथ, जो सूरत-शक्ल की सुन्दर होती हैं, अनाचार में अपना समय नष्ट किया था। अब वे अधेड़ उम्र को पहुँच चुके थे और समाज में प्रतिष्ठित माने जाते थे। उन्होंने एक लंबी, दुबली-पतली और गुणवती अंग्रेज़ महिला से विवाह कर लिया था जिसने यत्नपूर्वक उन्हें दाम्पत्य निष्ठा के संकीर्ण मार्ग से च्युत न होने दिया। किन्तु कुछ वर्ष बाद वे मर गईं और थोड़े अंतराल के बाद मैकक्वीन साहब ने फिर वही संकीर्ण मार्ग ग्रहण कर लिया और वे उसी मार्ग पर अग्रसर रहे। जब मेरे पास उनका अंतिम पत्र आया था तब तक उनके एक बच्चा था और वे बड़े सुखी थे।

शुरू में दो-एक सप्ताह मैकक्वीन दंपति ने मुझे अपने ही साथ रखा। उस ज़माने में किसी अंग्रेज़ का भारतीय को अपने घर में ठहराना कुछ असामान्य बात मानी जाती थी। और मेरे उस दंपति के साथ रहने से मेरे क्लर्कों और चपरासियों की नज़रों में निश्चय ही मेरी इज़्ज़त बढ़ गई होगी। मेरे त्रिच्चिनाप्पल्ली पहुँचने के दूसरे दिन मैकक्वीन साहब साइकल पर बैठकर कलक्टर के दफ़्तर में गये और यह कह गये कि मैं वहाँ जाकर साइकल आपके लिए भेज दूँगा। मैं क्या जानूँ

साइकल चलाना, लिहाज़ा मुझे यह बताते हुए बड़ी शर्म महसूस हुई। ज्योंही वे दफ़्तर के लिये साइकल पर रवाना हुए, मैं भी पैदल चल पड़ा और तेज़ क़दम बढ़ाता हुआ वहाँ पहुँच गया। अभी उन्होंने साइकल लौटाई नहीं थी कि मुझे दफ़्तर में देख लिया और बोले, 'अरे ! आप तो यहाँ पहले ही पहुँच गये !' मैंने उत्तर दिया, 'जी हाँ, मैंने सोचा पैदल ही क्यों न चल दूँ'। जब तक मैं त्रिच्चिनाप्पल्ली रहा मुझे यह खटका लगा रहा कि कहीं मैकक्वीन साहब को यह पता न लग जाए कि मुझे साइकल चलाना नहीं आता।

ऑक्सफ़ोर्ड में मैंने जो ब्रिटेन-विरोधी भाषण दिये थे उनकी अत्युक्तिपूर्ण रिपोर्ट शायद मैकक्वीन साहब तक पहुँच गई थी। उन्होंने कभी मुझ पर यह जाहिर न होने दिया कि वे इस बात को जानते थे, एक बार शायद अनजाने में उनके व्यवहार से मुझे ऐसा आभास अलबत्ता हुआ था। एक दिन तीसरे पहर मैं उनके कमरे में गया और पहले दो-तीन मिनट मुझे लगा कि वे कुछ परेशान-से हैं, कोई चिंता उन्हें घेरे हुए है। उन्होंने अचानक मुझसे पूछा, 'यह आपके हाथ में क्या है ?' मैंने जवाब दिया, 'ख़ज़ाने की चाबियाँ हैं।' मैं उस ज़माने में खजाने के काम का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहा था। 'ओह !' मैकक्वीन साहब ने अनायास चैन की साँस लेते हुए कहा। मेरे हाथ में जो बड़ी-बड़ी चाबियाँ थीं वे एक चमड़े के केस में थीं और रिवाल्वर-सी लगती थीं।

राजस्व या न्याय के कार्य में मुझे प्रशिक्षित करने में मैकक्वीन साहब को कोई विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ा। उनकी प्रमुख रुचि मलाबार के लोकगीतों का अंग्रेज़ी में अनुवाद करना थी। मलाबार में रहते हुए जो लोकगीत उन्होंने ग्वालिनों या घास खोदने वाली स्त्रियों या अन्य ग्रामवासियों के मुँह से सुने थे वे काफ़ी संख्या में एकत्रित कर लिये थे। वे सभी गीत और उनका अंग्रेज़ी अनुवाद उन्होंने मुझे भी दिखाया था और मेरी राय माँगी थी। सच तो यह है कि वे क्या, अंग्रेज़ी भाषा में ही वह सामर्थ्य नहीं है कि उन मूल गीतों का रस उसमें लाया जा सके। लेकिन यह बात उनसे कहकर मैं उन्हें निरुत्साह नहीं करना चाहता था।

जिस स्नेह और सहानुभूति का व्यवहार मैकक्वीन दंपति ने मेरे साथ किया वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनके घर से चले आने के बाद भी वह मेरे लिए अपने घर जैसा था और हर दूसरे-चौथे दिन वे मुझे सुबह या शाम के खाने पर ज़रूर बुला लिया करते थे। जब भी वे दौरे पर जाते मुझे हमेशा अपने साथ ले जाते थे और ज़िद करके मुझे दिन में एक बार का खाना अपने साथ खिलाते थे। उनके इस कृपापूर्ण व्यवहार से मैं बड़ा प्रभावित था क्योंकि उसमें मुझे कभी कृत्रिम विनम्रता या संरक्षणशीलता का कोई आभास नहीं मिला। मुझे खेद है कि यही बात मैं त्रिच्चिनाप्पल्ली के अन्य अंग्रेज़ अधिकारियों के बारे में नहीं कह सकता।

वहाँ के सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर जैसे जिला अधिकारी, ज़िलाधीश और जिले के पुलिस सुप्रिण्टेण्डेण्ट, सभी अंग्रेज़ थे। त्रिच्चिनाप्पल्ली में अंग्रेज़ों का एक सैनिक दस्ता भी था, इसके अलावा त्रिच्चिनाप्पल्ली साउथ इंडियन रेलवे का मुख्यालय था जिसके सभी उच्चाधिकारी अंग्रेज़ थे। मैकक्वीन साहब ने मुझे सलाह दी कि मैं उन सबसे मिलूँ और मैं बड़ी कर्त्तव्यपरायणता के साथ एक-एक से मिलने गया। लेकिन उनमें से एक से भी यह न हुआ कि मेरे यहाँ आता, कुछ ने डाक से अपने कार्ड अलबत्ता मुझे भेज दिये। मैं पूरे एक साल तक त्रिच्चिनापल्ली में रहा और उस दौरान एक अंग्रेज़ का मकान भी मैंने अंदर से नहीं देखा सिवाय मैकक्वीन साहब के मकान के जो मेरे लिए हमेशा खुला रहता था।

दूसरे स्थानों की तरह त्रिच्चिनाप्पल्ली में भी भारतीयों और अंग्रेजों के सामाजिक जीवन में स्पष्ट अंतर था। वहाँ एक क्लब था जिसमें केवल अंग्रेज़ जा सकते थे। सभी अंग्रेज छावनी में रहते थे और अधिकांश भारतीय शहर में रहते थे। जो थोड़े-बहुत भारतीय छावनी में रहते थे उनमें एक सर टी० देशिकाचारी थे जो शहर के प्रतिष्ठित व्यक्ति माने जाते थे। वे लॉ कमीशन के सदस्य थे। उनके पुत्र स्वामी देशिकाचारी ने मुझे बताया था कि हमारे पिताजी गवर्नर की कार्यकारी परिषद् के सदस्य नियुक्त होने ही वाले थे कि सी० पी० रामास्वामी अय्यर पर, जो कि अपेक्षाकृत उनसे उम्र में छोटे और अधिक सुदंर तथा साधन-सम्पन्न थे, लेडी विलिंगडन की नज़र पड़ी और वे चुन लिये गये। देशिकाचारी ही शायद एक मात्र भारतीय थे जिन्हें कभी-कभार चाय पर या रेलवे कॉलोनी या ऑफ़िसर्स मेस की गार्डनपार्टी में आमंत्रित किया जाता था। इसी तरह की एक पार्टी में स्वामी देशिकाचारी की पत्नी बैडमिंटन खेलते हुए गिर पड़ीं और उन्हें उठाने में खासा समय लग गया। मैं मानता हूँ कि वह दृश्य देखकर मैं मन-ही-मन प्रसन्न हुआ था क्योंकि मेरा विचार था कि मेरे लिए तो आई० सी० एस० का सदस्य होने के नाते अंग्रेज़ों से मेलजोल रखे बिना कोई चारा नहीं है लेकिन किसी भी स्वाभिमानी भारतवासी को उन अंग्रेज़ों से मेलजोल बढ़ाने का कोई अधिकार नहीं है जो उसे अपने से कमतर समझते हैं।

उसी ज़माने में हमारे घर पर विपत्ति के बादल घुमड़ आये। मेरे सबसे बड़े भाई शिवराम पिल्लै को अचानक निमोनिया हुआ और वे मर गये। उनकी जो विशेषता मुझे अक्सर याद आती है वह थी ज़ोर का ठहाका लगाने की क्षमता या दूसरे शब्दों में उसे रोक पाने की असमर्थता। जीवन में हास्यास्पद वस्तु को समझने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। चाहे वे अपने मित्रों से मज़ाक़ कर रहे हों या अपने मुवक्किलों से काम की बात कर रहे हों, चाहे अपनी पत्नी से प्रेमालाप

कर रहे हों या बच्चों के साथ ठिठोली, सहसा क़हक़हे लगाने लगते थे और क़हक़हों का ऐसा ताँता लग जाता था मानो किसी दमे के रोगी पर खाँसी का दौरा पड़ गया हो। या इसी को दूसरी उपमा यों दी जा सकती है कि जब हमारे भाई साहब अपनी हँसी के चरमोत्कर्ष पर होते तो वे ऐसे लगते थे और उनका सारा शरीर इस तरह हिलता था जैसे किसी ऑर्केस्ट्रा का कंडक्टर पागलपन की कोई धुन बजा रहा हो। उनकी हँसी आम तौर पर एक कराह पर जाकर समाप्त होती थी। और वे अपनी उस सिसकी को अपनी लुंगी से छिपाने की चेष्टा किया करते थे। उनके बारे में यही कहा जा सकता है कि वे अपना जीवन हँसी-दिल्लगी में बिता देना चाहते थे। वैसे उन्हें अपने बच्चों से लगाव था लेकिन उनकी तरफ से चिंता नाम को न थी, न ही उनके लिए कुछ व्यवस्था करना चाहते थे। उनके लिए तो वे बच्चे भी आमोद-प्रमोद का साधन मात्र थे। और जब उनका देहांत हुआ तो गोपि भाई ने अपनी उसी स्वाभाविक उदारता के साथ समस्त परिवार को अपने संरक्षण में ले लिया।

भाई के निधन पर मुझे जो दुःख हुआ था वह अधिक समय तक नहीं रहा। वह उस सुख-सागर की उत्ताल तरंगों में विलीन हो गया जो निकट ही मुझे अपनी क्रोड़ में लेने के लिए तैयार थीं। मेरा विवाह हो गया।

जब मैं ऑक्सफ़ोर्ड में था तो मैंने अपनी भाभी को एक पत्र लिखा था कि मेरे लिए एक दुल्हन तलाश कर रखे। मैंने मलयालम में एक कविता लिखकर भी उन्हें भेजी थी जिसमें मेरी भावी पत्नी का चित्रण था। 'मधुमक्खी, कमल, जलद, शंख, मत्स्य, हिरण, धनुष, पीपल का पत्ता, कदली का तना, अधखिली कली, चंद्रिका और स्वर्ण कलश—मेरी प्रेमिका में इन सब बातों का सानुपातिक अंश होना चाहिए।' मेरी भाभी ने यह काम बड़ी संजीदगी से किया और तिरुवांकुर में जितनी भी वरणीय कन्याएँ थीं सभी का सम्यक् विश्लेषण करके मुझे बताया। एक के बारे में उन्होंने बताया कि उसके बाल काले हैं, दूसरी थी जिसके बाल इतने काले और घने नहीं थे लेकिन उनमें बड़े सुंदर घूंघर पड़ते थे। एक की आँखें बड़ी रसीली थीं और वह बुद्धिमती लगती थी, दूसरी की आँखें लंबी और चमक-दार थीं लेकिन पहले ही से वह उन्हें बहुत अधिक झपका देती थी और यह कोई अच्छा लक्षण नहीं था। एक की नाक थोड़ी मुड़ी हुई थी और उससे वह कुछ भोली-सी लगती थी, एक और थी जिसकी बड़ी तीखी नाक थी जिसकी बहुत अधिक ख्याति थी। एक की छातियां तरबूज जैसी थीं, दूसरी की छातियाँ पपीते के आकार की थीं, तीसरी की छातियाँ स्वर्ण कलश के समान थीं और मेरे लिए

संतोषजनक थीं लेकिन उसके पिता को तभी कुष्ट रोग हो गया था। यद्यपि उनके बच्चों में किसी को न था लेकिन उनकी संतान को हो सकता था।

उपर्युक्त लड़कियों में से मुझे किसी में दिलचस्पी नहीं थी। एक थी जिसमें मुझे रुचि हो सकती थी, उसका पहले ही विवाह हो चुका था। मैंने उसे कभी देखा तो नहीं था लेकिन विद्यार्थियों में वह बहुत लोकप्रिय थी और 'तिरुवांकुर की गोरी' के नाम से मशहूर थी। जी० पी० शेखर बड़ा सौंदर्यपारखी था और मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में मेरे साथ पढ़ता था, उसी ने मुझे उस लड़की के सौंदर्य के बारे में बताया था। जब ऑक्सफ़ोर्ड में मैंने सुना कि उसका विवाह महाराजा कोचीन के राजकुमार से होने वाला है तो मेरे दिल को बड़ी ठेस पहुँची थी। उसकी शादी तो बड़ी धूमधाम से हुई थी लेकिन एक सीधे-सादे पति और निष्ठुर सास के साथ उसका दांपत्य जीवन सुखी न रह सका। अभी उसके विवाह को दो-तीन वर्ष ही हुए थे कि उसे क्षय रोग लगा और उसी में वह मर गई।

जिस लड़की से अंत में मेरा विवाह हुआ उसे मैं मनसा रद्द कर चुका था। वह सर शंकरन नायर की सुपुत्री थीं। उनके पिता सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट की परिषद् के सदस्य थे। मैंने उन्हें कभी देखा नहीं था लेकिन हमारे भाई साहब ने अपने तौर पर सर शंकरन से कह दिया कि मेरा भाई आपकी पुत्री से विवाह करने के लिए तैयार है। मैं ऑक्सफ़ोर्ड से वापसी की तैयारी कर रहा था कि मेरे भाई का तार पहुँचा जिसमें लिखा था, 'लेडी शंकरन नायर से जाकर मिलो।' मैंने मन में सोचा लेडी शंकरन नायर क्यों, सर शंकरन नायर क्यों नहीं? बस वहीं मेरा माथा ठनका और मैंने उस तार पर कोई ध्यान नहीं दिया। अपने ही संप्रदाय में विवाह करने का मैं विरोधी था, बल्कि मैं तब तक विवाह करना ही नहीं चाहता था जब तक कि कहीं जम न जाऊँ।

जब मैं इंग्लैण्ड से लौट कर आया तो मेरे भाई ने उस बात का ज़िक्र छेड़ा ही नहीं। कुछ अन्य प्रस्ताव भी थे लेकिन उन्होंने बड़ी समझदारी से काम लिया और सब कुछ मेरे ऊपर छोड़ दिया। मेरी भाभी को इस बात से बड़ी खुशी हुई कि मैंने सर शंकरन नायर की लड़की से विवाह नहीं किया। मैं समझता हूँ उपचेतन में वे हर उस लड़की को अपने स्पर्धी के रूप में देखकर ईर्ष्या करती होंगी जो मेरे जीवन में आकर मेरे प्रति उनके स्नेह में बाधक बने, और यदि मेरा विवाह हो भी जाए तो वे चाहती थीं कि किसी ऐसी लड़की से हो जो हैसियत में उनसे कुछ कम हो ताकि वे उस पर अपना प्रभाव रखसकें। लेकिन त्रिचिनाप्पल्ली में रहते हुए मैंने अपने भाई के प्रस्ताव के बारे में अपना निर्णय बदल दिया। ऐसा मैंने क्यों किया, यह तो मैं नहीं जानता लेकिन मेरा खयाल है इस निर्णय के पीछे अपने भाई की इच्छाओं का पालन करने की मेरी प्रवृत्ति काम कर रही थी।

इसके अलावा एक कारण यह भी था कि त्रिच्चिनाप्पल्ली की शामें लंबी होती थीं और रातें तन्हाई में गुजरती थीं। दिन अलबत्ता जल्दी से बीत जाते थे क्योंकि मुझे बहुत कुछ काम करना होता था और सीखना होता था। लिहाजा मैंने एक दिन भावावेश में आकर अपने भाई को तार दिया कि मैं मिस शंकरन नायर से शादी करने के लिए तैयार हूँ।

मैं जानता था कि हमारे रीति-रिवाज न तो मुझे उससे परिचित होने देंगे और न ही मैं उससे मिल सकूँगा। मेरी केवल एक ही माँग थी कि मुझे उसका फ़ोटो दिखा दिया जाए, जो तत्काल ही आ गया। वह बड़ा भद्दा चित्र था और पासपोर्ट के लिए जल्दी में खिचवाया गया था। कुछ भी हो उस लड़की का चेहरा तसवीरी नहीं था, लेकिन अब क्या हो सकता था निर्णय किया जा चुका था और उसे बदलना संभव न था।

अनुजी से मेरी पहली मुलाक़ात विवाह संस्कार के समय हुई। वे सौंदर्य की एक अनुपम प्रतिमा थीं। उनके अपार सौंदर्य को देखकर मैं चकित रह गया और इस विचार से मैं बड़ा प्रफुल्लित हुआ कि वह सब मेरा अपना था, कि वे मेरी होने वाली थीं। मुझे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। मुझे लगा मैंने मलयालम में जो कविता लिखकर अपनी भाभी को भेजी थी अनुजी उसी का मूर्त रूप हैं। जब मैंने उनके गले में **ताली** पहनाई तो अकस्मात मेरा हाथ उनसे छू गया और मेरे शरीर में रोमांच हो आया। मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो हम दोनों युग-युगांतर से साथ-साथ रहते चले आये हैं और आज हम दोनों एक नये जीवन में एकात्म होने वाले हैं। मुझे एक फ़ारसी कवि की ये पंक्तियाँ स्मरण हो आई :

> चार नज़रें मिलीं, दो हृदय स्पंदित हुए
> अब याद नहीं आता वह नर मैं नारी
> या मैं नर वह नारी है
> इतना जान गये हैं—कि पहले हम दो थे,
> प्रणय में बँधकर एक हो गये हैं।

तिरुप्पत्तुर

००

त्रिच्चिनाप्पल्ली में साल भर रहने के बाद मेरी परिवीक्षा समाप्त हो गई थी। अब मैं भारतीय सिविल सेवा में पुष्टि के योग्य हो चुका था। यह समझा जाता था कि इस एक वर्ष की अवधि में राजस्व नियम पुस्तिका, सर्वेक्षण और बंदोबस्त, ख़ज़ाना और लेखे, भारतीय दंड संहिता, दंड प्रक्रिया संहिता और साक्ष्य अधिनियम का मैंने पर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त कर लिया होगा। लेकिन इन सबके बारे में मुझे कितनी जानकारी थी यह सिर्फ़ मैं ही जानता था। बहर हाल मद्रास सरकार ने यह निर्णय किया कि अब मुझे बड़ी आसानी से किसी भी परगने का दायित्व सौंपा जा सकता है और मुझे तिरुप्पत्तुर में तैनात कर दिया गया। यह जगह बंगलौर के पठारों में एक बहुत सुखद-सुंदर स्थान है और मद्रास तथा बंगलौर के बीच में स्थित है।

जब मुझे स्थानांतरण के आदेश मिले तो अनुजी ओट्टपालम में थीं और तभी एक बच्चे को जन्म देकर निवृत्त हुई थीं। शादी के फ़ौरन बाद मैंने उनसे कहा था कि हमारे यहाँ पहले पाँच वर्ष तक कोई बच्चा नहीं होना चाहिए और वे तत्काल सहमत भी हो गई थीं। वास्तव में हमारा सबसे पहला बच्चा शादी के ठीक 270 दिन के बाद पैदा हुआ था। 21 अप्रैल, 1923 को हमारा विवाह हुआ और 16 जनवरी, 1924 को अम्मिणी का जन्म हुआ।

ज़ाहिर था कि ऐसी स्थिति में अनुजी मेरे साथ तिरुप्पत्तुर नहीं जा सकती थीं। अब चूँकि मेरा ध्यान बँटाने वाला कोई नहीं था इसलिए मैं अपने काम में अधिक मनोयोग से जुट गया। मैं वहाँ मजिस्ट्रेट भी था और न्यायाधीश भी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की न्यायपालिका और कार्यपालिका को पृथक करने की माँग पर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया। गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन शुरू कर दिया था, लेकिन मेरे परगने के गाँवों पर उसका कोई असर नहीं पड़ा था। उधर चौरीचौरा में जो वीभत्स हत्याकांड हुआ था जिसमें बाईस सिपाही मारे गये थे और उसके फलस्वरूप गाँधीजी ने स्वयं आंदोलन वापस ले लिया था। तिरुप्पत्तुर उत्तर अर्काट ज़िले का एक भाग था, उसका कलक्टर वेल्लूर में रहता था लेकिन मेरे परगने में बहुत कम आता था। कुल मिलाकर मैं ही तिरुप्पत्तुर की जनता का माई-बाप था।

मेरे काम की प्रकृति बड़ी विविध थी। मेरी दिनचर्या सुबह छह बजे शुरू

होती थी। छोटी हाजिरी के बाद मैं बाहर निकलता था और पैदल, या घोड़े पर या फिर कार में बैठकर किसी-न-किसी स्थान का मुआयना करने चला जाता था। यह मुआयना भी कई तरह का होता था : कहीं किसी सरकारी सड़क पर किसी ज़मींदार ने क़ब्ज़ा कर लिया है या किसी रवाल का पानी किसी किसान ने बंद कर दिया है और उसके पड़ौसी को उससे नुक़सान पहुँच रहा है, या कोई ज़मीन का टुकड़ा है जिसे सरकार किसी सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ले लेना चाहती है, या कोई अनाज का खेत है जहाँ फ़सल नष्ट हो गई है और किसानों ने लगान की माफ़ी के लिए अर्ज़ी दी है। नौ-दस बजे तक मैं लौटकर घर आता था, नाश्ता करता था और दफ़्तर का कुछ काम देखता था। दोपहर से 5 या 6 बजे तक यानी बीच में एक घण्टा छोड़कर, मैं न्यायालय में मुक़दमे सुनता था, गवाहों के बयान लिखकर उनसे अपना हस्तलेख बिगाड़ता था और उन मुक़दमों पर फ़ैसले सुनाता था। उसके बाद टेनिस, बियर और ब्रिज की बारी आती थी और फिर रात को शांतिपूर्वक खाना खाकर मैं जल्दी सो जाता था ताकि 'हेल्दी वेल्दी एण्ड वाइज़' की कहावत को चरितार्थ कर सकूँ।

तिरुप्पत्तुर में मैं अदालती कामों में त्रिच्चिनाप्पल्ली की अपेक्षा ज़्यादा दिलचस्पी लेने लगा। त्रिच्चिनाप्पल्ली में मैं मुक्तिदाता मजिस्ट्रेट के नाम से मशहूर हो गया था।' वहाँ मेरे सामने जो पहला मुक़दमा पेश हुआ वह एक खुशपोश व्यक्ति का था जिस पर एक साइकल चुराने का आरोप लगाया गया था। कई गवाहों ने उसके ख़िलाफ़ गवाही दी लेकिन मुझे न जाने क्यों वह सज्जन लगा। नगरपालिका के अध्यक्ष श्री एफ़० जी० नटेसा अय्यर ने गवाही देते हुए कहा कि अभियुक्त का चालचलन बहुत अच्छा है। नटेसा अय्यर का भी अपना दिलचस्प इतिहास था। वे ब्राह्मण कुल में जन्मे थे लेकिन बाद में उन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था जिससे उनकी पदीय वृत्ति में बड़ा लाभ पहुँचा था। लेकिन अवकाश ग्रहण करने के बाद वे फिर बड़े धर्मनिष्ठ ब्राह्मण बन गये थे। नटेसा अय्यर के साक्ष्य और अपने विवेक के बल पर मैंने अभियुक्त को बरी कर दिया। ज़िला पुलिस सुप्रिण्टेण्डेण्ट ने कलक्टर से शिकायत की कि अभियुक्त को ग़लत तरीक़े से बरी किया गया है। मेरे बारे में उसने कहा कि मालूम होता है वे लंदन के उस प्रसिद्ध क्लब की सदस्यता के योग्य हैं जहाँ यह अधिसूचना लगी हुई है : 'बिशप चूंकि स्वयं पुण्यात्मा होते हैं इसलिए छतरियाँ नहीं चुरा सकते।'

तिरुप्पत्तुर में जहाँ क़ानून और व्यवस्था बनाये रखने का भी दायित्व मेरा ही था, मैं मजिस्ट्रेट के रूप में कुछ अधिक कठोरता बरतने लगा और अब मैंने अभियुक्तों को संदेह-लाभ देना भी बंद कर दिया। एक अव्यावहारिक विधिवेत्ता के लिए यह कह देना ठीक हो सकता है कि एक निर्दोष व्यक्ति को दंडित करने

से बेहतर यह है कि सौ अपराधी दंड से बचा लिये जाएँ लेकिन एक प्रशासक के लिए इस सिद्धांत का पालन निश्चय ही कष्टकर होगा।

तिरुप्पत्तुर के ज़िला अधिकारी के लिए सबसे अधिक कष्टकर समय मुहर्रम का महीना होता था। तिरुप्पत्तुर में मुसलमानों की आबादी कुछ हज़ार थी और वे सभी ऊपर से बड़े निरीह दिखाई पड़ते थे। लेकिन पुलिस ने मुझे बताया कि वे लोग बहुत जल्दी भड़क जाते हैं। कोई बीस वर्ष पहले की बात है कि उन पर जो पागलपन सवार हुआ तो सब-कलक्टर जे० एफ़० हाल के पीछे पड़ गये और उसे तिरुप्पत्तुर की सड़कों पर अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर भागना पड़ा। कालांतर में जब उपाधि-वितरण हुआ तो हाल को ओ० बी० ई० (ऑर्डर ऑफ़ द ब्रिटिश एंपायर) की उपाधि प्रदान की गई और सालार खाँ को जिसने उसे अपने घर में छिपाया था और आक्रमणकारियों से उसके प्राणों की रक्षा की थी 'ख़ानबहादुर' का खिताब दिया गया था। इस घटना की याद अभी तक ताज़ा थी और पुलिस हर साल दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 के अंतर्गत जिसका प्रयोग सुविधा के अनुसार जब और जहाँ चाहें किया जा सकता था उन सैंकड़ों व्यक्तियों को पहले ही गिरफ़्तार कर लिया करती थी जिन पर दंगाई होने का संदेह होता था। पुलिस के उस उत्साह पर नियंत्रण करना मुझ जैसे कम उम्र और अधकचरे अधिकारी के बस की बात न थी लिहाज़ा धारा 144 के अंधाधुंध प्रयोग पर मुझ पर कलक्टर की जो झाड़ पड़ी थी वह उचित ही थी।

तिरुप्पत्तुर का मजिस्ट्रेट मुझसे पहले एक अंग्रेज़ था जिसका नाम बायर्स था। वह अपने चिड़चिड़े स्वभाव के लिए प्रसिद्ध था और उसके गुस्से के कई क़िस्से वहाँ मशहूर थे। एक बार की बात है किसी गवाह ने अदालत में गोलमोल बयान दिया और बायर्स का पारा ऐसा चढ़ा कि उसने भरी दवात उसके मुँह पर मारी और जवाब में गवाह ने अपनी चप्पल उसके ऊपर फेंकी। उस घटना के बाद से बायर्स ने अपने स्टेनोग्राफ़र को हिदायत दे दी कि दवात मुझसे काफ़ी दूरी पर रखा करो ताकि मैं ज़रूरत पड़ने पर उसका इस्तेमाल न कर सकूँ। उसका कुत्ता एक दिन गुम हो गया और उसने पूरे परगने की पुलिस उस कुत्ते की तलाश में लगा दी और यह आदेश दिया कि चाहे ज़िन्दा हो या मुर्दा कुत्ता मेरे पास लेकर आओ। कई दिन की दौड़-धूप के बाद एक कुत्ते का अस्थिपंजर पुलिस के हाथ लगा जिसे सब-कलक्टर के बँगले के बग़ीचे में बाक़ायदा रस्म के अनुसार दफ़ना दिया गया।

बँगला रेलवे स्टेशन के ठीक ऊपर स्थित था और मंगलौर और मेट्टुपलयम से बीच चलने वाली चार रेलगाड़ियाँ रात को एक और दो के बीच तिरुप्पत्तुर से होकर गुज़रा करती थीं। बायर्स की तरह उनकी पत्नी भी बड़ी गुस्सैल और

चिड़चिड़े स्वभाव की थी, रेलगाड़ियों की सीटी की आवाज़ उन दोनों को कभी नहीं भाई। सुना है वह एक बार अपना ड्रेसिंग गाउन पहने हुए ही प्लेटफ़ार्म पर पहुँच गई और लगी ड्रायवर को पत्थरों से मारने। पहले दो-एक हफ़्ते तो आधी रात की इन गाड़ियों ने हमारी भी नींद हराम कर दी थी, लेकिन बाद में जब हमें आदत हो गई तो हम चैन से सोने लगे और उनकी सीटियों की आवाजें हमारे सपनों में घुल-मिल गईं।

इस स्वाभाविक विलक्षणता के बावजूद बायर्स ने प्रगति की और वह मद्रास हाइकोर्ट का जज बन गया लेकिन उसका चिड़चिड़ापन वहाँ भी उसके साथ रहा और उसी के कारण उसकी वृत्ति का बड़ा दु:खद अंत हुआ। ब्रिटिश शासन के अंतिम दिनों में जब महात्मा गाँधी का 'भारत छोड़ो' आंदोलन अपनी चरम सीमा पर था, कुछ नवयुवकों ने ---जिनमें अधिकाँश विद्यार्थी थे---उसकी कार को घेर लिया जिसमें बायर्स हाइकोर्ट से से निकलकर आ रहा था, और लगे नारे लगाने। फिर क्या था बायर्स ने भी अपना रिवाल्वर निकाला और गोली चला दी और एक लड़का वहीं ढेर हो गया। बायर्स पर हत्या का अभियोग चला लेकिन वह बरी हो गया। चीफ़ प्रेज़िडेंसी मजिस्ट्रेट ने उसकी यह दलील मान ली कि मैंने तो सिर्फ भीड़ को डराने के लिए ज़मीन पर गोली चलाई थी क्योंकि उससे मुझे अपनी जान का खतरा महसूस हुआ था। संयोगवश गोली ज़मीन से टकराकर उछली और लड़के के लग गई। बायर्स के व्यवहार और न्यायालय के निर्णय पर जनमत बहुत उत्तेजित हुआ और राजाजी ने, जो उस समय मद्रास के मुख्यमंत्री थे और अपनी प्रखर बुद्धि के लिए विख्यात थे, ऐसी युक्ति से काम लिया कि विधि की रक्षा भी हो गई और उत्तेजित जनता भी शांत हो गई। उन्होंने बायर्स से भी कहा कि आप अपनी बाक़ी छुट्टी लें और रिटायर हो जायें।

तिरुप्पत्तुर में हमारे ले-दे कर दो ही मित्र थे, एक साठे और दूसरा उसकी आकर्षक पत्नी। वह ज़िला वन अधिकारी था। कुछ वकील और अराजपत्रित अधिकारी भी थे लेकिन मेरे उनके साथ मेल-जोल रखने पर कुछ पाबंदियाँ लगी हुई थीं। विभिन्न श्रेणियों के अधिकारियों के साथ किस प्रकार का और किस सीमा तक व्यवहार किया जाये इसकी स्पष्ट हिदायतें भा० सि० सेवा नियम-पुस्तक में दी हुई थीं। उदाहरण के लिए डिप्टी कलक्टर या डिप्टी सुप्रिण्टेण्डेण्ट ऑफ़ पुलिस से मैं सिर्फ़ हाथ मिला सकता था हालाँकि वे भी प्रांतीय सेवा से ही संबद्ध थे। मैं उनको बैठने के लिए कुर्सी पेश कर सकता था, बलिक उनके नामों के पहले या राव साहब या ख़ान साहब लगाये बिना ही उनका नाम लेकर पुकार सकता था। लेकिन जहाँ तक एक तहसीलदार या पुलिस इंस्पैक्टर का संबंध है मुझे उनके साथ इतनी शिष्टता बरतने की अनुमति नहीं थी, अलबत्ता उनके शहर में

आने या शहर से जाते समय उनसे इस प्रकार का व्यवहार किया जा सकता था। यही वे बंधन और निषेध थे जिनके सहारे ब्रिटिश अधिकारी भारत में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखते थे। मैं चूँकि उसी सिविल सेवा का एक सदस्य था जिसमें अधिकांश अंग्रेज थे इसलिए इस बँधे-टके शिष्टाचार का पालन करना मेरे लिए भी अनिवार्य था।

उत्तर अर्काट के चार परगनों में से एक तिरुप्पत्तुर भी था। जे० सी० मॉलोनी वहाँ के जिला कलक्टर थे। वे आयरलैंड के रहने वाले थे और बड़े लंबे-तड़ंगे थे। उनको दो ही चीज़ों का शौक़ था—एक तो पाइप का और दूसरे कुत्ते का जिसका नाम उन्होंने डीकान एब नेज़र टॉमसन रखा हुआ था। वे अपनी शारीरिक शक्ति के प्रदर्शन और करतबों के लिए मशहूर थे। ज़िले में शायद ही कोई पहाड़ी ऐसी हो जिस पर वे न चढ़े हों। जहाँ तक कहीं जाने का सवाल था वे या तो साइकल पर जाते थे या फिर पैदल। कार उनके पास थी तो लेकिन उसका इस्तेमाल बहुत कम करते थे। अक्सर ऐसा होता था कि वे अपना शिविर छोड़कर निकल गये हैं और साइकल चलाते-चलाते पचास मील दूर पहुँच गये हैं। जाते समय यह करते थे कि अपने शोफ़र से कह जाते थे कि कुछ घण्टे बाद निकल पड़ना और देखते-देखते चले जाना। अगर कहीं किसी सड़क के किनारे मेरी लाश पड़ी मिल जाए तो उसे उठा लाना। और एक बार ऐसा ही हुआ कि जब शोफ़र उनकी तलाश में निकला तो वे ऐसी ही हालत में पड़े पाये गये, उनको लू लग गई थी। मद्रास नगर निगम के कमिश्नर की हैसियत से मॉलोनी साहब का बड़ा नाम था। शहर में सबसे पहली बार क्लोरीनीकृत पानी उपलब्ध कराने वाले वही थे और इसी कारण से बहुत दिनों तक वह पानी 'मॉलोनी मिक्सचर' के नाम से विख्यात रहा था।

मॉलोनी साहब बड़े योग्य अधिकारी थे और योग्यता के साथ एक विशेषता उनमें यह भी थी कि वे हरेक वस्तु को निष्पक्ष होकर देखते थे। उन्होंने अपनी पुस्तक **बुक आफ़ साउथ इंडिया** में—जो बहुत ही दिलचस्प है लेकिन मशहूर नहीं—लिखा है, 'क्या मैंने वास्तव में यहाँ के लोगों में रहकर या उनके लिए कोई कारामद काम किया है या मैं सिर्फ़ एक तिनका मात्र हूँ जो मूर्खता की हद तक आत्मसजग है और जो एक महान्, गहरी और मंथर गति से बहती हुई मौज पर तैर रहा है ?, अपने एक साथी वर्नन की मूर्खतापूर्ण बातों पर वे कभी-कभी बड़े तिरस्कार से उन्हें देखा करते थे। वर्नन ने एक बार गुण्टूर में एक गाँव को इसलिए घेर लिया था कि वहाँ के किसानों ने महात्मा गांधी के असहयोग

आंदोलन से प्रभावित होकर मालगुज़ारी देने से इन्कार कर दिया था और उसने संगीन के बल पर उनसे मालगुज़ारी वसूल की थी। मॉलोनी साहब दफ़्तरशाही शासन की सीमाओं से परिचित थे। वे कलक्टर के पद को एक ऐसा पद मानते थे 'जिसमें अनेक प्रकार की पूंछें लगी हुई हैं जो कभी एक-एक करके और कभी सब एक साथ सिर को हिलाती हैं और ऐसा लगता है कि सिर पूंछ के कहने पर हल्का प्रतिशोध करते हुए भी हिलने के लिए बाध्य हो गया है।' उनमें साहित्यिक प्रतिभा भी मौजूद थी जिसकी झलक मद्रास प्रेज़िडेंसी की जनगणना-रिपोर्ट जैसी दस्तावेज़ों में भी दिखाई दे जाती थी।

सामान्य सरकारी पत्राचार में भी मॉलोनी साहब की विशिष्ट शैली अलग ही दीख पड़ती थी। एक बार मुझे अपनी आकस्मिक छुट्टी एक दिन के लिए बढ़ानी पड़ी। मैंने उनसे पूछा यह एक दिन की छुट्टी किस प्रकार मानी जाए। 'जिस प्रकार की आप इसे मानना चाहें, उन्होंने जवाब दिया। 'बस ख़याल इतना रखें कि उससे महालेखापाल की विक्षिप्त बुद्धि न जाग जाए।' उस ज़माने में मद्रास में तैनात आई० सी० एस० अधिकारी की सेवा-पुष्टि के लिए उसे दो दक्षिण भारतीय भाषाओं में प्रवीण होना आवश्यक था। मैंने तमिल की परीक्षा दी और उसमें पास हो गया, मलयालम चूंकि मेरी मातृभाषा थी इसलिए उसकी परीक्षा देना मेरे लिए बेकार था। लिहाज़ा मैं अपने को दोनों भाषाओं में प्रवीण मानता था। लेकिन महालेखापाल ने इस बात पर ज़ोर दिया कि मुझे मलयालम की परीक्षा भी पास करनी चाहिए। मैंने उसे बताया कि जितनी मलयालम मैं जानता हूँ मेरा परीक्षक शायद न जानता होगा, लेकिन महालेखापाल को मेरी इस बात से संतोष नहीं हुआ। मैंने मॉलोनी साहब को इसकी सूचना दी। उन्होंने कहा, 'महालेखपाल बेचारा निर्दोष है, उसका पद ही ऐसा है कि उसमें वह अपनी समझ से काम न लेने पर मजबूर है।' और उनकी यह उक्ति मुझे अपनी सेवा के दौरान अक्सर याद आई है।

मॉलोनी साहब बड़ी विनोदी प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। एक बार किसी ज़मींदार ने उन्हें तार दिया, 'मेरी सारी फ़सल डूब गई है, बताइए क्या करूँ?' उन्होंने तत्काल उत्तर दिया, 'कृत्रिम श्वसन आज़माकर देखिए।'

मैं मॉलोनी साहब से मिलने अक्सर वेल्लूर जाया करता था जहाँ ज़िला मुख्यालय था। यह स्थान तिरुप्पत्तुर से कोई 60 मील की दूरी पर है। मेरे साथ वे दुनिया भर की बातें कर लिया करते थे सिवाय मेरे अपने परगने के मामलात के जिनके बारे में उनका ख़याल था कि उन्हें मैं जिस तरह चाहूँ चलाता रहूँ।

1924 के मध्य में अनुजी मेरे पास तिरुप्पत्तुर आ गईं। अब वे एक बच्चे की माँ हो गई थीं और उनके चेहरे का सौंदर्य पहले से कुछ और बढ़ गया था। हम फिर अपने उसी जीवन में व्यस्त हो गए जिसमें हमारे लिए वही उल्लास और ताजगी थी जो मधुमास में होती है। हम दोनों को घूमने-फिरने का शौक़ था। त्रिचिनाप्पल्ली में तो हमारे पसंदीदा स्थान कावेरी नदी के किनारे स्थित थे जो लाखों हिन्दुओं के तीर्थ स्थान थे जहाँ जाकर वे पूर्णिमा या अन्य पवित्र दिनों में स्नान करके अपने जीवन भर के पाप धोया करते थे। कावेरी हमारे लिए भी पावन नदी थी, हम दो भोले-भाले व्यक्तियों के लिए। लेकिन हमारा उद्देश्य वहाँ जाकर पाप धोने के बजाय अपना प्रेम-संबंध सुदृढ़ करना था। दीन-दुनिया से बिल्कुल बेखबर हम नदी की नरम रेत पर पड़े रहते और घण्टों बातें किया करते या एक दूसरे की आँखों में आँखें डाले देखते रहते यहाँ तक कि आकाश में तारे निकल आते और उनका प्रतिबिंब नदी के पानी पर पड़ने लगता और सारा वातावरण घोर अंधकार में विलीन हो जाता। चपरासी जिसकी उपस्थिति हमें उस समय बहुत खलती थी, चुपके से उठता और कोई घण्टे भर बाद अपने हाथ में लालटेन लिये आता ताकि हम उसके साथ अपने तंबू में जा सकें। तिरुप्पत्तुर में कावेरी के वे मज़े कहाँ? लेकिन नदी की कमी वहाँ की पहाड़ियों ने पूरी कर दी। वहाँ एलागिरि और जवाड़ी नाम की दो पहाड़ियाँ थीं। इसी एलागिरि पर हमारी दूसरी बच्ची मातृ-गर्भ में आई थी और उसी कारण हमने उसका नाम पार्वती रख दिया था।

अभी मुझे तिरुप्पत्तुर में एक वर्ष भी पूरा न हुआ था कि भारत सरकार ने मुझे तार दिया कि मुझे विदेश और राजनीति विभाग में लेने का निर्णय करलिया गया है और मुझे हैदराबाद में रेज़िडेंट के अवर सचिव के पद पर नियुक्त कर दिया गया है। मुझे तत्काल हैदराबाद जाने का आदेश हुआ था क्योंकि मेरे पूर्ववर्ती अधिकारी कर्नल सेवर्न विलियम्स को किसी जरूरी कार्य के लिए बलूचिस्तान भेजा जाना था। उधर मॉलोनी साहब की यह ज़िद कि जब तक तुम्हारा काम संभालने वाला अधिकारी बार्टर न आ जाए मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगा। उनका कहना था कि, 'अगर सेवर्न विलियम्स वहाँ वक़्त पर न भी पहुँचे तो बलूचिस्तान का कुछ बिगड़ तो न जायेगा।' मैंने क्या बेवक़ूफ़ी की कि यही बात बिना सोचे-समझे विलियम्स से कह दी और उसने झल्लाकर उत्तर दिया, 'मॉलोनी जैसे आयरिशों ने ही तो आई० सी० एस० को गंदा कर रखा है।' लेकिन मुझे यह बात खली, मैंने ज़ोर देते हुए कहा, 'जी नहीं, ऐसे बढ़िया लोग बहुत कम हैं जैसे मॉलोनी साहब और यह मैं अपने अनुभव के बल पर कह रहा हूँ।'

हैदराबाद

०

इस सदी पूर्वार्ध में भारतीय सिविल सेवा में अधिकांश अधिकारी अंग्रेज हुआ करते थे और विदेश और राजनीति विभाग जिसका संबंध सीमाप्रांत और देशी रियासतों से था, ऐसा था कि कमोबेश उन्हीं के लिए सुरक्षित था। इस विभाग में भारतीय को इसलिए शामिल नहीं होने दिया जाता था कि राजा-महाराजा अपने ही देश-वासियों को रेज़िडेंट या सर्वोच्च सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में पसंद नहीं करते थे। दूसरे, एक कारण यह था कि अंग्रेज समझते थे कि कोई भी भारतीय और विशेषकर हिन्दू, सीमाप्रांत के दंगाई मुसलमान क़बीलों पर न तो नियन्त्रण रख सकता है और न ही उनको क़ानून का आदर करने पर बाध्य कर सकता है। मैं पहला भारतीय था जिसे विदेश और राजनीति विभाग में दाख़िल करके यह विशेषाधिकार दिया गया था ताकि मैं इन दोनों धारणाओं को ग़लत साबित करूँ। इस काम में मुझे अपने अंग्रेज साथियों ने प्रोत्साहन भी दिया और यथावश्यक मेरी सहायता भी की। इन साथियों में एक बलूचिस्तान में गवर्नर जनरल के एजेंट और चीफ़ कमिश्नर आर्थर पार्सन थे, दूसरे थे विदेश सचिव आँबरे मेटकाफ़ और तीसरे थे उनके उत्तराधिकारी ओलेफ़ कैरो जिन्होंने मेरे घूमने-फिरने के चस्के को बढ़ाया था और मुझे भारत से चीन की स्थल-यात्रा के लिए प्रोत्साहित किया था। चौथा नंबर हर्बर्ट टॉमसन का था। उनकी और मेरी सेवा में बहुत कुछ समानता थी—पेशावर, हैदराबाद, भरतपुर और नई दिल्ली में हम साथ-साथ रहे थे और उनके अवकाश ग्रहण करने के बाद भी मेरा उनसे बड़ा सुखद पत्र-व्यवहार होता रहा था। इसी संदर्भ में लैज़ली चांसी का नाम भी आता है जो फ़ोर्ट सैंडेमान में मेरे सहायक राजनीतिक एजेंट रहे थे और शायद ही कोई दूसरा सहायक ऐसा हो जिसने मेरे साथ इतनी वफ़ादारी बरती हो और सहयोग किया हो। ह्यू रिचर्डसन का भी नाम न लेना उनके प्रति अन्याय होगा। वे चार्ल्स बेल की परंपरा का ही अनुसरण करते हुए तिब्बत पर मोहित हो गये थे और जितना राग उन्हें तिब्बत से था उतना ही द्वेष उन्हें चीन से था। लेकिन इसके बावजूद जब मैं चुंगकिंग गया तो उन्होंने मेरी हर संभव सहायता की और जो सुविधाएं वे मुझे दे सकते थे सब उन्होंने मेरे लिए सुलभ कीं। ऐसे ही चार्ल्स फ्राई थे जिनके साथ मुझे स्वातंत्र्योत्तर भारत के उन शुरू के दिनों में काम करने का अवसर मिला जब सर्वत्र हलचल मची हुई थी। उसके दस वर्ष बाद जब

हंगरी में क्रांति हुई तो संयोगवश हम दोनों फिर एक साथ थे, वे बुडापेस्ट में ब्रिटेन के राजदूत थे और मैं भारत का राजदूत था।

विदेश और राजनीति विभाग में कुछ लोग भारतीय सिविल सेवा के होते थे और कुछ सेना के। इस विभाग में आने के लिए विवाहित होना एक रुकावट माना जाता था क्योंकि सीमाप्रांत में अनेक ऐसे स्थान थे जहाँ गृहस्थ अधिकारी के लिए आवश्यक प्रबन्ध नहीं था, लेकिन जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैं न केवल विवाहित था, बल्कि मेरे दो बच्चे भी थे। फिर भी इन दोनों बातों को मेरे संदर्भ में नज़रअन्दाज़ कर दिया कर दिया गया था। इस विभाग के कुछ सदस्य तो सीमाप्रांत में रहना पसंद करते थे जबकि दूसरे देशी रियासतों को तरजीह देते थे क्योंकि वहाँ उन्हें अधिक सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थीं। लेकिन यह भी होता था कि सीमाप्रांत के अधिकारी का तबादला किसी रियासत में कर दिया जाता था और वहाँ तैनात कोई भी अधिकारी तबादला करके सीमाप्रांत भेज दिया जाता था। सीमाप्रांत में जो भी अफ़सर कई वर्ष गुज़ार देता था उसके जीवन पर वहाँ के पुरुषार्थ और कठिन परिश्रम की छाप पड़ना अनिवार्य था। वह आम तौर पर सख़्त हो जाता था और तत्काल निर्णय करने की अपार क्षमता उसके अन्दर पैदा हो जाती थी। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपनी समस्त सेवा किसी रियासत में बिता चुका होता था उसका स्वभाव अपेक्षाकृत कोमल होता था, आचार-व्यवहार में वह अधिक परिष्कृत होता था और कभी-कभी ठाठबाट का भी आदी हो जाता था। यह बात उन दो रेज़िडेण्टों पर पूरी तरह चरितार्थ होती थी जिनके अधीन मैं हैदराबाद में काम कर चुका था। वे थे सर लेनॉक्स रसेल और सर विलियम बार्टन जिनमें से पहले रियासतों की सेवा के आदी थे और दूसरे सीमाप्रांत में रह चुके थे।

जब मुझे अवर सचिव के रूप में हैदराबाद में तैनात किया गया तो सर लेनॉक्स रसेल रिटायर होने ही वाले थे। लोथियन जो रेज़िडेण्ट के सचिव थे और स्टाफ़ के दूसरे कर्मचारी उनसे बड़े दुःखी थे क्योंकि वे निर्णय करने में बड़े सुस्त थे। जब भी कोई पेचीदा मामला उनके सामने पेश किया जाता तो वे उस पर यह टिप्पणी लिखते और लौटा देते : 'कृपया बात करें।' हम उनसे जाकर बात करते लेकिन फिर भी मिसिल रेज़िडेण्ट की मेज़ पर ही पड़ी रहती और उस मामले का या तो यह हल होता कि समय बीतने के बाद वह अपने आप हल हो जाता या फिर वह इतना पेचीदा बन जाता कि उसका समाधान ही असम्भव हो जाता। हम अक्सर यह सोचकर हैरान होते थे कि आखिर सर लेनॉक्स को यह प्रमुख रेज़िडेंसी की इमारत विदेश और राजनीति विभाग के उपहार के रूप में कैसे मिल गई? ग़ौर करने पर बस एक ही दलील समझ में आती थी कि सर लेनॉक्स

के दादा कई वर्ष पहले हैदराबाद के रेज़िडेण्ट रह चुके थे और उन्हीं के नाम पर रेज़िडेंसी बाज़ार के एक हिस्से का नाम भी रसेलगंज था। राजनीति विभाग के अधिकारियों के लिए जो हिदायत-पुस्तक तैयार की गई उसके संकलन में सर लेनॉक्स का भी हाथ था। उसमें यह सूक्ति अंकित थी कि राजनीतिक अधिकारी का सबसे बड़ा कारनामा जो वह अक्सर किया करता है वह होता है जिसे उसने अधूरा छोड़ दिया हो। सर लेनॉक्स इसी आदर्श के मूर्त रूप थे।

सर लेनॉक्स रसेल को अपने स्वास्थ्य का हमेशा खयाल रहता था। वे हैदराबाद की ऐतिहासिक और सुन्दर रेज़िडेंसी में तो शायद ही कभी ठहरे हों क्योंकि उसके आसपास बड़ा गन्दा बाज़ार था। उनकी अधिकतर रिहाइश बोलारम रेज़िडेंसी में ही रही जो वहाँ से 14 मील की दूरी पर स्थित है। वहाँ भी उन्हें मच्छरों से बड़ा डर लगता था और इसीलिए उन्होंने वहाँ के कुछ पुराने पेड़ कटवा दिये थे। लेडी रसेल उनकी बड़ी अच्छी जीवन-संगिनी साबित हुई थीं जो अपने पति की तरह हमेशा गुरु-गम्भीर बनी रहती थीं।

सर लेनॉक्स के समय में हैदराबाद का प्रशासन निरंतर बिगड़ता ही गया। यह सच है कि सिद्धान्ततः राज्य के अंदरूनी मामले रेज़िडेंट के अधिकार-क्षेत्र से बाहर थे। रेज़िडेंट तो ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि होता था और सरकार तथा राजाओं के सम्बन्धों का नियमन उस संधिपत्र द्वारा होता था जिस पर राजाओं के पूर्वजों और ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने हस्ताक्षर किये थे। इन संधिपत्रों के अनुसार ब्रिटिश सरकार के लिए राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना वर्जित था। इसके साथ ही यह जिम्मेदारी अंग्रेजों की थी कि यदि किसी रियासत को आंतरिक उपद्रव या बाह्य आक्रमण का सामना करना पड़े तो वे उन राजाओं की सहायता करें और उनकी रक्षा करें। इसी के लिए आवश्यक था कि ब्रिटिश सरकार रियासतों में प्रशासन के न्यूनतम स्तर को बनाये रखने का दायित्व अपने ऊपर ले। लेकिन वह स्तर किस प्रकार का होगा इसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। अलबत्ता इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हैदराबाद में प्रशासन-स्तर निर्धारित मान से भी नीचे गिर चुका था और सर लेनॉक्स रसेल एक दार्शनिक की-सी उदासीनता से यह सब देख रहे थे।

रेज़िडेण्ट जितना कम प्रभावशाली होता था, निज़ाम उसी अनुपात में अपना प्रभुत्व उस पर जमा लिया करता था। महामहिम निज़ाम हैदराबाद में कई गुण थे। वे उन ऐश्वर्यशाली और विषयवासना में लिप्त नवाबों में से नहीं थे जो सुन्दरियों की तलाश में यूरोप की एक राजधानी से दूसरी में घूमते-फिरते और पैसा बरबाद करते फिरते थे। वास्तव में देखा जाए तो निज़ाम ने अपने वालिद के हरम की 300 स्त्रियों में से अधिकांश से अपना पिण्ड छुड़ा लिया था

और अपने लिए केवल 30 बेगमात रखी थीं। वे बड़े कर्त्तव्यपरायण और कर्मठ व्यक्ति थे। प्रशासन की बागडोर पूरी तरह उन्हीं के हाथों में रहती थी। वे रुपये पैसे का मूल्य भली प्रकार जानते थे और उसको बहुत महत्त्व देते थे। यद्यपि उनकी गणना संसार के बड़े-बड़े धनिकों में होती थी लेकिन फिर भी उनकी धन-लिप्सा कभी शांत नहीं हुई। उनके दरबारों का आयोजन बार-बार इसी कारण से होता था कि वे अपनी प्रजा से नज़राना लिया करते थे। इस सम्बन्ध में उनके खिलाफ़ शिकायतें भी की गईं कि वे इस चिरकालीन परिपाटी का दुरुपयोग करते हैं और अधिकारियों की नियुक्ति तथा पदोन्नति उनकी दी हुई नज़्र की राशि पर निर्भर होती है। निज़ाम की धनलिप्सा केवल धनार्जन के लिए ही थी, वे उसे अपने परिवार पर या खुद के अपने ऊपर खर्च नहीं करते थे, बल्कि इसके विपरीत उनका रहन-सहन बहुत सादा था और वे बड़े मितव्ययी थे। उनकी मितव्ययिता देखने का एक बार मुझे भी अवसर मिला था। एक बार का ज़िक्र है कि निज़ाम के संरक्षण में एक टेनिस मैच खेला जा रहा था। दर्शकों में से जब निज़ाम की दृष्टि अनुजी पर पड़ी तो उन्होंने कृपापूर्वक उन्हें अपने पास बिठाया और उनके लिए आइसक्रीम मँगवाई। हैदराबाद का प्रमुख होटल-मालिक विक्काजी आइसक्रीम लेकर हाज़िर हुआ तो निज़ाम ने झल्लाकर कहा, 'ले जाओ इसे ! भला मिसेज़ मेनन इतनी सारी आइसक्रीम थोड़ी खा सकती हैं ?' बेचारा विक्काजी, उसे लेकर चला गया और उसे आधा करके लाया। तब भी निज़ाम उस पर बरस पड़े और उन्होंने चीख कर कहा, 'अरे बेवक़ूफ़ ! यह भी बहुत ज्यादा है। कोई भला इतनी आइक्रीम कैसे खा लेगा ?' विक्काजी उसे भी ले गया और इस बार इतनी आइसक्रीम लेकर आया जो दो या तीन चम्मच से अधिक नहीं थी।

निज़ाम की सबसे प्रबल महत्त्वाकांक्षा बरार की पुनः प्राप्ति थी। उन्नीसवीं सदी में बरार हैदराबाद का सबसे अधिक संपन्न भाग था। लॉर्ड कर्ज़न ने इसे ब्रिटिश भारत में शामिल कर लिया था। हैदराबाद सरकार रियासत में स्थित ब्रिटिश सेना का खर्च देने में असमर्थ रही थी और उस खर्च की क्षतिपूर्ति के रूप में बरार का विलय ब्रिटिश भारत में कर लिया गया था। इस विवाद में निज़ाम का तर्क यह था कि यह हस्तांतरण पूरी तरह अनुचित है क्योंकि निरंकुश वाइसराय ने मेरे वालिद की कमज़ोरी के कारण उन्हें डरा-धमकाकर बरार के हस्तांतरण के लिए बाध्य कर दिया था। जब ब्रिटिश सरकार ने बरार निज़ाम को बहाल करने से इन्कार कर दिया तो उन्होंने राष्ट्र संघ में अपील करने की धमकी दी। इस धमकी में निज़ाम की अपनी मर्यादा का अतिक्रमण निहित था और इसका सीधा मतलब यह था कि निज़ाम अपने को बादशाह सलामत के समकक्ष रखना चाहता है और यह बात अंग्रेजों के लिए असह्य थी। इसलिए

तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड रीडिंग ने निज़ाम को एक पत्र लिखकर यह बताया कि जिन परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार और नरेशों के बीच मूल संधियाँ हुई थीं, वे अब बदल चुकी हैं। आज ब्रिटिश सरकार को भारत की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त हो चुकी है इसलिए किसी भी नरेश को यह अधिकार नहीं है कि वह इस सर्वोच्च सत्ता को चुनौती दे। वाइसराय ने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि निज़ाम को 'ब्रिटिश सत्ता के वफ़ादार मित्र' की जो उपाधि मिली हुई है उससे उनकी स्थिति अन्य नरेशों से भिन्न नहीं हो जाती। इस प्रकार की स्पष्टवादिता का इससे पहले न तो निज़ाम को अनुभव था और न ही किसी अन्य नरेश से वाइसराय ने इस भाषा में बातचीत की थी।

ऐसे समय में जबकि स्थिति इतनी गम्भीर हो चुकी थी, मेरी तैनाती हैदराबाद में कर दी गई। मेरे वहाँ पहुँचने के कुछ महीनों के अन्दर ही सर लेनॉक्स रसेल की जगह सर विलियम बार्टन आ पहुँचे। चूंकि सर विलियम ने अपनी सेवा का अधिकांश भाग सीमाप्रांत में बिताया था इसलिए वे हर दृष्टि से सीमाप्रांत के अधिकारी नज़र आते थे। उनका शरीर गठा हुआ और सुडौल था और उनकी हर मुद्रा से उनकी ऊर्जा और दृढ़ता परिलक्षित होती थी। उन्होंने आते ही भारत सरकार को निज़ाम सरकार के सारे कुकृत्यों का वृत्तांत लिख भेजा और ये अफ़वाहें भी उड़ने लगीं कि शायद निज़ाम को अपदस्थ कर दिया जायेगा। लेकिन निज़ाम ने जब पूरी जाते देखी तो आधी बाँट लेने में ही अपनी कुशल समझी और प्रशासन व्यवस्था में विभिन्न सुधारों की माँग स्वीकार कर ली। यह शर्त भी निज़ाम ने कान दबाकर मान ली कि ये सुधार भारत सरकार अपने नामित व्यक्तियों द्वारा अमल में लायेगी। फलस्वरूप बरार प्रांत हैदराबाद के हाथों से हमेशा के लिए निकल गया। यह 1925 की बात है और उस समय निज़ाम ने यह स्वप्न में भी न सोचा होगा कि आगामी पच्चीस वर्षों में ऐसी क्रांति भी आ सकती है कि बरार तो क्या स्वयं हैदराबाद रियासत का अस्तित्व ही भारत से मिट जायेगा।

मेरे लिए हैदराबाद एक नई दुनिया थी क्योंकि उससे पहले मैंने वैसा वातावरण कहीं नहीं देखा था। एक पतनोन्मुख साम्राज्य के सभी लक्षण वहाँ मौजूद थे—तानाशाही, सामंतवाद और सर्वोपरि सत्ता—और इन सब खंडहरों में से एक नई मद्धम आवाज़ उभर रही थी जो जनता की आवाज़ थी। और अंततोगत्वा यही आवाज़ विजयी हुई। अभी आधी सदी भी नहीं गुज़री थी कि न निज़ाम की स्वेच्छाचारिता रही, न वे सामंत रहे और न ही अंग्रेज़ों की सर्वो-

परि सत्ता ही रह गई।

लेकिन 1925 में ये सभी शक्तियाँ सजीव और सक्रिय थीं। निज़ाम भारत का सर्वशक्तिमान अधीश्वर था। वह भारत की एक ऐसी रियासत का शासक था जो जनसंख्या और क्षेत्रफल की दृष्टि से वहाँ की सबसे बड़ी रियासत थी। उसे सबसे अधिक तोपों की सलामी का विशेषाधिकार भी प्राप्त था।

उसे जो उपाधि मिली हुई थी वह किसी अन्य नरेश को प्राप्त न थी, यानी 'हिज़ एक्ज़ाल्टेड हाइनेस' जिसने कालांतर में 'हिज़ एक्ज़ास्टेड हाइनेस' के रूप में परिवर्तित होकर एक भोंडे मज़ाक का रूप धारण कर लिया था। लेकिन निज़ाम अपनी इस विशाल रियासत से पूर्णत: संतुष्ट नहीं था, बल्कि उसमें विस्तारवादी प्रवृत्ति जड़ पकड़ रही थी। अत: उसने समुद्र तक जाने के लिए एक स्थल मार्ग की माँग की क्योंकि उसकी दृष्टि मसलीपट्टम नामक बंदरगाह पर लगी हुई थी। उसका यह निराधार दावा था कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह बंदरगाह उसी के राज्य में है। उसकी इस विस्तारवादी नीति से यह भी असंभव न था कि यदि ब्रिटेन भारत छोड़कर चला जाता तो वह बंबई को भी अपने ही राज्य का अंग बता बैठता। सर अली इमाम ने जो वाइसराय की कार्यकारी परिषद् के एक सदस्य थे, यहाँ तक कहा था, 'अगर ब्रिटेन आज भारत से वापस चला जाए तो निज़ाम कल ही अपना झण्डा बंबई पर फहरा देगा।' लेकिन सर शंकरन नायर जो वाइसराय की कार्यकारी परिषद् में सर इमाम के उत्तराधिकारी होने वाले थे, तत्काल उत्तर दिया, 'लेकिन आप यह भूलते हैं कि रास्ते में पूना भी तो पड़ता है।'

जहाँ तक बरार की समस्या का संबंध है निज़ाम की महत्त्वाकांक्षा की टक्कर ग्रेट ब्रिटेन की सर्वोपरि सत्ता से हो गई थी लेकिन अब जो एक संवैधानिक समस्या थी वह यह कि नरेशों और ईस्ट इण्डिया कंपनी के बीच जो संधियाँ सम्पन्न हुई थीं उनमें तो दोनों पक्षों की हैसियत बराबरी की थी लेकिन अब इन संधिपत्रों की वैधता को मानते हुए ब्रिटिश सर्वोपरि सत्ता नरेशों के आगे कैसे झुक जाती? सर्वोपरि सत्ता की परिभाषा के अनेक प्रयास किये गये। रॉयल कमीशन जो इस समस्या की छानबीन के लिए नियुक्त किया गया था, अपने इस एक ही तर्क पर जम कर रह गया कि सर्वोपरि सत्ता वह है जो सबके ऊपर है। बरार के मामले में तो यह बात निश्चित रूप से ठीक भी थी।

तानाशाही और सर्वोपरि सत्ता या निज़ाम और रेज़िडेंट के बीच हैदराबाद के सामंत भी थे। रेज़िडेंट की यह स्थिति थी कि वह कभी एक का पक्ष लेता तो कभी दूसरे का और दोनों की बातें इधर से उधर पहुँचाया करता था। वहाँ के सामंत और जागीरदार बड़े धनवान् थे और वे बड़ा ऐश्वर्यमय जीवन व्यतीत

करते थे। इनमें सबसे अधिक सुसंस्कृत महाराजा सर किशन प्रसाद थे जो फ़ारसी और संस्कृत के विद्वान थे और क़ुरान तथा गीता दोनों पर उन्हें समान अधिकार भी था। इन दोनों धर्मों के प्रति उनकी न्यायप्रियता या निष्पक्षता का प्रमाण उनकी चार पत्नियाँ थीं जिनमें दो हिन्दू थीं और दो मुसलमान। इसी प्रकार कुछ और महान् व्यक्ति भी ऐसे थे जिनका अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्ट स्थान था। उनमें निज़ाम के सेनाध्यक्ष सर अफ़सर-उल-मुल्क थे जिनकी सैनिक परंपरा के उत्तराधिकारी उनके बेटे उस्मान थे। दूसरे सर वलीउद्दौला थे जिनका यह नियम था कि जब कभी कहीं बाहर जाते वर्दीपोश नौकरों की पल्टन उनके साथ जाती थी। उन नौकरों में कोई उनके हुक़्क़े की देखभाल करता तो कोई उनके पानदान की। तीसरे सर फ़ज़्ल-उल-मुल्क थे जो अपने डिनरों के लिए प्रसिद्ध थे जिनमें वे स्वादिष्ट पुलाव और क़ोरमा पकवाते थे। चौथे सर अमीन जंग थे जिनका निजी पुस्तकालय भारत के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक था। पाँचवें सर इमाद-उल-मुल्क और उनके पुत्र थे जिनको यह श्रेय है कि उन्होंने ऐलौरा और अजंता की गुफाओं की मूल्यवान् मूर्तियों और चित्रों को बड़े आदर के साथ सँजोया है। फिर सर निज़ामत जंग का नंबर आता है जो न सिर्फ़ विद्वान और कवि थे बल्कि राजनीति में भी उनका खासा नाम था। उन्होंने केंब्रिज के अपने पुराने कॉलिज के नमूने पर हुसैन सागर के किनारे एक कोठी बनवाई थी। सर फ़रीदून-उल-मुल्क जो पारसी मतानुयायी थे दिन भर ब्रिज खेला करते थे, उनके ताश कोई और ही थामे रहता था क्योंकि वे स्वयं बहुत ही कमज़ोर थे। सर सालार जंग के, जो एक संग्राहक थे, महल में अनेक अलमारियाँ थीं जिनमें चीनी मिट्टी की दुर्लभ वस्तुएँ, जापानी काँसे की वस्तुएँ, फ्रांस की चीनी मिट्टी के बर्तन, पुरानी ईरानी क़ालीनें और तसवीरें, दुनिया भर के संगमरमर की मूर्तियाँ और झाड़-फ़ानूस रखे हुए थे। इनके अलावा वहाँ ऐसे ऐतिहासिक अवशेष भी मौजूद थे जैसे ड्रेसडन ड्रेसिंग टेबल जो मेरी एन्त्वाने की थी। और फ्रांस की चीनी मिट्टी का एक उपहार जो लुई-सोलहवें ने 1788 में टीपू सुलतान को भेंट किया था। इन्हीं में नूरजहाँ का वह ख़ंजर भी था जिसमें पन्ने और माणिक जड़े हुए थे। क़ुरान शरीफ़ की वह प्रति भी वहाँ रखी हुई थी जिस पर सम्राट जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगज़ेब के दस्तख़त थे। भारत में ऐसा दूसरा शहर कोई नहीं था जिसे इस तरह के लोगों पर गर्व हो जो सुसंस्कृत, अकर्मण्य और बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं।

जब मुझे वे दिन याद आते हैं और मैं देखता हूँ कि आज उस हैदराबाद का नामोनिशान भारत के मानचित्र में से मिटा दिया गया है तो जी चाहता है कि उसके इस पतन पर दो आँसू बहाऊँ। यही वह हैदराबाद था जिसका किसी ज़माने

में अपना एक विशिष्ट स्वरूप था। यह मुग़ल परंपरा का अंतिम स्मारक था। 'मुग़लई' वहाँ का एक ऐसा विशेषण था जो जन साधारण की ज़बान पर था। जिस स्तर का आतिथ्य वहाँ के नवाब और सामंत लोग दर्शाते थे उसे वास्तव में 'मुग़लई' कहा जा सकता था, और यही हाल उनके व्यक्तिगत जीवन-स्तर का भी था। हैदराबाद शहर में हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर मैत्री संबंधों पर भी मुग़लई छाप स्पष्ट दिखाई देती थी। वहाँ किसी प्रकार का धार्मिक वैमनस्य या सांप्रदायिक वैर नहीं था। कभी-कभी इस शब्द 'मुग़लई' का प्रयोग कुछ हास्या-स्पद रूप भी धारण कर लेता था, जैसे यदि कोई व्यक्ति किसी समारोह में देर से पहुँचता तो उसका यह कहकर मज़ाक़ उड़ाया जाता था कि यह साहब मुग़लई वक़्त की पाबंदी करते हैं। लेकिन ऐसी रियासत स्वतंत्र भारत में कैसे बाक़ी रह सकती थी जिसमें आबादी का उच्चतर दसवाँ हिस्सा इतनी शान-शौकत और ऐश्वर्यशालिता का जीवन बिता रहा हो और जिसे शेष 90 प्रतिशत आबादी की विपत्तियों और तकलीफ़ों का एहसास तक न हो ? अगर ऐसी रियासत के पतन पर मैंने दो आँसू बहाये भी होते तो वे निश्चय ही व्यर्थ जाते।

रेज़िडेण्ट के अवर सचिव के रूप में मेरे काम विभिन्न प्रकार के तो थे लेकिन थे सब छोटे-मोटे। रेज़िडेण्ट के सचिवालय में मेरे सुपुर्द जो काम था उसके अतिरिक्त मैं सिकंदराबाद और प्रशासित इलाक़ों का ज़िला मजिस्ट्रेट, निज़ाम रेलवे का मजिस्ट्रेट, रेज़िडेंसी बाज़ारोंका सुप्रिण्टेण्डेण्ट, रेजिडेंसी बाग़ का प्रबंधक और मृत्यु तथा जन्म का रजिस्ट्रार भी था। कभी-कभी तो मुझे खुद ही रेज़िडेंसी बाज़ारों के सुप्रिण्टेण्डेण्ट की हैसियत से खुद को ज़िला मजिस्ट्रेट के नाम पत्र लिखने पड़ते थे जिनमें इस बात की शिकायत की जाती थी कि मेरे अधिकार-क्षेत्र में नगरपालिका से संबंधित जिन अपराधों के लिए मैंने ही मजिस्ट्रेट की हैसियत से दण्ड दिया है वह काफ़ी नहीं है या यह कि मैं रेज़िडेंट के अवर सचिव के रूप में एक ख़त खुद को रेज़िडेंसी बाज़ार के सुप्रिण्टेण्डेंण्ट के नाम लिखता और उसमें यह शिकायत करता कि बाज़ार में हर वक़्त इतना शोर-गुल रहता है कि उससे रेज़िडेण्ट की नींद में ख़लल पड़ता है।

एक या दो अवसर ऐसे भी आये जब मुझे अपने कर्त्तव्य-पालन के संबंध में निज़ाम से संपर्क या संघर्ष करना पड़ा। हैदराबाद रियासत की एक बूढ़ी निस्संतान विधवा अपने भतीजे गुलाम मुहीउद्दीन के नाम 15 लाख रुपये की जायदाद छोड़कर मर गई। रियासत का यह क़ानून था कि यदि कोई व्यक्ति अपनी जागीर-जायदाद का वारिस बनाये बिना मर जाता तो वह संपत्ति निज़ाम

की हो जाती थी। इस डर से कि कहीं निज़ाम उसकी संपत्ति हड़प न कर ले, ग़ुलाम मुहीउद्दीन भागकर रेज़िडेंसी इलाक़े में आ गया और उसे पुलिस का विशेष संरक्षण भी प्राप्त हो गया। निज़ाम ने यह कहते हुए विरोध किया कि विधवा ने ग़ुलाम मुहीउद्दीन के नाम जो वसीयतनामा छोड़ा है वह एक जाली दस्तावेज़ है और उस संपत्ति का वैध उत्तराधिकारी मैं ही हूँ। भारत सरकार ने इस मामले की जाँच-पड़ताल का काम मेरे सुपुर्द किया।

जाँच-पड़ताल अभी शुरू हुई ही थी कि एक विचित्र घटना घटी। मुझे महाराजा सर किशन प्रसाद ने चाय पर आमंत्रित किया। मैं अपने मकान से चलने ही वाला था कि दीवान बहादुर आर्यावामुदा आयंगर मेरे पास हाँपते-काँपते आये। वे निज़ाम और रेज़िडेंट दोनों के विश्वासपात्र थे जबकि उन दोनों में परस्पर संघर्ष चल रहा था। उन्होंने मुझसे अनुनय-विनय की और कहा कि आपको वहाँ चाय पर नहीं जाना चाहिए। उन्होंने बताया कि निज़ाम के एक मशहूर चाटुकार नवाब तारबंद को यह हिदायत दी गई है कि वह अकस्मात् सर किशन प्रसाद के यहाँ चाय पर पहुँचे और आपको यह धमकी दे, 'निज़ाम की गणना संसार के इने-गिने धनिकों में होती है और जो आदमी उनका कृपापात्र बन जाता है उसका भविष्य सदा के लिए सुरक्षित हो जाता है। साथ ही महा-महिम निज़ाम भारत के सबसे शक्तिशाली शासक हैं, इसलिए जो आदमी उनका कोप-भाजन बनता है उसका वे सर्वनाश कर देते हैं।' आयंगर साहब की सलाह के बावजूद मैं महाराजा सर किशन प्रशाद की कोठी पर पहुँचा हालाँकि मेरे मन में एक प्रकार की उथल-पुथल मची हुई थी। जब हम आइसक्रीम खा रहे थे, तभी नवाब तारबंद आ धमके और मौसम तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों पर बातें करने लगे। लेकिन जो संदेश वे मेरे लिए लेकर आये थे वह उन्होंने मुझ तक नहीं पहुँचाया।

मैंने ग़ुलाम मुहीउद्दीन के मामले में जो जाँच-पड़ताल की उससे हैदराबाद में एक तहलका मच गया। स्वर्गीय सर चिमनलाल सीतलवाद जैसे प्रतिष्ठित वकील निज़ाम की तरफ़ से पैरवी कर रहे थे। मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि जो वसीयतनामा ग़ुलाम मुहीउद्दीन के नाम लिखा गया था और जिसके द्वारा वह 15 लाख रुपये का अधिकारी बना वह वैध था। मुझे बाद में पता-चला कि मेरे निर्णय के बारे में जब निज़ाम को सूचना मिली तो वे आग बगूला हो गये।

कुछ ही महीने गुज़रे होंगे कि एक दूसरी घटना घटी। निज़ाम के साले बशीर बेग को सिकंदराबाद के ब्रिटिश इलाक़े में लापरवाही से और बहुत तेज़ी से कार चलाने और एक बुढ़िया को मार डालने के अपराध में ब्रिटिश पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया। संयोगवश यह मुक़दमा भी मेरे सामने ही पेश हुआ।

प्रारंभिक साक्ष्यों के बाद मैंने बशीर बेग के खिलाफ़ आरोप लगाये क्योंकि उनके विरुद्ध मुक़दमा प्रत्यक्षत: बन चुका था। लेकिन अंत में मैंने उन्हें संदेह-लाभ देकर बरी कर दिया। इस फ़ैसले से निज़ाम बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा, 'मेनन बड़ा न्यायप्रिय व्यक्ति है।' इस शाही प्रशंसा-रत्न को अपनी सरकारी सेवा रूपी अँगूठी में लगाए मैं हैदराबाद से विदा हुआ और पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत पहुँचा जहाँ मैंने अगले तीन वर्ष बिताये।

पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत

००

अप्रैल के महीने में जब मैं पेशावर पहुँचा तो हल्की-हल्की गर्मी शुरू हो चुकी थी। वसंत भी अपनी बहार दिखा रहा था और पेशावर फूलों की सेज बना हुआ था। लेकिन गर्मी का मौसम अब ज़्यादा दूर नहीं था और सरकारी दफ़्तरों के पहाड़ों पर जाने की तैयारियाँ हो चुकी थीं। यह जगह समुद्र तल से 8000 फुट की ऊँचाई पर स्थित थी। नथियागली पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की ग्रीष्म-कालीन राजधानी थी। सरकारी दफ़्तर मई के आरंभ से लेकर अक्तूबर के शुरू होने तक वहाँ रहा करते थे। इन पहाड़ी स्थलों की गणना भारत में ब्रिटिश शासन की अधिक स्थायी उपलब्धियों में की जानी चाहिए। अंग्रेज़ों ने भारत के प्रांतों का गठन कुछ इस ढंग से किया था कि हर प्रांतीय सरकार की एक राजधानी पहाड़ों पर और दूसरी मैदानों में रखी जा सके। नथियागली ज़िला हज़ारा में स्थित था और यह इलाक़ा पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की अपेक्षा पंजाब से ज़्यादा मिलता-जुलता था क्योंकि वह सिंधु नदी के उस किनारे पर स्थित था जो भारत की ओर है। इसके अलावा पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत का यही इलाक़ा ऐसा था जिसमें पठानों की कोई आबादी नहीं थी। इस इलाक़े को पश्मिोत्तर सीमाप्रांत में इसी कारण से शामिल भी किया था कि सीमाप्रांत के गवर्नर को गर्मियों के मौसम में एक अच्छा स्वास्थ्यप्रद पहाड़ी स्थान मिल सके।

चीफ़ कमिश्नर के अवर सचिव के रूप में मुझे जो मकान मिला वह छोटा और पुराने ढंग का बना हुआ था। वहाँ से नीचे की ओर एक गहरी, रोमानी घाटी दिखाई देती थी और उस घाटी के दूसरी ओर दिन में जबकि सूरज निकला हुआ होता था, नंगा पर्वत की चोटी चमकती हुई दिखाई देती थी। यह पर्वत ऊँचाई में संसार का नवाँ पर्वत माना जाता है। चीफ़ कमिश्नर, सचिवालय के कर्मचारी और कुछ विभागाध्यक्ष छह महीने तक नथियागली में ही रहते थे और ज़िला अधिकारी जो मैदानों में स्थित दफ़्तरों में काम किया करते थे, तीन हफ़्तों के लिए यहाँ आ जाते थे। यहाँ का प्रमुख सामाजिक केन्द्र नथियागली क्लब था। इस क्लब के विधान के अनुसार अवर सचिव क्लब का सचिव चुना जाता था। मैं यद्यपि एक मात्र भारतीय सदस्य था, लेकिन मुझे ही उसका सचिव चुना गया। जब हम वापस पेशावर पहुँचे तो वहाँ मैंने देखा कि स्थिति

भिन्न है और भारतीय होने के कारण मैं पेशावर क्लब का पूर्ण सदस्य नहीं बन सकता। अलबत्ता यह रिआयत ज़रूर थी कि इंपीरियल सेवाओं से संबद्ध भारतीय उस क्लब का सम्मानित सदस्य बन सकता था, उससे चंदा तो लिया जाता था लेकिन उसे चुनाव में भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं था। लिहाजा मैंने इन शर्तों पर क्लब का सदस्य बनने से इन्कार कर दिया। कुछ वर्ष बाद जब भारतीय घुड़सवारों का एक दस्ता पेशावर में तैनात किया गया तो उन्होंने भी इस अपमानजक स्थिति पर रोष प्रकट किया और वार्षिक घुड़दौड़ के समारोह में अपने घोड़ों को शरीक करने से इन्कार कर दिया। तब कहीं जाकर क्लब में भारतीयों के प्रवेश पर से प्रतिबंध हटाया गया।

फिर भी नथियागली में हमारा प्रवास पूर्णतः सुखद रहा क्योंकि वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति ने ऐसा व्यवहार किया कि हमें वहाँ किसी प्रकार का अजनबीपन महसूस न हो। अधिकारिगण सामान्यतया आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहते थे और हमें बार-बार वही परिचित चेहरे देखने को मिलते थे। आज की तुलना में उस ज़माने का मनोरंजन कितना भव्य होता था। कॉकटेल पार्टी—जिसमें सिवाय हंगामे और शोर-गुल के कुछ नहीं होता—तब तक प्रचलित नहीं हुई थी और न ही खड़े-खड़े डिनर खाने की भौंडी प्रथा शुरू हुई थी। उस समय छोटी-छोटी डिनर पार्टियाँ होती थीं जिनमें आठ-दस, या अधिक-से-अधिक बारह व्यक्ति आमंत्रित होते थे। डिनर का आयोजन बड़ा सुंदर और सुव्यवस्थित होता था। उसकी समाप्ति पर संगीत का कुछ कार्यक्रम होता था या ब्रिज, अथवा मोनोपली खेल खेले जाते थे। इन आयोजनों में राजनीति पर कभी-कभार ही बहस होती थी और उसमें भी कोई हठवादिता का प्रदर्शन नहीं करता था। बौद्धिक दृष्टि से वहाँ की बहस को शिष्टाचार के एक स्तर-विशेष से आगे नहीं बढ़ने दिया जाता था। लेकिन श्रीमती डार्लिंग जो एक प्रतिष्ठित पंजाबी सिविलियन अधिकारी की पत्नी थीं, हमेशा इस स्तर का उल्लंघन करके आगे बढ़ जाती थीं। उन्हें कला और साहित्य पर बहस करने का बड़ा शौक़ था, यहाँ तक कि उन्होंने शेक्सपियर की रचनाओं के अध्ययन के लिए एक अध्ययन मंडल की भी रचना की थी। उनकी इन्हीं गतिविधियों के कारण उन्हें 'विदुषी' की संज्ञा दे दी गई थी। वैयक्तिक रूप से वे हमें न सिर्फ़ अच्छी लगती थीं बल्कि हम उनके गुणों के प्रशंसक भी थे। लेकिन हम अपनी वह प्रशंसा कभी उन पर या किसी दूसरे पर इसलिए प्रकट न करने की सावधानी बरतते थे कि कहीं उन्हीं की तरह लोग हमारा भी कोई नाम न रख दें। चाय पार्टी और टेनिस का खेल हर रोज़ ही होता था, अलबत्ता जब कभी शाम को बारिश के छींटे पड़ जाते थे तो इनमें व्यतिक्रम आ जाता था। इन सब क्रियाकलाप के अलावा जिसमें हमें बहुत अधिक आनंद आता

था वह थी पहाड़ के दामन में दूर-दूर तक की सैर जिसके दौरान यहाँ-वहाँ बारिश हो रही होती तो हम आकाश में बादलों की विचित्र आकृतियों को बनते-बिगड़ते देखा करते थे और बादलों के छँट जाने पर सूर्यास्त के कुछ सुंदर दृश्यों का भी आनंद उठाते थे।

नथियागली में कुछ छुट्टी के दिनों का-सा वातावरण बन गया था और इसी कारण मुझे धीरे-धीरे सीमाप्रांत के जीवन का अभ्यस्त होने का अवसर मिला। वहाँ रोज़मर्रा का सरकारी काम कभी मुझ पर हावी न होने पाया। यहीं मुझे सीमाप्रांत के बारे में लिखी गई पुस्तकें आदि पढ़ने का भी बहुत समय मिल जाता था और यहाँ तक कि मुझे पुश्तो भाषा सीखने का भी समय मिलता था। मैंने उसमें इतनी दक्षता प्राप्त कर ली थी कि मैं महसूद, वज़ीर, महमंद और आफ़रीदी क़बीलों के किसी भी व्यक्ति से उनकी अपनी-अपनी बोलियों में बातचीत कर सकता था। मुझे वहाँ शादी-ब्याह तय कराने की भी फ़ुर्सत मिल जाती थी।

मेरे अलावा केरल का केवल एक और व्यक्ति सीमाप्रांत में था जिसका नाम के० आर० के० मेनन था और वह भारतीय लेखा परीक्षा तथा लेखा विभाग से संबद्ध था। कालांतर में वह भारत सरकार का वित्त सचिव भी बन गया था। मैंने उसे पहली बार देखकर ही यह तय कर लिया था कि वह मेरी प्रिय भतीजी सरस के लिए उपयुक्त वर हो सकता है। हालाँकि उसके पिता का कुछ-कुछ विचार यह था कि अपने पुत्र का ब्याह एक अन्य सुंदर लड़की से करें जो केरल के एक प्रसिद्ध कवि की पुत्री थी। लेकिन मैंने अपनी भतीजी के बारे में जो प्रशस्ति-गान के० आर० के० मेनन को सुनाया और उसके संगीत-कौशल की प्रशंसा की तो वह तत्काल उस पर मुग्ध हो गया और उसने मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मेरे लिए यह अभ्यास बड़ा कारामद साबित हुआ क्योंकि अगले 20-25 वर्षों में मुझे न केवल अपनी पुत्रियों के वर ढूँढ़ने थे बल्कि अपने पुत्रों के लिए वधुओं की भी तलाश करनी थी। मैं यह मानता हूँ कि सिवाय अम्मिणी के जिसके मामले में हमें उन दोनों को राज़ी करने में थोड़ा-बहुत ज़ोर लगाना पड़ा वरना बाक़ी लड़कियों के विवाह बड़ी आसानी से तै हो गये थे। बाद में मुझे और अनुजी को अक्सर यह खयाल हुआ कि क्या ऐसे मामलों में जिनका संबंध लड़के और लड़की के भविष्य के साथ होता है माता-पिता का इतना जोर देना मुनासिब भी है या नहीं। लेकिन जब हमने देखा कि इस प्रकार की सभी शादियों का नतीजा अच्छा निकला है और वर-वधू बड़ा सुखी विवाहित जीवन बिता रहे हैं तो हमें अपने उस ज़ोर-दबाव पर कोई खेद नहीं हुआ। भारतीय समाज में अभी यह अवस्था नहीं आई थी कि पहली नज़र में ही लड़के और लड़की को एक दूसरे से प्रेम हो जाए और वह प्रेम स्थायी बन सके।

अक्तूबर में हम नथियागली से उतर कर नीचे मैदानों में आ गये। अब तक जिस चीज़ की कमी मैं महसूस करता रहा था और जिसका मुझे हर वक़्त ख़याल रहता था—यानी अन्य भारतीयों की संगति—वह कमी पेशावर आने के बाद पूरी हो गई। मैंने और अनुजी ने पठानों में अच्छे-ख़ासे लोगों से स्थायी मैत्री-संबंध बना लिये थे और उन मित्रों की अतिथि-परायणता से हम दोनों अक्सर बड़े प्रभावित होते थे। यह सही है कि पठानों की सम्मान संहिता का पहला अनुच्छेद अतिथि-सत्कार होता है और जिस प्रकार से तथा जिस पैमाने पर वे लोग अतिथि सत्कार करते हैं वह अद्वितीय है। हमारे इन पठान मित्रों में सबसे प्रमुख डॉ० ख़ान साहब थे जो तब तक प्रत्यक्षतः अपने भाई 'सीमान्त गांधी' या बाचा खाँ की राजनीति के प्रति उदासीन प्रतीत होते थे किन्तु साथ ही ऐसा लगता था मानो वे उपयुक्त समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं, कि कब वह घड़ी आये और कब वे भी उस आग में कूद पड़ें। हम साहबज़ादा अब्दुल क़य्यूम को भी जानते थे जो अन्य राजनीतिक अधिकारियों की ही भाँति बड़े सूझ-बूझ वाले व्यक्ति थे और अपने इन्हीं गुणों के कारण वे 1930 के आरंभ में पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के पहले मुख्य मंत्री बन गये थे। दूसरे दो और मित्र जिनसे बातचीत करके मुझे बड़ा आनंद आता था वे थे खानबहादुर कुली खाँ और ख़ानबहादुर मुग़लबाज़ खाँ। उन्होंने उस घटना का बड़ा स्पष्ट और सजीव चित्रण हमारे सामने किया था जबकि कुछ महीने पहले वे मिस एलिस की तलाश में निकले थे और बड़ी कोशिशों और दौड़-धूप के बाद उसे तलाश करके सुरक्षित वापस ले आये थे। मिस एलिस को अपनी माँ की, जो कर्नल एलिस की पत्नी थीं, निर्मम हत्या के उपरांत कोहाट छावनी के बीच बाज़ार में से अपहरण करके क़बाइली इलाके में पहुँचा दिया गया था। जहाँ तक अतिथि-सत्कार का संबंध है सीमाप्रांत के हिन्दू भी पठानों का बड़े उत्साह से अनुकरण किया करते थे। जब तक हमारे अपने मकान का कोई प्रबंध नहीं हो पाया था तब तक हम श्री मेहरचन्द खन्ना के ही यहाँ रहते थे। ऐसा लगता था कि श्री खन्ना आधे पेशावर के मालिक हैं। लेकिन भारत-विभाजन के बाद उनकी सारी जायदाद जाती रही और उन्हें उसका लेशमात्र भी रंज नहीं हुआ। कुछ अन्य मित्रों में एक रायबहादुर दीनानाथ थे जो गैरिसन इंजीनियर थे और जिनका रहन-सहन, वेश-भूषा तथा बातचीत का ढंग सब कुछ अंग्रेज़ों का-सा था और दूसरे सज्जन थे प्रोफ़ेसर दलाया जो एडवर्ड्स कॉलेज के प्रोफ़ेसर थे और जो वहाँ के सम्मानित व्यक्तियों में गिने जाते थे।

पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के चीफ़ कमिश्नर सर नॉर्मन बोल्टन थे जो वहाँ दूसरी बार चीफ़ कमिश्नर के रूप में कार्य कर रहे थे। लेकिन जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, दूसरी बार उस पद पर बने रहना उनके भाग्य में नहीं बदा था।

उनके सचिव ऑबरे मेटकाफ़ थे और उनसे तथा उनकी पत्नी से हमारी अच्छी दोस्ती थी। गवर्नमेण्ट हाउस में आयोजित एक सांध्य समारोह में जबकि बॉल नृत्य हो रहा था, मेटकाफ़ साहब ने अनुजी से पूछा, 'क्या आप कार्यक्रम की पाँचवीं मद में मेरे साथ नृत्य करना पसंद करेंगी ?' लेकिन अनुजी ने उत्तर दिया, 'क्षमा कीजिएगा, मैं नृत्य नहीं करती।' 'अच्छा तो फिर आप मेरी जोड़ी के रूप में मेरे साथ बैठ ही जाइए।' मेटकाफ़ साहब ने फिर पूछा। 'चलिये ठीक है।' अनुजी ने हामी भरते हुए अनिच्छा से कहा। जोड़ी के रूप में बैठने का तात्पर्य अनुजी समझ नहीं पाई थीं और न ही यह जानती थीं कि उसमें क्या करना होता है इसलिए वे मेरी राय लेने के लिए आईं। मैंने उन्हें बताया कि इसमें कोई ख़ास बात नहीं है और इसका सीधा-सच्चा मतलब यह है कि तुम दोनों किसी शांत कोने में बैठकर आपस में बातचीत करो जबकि दूसरे लोग नाचने में व्यस्त हों। लेकिन यह सब कुछ समझाने के बावजूद जब पाँचवें नृत्य की बारी आई तो अनुजी के हाथ-पैर फूल गये और वे वहाँ से ग़ायब हो गईं। जब कुछ मिनट बाद मेटकाफ़ साहब की नज़र उन पर पड़ी तो उन्होंने इतना ही कहा, 'अरे साहब मैं तो आप ही की तलाश कर रहा था। आप कहाँ ग़ायब हो गई थीं ?' और बस उसके बाद फिर कभी ऐसा अवसर नहीं आया जब अनुजी से नाचने या साथ बैठने के लिए अनुरोध किया जाता। लेकिन उस घटना के फलस्वरूप मेरे साथी अधिकारियों का अनुजी के प्रति आदर भाव किसी प्रकार कम नहीं हुआ, बल्कि उससे उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई क्योंकि स्वाभिमान बनाये रखने की क्षमता उनमें हमेशा मौजूद रहती थी।

पेशावर में अवर सचिव के पद पर रहते हुए जो हल्का-फुल्का काम मुझे करना पड़ा, वैसा काम मुझे जीवन में अन्यत्र कभी नहीं मिला। ऐसा वातावरण तैयार करने में मेटकाफ़ साहब की सज्जनता का ही हाथ था क्योंकि वे संसार के घोर परिश्रम करने वाले अफ़सरों में से नहीं थे बल्कि एक शरीफ़ आदमी थे। पेशावर में सर्दी का मौसम जितना सुखद होता था उतना संसार में और कहीं नहीं होता। हम सोमवार और बृहस्पतिवार को छोड़कर बाक़ी दिनों में सिर्फ़ सुबह के समय काम किया करते थे। इन दो दिनों में तो सुबह का काम भी देर से शुरू होता था क्योंकि अधिकारिगण पेशावर के शिकारी कुत्ते लेकर सवेरे ही शिकार को निकल जाते थे। तीसरे पहर का समय इतना सुखद होता था कि घरों के अंदर बैठकर उसे गुज़ार देना नादानी थी। वहाँ गॉल्फ़ का मैदान भी बड़ा शानदार था। वहाँ काम करने की जो क्रियाविधि अपनाई गई थी उसका कारण यह था कि सीमाप्रांत के प्रशासन के लिए सचिवालय से आदेश नहीं आते थे बल्कि जो भी अधिकारी जिस स्थान पर नियुक्त था वहाँ का कामकाज उसी के सुपुर्द

होता था और उस पर सचिवालय के अधिकारिगण विश्वास करते थे। और वहाँ जो लोग प्रशासन चलाते थे उनमें डिप्टी कमिश्नर और राजनीतिक एजेण्ट थे जो दोनों बड़े अनुभवी और सूझबूझ के मालिक थे। उन्हें सीमाप्रांत से अपार प्रेम था और यदि कोई बात उन्हें नापसंद थी तो यही कि मुख्यालय से उनके पास हिदायतें भेजी जाएँ।

लेकिन सचिवालय के सभी अधिकारी ऐसे नहीं थे जो सीमाप्रांत के प्रशासन में अहस्तक्षेप की नीति का पालन करते। जब मेटकाफ़ साहब के जाने के बाद कैरो साहब आये तो वहाँ हलचल-सी मच गई। इधर उनका आना हुआ, उधर सीमाप्रांत में जागरण की एक अभूतपूर्व लहर दौड़ गई। सीमाप्रांत अब तक भारत के अन्य प्रांतों में होने वाले परिवर्तनों से सर्वथा मुक्त रहा था। ज़िला अधिकारी के रूप में कैरो साहब 16-16 घण्टे काम करने के आदी हो चुके थे और यहाँ के सचिवालय में भी उन्होंने कठोर परिश्रम तथा निष्ठापूर्वक कार्य करने का वातावरण तैयार कर दिया था। उनमें काम करने का एक अदम्य उत्साह था और वे निष्क्रियता या जड़ता के घोर विरोधी थे। वास्तव में देखा जाए तो उनका विचार था कि पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के उपद्रवकारी तत्त्व सुप्तावस्था में नहीं थे बलिक वे सोने का केवल बहाना किये रहते थे और यदि शासक आरामतलब या आलसी हों तो वही तत्त्व उन पर टूट पड़ेंगे। इसलिए 'हमेशा सतर्क रहो' ही कैरो साहब का मूलमंत्र था। सीमाप्रांत के कामकाज के लिए उन्होंने अपने को समर्पित कर दिया था और उनकी महत्त्वाकांक्षा उस प्रांत के सर्वोच्च पद पर आसीन होने की थी जिसके लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न भी किया था। लेकिन जब उनकी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति का समय आया तो स्थिति बिल्कुल बदल चुकी थी। भारत स्वाधीनता के द्वार पर खड़ा था और विभाजन के आसन्न संकट से पीड़ित था। इसके अलावा पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में यह देखने के लिए जनमत संग्रह होने वाला था कि वहाँ के लोग भारत के साथ विलय चाहते हैं या पाकिस्तान से। वहाँ के मुख्य मंत्री ख़ान साहब किसी ऐसे व्यक्ति को तरजीह देना चाहते थे जो कैरो साहब की अपेक्षा तत्कालीन राजनीति से कम दिलचस्पी रखता हो, इसलिए उन्होंने सर जॉर्ज कनिघंम को—जो उसी प्रांत के गवर्नर रह चुके थे—पाकिस्तान-शासित पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के पहले गवर्नर के रूप में नियुक्त किया। सीमाप्रांत में कैरो साहब की दिलचस्पी सेवा-निवृत्ति के बाद भी बनी रही, यहाँ तक कि उन्होंने उस प्रांत के बारे में एक बड़ी प्रशंसनीय पुस्तक **द पठान्स** भी लिखी।

पेशावर में जिन चीजों में मुझे आनंद आता था उनमें एक ख़ैबर दर्रे की

चढ़ाई भी थी। खैबर रेलवे लाइन—जो इंजीनियरी का एक श्रेष्ठ नमूना थी—अभी-अभी पूरी हुई थी। लेकिन हम आम तौर पर सड़क से ही जाया करते थे इसलिए कि घाटी से गुज़रकर फिर उसमें दाखिल होते और फिर उसमें से गुजरते समय प्राचीन काल के यानी सदियों पुराने क़ाफ़िलों के पेचदार रास्तों का दृश्य हमारे सामने उपस्थित हो जाता था। अब भी हर शुक्रवार को लगभग सौ ऊँटों का क़ाफ़िला दिखाई दे जाता था जिसमें हर ऊँट की नकेल आगे वाले ऊँट की पूँछ से बँधी रहती थी और उनकी पीठ पर अफ़ग़ानिस्तान, बुखारा और समरक़न्द का व्यापारिक माल लदा होता था जिसे वे उत्तर भारत के समृद्ध व्यापार-केन्द्रों की ओर लाया करते थे। पेशावर छावनी के आसपास काँटेदार अहाते से गुज़रने के बाद ही थोड़ी दूर पर खैबर दर्रे का घुमावदार रास्ता दिखाई देने लगता है। दर्रे के प्रवेश द्वार पर ही, जो कि पेशावर से दस मील की दूरी पर है, जमरूद का क़िला स्थित है। उसके दायीं ओर सिख सेनाध्यक्ष हरिसिंह की सफ़ेद समाधि बनी हुई है जिसे उसकी पूरी सेना के साथ 40 हज़ार आफ़रीदियों के दल ने नष्ट कर दिया था। सिखों ने सीमाप्रांत पर बड़ी क्रूरता के साथ शासन किया था और हरिसिंह ने क़बाइलियों के दिलों पर ऐसा आतंक जमा दिया था कि आज भी पठान माँएँ अपने नटखट बच्चों को यह कहकर डराती-धमकाती हैं कि 'हरिसिंह राज़ी' (वह देखो हरिसिंह आया)। सिखों ने एक और निर्मम अधिकारी जनरल एविटाबील को नियुक्त किया था जो इटली का रहने वाला था। वह पेशावर के गवर्नर की हैसियत से मलिकों को इस शर्त पर ज़मीनें पट्टे पर दिया करता था कि वे हर साल सौ आफ़रीदियों के सिर काटकर उसे पेश किया करें। एक बार जब मैं बाज़ के शिकार के लिए एक गाँव में गया तो वहाँ के मलिक ने मुझे पट्टे की मूल दस्तावेज़ भी दिखाई थी।

इन विक्षोभकारी और आतंकमयी स्मृतियों को मस्तिष्क में लिये हम जमरूद के क़िले से आगे बढ़कर आफ़रीदी इलाक़े में दाखिल हुए। हमने वहाँ एक अधिसूचना देखी जिसके अनुसार हमें किसी भी स्थिति में सड़क से नीचे क़दम नहीं रखना चाहिए था। इसका मतलब यह था कि अब हम ब्रिटिश-शासित क्षेत्र में नहीं बल्कि क़बाइली या स्वतंत्र क्षेत्र में पहुँच गये थे। वहाँ न तो कोई क़ानून थे, न अदालतें या कॉलेज थे और न मजिस्ट्रेट और पुलिस वाले ही थे। वहाँ तो एक मात्र यही क़ानून प्रचलित था कि आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत। खैबर सड़क खतरनाक मोड़ों और सँकरे घुमावों में से होकर शगाई के क़िले की ओर जाती थी जो हाल ही में बनकर पूरा हुआ था। शगाई की इन्हीं ऊँचाइयों पर पहुँच कर मध्य एशिया के आक्रांताओं ने दम लिया होगा और 'अल्लाहो अकबर' का नारा लगाया होगा। यहीं से दुर्गम मार्गों में से गुजर कर जहाँ घास

का तिनका भी न उगता था, महीनों तक खतरनाक यात्रा करने के बाद उन्हें अचानक सामने ही पेशावर की हरी-भरी, उपजाऊ और सुंदर घाटी दिखाई दी होगी जहाँ से बढ़कर उन्हें भारत के और भी हरे-भरे, अधिक ऊपजाऊ और सुंदर मैदान देखने को मिले होंगे। शगाई के क़िले से सड़क सीधे नीचे की ओर दर्रे के सबसे अधिक संकीर्ण भाग अली मस्जिद गार्ज में पहुँचती थी। यहाँ से जो ऊँचाई शुरू होती थी वह लंदी कोतल पर समाप्त होकर फिर एकदम लंदी खाना तक, जो कि आखिरी छावनी थी, सीधी नीचे को चली जाती थी। वहाँ पर एक ओर एक भारतीय प्रहरी और दूसरी ओर अफ़ग़ान संतरी बैठा हुआ दिखाई देता था। वहाँ हमें इधर-उधर कुछ आफ़रीदी मकान भी दिखाई पड़े। हर मकान एक क़िला लगता था जिसके बीच में एक मीनार होता था। इस मीनार में कोई भी आदमी अपने पुश्तैनी दुश्मन के डर से कई-कई दिन तक छिपा रह सकता था। वह दुश्मन वही होता था जो किसी पारिवारिक झगड़े का बदला लेना चाहता था और बदले की यही प्रथा क़बाइली न्याय का मूर्त रूप थी। हमने कुछ सरहदी चौकियाँ भी देखीं जो पहाड़ियों पर बनी हुई थीं और जिनके ऊपर से हमला करने वाले किसी भी गिरोह को आसानी से पहचाना जा सकता था। इन चौकियों पर जो जवान तैनात थे उन्हें खासेदार कहा जाता था। ये लोग एक प्रकार की क़बाइली पुलिस के सदस्य होते थे जो अनियमित और अस्थायी थी और सड़क की सुरक्षा बनाये रखने के लिए स्थापित की गई थी। इन आधुनिक संस्थाओं पर विचार करते हुए सहसा हमारा ध्यान लंदी कोतल के समीप एक टीले पर बने बौद्ध स्तूप की ओर गया जो अनायास 2000 वर्ष पहले के युग की याद दिलाता था। खैबर दर्रा वास्तव में भारतीय इतिहास का एक सूक्ष्म रूप है।

पिछले ज़माने में सीमाप्रांत एक ऐसा प्रदेश था जहाँ के प्रशासन का काम चुने हुए साहसी और निर्भीक लोगों को सौंपा जाता और उन्हें यह आज़ादी दी जाती थी कि वे जनता की आलोचना की चिंता किये बिना वहाँ का प्रशासन मनमाने ढंग से चलाते रहें। सीमाप्रांत में तो ऐसे जनमत का कोई अस्तित्व ही न था जिसकी चिंता की जाती और भारत में भी सीमाप्रांत की समस्या में लोगों ने अधिक रुचि लेना शुरू नहीं किया था। लेकिन अब यह उदासीनता का रवैया धीरे-धीरे बदलने लगा था। सीमाप्रांत के समाचारपत्रों और विधान सभा में भारत सरकार की सीमाप्रांतीय नीति की आलोचना होने लगी थी। कुछ आलोचकों का कहना था कि सरकार कोई ठीक काम कर ही नहीं सकी और उसकी सरहद से संबंधित नीति में सिवाय इसके कि पैसा नष्ट हो रहा है, फ़िज़ूलखर्ची

की जा रही है या अमानुषिक अत्याचार हो रहे हैं और कुछ किया ही नहीं जा रहा। अनेक गाँवों पर सामूहिक जुर्माने लगाने तथा कुछ मामलों में उन पर बमबारी करने की नीति की घोर निन्दा की गई। भारतीय जनमत ने इस बात पर आपत्ति प्रकट की कि अंतर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में ब्रिटेन और फ्रांस ने इस आधार पर बमबारी समाप्त करने का विरोध किया था कि उनके साम्राज्य विश्व भर में फैले हुए हैं और उनकी यह ज़िम्मेदारी है कि अपने साम्राज्यों की रक्षा करें। इसलिए साम्राज्य की सीमा से घिरे हुए कुछ इलाक़ों पर बमबारी ही विद्रोहियों को दण्डित करने का एक मात्र मानवीय उपाय है। भारतीय प्रतिनिधियों ने यह प्रश्न भी पूछा था कि आखिर ये सीमा से घिरे हुए इलाक़े पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के अलावा दूसरे और कौन से हो सकते हैं? कुछ भारतीयों ने तो यह सुझाव भी दिया था कि सीमाप्रांत के जिन क्षेत्रों में प्रशासन है ही नहीं उनकी स्थिति को इसलिए अनिश्चित और अस्पष्ट बनाया जा रहा है कि ब्रिटिश सैनिकों को चाँदमारी करने का मौक़ा मिलता रहे।

भारत सरकार के प्रवक्ताओं ने इन आरोपों का खण्डन बड़े उत्साह के साथ किया। सरकार ने भारतीय विधान मंडल के कुछ प्रतिनिधियों के एक शिष्टमंडल को आमंत्रित किया कि वह सीमाप्रांत जाकर अपने आप वहाँ की स्थिति की जाँच-पड़ताल करें। जिस समय यह शिष्टमंडल पेशावर आया, मैं वहीं पर था। मुझे अब केवल दो ही सदस्य ऐसे याद हैं जो संसार के किसी भी भाग के मनुष्यों की पंक्ति में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप छोड़ते; ये थे मोतीलाल नेहरू और अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ। मोतीलाल नेहरू का-सा भव्य व्यक्तित्व मुझे बहुत कम लोगों में देखने को मिला है। उनकी मुखाकृति, आचार-व्यवहार, चाल-ढाल, बातचीत का ढंग और उनकी हर गतिविधि से ज़ाहिर होता था कि वे भारत की हज़ारों वर्ष प्राचीन हिन्दू सभ्यता की देन थे। उनकी यह सभ्यता कुछ सौ वर्षों तक मुस्लिम प्रभाव भी ग्रहण कर चुकी थी। इस मिलीजुली संस्कृति का अंतिम आश्रय उत्तर प्रदेश की धरती थी और मोतीलाल नेहरू उसी संस्कृति-उद्यान के श्रेष्ठतम प्रसून थे।

लेकिन अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ का व्यक्तित्व उनसे सर्वथा भिन्न था। उनका क़द छह फुट से भी ऊँचा था और वे अपने साथियों में सभी से ऊपर दिखाई देते थे। यदि मोतीलाल नेहरू श्रेष्ठ भारतीय संस्कृति की उपज थे तो अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ अपने सशक्त सीमाप्रांत के सच्चे सपूत थे। लेकिन असंस्कृत पठानों का यही अक्खड़ प्रतिनिधि महात्मा गाँधी के मानवतावादी विचारों से इतना प्रभावित हो चुका था कि लोग उसे सीमांत गाँधी कहने लगे थे। उन्होंने 'ख़ुदाई खिदमतगार' नामक एक संस्था भी संगठित की थी जो आम तौर पर 'सुर्ख पोश' कहलाती थी

और उस संस्था ने यह प्रण किया था कि सीमाप्रांत की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का समाधान महात्मा गाँधी की शिक्षाओं के अनुसार ही किया जायेगा।

1929 में लाल कुर्ती वालों ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का अभियान शुरू किया। शाही कमीशन की नियुक्ति इस उद्देश्य से की गई थी कि वह भारत के स्वशासन की ओर अग्रसर होने के लिए और उपाय सुझाये। इस कमीशन में सात अंग्रेज़ सदस्य थे और इसके अध्यक्ष सर जॉन साइमन थे। इस कमीशन का कांग्रेस और अन्य राजनीतिक दलों ने घोर विरोध किया क्योंकि इसमें सभी अंग्रेज थे और वे ही इस बात का निर्णय करने वाले थे कि भारत स्वशासन के योग्य है या नहीं। इसके बाद भारत सरकार ने जनमत को शांत करने के लिए कमीशन की नियुक्ति के साथ-साथ एक भारतीय केन्द्रीय समिति भी नियुक्त कर दी जिसमें सात सदस्य थे। इस समिति की भी वही ज़िम्मेदारियाँ थीं जो कमीशन को दी गई थीं। सर शंकरन नायर ने, जो जनमत का भी वैसा ही डटकर विरोध करते थे जैसा सरकार का, इस समिति का अध्यक्ष होना स्वीकार कर लिया। इसलिए पेशावर पहुँचते ही उन्होंने निजी रूप से अफ़ग़ानिस्तान जाने की इच्छा प्रकट की और चीफ़ कमिश्नर ने इस सिलसिले में ज़रूरी व्यवस्था भी कर दी। मैं और अनुजी दोनों उनके साथ जाने वाले थे। हमारे पासपोर्ट और वीज़ा भी तैयार थे, बस हमें किसी भी दिन वहाँ से चल पड़ना था। लेकिन रवानगी के एक दिन पहले काबुल-स्थित ब्रिटिश राजदूत सर फ्रांसिस हंफ़री का एक तार आ पहुँचा जिसमें लिखा था कि यहाँ कुछ क़बीले उपद्रव कर रहे हैं इसलिए अच्छा हो कि आप अपनी यात्रा स्थगित करदें। यह उपद्रव वास्तव में उस क्रांति की पूर्वपीठिका था जिसने शाह अमानुल्लाह को अफ़ग़ानिस्तान की राजगद्दी से वंचित कर दिया था।

पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के अधिकारी शाह अमानुल्लाह से प्रसन्न नहीं थे क्योंकि शाह ने 1919 में ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दी थी और उनसे अपने देश को स्वतंत्र कराया था। तभी से वह ऐसी नीति अपना रहा था जिसे आज की शब्दावली में 'विध्यात्मक तटस्थता' कहा जा सकता है। मल्का सुरैया को लेकर शाह अमानउल्लाह ने यूरोपीय देशों की राजधानियों का पर्यटन किया जिसके दौरान उनका जो आदर-सत्कार और आतिथ्य मास्को में किया गया वही लंदन में भी हुआ। जब वे अफ़ग़ानिस्तान से वापस आये तो एक उत्साही सुधारक बन चुके थे। देश को आधुनिक बनाने के लिए उनके मन में अनेक नये-नये विचार भरे हुए थे। वे तुर्की के मुस्तफ़ा कमाल पाशा का अनुकरण करना चाहते थे लेकिन वे इस तथ्य को भुला बैठे कि तुर्की का यूरोप से सदियों

पुराना संबंध था जबकि अफ़ग़ानिस्तान अब भी कई बातों में बहुत पिछड़ा हुआ था। क़बाइली नेताओं के लिए यह बात असह्य थी कि स्त्रियाँ फ्रॉक कोट पहनें या पुरुष हैट पहनकर निकलें और एक उग्रस्वभाव तरुण राजा उन्हें सीख देता फिरे; न ही मज़हबी मुल्लाओं को यह बात पसंद आई कि मल्का सुरैया पेरिस के ऐसे महीन कपड़े पहनें जिसमें उनका शरीर दिखाई देता हो। राजनीतिक असंतोष बढ़ता गया और उस घोर असंतोष को आंदोलन का रूप देने वाला नेता एक भिश्ती का छोकरा बच्चा सक़्क़ा सामने आया। उसने विद्रोह का झंडा ऊँचा किया और अमानउल्लाह के चाचा नादिर ख़ाँ ने अफ़ग़ानिस्तान में प्रवेश करके बच्चा सक़्क़ा को—जिसने ख़ुद को अफ़ग़ानिस्तान का अमीर घोषित कर दिया था—परास्त किया और वर्तमान राजवंश की बुनियाद डाली। हम सीमाप्रांत में रहते हुए इन सारी घटनाओं का बड़ी दिलचस्पी से अवलोकन कर रहे थे। अमानउल्लाह का पलायन और नादिरशाह का प्रवेश दोनों भारतीय क्षेत्र के माध्यम से हुए थे और हम लोगों ने इन अवसरों पर बड़ी सतर्कता तथा गोपनीयता के साथ विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था की थी।

अब हम फिर साइमन कमीशन की ओर आते हैं। कमीशन जब पेशावर में दाख़िल हुआ तो उसके विरुद्ध हुए प्रदर्शन में और स्थानों की अपेक्षा काले झंडों की संख्या कम थी। कमीशन भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक हो आया था जहाँ वह जनता के प्रतिनिधियों से मिलता, उनसे बातचीत करता, उनकी राय लेता था और उन सब लोगों की राय एकत्रित करके उसने एक रिपोर्ट भी तैयार करली थी जिस पर सर जॉन साइमन के व्यक्तित्व की विशिष्ट छाप थी। चर्चिल ने एक बार कहा था कि साइमन इतनी देर तक किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति में रहे कि निष्ठुरता उनकी आत्मा में समा गई। वे निस्संदेह बड़े मेधावी थे, लेकिन सहानुभूति, कल्पना शक्ति और दूरदर्शिता का उनमें अभाव था। इन्हीं गुणों की कमी के कारण उनकी गणना इंग्लैण्ड के निकृष्टतम विदेश मंत्रियों में की जाती थी। लेकिन 1956 के स्वेज़ नहर के झगड़े ने उनकी इस उपाधि को, जिस पर अब तक उन्हीं का एकाधिकार था, विवादास्पद बना दिया था। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में भारत की तत्कालीन स्थिति का बड़ा कुशल विश्लेषण प्रस्तुत किया गया था लेकिन उसकी सिफ़ारिशों में उसके प्रस्तुतकर्त्ता की कठोर हृदयता की गंध आती थी। परिणाम यह हुआ कि वह रिपोर्ट निष्फल सिद्ध हुई और प्रकाशित होते ही बेकार हो गई। उसके फ़ौरन बाद असहयोग, सविनय अवज्ञा, दमन और गोलमेज़ सम्मेलनों का दुश्चक्र प्रारंभ हो गया।

पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के बारे में साइमन कमीशन की सिफ़ारिशें प्रायः पूर्णतः नकारी थीं। कमीशन इस बात को समझने में असफल रहा कि 1930 का

सीमाप्रांत किपलिंग के 1900 के कल्पित सीमाप्रांत से भिन्न था। यद्यपि प्रशासित क्षेत्रों की ऊपरी सतह शांत और स्थिर थी किन्तु उनके नीचे विप्लव की अंतर्धारा प्रवाहित थी। कमीशन ने उस अंतर्धारा की उपेक्षा करते हुए यह सिफ़ारिश की कि पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की सरकार में किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जाए। अन्य प्रांतों में प्रांतीय स्वायत्तता दी जाने वाली थी, लेकिन पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत को उससे भी वंचित रखा गया था। किन्तु कुछ ही समय बाद भारत सरकार को उस प्रांत में द्वैध शासन लागू करने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसके अनुसार कुछ विषय लोकप्रिय मंत्रियों को सौंप दिये गये, एक मुख्य मंत्री नियुक्त किया गया और चीफ़ कमिश्नर के पद को संवैधानिक गवर्नर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। यह सब जन आंदोलन का परिणाम था जिसने पेशावर शहर में भयानक विद्रोह की ज्वाला भड़का दी थी। इसके बाद हमें एक असाधारण दृश्य देखने को मिला। वही पठान जो सदियों से हिंसा के वातावरण में पले-बढ़े थे। उस समय सीमांत गांधी से प्रभावित होकर अपने वक्ष खोले सेना के सामने खड़े थे और भारतीय सैनिकों ने देश पर बलि चढ़ने वाले सीमाप्रांत के उन सपूतों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया था और कोर्ट मार्शल के लिए तैयार हो गये थे।

इस प्रकार लाल कुर्ती वालों ने अमली तौर पर यह कर दिखाया था कि वे गाँधीवादी भेड़ों के वेश में भी पठान भेड़ियों से अधिक ख़तरनाक साबित हो सकते हैं। यह ऐसी विकट स्थिति थी कि जिसका सामना करना चीफ़ कमिश्नर सर नॉर्मन बोल्टन ने सीखा ही न था। कहा जाता है कि उन पर दिल का दौरा पड़ा और फ़ौरन ही उनका बिस्तरा-बोरिया बँध गया और उन्हें इंग्लैण्ड भेज दिया गया। उनसे छोटे लेकिन सुयोग्य अधिकारियों—जैसे सर राल्फ़ ग्रिफ़िथ और सर ओलेफ़ कैरो—ने उस नाज़ुक स्थिति पर क़ाबू पाया और 'विद्रोह' को कुचल दिया। लेकिन केन्द्रीय सरकार पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत को यों ही त्रिशंकु की-सी स्थिति में नहीं छोड़ सकती थी लिहाज़ा अब वह ऐसी सुधार-कार्रवाई करने के लिए बाध्य हुई जिसकी साइमन कमीशन ने कल्पना भी न की थी।

इन नाटकीय घटनाओं का मैं प्रत्यक्ष दर्शक नहीं रहा था क्योंकि इनके कुछ मास पहले ही मेरा तबादला श्रीलंका को हो गया था। रास्ते में मेरी भेंट बंबई में श्रीमती सरोजिनी नायडू से हुई और हममें बड़ी दिलचस्प बातचीत हुई। एक बार पहले भी 1921 में मेरी उनसे मुलाक़ात स्वानविक में भारतीय विद्यार्थी सम्मेलन में हो चुकी थी। मैं वहीं उन पर मोहित हो गया था और मेरा खयाल है

वे भी मुझे पसंद करती थीं। एक बहुरूप-प्रतियोगिता में उन्होंने मुझे अपनी साड़ी पहनाई थी। उसके बाद उन्होंने ऑक्सफ़ोर्ड मजलिस में भाषण दिया था जिसकी मैंने अध्यक्षता की थी। उनका भाषण तो मुझे याद नहीं रहा लेकिन इतना याद है कि उसकी शैली काव्यात्मक थी। इसके विपरीत मैंने उनका वह भाषण भी सुना जो उन्होंने लंदन में स्वाधीन अफ़ग़ानिस्तान के पहले राजदूत के सम्मान में ऑक्सफ़ोर्ड मजलिस द्वारा आयोजित भोज के अवसर पर दिया था। उस भाषण में काव्यात्मकता से अधिक वाग्मिता थी। बाद में मैं उनसे हैदराबाद में उनके सुंदर बँगले 'गोल्डन थ्रेशहोल्ड' में जाकर मिलता रहता था और वहाँ मैं उनके पति मेजर-जनरल नायडू के साथ अक्सर ब्रिज भी खेला करता था।

पेशावर से कोलंबो जाते हुए मेरी मुलाक़ात श्रीमती नायडू से बंबई के ताजमहल होटल में उनके फ़्लैट में हुई। उनकी बातें बड़ी सरस और सुखद होती थीं। उन्होंने कविता का परित्याग करके राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया था लेकिन चाहे कैसी ही तनावपूर्ण स्थिति क्यों न हो वे अपनी विनोदशीलता नहीं छोड़ती थीं। वही एक मात्र महिला थीं जो महात्मा गाँधी के प्रति भी श्रद्धाहीन शब्दों का प्रयोग कर सकती थीं, वे उन्हें 'मिकी माउस' कहा करती थीं। एक बार उन्होंने गाँधीजी से यहाँ तक कह दिया था कि आपको शायद इस बात का एहसास नहीं है कि आपको दरिद्र बनाए रखने के लिए राष्ट्र को क्या क़ीमत अदा करनी पड़ती है। कभी-कभी उनका मज़ाक़ शिष्टता की सीमाओं को भी लाँघ जाता था। जिस समय राजाजी बंगाल के गवर्नर थे वे श्रीमती नायडू को राजभवन दिखाने के लिए ले गये। वे उन्हें अपने विशाल शयनकक्ष में ले गये और अपना विशाल पलंग दिखाते हुए उनसे पूछा, 'भला तुम्हीं बताओ मुझ जैसे सत्तर वर्षीय विधुर के लिए यह सब ऐश्वर्य-सामग्री किस काम की है?' श्रीमती नायडू ने तत्काल उत्तर दिया, 'देखिए साहब मैं और मौक़ों पर तो आपकी सहायता करती रही हूँ, लेकिन क्षमा करें इस मौक़े पर मैं आपके काम नहीं आ सकती।'

श्रीमती नायडू न केवल स्वयं बड़ी दिलचस्प बातें करती थीं बल्कि दूसरों को बोलने के लिए प्रोत्साहित भी करती थीं। जब मेरी उनसे बंबई में मुलाक़ात हुई तो उन्होंने मुझे भी इस बात का मौक़ा दिया कि मैं सीमाप्रांत के जीवन और वहाँ के हंगामों के बारे में उन्हें बताऊँ। उसके बाद जब अगली बार मैं उनसे मिला तो उन्होंने बताया कि जो कुछ मैंने उन्हें सुनाया था उससे वे इतनी उल्लसित हुईं कि हमारी बातचीत के फ़ौरन बाद ही जब वे स्नान करने लगीं तो सहसा एक पूरी कविता उनके मस्तिष्क में अवतरित हुई और उन्होंने उसे फ़ौरन लिख भी लिया। उन्होंने उस कविता का समर्पण इन शब्दों में किया, 'के० पी० एस० के लिए स्नानागार से'।

आफ़रीदी गीत

भेड़िये हम पर्वतों के
बाज़ कोह कछारों के
हम जीते हैं और मरते हैं
अल्लाह के इशारों से।

माँगते हम क़िस्मत से
अपने लिए दुआएं दो
चाहने को एक हसीना
और नफ़रत के दुश्मन हो।

ख़तरों के हम बच्चे हैं
मौत हमें बहलाती है
हर साँस नई लड़ाई की
मदमाती गंध लाती है।

लेकिन धुँधलकी शाम को
संघर्ष का जब अंत होता
आन होती तुष्ट मन में
द्वेष का न पंक होता।

चौकियों में पहुँच ऊपर
प्यार भरे गीत गाते
भाव भरी कथाओं में
व्यथा दिन की भूल जाते।

महक भरी रात की
मीठी कल्पनाओं में
ख़ामोश डूब जाते
दो चाँदों की बाँहों में।

चुंबनों के तंबू में
पर्दे में प्यार के
शृङ्गार करते वीरता का
रमणी के दुलार से।

भेड़िये हम पर्वतों के
बाज़ कोह कछारों के
हम जीते हैं और मरते हैं
अल्लाह के इशारों से।

श्रीलंका

०○

1929 के मध्य में भारत सरकार ने सर नॉर्मन बोल्टन से कहा कि वे लगभग 10-12 वर्ष की वरिष्ठ सेवा के किसी ऐसे अधिकारी की सिफ़ारिश करें जो 1931 में पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में होने वाली जनगणना की व्यवस्था कर सके। सर नॉर्मन ने मेरे नाम की सिफ़ारिश की और साथ ही यह भी लिख दिया कि इनकी सेवा यद्यपि केवल 6 वर्ष की है लेकिन इनमें वे सभी अपेक्षित योग्यताएँ मौजूद हैं और साथ ही इनमें 'साहित्यिक रुचि' भी है। उसी समय भारत सरकार के उस विभाग ने, जो भारत से बाहर रहने वाले भारतवासियों से संबद्ध था श्रीलंका में भारत सरकार के एजेंट के रूप में मेरी सेवाएँ माँगीं। मुझे चूंकि सीमाप्रांत से लगाव-सा हो गया था इसलिए मैं वहीं रहना पसंद करता लेकिन मुझे पता चला कि श्रीलंका में मेरा वेतन 1750 रुपये मासिक हो जायेगा जबकि सीमाप्रांत में मुझे तब तक 1150 रुपये ही मिलते थे। हमारा परिवार बढ़ रहा था क्योंकि हम जहाँ-जहाँ रहे वहाँ की यादगार के तौर पर एक या दो बच्चे होते रहे। अम्मिणी त्रिच्चिनाप्पल्ली में पैदा हुई थी और कुंजा तिरुप्पत्तुर में, हमारी जुड़वाँ पुत्रियाँ मालती और मालिनी हैदराबाद में जन्मी थीं और अब हमारे जुड़वाँ पुत्र कुमार और शंकर पेशावर में उत्पन्न हुए थे। इसलिए जिस व्यक्ति की छह वर्षीय सेवा के दौरान छह बच्चे पैदा हो गये हों उसके लिए 600 रुपये की वृद्धि साधारण बात नहीं थी। अतः हम श्रीलंका के लिए रुख़सत हो गये।

लेकिन पेशावर के सिटी मजिस्ट्रेट हरबर्ट टॉमसन ने हमें बताया कि मेरे तबादले का वास्तविक कारण यह था कि वहाँ की सैनिक शक्ति हमारे वर्धमान परिवार की रक्षा के लिए समर्थ नहीं थी। लेकिन जब कुछ दिन बाद उनके भी जुड़वाँ बच्चे पैदा हुए तो मेरी भी उन पर हँसने की बारी आई। वे उस समय पेशावर में ज़िला न्यायाधीश के पद पर काम कर रहे थे जिस पर पहले मैं भी कुछ दिन रह चुका था। संयोगवश हमारा पूर्ववर्ती ज़िला न्यायाधीश कीली भी जुड़वाँ बच्चों का बाप था, यहाँ तक कि मुँहफट पठानों ने यह कहना शुरू कर दिया कि ज़िला न्यायाधीश की कुर्सी में यह करामात है कि जो इस पर बैठता है उसमें सन्तानोत्पत्ति की क्षमता बढ़ जाती है। विदेश तथा राजनीति विभाग के एक और अधिकारी सर डेनिस ब्रे भी, जो भारत सरकार के विदेश मंत्री थे,

जुड़वाँ बच्चों के बाप थे । उनकी 1910 की बलूचिस्तान की जनगणना की रिपोर्ट आज भी एक साहित्यिक कृति मानी जाती है क्योंकि उसमें नीरस आँकड़ों के साथ-साथ हल्के से परिहास का भी पुट था । वे मुझसे और हरबर्ट टॉमसन से अधिक चालाक थे क्योंकि उन्होंने जुड़वाँ बच्चों का बीमा करा लिया था और उनके जन्म के बाद उन्हें अच्छी खासी रक़म मिल गई थी ।

पेशावर से हम श्रीलंका के लिए रेल से रवाना हुए । हमारी यात्रा बड़ी विचित्र रही । लाहौर में एक टिकट कलक्टर हमारे डिब्बे में आया और उसने देखा कि हम थे तो आठ यात्री लेकिन टिकट हमारे पास तीन ही थे । वह यह समझा कि मैं रेलवे वालों को धोखा दे रहा हूँ । वास्तव में हमें तीन टिकटों ही की ज़रूरत थी क्योंकि हमारे बच्चों में चार जुड़वाँ बच्चे तीन वर्ष से कम उम्र के थे जिनके लिए टिकट की ज़रूरत थी ही नहीं और दूसरे दो चूँकि 12 साल से कम उम्र के थे इसलिए उनके आधे-आधे टिकट हमारे पास थे । हर दो बच्चों की एक आया थी लेकिन उन सबकी निगरानी नानी अम्मा के ज़िम्मे थी ।

नानी अम्मा जिसकी उम्र 94 वर्ष है तीन पीढ़ियों से हमारे परिवार की सेवा कर रही हैं । वे शुरू में अनुजी की माँ के साथ खेला करती थीं और जब अनुजी का विवाह हो गया तो वे हमारे साथ आ गईं और हमारे बच्चों की देख-भाल करने लगीं । जब 1943 में हम चीन गये तो उन्हें यहीं छोड़ना पड़ा, लेकिन यहाँ भी वे हमारे पोतों-नातियों की देखभाल करती रहीं । हमारे बच्चों और पोतों-नातियों से उन्हें बड़ा लगाव था क्योंकि उनकी अपनी कोई संतान नहीं थी । जब हम तिरुप्पत्तुर में थे तो एक दिन क्या हुआ कि साठे दंपति के यहाँ से डिनर से लौटने के बाद अनुजी क्या देखती हैं कि नानी अम्मा अम्मिणी को अपना दूध पिलाकर उसे सुलाने की कोशिश कर रही हैं । ऐसा करके शायद वे अपने मातृत्व के अभाव की पूर्ति कर रही थीं । और जब अनुजी ने उन्हें बुरी तरह डाँटा तो मुझे बड़ा दुःख हुआ ।

हम नानी अम्मा को अधोलोक की महारानी कहा करते थे । अपनी निष्ठा-पूर्ण सेवा से ही उन्होंने स्वयं को सभी नौकरों का सरदार बना लिया था । उस सुख-समृद्धि के युग में लोगों के यहाँ नौकरों-चाकरों की कैसी पलटन हुआ करती थी । हमारे घरेलू नौकरों में एक रसोइया, एक बेरा, एक नायब बेरा, एक ड्रायवर, एक मेहतर, एक चौकीदार एक माली और जहाँ आवश्यक हुआ एक भिश्ती, एक पंखा चलानेवाला और चार रिक्शा वाले हुआ करते थे । नानी अम्मा के सामने वे सबके सब काँपते थे । घर में वही सबसे पहले उठती थीं और वही सबके बाद सोया करती थी । सारे दिन वे एक-एक नौकर के काम-काज पर नज़र रखती थीं । मसलन अगर ड्राइंग रूम में रखे सिगरेट केस में से एक सिगरेट भी

गुम हुआ है तो उन्हें तत्काल पता चल जाता था और वे झट से चोर को पकड़ लेती थीं। यदि व्हिस्की का एक ग्लास भी नौकरों में से किसी ने पी लिया है तो नानी अम्मा मिनटों-सेकंडों में अपराधी का पता लगा लेती थीं। लेकिन इस सख़्ती के बावजूद दूसरे नौकर उनका आदर करते थे और उन्हें चाहते भी थे। यहाँ तक कि हमारे पठान मुलाज़िम भी नानी अम्मा की हेकड़ी के आगे हथियार डाल देते थे। एक दिन उनको बिच्छू ने काट लिया। वे दर्द से तड़पने लगीं और कोई आधी रात गये मैं उन्हें देखने गया। मैंने देखा कि आकाश में तारे चमक रहे हैं और वे आँगन के बीचों-बीच लेटी हैं और नौकर एक घेरा-सा बनाये उनके इर्द-गिर्द बैठे उनसे हमदर्दी प्रकट कर रहे हैं और उनका दिल बहलाने के लिए क़िस्से-कहानियाँ सुना रहे हैं।

नानी अम्मा सारे भारत में हमारे साथ घूमी थीं। हमारे साथ वे बड़ी सुखी रहती थीं। अगर उन्हें कोई चीज़ नापसंद थी तो वह था ब्लाउज़ जो उन्होंने मलाबार में कभी न पहना था। शुरू-शुरू में तो उन्होंने बड़ी ज़िद की और उसे पहनने से इन्कार कर दिया लेकिन जब हमने उन्हें डराया-धमकाया और कहा अगर तुम ब्लाउज़ नहीं पहनोगी तो हम तुम्हें अपने साथ सीमाप्रांत नहीं ले जायेंगे, तो वे कुछ नरम पड़ीं और आख़िर में मान गईं। लेकिन जब कभी हम छुट्टी में मलाबार जाते और ज्योंही हम पश्चिमी घाट पार करके पालघाट में दाख़िल होते, वे अपना ब्लाउज़ उतार फेंकतीं और ऐसा लगता जैसे उन्होंने गुलामी का तौक़ गले से उतार दिया है और अब वे बिल्कुल आज़ाद हो गई हैं।

नानी अम्मा बिल्कुल अपढ़ थीं और उनका भूगोल का ज्ञान भी बड़ा अजीब सा था। जब हम श्रीलंका गये तो वहाँ का वातावरण मलाबार से इतना मिलता-जुलता दिखाई दिया कि उन्होंने हमसे पूछा क्या यहाँ भी मेरे लिए ब्लाउज़ पहनना ज़रूरी है ? और वास्तव में श्री लंका और मलाबार में बहुत समानता थी, भारत में या अन्य किसी देश में मुझे किसी स्थान से इतनी आत्मीयता नहीं रही जितनी श्रीलंका से। वहाँ रहकर मैं यही महसूस करता था जैसे मलाबार में हीं हूं। सीमाप्रांत में तीन वर्ष बिताने के बाद जहाँ मुझे हर तरफ़ उजाड़ और चटियल मैदान दिखाई देते थे, जब हम श्रीलंका पहुँचे और वहाँ की उष्ण कटि-बंधीय हरियाली देखी तो न केवल हमारी आँखों को तरावट महसूस हुई बल्कि हमारे मन भी प्रफुल्लित हुए—वहाँ के ऊँचे-ऊँचे नारियल के पेड़, सुपारी के पतले-पतले वृक्ष, हवा में झूमते हुए केले के वृक्ष और पत्तों से लदे हुए विशाल आम के पेड़, चाय, रबर और कोको के बाग़ान, जड़ी बूटियाँ, फ़र्न, क्रोटोन और अमरकंद—ये सभी आँखों को बड़े भले लगते थे। ऐसे वातावरण में नानी अम्मा की इच्छा ब्लाउज़ उतारने की थी तो मेरी भी यह इच्छा हुई कि मैं अपना कोट-

पतलून और कमीज़ उतार कर एक लूंगी लपेट लूं जिसे मैं दोपहर को सोते समय पहना करता था। अलबत्ता रात के समय मैं हमेशा अंग्रेज़ी ढंग का पाजामा पहन कर सोया करता था और यह रहन-सहन मेरे उस दुहरे जीवन का प्रतीक था जो मैंने भारतीय सिविल सेवा में बिताया था और वह यह कि एक ओर तो मैं दिव्य और दूसरी ओर पार्थिव, एक ओर साहब और दूसरी ओर काला देशी, एक ओर भारतीय दफ़्तरशाही का पुर्ज़ा और दूसरी ओर सामान्य नागरिक था।

श्रीलंका में हम चार वर्ष तक रहे। जितने दिन हम वहाँ रहे वहाँ का सौंदर्य हमें नित-नया लगा और हम उस पर मुग्ध होते गये। पोलगाहवेला से कांदी तक अपनी पहली रेलयात्रा के दौरान हमने उस प्रदेश की हरियाली की झलक देखी थी और हम यह सोचते रहे कि आख़िर मैदानों के हरे-भरे बाग़ों को अधिक सुन्दर समझें या श्रीलंका की हरी-भरी पहाड़ियों को। कांदी से कोलंबो तक की हमारी सड़क यात्रा भी उतनी ही सुखद और आनन्दप्रद थी। मैं इस सड़क से सैकड़ों बार कार से गुज़रा और हर बार मैंने ऐसा महसूस किया मानो मैं अदन वाटिका में से गुज़र रहा हूँ जहाँ दर्जनों हौवायें सड़क के किनारे अर्ध नग्न अवस्था में बैठीं गन्ने, काजू, कच्चे नारियल और वह स्वादिष्ट किन्तु दुर्गंधपूर्ण कामोत्तेजक फल दुराम्र बेचती दिखाई दे रही हैं। कांदी से न्यारा एलिया की यात्रा हमारे लिए कुछ नई-सी थी लेकिन थी अन्य यात्राओं की अपेक्षा अधिक भव्य। ज्योंही आप रामबोदा से गुज़रेंगे, वहाँ के जलप्रपात की कलकल ध्वनि कानों को सुनाई देगी, उसके बाद सड़क पर आयेंगे तो वहाँ सैकड़ों मोड़ मिलेंगे जिनमें दस-बारह तो बहुत ही सँकरे हैं और फिर पहाड़ियाँ आयेंगी जो चाय के पौधों से ढँकी हुई होंगी। और वहाँ से आगे बढ़कर आप पहाड़ी स्थानों की महारानी न्यारा एलिया पर पहुँचेंगे। वहाँ से नीचे उतरिये तो बड़े घुमावदार मार्ग से होते हुए आप वेलिमादा पहुँचेंगे जहाँ के रेस्ट हाउस का मालिक अपनी आँख झपकाकर आपको बतायेगा कि उस स्थान को 'छोटा इंग्लैंड' कहते हैं क्योंकि यहाँ के अनेक बच्चों की आँखें नीली होती हैं और यदि आप वहाँ की आबादी में वृद्धि करना चाहेंगे तो उसके लिए भी वह आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कर देगा। प्राचीन राजधानी अनुराधापुर तक की यात्रा भी इतनी ही दिलचस्प है। उस सड़क के दोनों ओर ऐसे सघन वन हैं कि सड़क उनसे लगभग ढँक-सी गई है। एक बार रात को मुझे उस सड़क से यात्रा करने का इत्तिफ़ाक़ हुआ, मेरे दो मित्र भी मेरे साथ थे। सामने से एक कार तीर की तरह चली आ रही थी। उसमें बैठे हुए अंग्रेज़ों ने चीख़ कर हमें आगाह किया 'आगे मत बढ़ो, सड़क पर

हाथी हैं ।' हाथियों का सड़क पर आजाना वहाँ कोई नई बात नहीं थी, खासकर जिस दिन बारिश हो जाती थी क्योंकि जंगल में पेड़ों से पानी इतने ज़ोर से टपकने लगता था कि हाथियों के लिए उसे सहन करना दूभर हो जाता था, इसलिए वे घबराकर सड़क पर निकल आते थे और कभी-कभी न सिर्फ कारों पर हमला कर बैठते थे बल्कि उन्हें उलट भी देते थे। लिहाज़ा हम फ़ौरन मुड़े और हमने कांदी की राह ली।

श्रीलंका के निर्माण में प्रकृति ने बड़ी उदारता से काम लिया है यानी पहाड़ियाँ, चोटियाँ, झाड़ियाँ और जंगल, खुली, वृक्षहीन और ऊँची ज़मीनें घाटियाँ, मैदान और चरागाहें सभी कुछ प्रकृति ने प्रदान किया है और ऐसा लगता है मानो यह सुन्दर कुट्टिम चित्र रुपहले समुद्र के बीच जड़ दिया गया है। दिल्ली के लाल क़िले के दीवान-ए-ख़ास के प्रवेशद्वार पर शाहजहाँ ने जो शेर अंकित कराया था उसे दरअसल श्रीलंका के प्रवेश द्वार पर अंकित होना चाहिए था।

अगर फ़िरदौस बररू-ए-ज़मीन अस्त
हमीनस्त-ओ-हमीनस्त-ओ-हमीनस्त

लेकिन मनुष्य के लिए सदा स्वर्ग में रहना भी ठीक नहीं है। बिशप हेबर ने यहीं के बारे में कहा था।

सुरभित समीर से पुलकित
द्वीप यद्यपि उत्कृष्ट है
यहाँ दृश्य रमणीय
किन्तु मनुज निकृष्ट है

माननीय बिशप ने ये पंक्तियाँ कुछ चिड़चिड़ेपन की अवस्था में कही होंगी क्योंकि श्रीलंका के लोगों के लिए 'निकृष्ट' से बढ़कर अनुपयुक्त कोई विशेषण नहीं हो सकता। यदि उन्होंने 'आराम तलब' या 'लापरवाह' शब्द का प्रयोग किया होता तो मैं उनसे सहमत हो जाता। यहाँ मैं श्रीलंका और सीमाप्रांत की, जहाँ मैं तीन वर्ष बिताकर आया था, जनता के बीच का अन्तर बताए बिना नहीं रह सकता। सीमाप्रांत के क़बाइली आलसी तो हो ही नहीं सकते क्योंकि वहाँ की जलवायु और वातावरण ही ऐसे हैं। श्रीलंकावासी यदि कृपालु प्रकृति

*यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो यहीं है, यहीं है, यहीं है।

की क्रोड़ में जीने और मरने के लिए पैदा हुए हैं तो दूसरी ओर सरहद के पठानों को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए प्रकृति से निरंतर संघर्ष करना पड़ता है। जब दो पठान आपस में मिलते हैं तो एक कहता है, इस्तदाई माशे (खुदा करे तुम कभी न थको !) और दूसरा कहता है ख्वार माशे (खुदा करे तुम कभी ग़रीब न रहो !)। थकावट और ग़रीबी यही दो चीज़ें ऐसी हैं जिनसे पठान सबसे अधिक डरते हैं। श्रीलंका में दरिद्रता है लेकिन वहाँ की उष्ण जलवायु में दरिद्रता इतनी असह्य नहीं है जितनी कि सीमाप्रांत में क्योंकि वहाँ मनुष्य को अधिक कपड़ों, अधिक भोजन और अत्यधिक सर्दी-गर्मी सहने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है। जहाँ तक थकावट का प्रश्न है श्रीलंकावासियों ने ऐसे काम जिनमें कठोर परिश्रम करना पड़ता है या आदमी जल्दी थक जाता है, विदेशियों पर छोड़ देना बेहतर समझा या समझते हैं और यही कारण है कि उस देश में 8 लाख भारतीय रहते थे जिनकी देखभाल के लिए मुझे वहाँ भेजा गया था।

जब अंग्रेज़ों ने उस द्वीप के झाड़-झंखाड़ साफ़ करने शुरू किये और विशेष रूप से काफ़ी, रबर और चाय की खेती के लिए वहाँ के पहाड़ी ढलानों के जंगल साफ़ करने की आवश्यकता पड़ी तो उन्हें मजदूरों की ज़रूरत महसूस हुई जो न सिर्फ़ सस्ती मजदूरी पर मिल जाते थे बल्कि बड़े विनम्र और नियमित काम करने वाले होते थे। ये मज़दूर मद्रास प्रेज़िडेंसी के उन अनुर्वर क्षेत्रों से आते थे जहाँ के लाखों वासी भुखमरी का शिकार थे। इन मज़दूरों को या क़ुलियों को—क्योंकि वहाँ वे क़ुली ही कहलाते थे – ऐसी शर्तों पर रखा जाता था जो स्पष्ट रूप से मालिकों के अनुकूल होती थीं। ये शर्तें उसी कुख्यात अनुबंध पत्र प्रथा के अधीन होती थीं जो मज़दूर को मालिक की संपदा से जीवन भर के लिए बाँध देती थीं। बीसवीं सदी में भारतीय जनमत विदेश में रहने वाले अपने देशवासियों की दुरवस्था के प्रति अधिक सतर्क और जागरूक हो चुका था। भारत सरकार ने अनुबंधपत्र प्रथा समाप्त कर दी थी, और उत्प्रवास के नियमन, नियंत्रण या आवश्यकता पड़ने पर उसकी अस्वीकृति के अधिकार अपने हाथों में ले लिये थे और भारत सरकार का एक एजेंट श्रीलंका में नियुक्त करने का भी अधिकार प्राप्त कर लिया था। यह एजेण्ट भारतीय आप्रवासियों और खासकर भारतीय मज़दूरों के हितों की रक्षा के लिए नियुक्त किया जाता था। इस पद पर मेरी नियुक्ति तीसरी थी।

मेरा मुख्यालय कांदी में था जो श्रीलंका के कृषि क्षेत्र का केन्द्र था। चार वर्ष तक तो मैं लगातार बाग़ान के दौरे करता रहा। वहाँ मैं मज़दूरों और

मैनेजरों से बातचीत करता था और उनकी शिकायतें दूर करने की कोशिश करता था। इस समुदाय में बहुत से मुझे बड़े प्रबुद्ध लोग नज़र आये और मैंने देखा कि कुल मिलाकर उन्होंने मेरे साथ सहयोग भी किया। लेकिन जब 1932 की भारी मंदी के तूफ़ान ने श्रीलंका को आ घेरा और चाय और रबर की क़ीमतें नीचे से नीचे गिरती गईं और बाग़ान बंद तक हो गये और जो बचे वे मुश्किल से अपने को संकट से उबार सके तो भारतीय मज़दूरों की न्यूनतम मज़दूरी के क़ानून को रद्द करने की आवाज़ें उठने लगीं। यह मज़दूरी—जो पुरुषों के लिए 50 सेंट, स्त्रियों के लिए 40 सेंट और बच्चों के लिए 30 सेंट निश्चत हुई थी—भारत और श्रीलंका की सरकारों, इंडिया ऑफ़िस और कलोनियल ऑफ़िस के बीच वर्षों की बातचीत और परामर्श के बाद तय हुई थी।

मालिकों का कहना था कि अब चूंकि बाग़ान के मुनाफ़े में भारी कमी आ गई है और मैनेजरों, सुप्रिण्टेण्डेण्टों और क्लर्कों के वेतन भी घटा दिये गये हैं तो कोई वजह नहीं कि मज़दूरों के लिए एक बार जो मजदूरी तय हो चुकी है वह बिल्कुल ज्यों-की-त्यों रहने दी जाए। मेरा तर्क यह था कि कम-से-कम मज़दूरी तो आख़िर कम-से-कम ही है यानी इतनी है कि उससे कम में मज़दूर अपना निर्वाह नहीं कर सकता। वह पहले ही हर दृष्टि से कम-से-कम थी और यदि मालिक कम-से-कम मज़दूरी देने में भी असमर्थ हैं तो हमारे मजदूरों के लिए यही बेहतर है कि वे भारत लौट जाएँ क्योंकि हम अपनी जनता को बाहर भूखों मरते नहीं देख सकते और यदि उन्हें भूखों ही मरना है तो क्यों न वे अपने देश में जाकर मरें। और फिर यह बात भी तो थी कि जब चाय और रबर की संपन्न खेती से खूब मुनाफ़ा हो रहा था तो इन मज़दूरों ने उस मुनाफ़े में कभी कोई हिस्सा भी तो नहीं माँगा था इसलिए आज जबकि बाग़ान पर विपत्ति आई हुई है तो कोई कारण नहीं कि मज़दूरों को अपने गाढ़े पसीने की कमाई हुई कम-से-कम मजदूरी से भी वंचित कर दिया जाए। मालिक मेरी इस दलीले को नहीं माने और श्रीलंका सरकार ने भी चोरी-छिपे उनका समर्थन किया। लेकिन भारत सरकार अपने रवैये में दृढ़ रही और न्यूनतम मजदूरी बनी रही।

श्रीलंका में कुछ भारतीय श्रमिकों की कोटि में नहीं आते थे। उनमें सबसे अधिक समृद्ध चेट्टियार थे। उनमें बैंकर भी थे, साहूकार भी और धोखा-धड़ी से रुपया कमाने वाले भी। चेट्टियार अधिकतर अपना व्यापार सी स्ट्रीट में किया करते थे जिसे आम तौर पर सोना बाजार कहा जाता था। उन्होंने कभी श्रीलंका को अपना घर नहीं बनाया और न ही वे अपने बाल-बच्चों को वहाँ ले गये। श्रीलंकावासी इस बात की शिकायत किया करते थे कि इन लोगों को इस द्वीप से कोई लगाव नहीं है और सिवाय पैसा बनाकर भारत भेज देने के इन्हें दूसरा काम

नहीं है।

श्रीलंका में जितने भी भारतीय व्यापारी थे उनमें अधिकांश मद्रास प्रेज़िडेंसी से गये थे। तूतिकोरिन से जो श्रीलंका का निकटतम बन्दरगाह था, एफ० एक्स० परैरा एण्ड संस नामक एक विख्यात फ़र्म वहाँ गई थी। उस फ़र्म का उस समय जो मालिक था उसका नाम आई० एक्स० परैरा था और वहाँ के लोग उसकी बड़ी इज़्ज़त करते थे। लेकिन जब मेरी सिफ़ारिश के अनुसार भारत ने उसे 'दीवान बहादुर' की उपाधि से विभूषित किया तो श्रीलंका के कुछ अखबारों ने इसी घटना को अपनी शिकायत की पुष्टि मानकर शोर मचाया कि एफ़० एक्स० परैरा जैसी वर्षों पहले संस्थापित फ़र्में भी श्रीलंका को नहीं, भारत को ही अपनी मातृभूमि मानती हैं। एक प्रतिष्ठित भारतीय जिसने श्रीलंका में अपार धन एकत्रित किया था मलाबार का एक मोपला था जिसका नाम उबीची था। जब वह अपनी जवानी के जमाने में श्रीलंका गया था तो उसकी जेब में सिर्फ़ कुछ आने थे, लेकिन आज वही लखपति बन गया था। उसकी संपत्ति केवल एक ही वस्तु के आयात से एकत्रित हुई थी और वह थी मछली जो वह मालदीप द्वीपसमूह से मँगाता था। श्रीलंका के खानों में ये मछलियाँ स्वाद पैदा करती थीं। उसकी यह खूबी थी कि यद्यपि उसके घर सोना बरस रहा था लेकिन उसका अपना रहन-सहन वही सादा और कमखर्च था। इतना धनवान होने पर भी उसने कभी कार का उपयोग नहीं किया, जहाँ जाना होता रिक्शा से ही चला जाया करता था।

श्रीलंका में भारतीयों का एक और दल जो मलयालियों या कोचियनों का था, अच्छी नजर से नहीं देखा जाता था। ये लोग बहुत ही अच्छे घरेलू नौकर साबित हुए थे और म्युनिसिपल कौंसिल तथा बंदरगाह के प्राधिकारियों ने इन्हें भारी संख्या में अपने यहाँ नौकर रखा था। ये नौकर भी अपने बीवी-बच्चों को अपने साथ नहीं रखते थे क्योंकि मलाबार में भी तब तक यह प्रथा नहीं थी कि मलयाली स्त्री अपने पति के पास जाकर रहे, वास्तव में पति को ही पत्नी के पास जाकर रहना पड़ता था। इसलिए मलयाली पुरुषों ने सिंहल स्त्रियों से ही रिश्ते कर लिये थे और वे उनके साथ वैसा ही व्यवहार भी करते थे जैसा कि मातृकुलीय समाज में पुरुष को स्त्री के साथ करना चाहिए था। उनकी इसी उदारता के कारण वहाँ की स्थानीय स्त्रियाँ तो मलयालियों को पसंद करती थीं लेकिन वहाँ के स्थानीय पुरुष उन्हें गिरी निगाह से देखते थे।

यह वास्तविकता है कि सिंहल समाज के कुछ वर्गों के लोगों का—विशेषत: दक्षिणी प्रदेश में रहने वालों का जीवन के प्रति बड़ा हल्का-फुल्का दृष्टिकोण था—और वे कठिन परिश्रम से यथासंभव जी चुराते थे। उनकी इसी काहिली के

कारण श्रीलंका के बाग़ान में काम करने के लिए भारत से मज़दूर बुलाने की आवश्यकता पड़ी थी। उनके आलस्य और काम से जी चुराने की प्रवृत्ति से लाभ उठाकर ही तो चालाक चेट्टियार और तूतिकोरिन के उद्यमी व्यापारी श्रीलंका में आकर लखपति-करोड़पति बन गये थे। उनकी यही मितव्ययिता सिंहलवासियों की आँखों में खटकती थी जो स्वयं बड़े ठाठ-बाट से रहते थे और अक्सर अपनी आमदनी से अधिक ख़र्च किया करते थे। सीमाप्रांत से जब मैं श्रीलंका आया तो यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि सीमाप्रांत के क़बाइली पठान भी श्रीलंका-वासियों की कमज़ोरियों से अनुचित लाभ उठा रहे थे। अफ़गान साहूकारों के नाम से यहाँ अनेक पठान थे जिनमें से अधिकांश पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत और बलूचिस्तान के गाँवों से आकर यहाँ बस गये थे। उनमें से एक को मैं भी जानता था। बात दरअसल यह थी कि मैं चाहता था मेरा पुश्तो भाषा से संपर्क बना रहे इसलिए मैंने एक ऐसे पठान की तलाश की जो नियमित रूप से सप्ताह में एक बार मेरे घर आया करे और मुझसे पुश्तो में बातचीत किया करे। उसका नाम कबीर भाई था और जहाँ कहीं भी उससे मेरी भेंट होती वह मुझसे पठानों के रिवाज के अनुसार गले मिला करता था। श्रीलंकावासी इसे देखकर बड़े चकित होते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में पठानों से रुपया उधार लेना तो बुरा नहीं था लेकिन सामाजिक दृष्टि से वे उन्हें दूर-दूर ही रखते थे। मुझमें और कबीर भाई में इतनी घनिष्ठता देखकर मेरा एक सिंहली मित्र हमारे शोफ़र राम कुरुप के पास पहुँचा और उससे पूछने लगा कि जब तुम्हारे मालिक को इतनी अच्छी तनख़्वाह मिलती है तो वे पठानों से रुपया उधार क्यों लेते हैं ? श्रीलंकावासी बस एक इसी संबंध के बारे में सोच सकते थे। एक बार कबीर भाई ने मुझे कांदी से कोलंबो तक का रेल का टिकट ख़रीदते देख लिया। उसने मुझसे कहा कि आपका टिकट लेना बेकार है। बात यह थी कि सारा रेलवे स्टाफ़ अफ़ग़ानों का ऋणी रहता था इसलिए अपने साहूकारों को बिना टिकट यात्रा करते देखकर भी वे आँखें चुराते थे। ये अफ़गान थे तो मुसलमान लेकिन उनके ब्याज की दरें बड़ी लंबी-चौड़ी होती थीं हालाँकि क़ुरान के अनुसार सूदख़ोरी पाप है।

एक दिन कबीर भाई ने मेरे पास आकर बताया कि मुझे एक नाज़ुक मामले में आपके परामर्श की ज़रूरत है। एक सिंहली स्त्री उससे प्रेम करती थी और उसने कुछ झेंपते हुए यह भी बता दिया कि उसे भी उस स्त्री से लगाव था। वह स्त्री किसी पुलिस अधिकारी की पत्नी थी और उसके छह बच्चे भी थे। लेकिन फिर भी वह सुंदर लगती थी। कुछ दिन बाद वह खुद भी आई और मुझसे मिली। वह कबीर भाई से भी ज्यादा स्पष्टवादिनी थी और उसने साफ़-साफ़ कह दिया कि मैं कबीर भाई के बिना नहीं रह सकती। वह मुझसे यह सलाह

लेने आई थी कि क्या मुझे कबीर के साथ सीमाप्रांत चला जाना चाहिये ? मैंने उससे कहा कि इस तरह का निर्णय करना तुम्हारी अपनी इच्छा पर निर्भर है। लेकिन साथ ही मैंने उसे यह भी बता दिया कि सीमाप्रांत में स्थिति और भी विषम है और वहाँ तुम्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। कुछ दिन बाद मुझे मालूम हुआ कि वह कबीर भाई के साथ सीमाप्रांत चली गई परन्तु जब वह वहाँ से लौटकर श्रीलंका आई तो शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से बिल्कुल क्षत-विक्षत हो चुकी थी।

कबीर भाई का प्रेम-प्रणय का मामला तो एक असाधारण घटना थी लेकिन वैसे भी भारतीय समुदाय कुल मिलाकर भारत और श्रीलंका दोनों के लिए एक गौण समस्या तो थी ही। कुछ लोग ऐसे भी थे जो इस साधारण-सी समस्या को वहाँ की प्रधान समस्या बना देना चाहते थे और जिनका यह कहना था कि भारतीय ही वहाँ की जनता के असल शोषक हैं। वास्तव में देखा जाए तो श्रीलंका और भारत ही क्या समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया की सबसे बड़ी समस्या विदेशी प्रभुसत्ता की थी और वह समस्या जब भी हल हो जायेगी तो दूसरी सभी समस्याएँ अपनी जगह आ जायेंगी और धीरे-धीरे हल भी होने लगेंगी। कुछ भी हो यह हमारी आशावादिता थी।

यह बात मैं भली भाँति समझ गया था कि भारतीयों की तथाकथित समस्या ऐसी नहीं है कि उसका तत्काल कोई समाधान हो सके। मेरे विचार में उस समस्या के महत्त्व को बढ़ाने और उस पर सीधा वार करने से स्थिति और बिगड़ जाने की आशंका थी। इसलिए इस मसले के हल करने में मैंने तालेराँ* द्वारा राजनयिकों को दिये गए सद्परामर्श का ही पालन किया। 'अत्यधिक उत्साह कभी नहीं दिखाना चाहिये।' मैंने भारतीय समस्या के समाधान में तो कम समय लगाया और श्रीलंका की जनता में सद्भाव जगाने में अधिक, क्योंकि मैं समझता था कि सद्भाव के वातावरण में ही अंततः किसी समस्या पर निरपेक्ष या निस्संग भाव से विचार किया जा सकता था। मैंने जो यह मैत्रीपूर्ण वातावरण तैयार किया था उसका कोई प्रच्छन्न उद्देश्य न था बल्कि मेरा ध्येय तो मात्र यही था। मैं यह महसूस करता था कि सिंहलवासियों के शरीर में मेरा ही रक्त है और उनका हाड़-मांस मेरा ही एक अंग है। यद्यपि पच्चीस मील चौड़े जलांश ने भारत को श्रीलंका से पृथक् कर दिया है और यद्यपि दोनों राजनीतिक दृष्टि

* प्रसिद्ध, फ्रांसीसी राजमर्मज्ञ (1754-1838)।

से हमेशा अलग-अलग इकाइयाँ रहेंगी फिर भी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दोनों हमेशा से एक रहे हैं।

विद्यार्थियों और प्राध्यापकों की संगति में बैठकर मैं विशेष आनंदलाभ करता था। मैं वहाँ के बीसियों स्कूलों और कॉलेजों में गया था और वहाँ मैंने भाषण भी दिये थे। श्रीलंका का मुझ पर जो ऋण है उससे शायद मैं आजीवन मुक्त न हो सकूंगा, यहीं मुझे अपनी भाषण-कला क्षमता को व्यावहारिक रूप देने का अवसर मिला। आज तीस वर्ष पहले अपने श्रीलंका-प्रवास के समय पर जब मैं दृष्टिपात करता हूँ तो मुझे आश्चर्य होता है कि मैंने वहाँ कितने विविध विषयों पर और कितने विस्तृत भाषण दिये: रवीन्द्रनाथ ठाकुर, भारतीय बुलबुल (सरोजिनी नायडू), राष्ट्रों का पुनरुत्थान, धर्म और अधिनायकत्व, सत्य का नायक, विधि-विकास, जीवन और साहित्य, अनातोले फ्रांस, संस्कृत साहित्य में कालिदास का स्थान, भारतीय मैकियावली, ऑक्सफ़ोर्ड-जीवन, ब्रिटिश रंगमंच की स्मृतियाँ, प्रगति की हास्यानुवृत्ति, ताजमहल: प्रेम का प्रतीक या वास्तुकला का नमूना? पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत, राजनीति में नैतिकता का स्थान इत्यादि-इत्यादि। वाई० एम० सी० ए०* हो या वाई० एम० एच० ए०,† वाद-विवाद संस्थाएँ हों या कॉलेजों के वार्षिकोत्सव या रोटरी क्लब, मेरी हर जगह बड़ी माँग रहती थी। इन सब में विचित्र अनुरोध एक पादरी ने किया था। उसने कहा कि मैं अपने चर्च की इमारत का विस्तार करना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि अपनी इस प्रायोजना की सहायता के लिए आप एक व्याख्यान दें जिसकी प्रवेश फ़ीस मैं प्रति व्यक्ति ५० सेंट रख सकूँ।

एक-दो बार ऐसा हुआ कि मेरे भाषणों को लेकर भारत सरकार और मेरे बीच कुछ गरमा-गरमी भी हो गई। मुझे एक के बाद एक तीन झिड़कियाँ मिलीं जिनमें दो भारत सरकार के भारतीय सचिव की थीं। मैं यहाँ यह भी बता दूं कि अपनी चालीस वर्षीय सेवा में, जिनमें 25 वर्ष ब्रिटिश शासन-काल में बीते थे, बस यही तीन झिड़कियाँ मुझे सहनी पड़ी थीं। भारत सरकार मेरी राष्ट्रीय विचारधारा से पूर्णतः अवगत थी। लेकिन अंग्रेज़ यह भी भली प्रकार जानते थे कि उस ज़माने में ऐसा उत्साही भारतीय मिलना असंभव था जो हृदय से राष्ट्रवादी न हो। कुछ भारतीय तो ऐसे थे जो अपनी देशभक्ति की शान दिखाते फिरते थे लेकिन कुछ ऐसे थे जो बड़ी विवेकशीलता से उसे सँजोते थे और कुछ ऐसे भी थे जो बड़ी सावधानी से अपनी उस राष्ट्रवादी भावना को छिपाकर रखते थे।

ठाकुर और सरोजिनी नायडू पर भाषण देते समय उनकी उत्कट देशभक्ति

* यंग मेन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन, † यंग मेन्स हिन्दू एसोसिएशन

पर और साम्राज्यवाद के प्रति उनके तिरस्कार पर बल देना स्वाभाविक ही था। ठाकुर ने एक बार साम्राज्यवाद के बारे में कहा था कि वह 'पेटुओं की सुसंगठित समूहप्रियता' है। और जब साम्राज्यवादी प्रवृत्ति यूरोप से चलकर जापान जैसे एशियाई देश में भी फैली तो ठाकुर ने उसकी घोर निन्दा की और उस पर खेद प्रकट दिया। उन्होंने कहा कि 'जापान ने यह सिद्ध कर दिया है कि शैतान के रुधिर-श्वान केवल यूरोप की कुक्कुर-शाला में ही पैदा नहीं होते बल्कि वे एशिया में भी पाले जा सकते हैं। और इन्सानों की विपत्तियाँ हर जगह उनका रातब बन सकती हैं।' मैंने ठाकुर का वह पत्र पढ़कर भी सुनाया जो उन्होंने लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड को लिखा था और जिसमें कहा था कि 'सरकार ने 1919 में पंजाब का विद्रोह शांत करने के लिए जो कार्रवाई की थी वह इतनी भयंकर थी कि उसके विरोध में मैं अपनी 'सर' की उपाधि का परित्याग करता हूँ। अब समय आ गया है जब इन सम्मान-पदकों को देखकर हमारे सिर लज्जा से झुक गये हैं क्योंकि एक ओर हमारा सम्मान किया जा रहा है तो दूसरी ओर हमारे ही देशवासियों को अपमानित किया जा रहा है। मैं इन सभी प्रतिष्ठा-चिह्नों का परित्याग करके अपने उन देशबंधुओं की पंक्ति में आकर खड़ा होना चाहता हूँ जिनका सरकार की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है और जो जनसाधारण होने के अपराध में ही ऐसे तिरस्कार और अपमान के भाजन बन रहे हैं जो किसी भी मनुष्य के लिए उचित नहीं है।' एक दिन भारत सरकार के सचिव श्री गिरिजा शंकर बाजपेयी का मेरे पास एक पत्र आया जिसमें मेरे भाषण के कुछ अंशों की ओर मेरा ध्यान दिलाया गया था और मुझसे कहा गया था कि भविष्य में मैं अधिक सावधान रहूँ।

एक और पत्र में बाजपेयीजी ने मुझे लिखा कि प्रो० मुजीब को अपने साथ ठहरा कर आपने बड़े अविवेक का सबूत दिया है क्योंकि उन्होंने श्रीलंका में कई ब्रिटेन-विरोधी भाषण दिये हैं। मैंने उसके उत्तर में लिखा कि मुजीब ऑक्सफ़ोर्ड के ज़माने से मेरे प्रिय मित्र रहे हैं। वे जामिआ मिल्लिया इस्लामिया के लिए जिसके वे ही कर्त्ता-धर्त्ता हैं चंदा जमा करने श्रीलंका आये थे और मेरे लिए उनका अभिन्न मित्र होने के नाते यह संभव नहीं था कि मैं उनकी ज़बान पर ताला लगाऊँ या उन्हें अपने साथ ठहराने से इन्कार कर दूं। जब तक मुजीब कांदी में रहे वे मेरे ही साथ ठहरे और उनके प्रवास के दौरान एक दुष्ट जासूस मेरे घर के आसपास मँडराता रहा, कभी वह कोई रूप भरता, कभी कोई, हालाँकि उसके वे रूप ऐसे थे कि अंधा भी देखकर पहचान जाता। अंत में मैं और मुजीब अपनी कार में बैठकर कांदी से कोलंबो गये। ज्योंही हम मकान से बाहर आये मैंने उस गुप्तचर से कहा कि आपने बड़ी सतर्कता से मेरे मित्र का पीछा किया है जिसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। और फिर मैंने उसे अपना

कोलंबो का पता भी दिया। बेचारा जासूस मेरी बात सुनकर हक्का-बक्का रह गया।

जब मैं श्रीलंका में था तो लालकुर्ती वालों के विद्रोह की खबरें और पेशावर शहर की अन्य नाटकीय घटनाओं के समाचार वहाँ पहुँचने लगे। भारत सरकार ने एक जाँच-समिति नियुक्त की और उसकी रिपोर्ट भी प्रकाशित कर दी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी अपनी जाँच-समिति नियुक्त की। मैंने कांग्रेस के मंत्री को पत्र लिखकर उनसे समिति की रिपोर्ट की एक प्रति मँगवाई जिसमें सरकार की दमनकारी नीति की कटु आलोचना की गई थी। संयोगवश मेरा पत्र मार्ग में ही रोक लिया गया और बजाय कांग्रेस के मंत्री के मेरे पास भारत सरकार के कार्यवाहक विदेश सचिव सर एवलिन हॉवेल का पत्र आया जिसमें लिखा था कि मैंने जो पत्र कांग्रेस के मंत्री को लिखा था उसकी सूचना भारत सरकार को मिल गई है। हॉवेल साहब ने लिखा, 'यद्यपि उससे सरकार को कोई नुक़सान पहुँचने की आशंका नहीं है, और न ही उससे वास्तव में कोई नुक़सान पहुँचा है, लेकिन फिर भी मुझे यह बताने का निदेश हुआ है कि आपका यह व्यवहार स्पष्ट रूप से विवेकहीन है और इसके बड़ी आसानी से ग़लत अर्थ लगाये जा सकते हैं।' यदि इस घटना को ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखा जाए और यह बात ध्यान में रखी जाए कि सरकार और कांग्रेस में सत्ता के लिए उस समय कितना घोर संघर्ष हो रहा था, तो मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस डांट-फटकार की भाषा निस्संदेह बड़ी हल्की और नरम थी।

श्रीलंका में मेरे चार वर्षीय प्रवास के दौरान सबसे अधिक स्मरणीय क्षण तब आया जब मेरी दृष्टि एक ऐसे व्यक्ति पर पड़ी जो महात्मा गाँधी के बाद भारत में ब्रिटिश शासन का अंत कराने वाला दूसरा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था। एक दिन मैं ऊपर लेक मार्ग पर एक बेंच पर बैठा हुआ था। मेरे सामने एक ऐसा मनोरम दृश्य उपस्थित था जिसे मैं संसार के कुछ अन्य भागों में देख चुका था। वह एक अत्यंत सुंदर झील थी जिसने सुरम्य पहाड़ियों में अपना निवास बनाया था। झील के उस पार एक मैदान था जहाँ जनता के जत्थे-के-जत्थे जवाहरलाल नेहरू का भाषण सुनने के लिए एकत्रित हो रहे थे। इच्छा तो मेरी भी हुई कि मैं उस सभा में जाकर उनका भाषण सुनूँ लेकिन फिर ख़याल आया कि नहीं मेरे लिए ऐसा करना 'अविवेकपूर्ण' होगा और 'उसके बड़ी आसानी से ग़लत अर्थ लगा लिये जायेंगे।' अत: मैं जहाँ था वहीं बैठा रहा यद्यपि मेरा मन सामने के मैदान में था और मैं मन-ही-मन कसमसा रहा था। कुछ घण्टे बीते होंगे कि मुझे पहाड़ी पर कारों की गड़गड़ाहट

सुनाई दी। एक कार तो आकर मेरे पास ही रुकी और मेरे एक प्रिय मित्र जॉर्ज डि सिलवा ने बाहर निकलकर मेरा परिचय जवाहरलाल नेहरू से कराया। मुझे ऐसा महसूस हुआ जैसे कोई प्रस्तर-मूर्ति सहसा सजीव हो गई है। नेहरूजी वास्तव में भारतीय नवयुवकों के जिनमें भारतीय सिविल सेवा के सदस्य भी सम्मिलित थे, इष्ट देव ही तो थे। उन्होंने मुझसे पूछा, 'क्या समाधि लगा रहे हैं आप ? यह स्थान समाधि के लिए है उपयुक्त।' उस समय मेरी आंतरिक स्थिति क्या थी इसकी कल्पना ही की जा सकती है। यदि उस क्षण नेहरूजी ने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा होता, 'आओ मेरे पीछे चले आओ' तो मैं शायद उनके पीछे चल पड़ता। लेकिन यदि ऐसा होता तो मुझे भारतीय गणराज्य में प्रथम विदेश सचिव के रूप में उनकी सेवा करने का विशेषाधिकार न मिल पाता और यह भी ख़तरा हो सकता था कि मैं मंत्रिमंडल का मंत्री बना दिया जाता।

जब मैं दुबारा श्रीलंका गया तो तीस वर्ष का अर्सा बीत चुका था। 1962 में भारत सरकार द्वारा आयोजित व्याख्यान-दौरे पर मैं वहाँ पहुँचा। मेरी व्याख्यान-माला का विषय था 'एशिया में जीवन के बदलते हुए आदर्श।'

श्रीलंका का जीवन-आदर्श वास्तव में बदल चुका था। भारत ही की तरह श्रीलंका भी बड़ी तेज़ी से समाजवादी समाज-पद्धति की ओर अग्रसर था। दुर्भाग्यवश वहाँ का समाज दो भागों में बँट गया था : एक ओर सिंहल राष्ट्रवाद की लहर उठ रही थी और दूसरी ओर भाषागत विवाद सिर उठा रहा था जिसके कारण तमिलभाषियों और सिंहलियों के संबंध ख़राब हो गये थे। लेकिन जब हम वहाँ पहुँचे तो तमिलभाषी और सिंहली दोनों हमारे स्वागत में एक-दूसरे से होड़ कर रहे थे और हमें भी अपने अनेक पुराने मित्रों से दुबारा मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई थी। इनमें दुर्जेय सुंदरलिंगम थे जो राजनीति के क्षेत्र में 'अकेला चला' बने हुए थे, विद्वान मालालसेकर थे जिन्होंने अब अध्ययन त्याग कर राजनय की शरण ले ली है, सुयोग्य विद्यानाथन थे जो किसी समय वहाँ की सरकार के एक आधार-स्तंभ थे लेकिन अब उसके एक नि:शक्त विरोधी मात्र रह गये हैं और श्रीमती मार्गरेट डिसोयसा थीं जो पूँजीवाद के विनाश पर बैठी आँसू बहाती रहती हैं। लेकिन इस बार मेरी नज़रें अपने पुराने मित्र एस० डब्ल्यू० आर० डी० भंडारनायक के दर्शन को तरसती रहीं जो ऑक्सफ़ोर्ड में शुरू से मेरे साथी रहे थे और जो 1930–40 में श्रीलंका की राजनीति के युगांतरकारी नेता रहे थे और अंत में वहाँ के प्रधान मंत्री बन गये थे। उसके दो-चार वर्ष पहले ही एक बौद्ध धर्मांध के हाथों उनकी हत्या हो गई थी। लेकिन उनका वह

अदम्य उत्साह अब भी श्रीलंका में उनकी आकर्षक पत्नी के रूप में विद्यमान था जो उस समय वहाँ की प्रधान मंत्री थीं। जब उन्होंने अपने पति के भाषणों तथा लेखों का सुंदर संग्रह मुझे भेंट किया और मेरा ध्यान उस अवतरण की ओर आकृष्ट किया जिसमें उन्होंने हमारे ऑक्सफ़ोर्ड के दिनों की मैत्री और हमारी लंबी-लंबी बातों का उल्लेख किया था तो मैं द्रवित हो उठा।

जब मैंने वह अवतरण पढ़ा तो चालीस वर्ष की लंबी अवधि क्षणभर में समाप्त हो गई और मेरा ध्यान आइसिस के किनारे या क्राइस्ट चर्च के घास के मैदानों की ओर चला गया जहाँ मैं और भण्डारनायक, जो उस समय के बड़े प्रतिभाशाली छात्रों में से थे, हाथ में हाथ डाले टहला करते थे और भावी घटनाओं के बारे में विचार-विनिमय किया करते थे। भावी घटनाओं में हमारी दृष्टि में भारत और श्रीलंका की—जिसे स्वाधीन कराने के लिए भंडारनायक ने भारी संघर्ष किया—स्वाधीनता थी। किन्तु उन घटनाओं में न गाँधीजी की हत्या का कोई उल्लेख था और भण्डारनायक की हत्या की तो कल्पना भी न की जा सकती थी।

ज़ंजीबार

००

सन् 1934 हमारे लिए बड़ा बुरा आया, उसी वर्ष अनुजी के पिता का स्वर्गवास हो गया। सर शंकरन नायर एक भव्य वयोवृद्ध व्यक्ति थे और अडिग स्वतंत्र नेता होने के नाते उनकी ख्याति हो चुकी थी। मद्रास में हमारे कॉलेज का आदर्श-वाक्य था :

दास हैं वे लोग जो बहुमत से डरते हैं
और सच बात कहने का साहस नहीं करते हैं।

सर शंकरन इस आदर्श-वाक्य के मूर्त रूप थे। वाइसराय की कार्यकारी परिषद् के वे ही एक मात्र भारतीय सदस्य थे। उन्होंने सात धाकड़ अंग्रेजों का बड़ी दृढ़ता से मुक़ाबला किया था और जब उनमें और वाइसराय तथा उसके साथियों के बीच पंजाब के सैनिक शासन को लेकर मतभेद हुआ और वह अपनी चरम सीमा को पहुँच गया तो उन्होंने परिषद् से त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने इससे भी बढ़कर एक दुर्जेय शक्ति—महात्मा गाँधी—से लोहा लिया था। वे ग्लैडस्टन के प्रशंसक थे जिसकी उस समय इंग्लैण्ड में तूती बोल रही थी जब सर शंकरन वहाँ पढ़ रहे थे। संवैधानिक पद्धति में उनका अटूट विश्वास था और वे ईमानदारी से यह महसूस करते थे कि गाँधीजी असहयोग और सविनय अवज्ञा जैसे अपने क्रांतिकारी तरीक़ों से भारत को अराजकता के गर्त में ढकेल रहे हैं। उन्होंने गाँधीवाद से चिढ़ कर **गाँधी और अराजकता** नामक एक पुस्तक भी लिखी थी जिसका बड़ा विचित्र परिणाम निकला। सर माइकल ओडायर ने जिसके पंजाब के गवर्नर के रूप में किए गए अत्याचारों की सर शंकरन ने कटु आलोचना की थी, उनके विरुद्ध मानहानि का दावा दायर कर दिया और वह मुक़दमा जीत भी गया। लेकिन गाँधीजी ने सर शंकरन की मृत्यु पर समवेदना का तार भेजकर अपनी विशालहृदयता प्रदर्शित की।

1934 में अनुजी के पिता की ही मृत्यु नहीं हुई बल्कि उनके दो बहनोई भी स्वर्गवासी हुए और उनका पति भी मरते-मरते बचा। जब मैं पेशावर में सेशन्स जज था, मुझ पर अचानक चेचक का हमला हुआ और मुझसे ही वह तीन

बच्चों को भी लग गया। मेरी बीमारी के दौरान अनुजी ने जिस साहस का परिचय दिया और जो सेवा-शुश्रूषा की उससे मेरी दृष्टि में उनका मान बहुत बढ़ गया। उन्होंने निर्भीक होकर, बिना किसी की सहायता के उन चार रोगियों की देखभाल की जो एक भयंकर रोग से ग्रस्त थे, यहाँ तक कि उन्होंने नर्स रखने से भी इन्कार कर दिया। जब मैं बीमारी से उठा और मैंने शीशे में अपनी शक्ल देखी तो दंग रह गया, मेरा सारा चेहरा चेचक के दागों से भरा हुआ था। लेकिन ग़नीमत हुआ कि कोई स्थायी दाग़ चेहरे पर न रह सका क्योंकि ज्योंही मेरे माता निकली कर्नल साहबज़ादा ने जो वहाँ के सबसे बढ़कर कृपालु और रहम-दिल डाक्टरों में से थे, अनुजी को एक मरहम दिया जो हर आधा घण्टे के बाद लगाया जाना था। उन्होंने कहा, 'अगर यह ठीक हो जाएँ तो इस मरहम से उनका चेहरा जैसा है कम-से-कम उससे बदतर न होने पायेगा।'

चेचक क्या निकली मेरा सेशन्स जज का कार्यकाल भी सहसा समाप्त हो गया। अपने उस पद पर रहकर मुझे केवल दो ही व्यक्तियों को मृत्यु दण्ड देने का अवसर मिला था: एक मर्द और उसकी बहन को, जिन्होंने एक युवा लड़की को अनैतिक कार्यकलाप के लिए रखा हुआ था और जब उसने अपनी आमदनी में कुछ और हिस्सा माँगा तो उन्होंने बड़ी क्रूरता से उसका काम तमाम कर दिया। जब मैंने यह निर्णय सुनाया कि दो मनुष्य अब इस संसार में नहीं रहेंगे तो उस समय मेरी मनःस्थिति बड़ी विक्षुब्ध थी और मैं समझ रहा था कि पुरुष या कम-से-कम स्त्री दोनों में से एक तो साक्षात् मृत्यु को देखकर फफक पड़ेगा। लेकिन जब मैंने अपना फ़ैसला सुनाया कि 'अपराधियों को फाँसी देकर प्राण दण्ड दिया जाए।' तो उन दोनों ने एक साथ कहा, **शुक्र दे साहब,** और शेख़ी दिखाते हुए अदालत से बाहर निकल गये। यदि मेरे चेचक न निकली होती तो शायद मुझे और बहुत से लोगों को फाँसी की सज़ा देनी पड़ती। गर्मी सिर पर आ गई थी और गर्मियों में सर्दी की अपेक्षा तिगुनी हत्याएँ हुआ करती थीं। इसका एक कारण तो यह था कि गर्मी वहाँ के लोगों के लिए बड़ी कष्टकर होती थी और लोगों का पारा जल्दी चढ़ जाता था और दूसरा यह कि गर्मियों में लोग खुले स्थानों में सोते थे और अपने शत्रुओं की हत्या करने का उन्हें अच्छा मौक़ा मिल जाता था। कुछ वर्ष बाद जब मैं बलूचिस्तान गया तो वहाँ राजनीतिक एजेंट के रूप में मुझे हत्या के बीसियों मुक़दमों का फ़ैसला करना पड़ा—मेरे अपने ही ज़िले में उनकी संख्या प्रतिवर्ष 365 या प्रतिदिन एक होती थी। लेकिन सीमाप्रांत अपराध-विनियम के अनुसार उन मुक़दमों के फ़ैसलों में अपराधियों के प्रति दया भाव दिखाया जाता था और मृत्यु दण्ड वहाँ वर्जित कर दिया गया था।

जब मैं चेचक से उठा तो भारत सरकार ने मुझ पर कृपा की और मुझे

जंजीबार की समुद्र-यात्रा का सुअवसर प्रदान किया ताकि मैं वहाँ जाकर स्वास्थ्य लाभ कर सकूँ। जुलाई के पहले सप्ताह में मैं अपने सरकारी काम के लिए बम्बई से रवाना हुआ। मेरे साथ मेरा एक सक्षम सचिव के० जी० नायर भी था जो मेरा मातहत होने के अलावा एक अच्छा साथी भी था और बाद में मेरे साथ चीन और कोरिया भी गया था। जिस उद्देश्य से मुझे वहाँ भेजा गया था वह था जंजीबार, कीनिया, युगांडा और टांगानिका में भारतीयों की स्थिति की जाँच-पड़ताल करना।

पूर्व अफ्रीका में जो तीन मास मैंने बिताये वे मेरे जीवन के सबसे अधिक व्यस्त दिन थे। उस अवधि में मैंने कोई चार हज़ार मील की दूरी तय की, कभी रेल से, कभी नाव से, कहीं कार से और कहीं हवाई जहाज़ से। मैं तीन हफ़्ते जंजीबार और उसी जैसे द्वीप पेंबा में रहा और वहाँ से विमान द्वारा टांगानिका की राजधानी दारुस्सलाम गया। दारुस्सलाम से मैं विमान ही से मोंबासा पहुँचा जो अफ्रीका के पूर्वी तट की सबसे सुन्दर बन्दरगाह है। उसके बाद मैं रेल से नैरोबी गया जो कीनिया की राजधानी है और प्रायः भूमध्य रेखा पर स्थित है। नैरोबी से मैं मोटर पर सवार होकर रिफ़्ट घाटी से गुज़रकर युगाण्डा के उपवन प्रांत में पहुँचा। मैंने नील नदी के उद्गम पर खड़े होकर विक्टोरिया जलप्रपात देखा और नाव में बैठकर विक्टोरिया नियांज़ा का चक्कर लगाया। विक्टोरिया नियांज़ा संसार में मीठी जल की दूसरी सबसे बड़ी झील है। मैंने मसाका में अपनी समुद्र-यात्रा भंग की और वहाँ से कार में बैठकर सेरेंगेटी मैदानों में से होता हुआ मवांज़ा के लिए रवाना हुआ। सेरेंगेटी के मैदान जंगली जानवरों के शिकार के लिए प्रसिद्ध हैं। अपनी इस यात्रा के दौरान मैं बीसियों अफ़सरों और गैर-अफ़सरों से मिला, अनेक शिष्ट-मंडल मुझसे मिलने आये, कई सम्मेलनों में मैंने भाग लिया, सभाओं में भाषण दिये, क़स्बों का निरीक्षण किया और शायद इन सबसे ज़्यादा कठिन कार्य जो मैंने किया वह था दर्जनों गुजराती डिनर हज़म करना।

सबसे पहली जगह जहाँ मैं गया वह जंजीबार थी। मैंने वहाँ सुना कि वह वास्तव में एक अरब शहर है। मुझे ऐसा लगा कि उस नगर का विस्तार ऊपर और अन्दर की ओर अधिक था, बाहर की ओर नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि वहाँ न्यूयार्क जैसे गगनचुंबी भवन बने हुए हैं जो बादलों को बेध कर ऊपर निकल गये हैं, बल्कि यहां के मकानों में ऊपर की ओर विस्तार की प्रवृत्ति पाई जाती है—दायें-बायें उनका कोई फैलाव नहीं है। गलियाँ इतनी तंग और सँकरी

हैं कि एक का तो नाम भी 'आत्महत्या गली' पड़ गया है। मकान एक-दूसरे से इतने सटकर बने हुए हैं कि यदि कोई व्यक्ति चाहे तो अपने पड़ौसियों को उनके सहज-स्वाभाविक क्रियाकलाप में व्यस्त देख सकता है। इसी वजह से ज़ंजीबार शहर का वातावरण बड़ा मैत्रीपूर्ण बन गया है। वहाँ कोई नस्ली अलगाव नहीं था, अरब और हिन्दुस्तानी, यूरोपियन और स्वाहिली सब मिल-जुलकर रहते थे। लेकिन चाहे कोई धनी हो या दरिद्र इस गुंजान शहर को छोड़कर बाहर किसी खुले इलाक़े में अलग मकान लेकर, जिसमें एक पाईंबाग़ भी हो, रहने की कल्पना भी नहीं करता था—यहाँ तक कि वहाँ के मुर्दे भी ज़ंजीबार छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहते थे। मिसाल के तौर पर हिन्दू हाइ स्कूल उस जगह स्थित था जहाँ हब्शी ग़ुलामों का वध किया जाता था और यह प्रथा 1897 तक वहाँ प्रचलित थी जो दासता के उन्मूलन के बाद समाप्त हुई। मकानों के आसपास क़ब्र के पत्थर लगे हुए थे और वहाँ मेरी मुलाक़ात एक महिला से हुई जो ज़ंजीबार के ब्रिटिश मुख्य न्यायमूर्ति की फ्रांसीसी पत्नी थीं, वे युगांडा में जितना हब्शियों से डरती थीं, ज़ंजीबार में उन्हें उतना ही डर भूतों से लगता था।

ज़ंजीबार एक ब्रिटेन-संरक्षित राज्य था। वहाँ के सुल्तान से मैं दो-तीन बार मिला था। वे बूढ़े और बड़े दयालु स्वभाव के थे, यद्यपि वे नाममात्र के ही शासक थे पर उनका व्यक्तित्व बड़ा गौरवशाली था। जब भी मैं उनसे मिला उन्होंने पहले मुझे ठंडा शर्बत पिलाया और उसके फ़ौरन बाद गरम चाय पेश की। उनका मुझे एक ही शाही काम नज़र आया और वह था राजाज्ञाओं पर हस्ताक्षर करना। ये राजाज्ञाएँ ब्रिटिश रेज़िडेंट अल्लाहताला के नाम से तैयार करता था जो बड़ा रहीम और करीम है।

ज़ंजीबार लौंग के लिए मशहूर था। संसार की लौंग की 90 प्रतिशत माँग ज़ंजीबार ही पूरी करता था। वहाँ लौंग का पहला पौधा 1835 में वहाँ के महानतम् शासक सैयद सुल्तान ने लगाया था। उस ज़माने में उनका एक यूरोपीय सलाहकार था जिसने सुल्तान को राय दी थी कि यहाँ की मिट्टी गन्ने की खेती के लिए अधिक उपयुक्त है, लौंग के लिए नहीं। लेकिन एक समय वह आया जब यह सावित हो गया कि अरब का पूर्वज्ञान एक यूरोपीय के ज्ञान की तुलना में श्रेष्ठतर था। जब मैं ज़ंजीबार में था तो मैंने देखा कि गन्ने की खेती मुश्किल से कोई सौ एकड़ में होती होगी जबकि लौंग की खेती हज़ारों एकड़ों में होती थी।

मुख्यतः मेरा सम्बन्ध भी लौंग से ही था। 1933 के मध्य में ज़ंजीबार सरकार ने अनेक अधिनियम पास किये जो भारतीय हितों के प्रतिकूल थे। भारतीय समुदाय में आतंक फैला हुआ था। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि ये राजाज्ञाएँ

उन्हें द्वीप से निकाल बाहर करने के निर्मम षड्यंत्र का ही एक अंग थीं। उन्होंने भूमि-स्वत्व-हस्तांतरण-अधिनियम के जातिवादी स्वरूप की ओर संकेत किया जिसके अनुसार अरब और अफ्रीकी अपनी जमीन बिना रेजिडेंट की अनुमति के किसी और को नहीं बेच सकते थे। यह 'किसी और' शब्द मात्र एक प्रवंचना थी क्योंकि 'और लोगों' में सिर्फ़ भारतीय ही आते थे, यूरोपीय तो वहाँ ले-देकर 72 ही थे। भारतीयों ने इस राजाज्ञा पर जो आपत्ति की उसका समर्थन करना मेरे लिए संभव नहीं था क्योंकि भारत में स्वयं कुछ ऐसे प्रांत थे—जैसे पंजाब—जहाँ इसी प्रकार के अधिनियम लागू थे जिनके अनुसार कृषक वर्ग के अपनी भूमि का स्वत्व हस्तांतरित करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया था।

लेकिन लौंग के संबंध में जो राजाज्ञाएँ जारी की गई थीं उनका स्वरूप भिन्न था। उन राजाज्ञाओं का प्रधान लक्ष्य लौंग उगाने वालों का एक संघ स्थापित करना था जिसकी मदद से वे द्वीप के अंदरूनी और बाहरी व्यापार में अपनी इजारेदारी क़ायम करना चाहते थे। लौंग उत्पादक संघ की एक विचित्र बात यह थी कि लौंग उगाने वालों का उस संघ में नाम तक न था। वास्तव में वह उनका संघ था ही नहीं बल्कि उसे संघ कहना भी ग़लत होगा क्योंकि प्रबंधक बोर्ड के अलावा उसका कोई सदस्य ही नहीं था और प्रबंधक बोर्ड में तीन या चार यूरोपीय अधिकारी, नेशनल बैंक का प्रबंधक और उसका सचिव-प्रबंधक बार्टलेट थे जो किसी ज़माने में लौंग के व्यापार में भारतीयों से होड़ करते थे और कभी उन पर हावी न हो सके थे। जब मैंने पूछा कि इस संघ का नाम लौंग उत्पादक संघ क्यों रखा गया है तो मुझे बताया गया कि इसका कारण यह है कि यह संघ लौंग उगाने वालों के हितों का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। मैंने इस पर प्रत्युत्तर में कहा, 'इस तरह तो ज़ंजीबार सरकार भी अपने को ज़ंजीबार जनकल्याण संघ का नाम दे सकती है।'

ये राजाज्ञाएँ इसलिए और भी कष्टकर थीं क्योंकि ज़ंजीबार में रहने वाले भारतीय वस्तुतः विदेशी नहीं थे। न ही वे ऐसे ख़ानाबदोश थे जो कुछ समय के लिए वहाँ जा बसे हों। उन्होंने तो ज़ंजीबार को ही अपनी मातृभूमि बना लिया था। जब मैंने एक बूढ़े हिन्दुस्तानी व्यापारी से पूछा कि आपको भारत गये हुए कितने वर्ष हो गये तो उसने जवाब दिया कि मैं तो अपनी ख़तना के समय वहाँ था, फिर कभी नहीं गया। ज़ंजीबार आज जो कुछ भी है भारतीयों की ही बदौलत है। उन्होंने ही लौंग-उत्पादकों को वित्तीय सहायता दी थी, उन्होंने ही लौंग के लिए मंडियाँ तलाश की थीं और उन्होंने ही लौंग के व्यापार को जो स्थानीय व्यापार था, विश्वव्यापी व्यापार का रूप प्रदान किया था। ज़ंजीबार पर ही क्या समस्त पूर्व अफ्रीका के विकास में उनका योगदान बहुत असाधारण

था। मानव या पशुओं के प्रकोप की चिंता किये बिना वे अफ्रीका के उन दूरस्थ और बीहड़ प्रदेशों में पहुँच गये थे जहाँ यूरोप के लोग जाने की कल्पना भी न करते होंगे और उन्होंने उन प्रदेशों में सभ्यता का प्रकाश फैलाया था। मैं यहाँ एक ऐसे व्यक्ति का उद्धरण दे रहा हूँ जिस पर पक्षपात का आरोप नहीं लगाया जा सकता, और वे हैं विंस्टन चर्चिल :

'व्यापार के लिए जो पूंजी अब तक उपलब्ध हुई है उसका अधिकांश भाग शायद भारतीय बैंकरों का ही दिया हुआ है और उनकी यह स्थिति है कि अंग्रेज अधिवासी भी उनसे वित्तीय सहायता लेने में संकोच नहीं करते। सबसे पहले ब्रिटिश अधिकारी के यहाँ आने से बहुत पहले हिन्दुस्तानी यहाँ आ चुके थे। क्या किसी भी सरकार के लिए जिसमें मनुष्यों में होने वाले ईमानदारी के व्यवहार के प्रति लेशमात्र भी आदर-भाव है, यह संभव है कि वह ऐसी नीति अपनाए जिसके अनुसार उस भारतवासी को जानबूझकर उन इलाक़ों से भगा दिया जाए जिसमें उसने स्वयं को इस प्रकार बसा लिया है कि किसी भी लोक-आस्था को उससे कोई भय नहीं हो सकता ?'

ज़ंजीबार के संबंध में मैंने जो अपनी रिपोर्ट पेश की उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया कि ज़ंजीबार सरकार द्वारा पास की गई राजाज्ञाओं का परिणाम यह होगा कि भारतीयों को ज़ंजीबार से निकाल बाहर किया जायेगा। लिहाज़ा भारत सरकार ने ज़ंजीबार में भारतीयों के साथ होने वाले अन्याय का विरोध करने का बीड़ा उठाया। और यह विरोध और कुछ नहीं केवल गिरिजाशंकर बाजपेयी की सुसंस्कृत लेखनी थी। भारत सरकार ने सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इंडिया को अपने अभिवेदन भेजे और सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इंडिया ने अपने अभिवेदन सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर कालोनीज़ को भेज दिये और सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर कालोनीज़ ने ज़ंजीबार के रेज़िडेण्ट को लिखा। ज़ंजीबार के रेज़िडेंट ने सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर कालोनीज़ को उत्तर भेजा और सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर कालोनीज़ ने सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इंडिया को जवाब दिया और सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इंडिया ने भारत सरकार से कुछ और पूछताछ की। इस मंद-गामी पत्राचार का खेल हो ही रहा था कि ज़ंजीबार में हिन्दुस्तानियों की स्थिति बड़ी निराशाजनक हो गई। इतने में ही मेरी रिपोर्ट प्रकाशित हो गई जिसमें बताया गया था कि उपनिवेश सरकार किस सीमा तक भारतीय हितों की उपेक्षा कर सकती है। अब तो भारतीय जनता ने भी यह मामला अपने हाथों में लिया और भारतीय व्यापारियों ने ज़ंजीबार से आयात की हुई लौंग का बहिष्कार करना शुरू कर दिया। लौंगों की गाँठें की गाँठें बंबई और कलकत्ता में पड़ी रहीं और मजाल थी कि कोई उन्हें छुड़ाता। उस समय भारत की स्थिति बड़ी सबल थी,

ज़ंजीबार में पैदा होने वाली लौंग के 60 प्रतिशत उत्पादन की खपत भारत में होती थी। चुनांचे लौंग के बहिष्कार का आशानुकूल प्रभाव पड़ा। कुछ देर वार्ता होने के बाद ज़ंजीबार सरकार ने अपनी राजाज्ञाओं में संशोधन किया और भारत सरकार के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार ज़ंजीबार में भारतीय हित पर्याप्त रूप से सुरक्षित हो गये।

ज़ंजीबार से हम विमान द्वारा दारुस्सलाम पहुँचे। ज़ंजीबार के विचित्र, अरब तत्त्व प्रधान और पुरातन वातावरण से निकलकर जब हम दारुस्सलाम गये तो वहाँ पर हमें कुछ तड़क-भड़क और दिखावट नज़र आई। दारुस्सलाम पर यदि एक ओर जर्मनों की मेधा की छाप दिखाई देती थी तो दूसरी ओर उपनिवेशवादियों के रूप में उनकी सीमाएँ भी स्पष्ट दृष्टिगत होती थीं। जर्मन अधिकारी दारुस्सलाम में इस शान से घूमते-फिरते थे जैसे सारे शहर के मालिक हैं। और जो जर्मन पोत उस बंदरगाह से गुज़रते थे अपनी उदारता और अतिथि-परायणता का भरपूर प्रदर्शन करते थे। मुझे संदेह था कि उनकी वह अतिथि-परायणता जर्मन हृदय की उदारता से हरगिज़ पैदा नहीं हुई होगी। नात्सी सरकार अपने खोये हुए उपनिवेशों की पुन:प्राप्ति की योजना बना रही थी, हिटलर अंग्रेज़ों की प्रशंसा कर रहा था कि उन्होंने 'हिन्दुस्तानियों को चलना सिखाया है,' और मुसोलिनी एबिसीनियाइयों को चलना सिखाने के मन्सूबे बना रहा था !

दारुस्सलाम से हम हवाई जहाज से मोंबासा गये। वहाँ के स्नान स्थल बड़े सुंदर थे, हालांकि उनमें मगरों की भरमार थी। हमने सुना था कि अगर यूरोपियन और अरब किसी मगर की ज़द में आ जायें तो मगर हमेशा यूरोपियन को ही अपना भोजन बनाता है और यह जानकर मुझे कुछ संतोष हुआ था। मोंबासा संसार के हाथीदाँत के व्यापार का भारी केन्द्र था। वहाँ सफ़ेद और काले दोनों ही प्रकार के हाथीदाँत का व्यापार होता था। 'ब्लैक आइवरी' तो वहाँ हब्शी गुलामों के लिए बोलचाल का एक शब्द बन गया था। अरब हिन्दुस्तानी और यूरोपियन दासों के उस व्यापार से खूब धन कमाते थे। उस प्रख्यात गीत 'यीशु तुम्हारा नाम कितना मधुर लगता है।' की रचना एक दास-व्यापारी पोत के मालिक ने उस समय की थी जब वह मोंबासा में सैकड़ों हब्शी गुलामों को ले जाने के लिए उनकी प्रतीक्षा कर रहा था जो वहाँ के अंदरूनी भागों से इकट्ठे किये गये थे।

मोंबासा से रेल में सवार होकर मैं नैरोबी के लिए रवाना हुआ। पहले

हम उष्ण कटिबंधीय वनस्पतियों की एक पट्टी से गुज़रे, फिर एक मरुस्थल से होते हुए अंत में कीनिया की सुन्दर पहाड़ियों पर से गुज़रे। यद्यपि ग्लैडस्टन ने 1894 में कीनिया-युगांडा रेलवे का विरोध किया था लेकिन उसका निर्माण शुरू हो चुका था और 1903 में वह बनकर तैयार भी हो गई थी। उस रेल की सारी पटरी हिन्दुस्तानी मज़दूरों ने ही बिछाई थी। अफ्रीकियों ने तो उसे हाथ तक न लगाया था। वह रेलवे लाइन एक ऐसे प्रदेश से होकर निकाली गई थी जो उस समय क्या आज भी शेरों का अड्डा माना जाता है। अफ्रीकावासी उस जन्तु के तौर-तरीक़ों से भली भाँति परिचित थे और किसी भी स्थिति में उसका भोजन बनने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसी स्थिति देखी तो उपनिवेश कार्यालयवालों ने भारत सरकार के आगे मदद के लिए हाथ फैलाया और फलस्वरूप 1900 में भारत से 20,000 मज़दूर भेजे गये जिन्होंने काम शुरू कर दिया। उस देश में उन मज़दूरों पर क्या गुज़री और कैसी-कैसी मुसीबतें और ख़तरे उन्हें पेश आएं यह पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उन हृदयविदारक घटनाओं का वर्णन पैटरसन की प्रख्यात पुस्तक **मैन-ईटर्स ऑफ़ सावो** में किया गया है। हिन्दुस्तानी क़ुलियों में से एक ने जो वहाँ काम करता था और हर क्षण शेर के हमले और उसके निगल जाने के भय से त्रस्त रहता था, एक हिन्दुस्तानी कविता भी लिखी थी जिसका अनुवाद पढ़कर मैं द्रवित हो उठा था। उस कविता का एक उद्धरण देखिए :

मैं, रोशन इस देश अफ्रीका में आया और वास्तव में
मुझे यह एक विचित्र देश लगा,
यहाँ अनेक चट्टानें हैं, पहाड़ हैं और घने जंगल हैं जिनमें
शेरों और तेंदुओं का आवास है,
भैंसें, भेड़िये, हिरन, गैंडे, हाथी, ऊँटों की भी
यहाँ बहुतायत है और ये सभी इन्सान के शत्रु हैं,
गोरिल्ले, भयंकर बंदर मनुष्यों पर प्रहार करते हैं और भीमकाय
काले लंगूर, भूत-प्रेत और हज़ारों क़िस्म के पक्षी हैं,
यहाँ जंगली घोड़े, जंगली कुत्ते, काले साँप और वे सभी
पशु मौजूद हैं जिनकी कोई भी शिकारी इच्छा कर सकता है।
जंगल इतने अँधियारे और भयावह हैं कि उनमें प्रवेश करते
हुए बड़े शूरवीर योद्धा भी घबराते हैं।
अब मोंबासा शहर से युगांडा तक एक रेलवे लाइन बन गई है,
इस पटरी की सीमा पर जो वन हैं वहाँ वे शेर मौजूद हैं जो

'मानव भक्षी' कहलाते हैं, साथ ही इन वनों में काँटे
और काँटेदार झाड़ियाँ भी अनेक हैं।
मोंबासा से युगांडा तक की इस रेल के कुछ भाग अभी बन रहे
हैं और यहीं ये शेर मज़दूरों पर टूट पड़े और उन्हें खा गये।
उन शेरों का दिन-रात यही काम था और सैंकड़ों आदमी
इन हिंस्र जंतुओं के शिकार होते थे, उनके जबड़े रक्त से लाल
हो गये थे।
हड्डियाँ हों या मांस, चमड़ी हो या ख़ून वे सब कुछ निगल
जाते थे और कोई चिह्न ऐसा नहीं छोड़ते थे कि मरने वाले
का पता चल सके।
इन्हीं पिशाचों के डर से कोई सात-आठ सौ मज़दूर
तो काम छोड़कर भाग गये और बेकार पड़े रहे,
कोई दो-तीन सौ मज़दूर बाक़ी हैं लेकिन उन्हें भी मौत का
खटका लगा हुआ है,
वे अपनी जान ख़तरे में देखकर अपनी झोंपड़ियों में बैठे रहते हैं
और उनके दिल आने वाले ख़तरे के विचार से दहलते रहते हैं
उनमें से हरेक रात को आग जलाए रखता है और कोई भी
सोने का साहस नहीं कर पाता, लेकिन इसके बावजूद
उनकी जानें बच नहीं पातीं।
शेर की चिंघाड़ ऐसी भयंकर होती है कि उसे सुनकर
सारी धरती दहल जाती है, मनुष्य बेचारे का तो कहना ही क्या ?
जिधर देखो रोना-पीटना और मातम है और लोग बैठे हुए
चीख़ते-चिल्लाते हैं और शेरों के अत्याचारों का हाल सुनाते हैं।
मैं, रोशन हूँ, मज़दूरों का नेता। मैंने भी अपने ख़ुदा,
रसूल और मुफ़्ती से शिकायत की, दुआ की लेकिन सब बेकार।

कुछ दिन हमने नैरोबी में गुज़ारे जो पहाड़ी स्थलों की रानी कहलाता है। कीनिया-युगांडा रेलवे का बनना था कि कीनिया में यूरोपियनों का ताँता बँध गया। सबसे पहली यूरोपीय संस्था जिसका हमारे पास रिकार्ड है, 1903 में स्थापित हुई थी। उस समय यह चिल्ल-पों भी मची थी कि नैरोबी के आसपास की भूमि यूरोपियनों के लिए आरक्षित कर दी जाए। इस झगड़े का सबसे पहला शिकार मसाई क़बीला था। उन बेचारों को बड़ी निर्ममता से उन ज़मीनों से निकाल दिया गया जो उनके लिए सर्वश्रेष्ठ थीं। उनके बाद किकुयुओं की बारी

आई, उन्हें भी बाहर निकाल दिया गया। उनकी बेदखली विशेषत: हृदय-विदारक थी क्योंकि किकुयू बेचारे तन-मन से उस ज़मीन की सेवा करते थे और उन्हें वास्तव में उससे अपार लगाव था। दस वर्ष भी न बीते कि बेदखली का काम पूरा हो गया। लेकिन इस ज़माने की घटनायें उन जनजातियों के दिमाग़ों में चुभती रहीं। जब उनकी जीविका का सहारा उनसे छीन लिया गया, जन जातीय समाज के बंधनों से उन्हें दूर करके एक ऐसी सभ्यता में उन्हें ला बैठाया गया जहाँ कीनिया की विशिष्ट परिस्थितियों के संदर्भ में उन्हें उसका उज्जवल पक्ष कम और अंधकारमय पक्ष अधिक दिखाई दिया तो कीनियावासी निराशा में लीन हो गये। और यहीं से माउ माउ की बुनियाद पड़ गई।

अफ्रीकियों को निकालकर ही यूरोपियनों को चैन न पड़ा, वे हिन्दुस्तानियों को भी वहाँ से खदेड़ना चाहते थे। 1906 में एक भारतीय शिष्टमंडल इंग्लैण्ड के लिए रवाना हुआ ताकि भारतीय समुदाय के दुःख-दर्द की कहानी उपनिवेश कार्यालय में जाकर सुनाए। इस शिष्टमण्डल के नेता ए० एम० जीवनजी थे जिन्होंने एक वर्ष पहले महारानी विक्टोरिया की एक मूर्ति नैरोबीवासियों को उपहारस्वरूप भेजी थी। सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर कालोनीज़ लॉर्ड एल्गिन ने शिष्टमंडल को यह आश्वासन दिया कि 'भूमि-अधिग्रहण के संबंध में किसी भी जन-समुदाय के भाग पर क़ानूनी बंधन लगाना महामहिम की सरकार की नीति के अनुकूल नहीं है।' लेकिन इस सबके बावजूद भारतीयों के विरुद्ध आंदोलन ने ऐसा ज़ोर पकड़ लिया था कि 1915 में क्राउन लैण्ड्स आर्डिनेंस पास कर दिया गया जिसके अनुसार कीनिया के गवर्नर को यह अधिकार दिया गया कि वह भूमि में अंतर्जातीय हस्तांतरणों पर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है। कहना न होगा कि यह निषेधाधिकार हमेशा भारतीय के विरुद्ध ही प्रयोग में लाया जाता था। जब मैं कीनिया गया उस समय यूरोपियन समुदाय जो इस प्रशासनिक विभेद से संतुष्ट न था सांविधिक विभेद के लिए शोर मचा रहा था। उनकी माँग थी कि यूरोपियनों की विशिष्ट स्थिति का प्रतिष्ठापन परिषद् के आदेश द्वारा किया जाना चाहिए।

कीनिया में रहने वाले भारतवासियों के साथ बहुत सी और भी ज्यादतियाँ की जा रहीं थीं। वहाँ के अधिवासियों ने इस बात पर आपत्ति की कि हिन्दुस्तानियों और यूरोपियनों की मतदाता-सूची एक क्यों है इसे अलग-अलग बनाया जाए। उन्होंने भारतीयों के आप्रवास पर भी कठोर बंधन लगाने की माँग की, बल्कि यह कोशिश भी की कि उन्हें न सिर्फ़ रिहाइशी इलाक़ों में बल्कि व्यापारिक क्षेत्रों में भी यूरोपियनों से अलग रखा जाए। और मज़े की बात यह है कि यह सब कुछ ईसाई सभ्यता के नाम पर किया जा रहा था। अधिवासियों ने राजा को स्मरण

दिलाया कि आप 'धर्म-रक्षक' हैं। यह कोई 'थोथी उपाधि' नहीं है बल्कि ऐसी उपाधि है जिसके अनुसार राजा के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह 'ईसाई धर्म के उस पुष्प की रक्षा करे जो हाल ही में पूर्वी अफ्रीका में लगाया गया है,' यदि इसकी यथेष्ट देखभाल न हुई तो वह पावन पुष्प (मसीही धर्म) पूर्व के अन्य धर्मों* की तेजी से होने वाली वृद्धि के कारण सूखकर रह जायेगा। मैंने अपने प्रवास में देखा कि हिन्दुस्तानियों की छीछालेदर करने का कोई अवसर वे हाथ से नहीं जाने देते थे। एक महिला ने जो भारत में रह चुकी थीं अखबार में एक लेख प्रकाशित कराया जिसमें उन्होंने भारतीय विधवाओं का उल्लेख करते हुए कहा कि, 'वे उम्र में छोटी, गृहस्थी की दास और पुरुष सदस्यों की मिलीजुली संपत्ति मात्र होती हैं।' इस टिप्पणी का बड़ा मुँहतोड़ जवाब **डेमोक्रैट** के भारतीय संपादक ने दिया जिसमें यूरोप की स्त्रियों के नैतिक संबंधों की घोर निंदा की गई थी। नतीजा यह हुआ कि संपादक को गिरफ़्तार कर लिया गया, उस पर अभियोग चलाया गया और उसे देशनिकाला दे दिया गया। एक बार दो हट्टे-कट्टे नौजवान यूरोपियन रेल के उस डिब्बे में दाखिल हुए जिसमें माननीय सी० एफ० एण्ड्रयूज़, जो एक ऋषितुल्य समाज सुधारक थे, यात्रा कर रहे थे। उन यूरोपियनों ने उनकी भारतवासियों के प्रति सहानुभूति पर पहले तो उन्हें ताने दिये, फिर उनके गाल पर तमाँचा मारा और अंत में उनकी दाढ़ी में आग लगा दी। चर्चिल उस समय सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर कॉलोनीज़ थे, उन्होंने इस कायरतापूर्ण हमले की घोर निंदा की।

कीनिया एक बहुजातीय देश है, वहाँ से युगांडा जाकर मुझे कुछ संतोष हुआ। रिफ़्ट घाटी होते हुए हम अपनी मोटर से नैरोबी से एण्टेबे पहुँचे। यह घाटी रोडेशिया से शुरू होती है और फिर कीनिया, युगांडा, टांगानिका और एबिसीनिया से गुज़र कर उत्तर की ओर कोई 3,500 मील की दूरी तक चली गई है। कहा जाता है कि रक्त सागर और जॉर्डन घाटी भी इसी का विस्तार है। इसका उद्‌गम कब और कहाँ से हुआ, हम नहीं जानते। भूविज्ञानियों का कहना है कि संकुचन की मंद प्रक्रिया के द्वारा पृथ्वी के धरातल पर एक मेहराब बनाई गई थी, उसका कोई स्तंभ खिसक गया और वह मेहराब ढह गई और उसी का परिणाम यह भीमकाय खाई है जिसके दोनों किनारों पर समानांतर दीवारें चली गई हैं जो कुछ स्थानों पर तो समुद्रतल से 6000 फुट ऊँची हो गई हैं और कहीं-

* कीनिया फ्रॉम विद इन, ले० डब्ल्यू मैक्ग्रेगर रॉस (1927) पृ० 346

कहीं, जैसे मृतसागर के तले में, समुद्र तल से 2500 फुट नीचे को धँस गई हैं। और ऐसा लगता है मानो प्रकृति ने इस दृश्य को और भी अद्भुत बनाने के उद्देश्य से इस रिफ़्ट घाटी में बड़ी-छोटी और मीठी-नमकीन पानी की झीलें बिछा दी हैं जो ऐसी लगती हैं मानो उसके चेहरे के तिल हों और कहीं-कहीं जीवित तथा निष्क्रिय ज्वालामुखी पर्वतों के छोटे-छोटे निशान हैं जैसे कि उसके चेहरे पर मुहासों के दाग़ हों। हम मोटर से इस घाटी के सहारे चलते रहे और नैवाशा, नकुरू और विक्टोरिया झीलों से गुज़रकर अफ्रीका के स्वर्ग युगांडा में दाख़िल हुए।

युगांडा हमें एक बड़ा-सा बाग़ लगा। जितना सुन्दर वह देश था मैंने पूर्व अफ्रीका में दूसरा नहीं देखा। खजूर के वृक्षों, उष्ण कटिबंधीय वनों और बल खाते स्रोतों के कारण वह पड़ौसी देश कीनिया से भी अधिक आकर्षक बन गया है। उसका सौंदर्य केवल प्राकृतिक स्थिति या दृश्यों के कारण ही नहीं बल्कि नैतिक दृष्टि से भी वह एक सुंदर प्रदेश है। वहाँ न कोई पृथक्करण है, न कोई जातीय समस्या और न ही अंग्रेज़ों की कोई आबादी। युगांडा इन तमाम बुराइयों से इस लिए बचा रहा कि वहाँ मच्छरों की बहुतायत है—खास तौर से देशभक्त मच्छरों की जो अपने देशबंधु को तो शायद छोड़ दें लेकिन घुसपैठिये के लिए उनके यहाँ कोई रिआयत नहीं है। जहाँ कोई उनके हत्थे चढ़ा कि उन्होंने उसे धर दबाया और मलेरिया की वह भयंकर क़िस्म की बीमारी जिसे ब्लैक वाटर कहा जाता है उसके शरीर में उतार दी। उस घातक रोग से बचने के लिए मैं वहाँ रोज़ दस ग्रेन कुनैन की गोलियाँ खाया करता था। अभी कुछ वर्ष पहले तक युगांडा में जाना संभव नहीं था। स्पेक नामक व्यक्ति ने 1862 में इसकी खोज की थी, हाँ हिन्दुस्तानी व्यापारी वहाँ इससे पहले ही पहुँच चुके थे। वास्तव में स्पेक को भारतीय व्यापारियों से ही पता चला था कि युगांडा नाम का कोई राज्य भी अफ्रीका में मौजूद है। इस प्रदेश की खोज के पहले तक अफ्रीका 'अंधकारमय महाद्वीप' कहलाता था—इतना अंधकारमय कि स्विफ़्ट ने कहा था :

अफ्रीका के नक़्शों में जंगली तसवीरों से
खाली जगह भरते हैं
अवासयोग्य स्थानों पर नगरों के अभाव में
हाथी खड़े करते हैं।

एण्टेबे युगांडा की राजधानी थी। वह कुछ-कुछ नई दिल्ली जैसा था, सादा और साफ़-सुथरा लेकिन देश भर का प्रमुख नगर। उससे कुछ दूरी पर कंपाला था

जो पुरानी दिल्ली की तरह शोर-गुल और घमाघमी से भरपूर मानो अपने नवोदित पड़ौसी की अहंकारपूर्ण वैभवशालिता पर नाक-भौं चढ़ा रहा हो या उँगलियाँ चटखा रहा हो। रोम की ही तरह कंपालानिवासी भी उसे सात पहाड़ियों का नगर कहते हुए गर्व का अनुभव करते थे। लेकिन कंपाला और एण्टेबे से भी अधिक दिलचस्प वहाँ का एक छोटा क़स्बा जिंजा था जहाँ का विक्टोरिया जल प्रपात संसार भर में प्रसिद्ध है। वहाँ मैंने नील नदी के दर्शन किये जो वहीं से अपनी 3600 मील लंबी यात्रा आरंभ करती है और भूमध्य सागर में जाकर गिरती है। हमने वहाँ देखा कि दरियाई घोड़ा अपने जलमग्न शरणस्थल विक्टोरिया नियांज़ा से किस प्रकार धीरे-धीरे और चालाकी के साथ निकल कर बाहर आता है। उस झील का नाव द्वारा चक्कर लगाने में हमें पूरा एक सप्ताह लगा। कभी तो वह झील हमें एक सुदंर समुद्रताल जैसी लगी और कभी विशाल समुद्र। उसके किनारे कहीं-कहीं बहुत नीचे और पैपीरस से घिरे हुए दिखाई दिये और कहीं 3000 फुट से भी अधिक ऊँचे नज़र आये। मुसोमा में हमने अपनी समुद्र यात्रा समाप्त की और मोटर के ज़रिये सिरेंगेटी मैदानों को पार किया जहाँ हमें सैंकड़ों ज़ेबरे और जंगली चीतल वहाँ की शानदार सड़क पर चौकड़ी भरते दिखाई दिये। वहीं हमने नाबागोबा झील भी देखी जिसके निकट ट्रेडर हार्न नामक फ़िल्म के लिए अनेक चित्र लिये गए थे। यही वह जगह थी जहाँ एक मच्छर ने फ़िल्म की नायिका पर यह उपकार किया कि उसे काट लिया और उसे अपनी सौंदर्य-क्षति के लिए एक भारी रक़म क्षतिपूर्ति के रूप में दिलवा दी। ज़िला कमिश्नर ने मुझे बताया कि फ़िल्म का कैमरामैन बुकोबा के दरियाई घोड़े को आकृष्ट करने के लिए घास पर शराब छिड़क दिया करता था और उसकी यह तरकीब सफल सिद्ध हुई क्योंकि गंध से आकृष्ट होकर दरियाई घोड़े चले आते थे। मैंने यह भी सुना कि दरियाई घोड़ा शाकाहारी होता है लेकिन जब मुझे पता चला कि वह मांस तो नहीं खाता लेकिन शराब पी लेता है तब कहीं जाकर मुझे कुछ तसल्ली हुई।

युगांडा के लोग अफ्रीका के शेष भाग के लोगों से कहीं अधिक प्रगतिशील थे। किसी भी समाज की अवस्था का श्रेष्ठ दर्पण वहाँ की स्त्रियाँ होती हैं। कीनिया में किकुयुओं की स्त्रियाँ या तो लकड़हारिनें थी या पनिहारिनें। मैंने अक्सर देखा कि जिन स्त्रियों का अपना वज़न मुश्किल से 120 पौंड होगा वे इससे दुगुना वज़न ढो लेती थीं। मैंने यह भी सुना था कि उनमें जो स्त्रियाँ कुछ अधिक हृष्ट-पुष्ट हैं वे पियानो तक बड़ी आसानी से ले जाती हैं। लेकिन बगांडा की स्त्रियाँ कुछ भिन्न प्रकार की थीं। उनका रंग गहरा कत्थई था, बाल मुँड़े हुए, सुडौल कंधे और पतले नाक-नक़्शे थे और इस पर उनमें अपना एक अलग आकर्षण था।

अफ्रीका की सभी जनजातियों में एक बात आम पाई जाती थी और वह था उनका लय-बोध। उन्हें नृत्य से स्वाभाविक रुचि थी, यहाँ तक कि बच्चे भी नृत्य कला में प्रवीण होते थे। ऐसा लगता था मानो वे अपनी माँ के गर्भ से नाचते-नाचते आते हैं और नाचते-नाचते ही मृत्यु की गोद में जा सोते हैं। एक नाच जो मैंने कीनिया में देखा उसे देखकर मैं हैरान रह गया कि आखिर वह था क्या—कोई बाज़ीगरी का तमाशा था या यौन-व्यापार था या कोई जादू का खेल था।

कंपाला में मैंने एक सुंदर प्रदर्शनी देखी। वह अफ्रीकी नृत्यों की प्रदर्शनी थी जिसमें काबका की राजनर्तकी ने भाग लिया था। इधर घंटियों की आवाजें आ रहीं थीं और उधर नर्तक अपने शरीर के प्रत्येक ग्रंग को धीरे-धीरे और ज़ोर-ज़ोर से ऐंठ-मरोड़ कर उसका प्रदर्शन कर रहे थे। एक नृत्य का समापन मदिरा-पानोत्सव पर हुआ। उसके बाद धीरे-धीरे दिखाये जाने वाली ऐंठन और अधिक तीव्र मुद्राओं में परिणत हो गई। उसमें पुरुष तो ऊपर को छलाँगें लगाते थे और स्त्रियाँ इतरा-इठलाकर अखाड़े में चलती हुई किसी भी दर्शक की बाँहों में जा बैठती थी और वह हैरान रह जाता था। एक और नाच जो मुझे देखने का अवसर मिला वह जुड़वाँ बच्चों के जन्मोत्सव पर हुआ था। नृत्य का आरंभ इस प्रकार हुआ कि पहले तो नर्तकों ने माता-पिता की सुजननता पर उन्हें बधाई दी और उनका उपहास करते हुए कुछ अश्लील चुटकुले सुनाये जिसका माँ ने तो आनंद उठाया लेकिन पिता ने जिसे अपनी मर्दानगी का कुछ ज़्यादा एहसास था उन चुटकुलों को पसंद नहीं किया। धीरे-धीरे वह नृत्य प्राकृतिक स्तर से उठकर अतिप्राकृतिक स्तर की ओर अग्रसर हुग्रा। अश्लीलता की जगह गंभीरता ने ले ली और संगीत की ध्वनि मंद होते-होते निश्शब्द गुनगुनाहट में विलीन हो गई। मुझे किसी ने बताया कि ये लोग शांत होकर जन्म-मृत्यु की देवियों से प्रार्थना कर रहे हैं कि वे माता-पिता को एक अपकर्म करने के लिए क्षमा करें। मैं भी उस प्रार्थना में शामिल हो गया क्योंकि मैं भी दो जोड़ी जुड़वाँ बच्चों का बाप था और अपने पाप के लिए क्षमा-याचना करना चाहता था।

1963 में जब मैं अपनी आत्मकथा लिखने बैठा और मैंने 1934 की अपनी अफ्रीका-यात्रा का स्मरण किया तो मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन देशों में जो युगांतरकारी राजनीतिक उथल-पुथल हुई है क्या उस समय किसी ने उसकी कल्पना भी की थी। किसी को स्वप्न में भी यह खयाल न आया होगा कि आगामी पच्चीस वर्षों में ही अफ्रीका—जो अफ्रीकियों का ही देश है—अपनी चिर निद्रा से सहसा जाग उठेगा और जीवन के इस संग्राम में सक्रिय हो जायेगा।

अनेक अफ्रीकी राज्य देखते-देखते स्वाधीन हो जायेंगे और 'अफ्रीकी-एशियाई' जैसा एक नया शब्द संसार की राजनीतिक शब्दावली में प्रवेश करेगा या अफ्रीकी-एशियाई राष्ट्र पुनः स्थापित राष्ट्र संघ में अपना इतना असर पैदा कर लेंगे कि दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध एकमत होकर उसकी जातीय नीतियों की निंदा कर सकेंगे।

1930–40 में लंदन समस्त संसार की धुरी समझा जाता था। ज्योंही मैं अफ्रीका से लौटा हमने आठ महीने की छुट्टी ली और बिना किसी कार्यक्रम या विचार के अपने-आप लंदन चले गये। दिसंबर का महीना था और ज़ाहिर है कि लंदन कोई स्वास्थ्यप्रद स्थान भी नहीं था। मैं अनुजी को बड़े गर्व के साथ ऑक्सफ़ोर्ड ले गया कि उन्हें विभिन्न स्थान दिखाऊँगा जिनसे मेरी स्मृतियाँ संलग्न हैं, विशेषकर क्राइस्ट चर्च और मीडोज़ और वहाँ से दिखाई देने वाले मेरे अपने कमरे जिनमें मैं रहा करता था। लेकिन यह देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ कि ऑक्सफ़ोर्ड तो बिल्कुल बदल चुका था। शहर में कारों, बसों और लारियों की बहुतायत थी जिनका मेरे ज़माने में ऑक्सफ़ोर्ड में नाम-निशान तक न था। सड़क पार करने के लिए अब वहाँ पंक्ति में खड़ा होना पड़ता था, जहाँ कभी चिड़ियों की चहचहाहट सुनाई देती थी वहाँ मोटर के हॉर्न गूंज रहे थे और घंटियों की वे मंद-मधुर आवाज़ें जो मध्ययुग के अंतिम सम्मोहन की याद दिलाती थीं अब कहीं सुनने को नहीं मिल सकती थीं। लेकिन इस सबके बावजूद जितने दिन हम ऑक्सफ़ोर्ड रहे हमने बड़ा आनंद उठाया और वही दिन हमारे इंग्लैण्ड के प्रवास में सबसे अधिक दिलचस्प साबित हुए।

दिसंबर के अंत में हमने महाद्वीप का रुख किया ताकि वहाँ सूर्य का प्रकाश पा सकें। वहाँ एन० आर० पिल्लै और उनकी पत्नी डिक्स भी अपनी कार में हमसे आ मिले और हम सबने साथ मिलकर फ्रांसीसी तथा स्पेनी दोनों रिविएरा की खोज की। हमने रोकरब्रन को जो मेंटन और मॉण्टे कार्लो के बीच में स्थित है अपना हेडक्वार्टर बनाया और मोटर में सवार होकर पहले पूर्व की ओर गये और फिर पश्चिम का भ्रमण किया। अपनी उसी यात्रा के दौरान हमने मिलान, वेनिस और कार्टिना डेंपेज़ो नगर देखे और वहाँ वे सभी वस्तुएँ और स्थल देखे जो पर्यटकों के लिए दर्शनीय माने जाते हैं, जैसे मिलान का प्रधान गिरजा, वेनिस में 'यीशु के आँसू' और डोलोमाइट्स जो देखने में बड़ा अद्भुत था। फिर हमने अपनी मोटर का रुख पश्चिम की ओर मोड़ा। नाइम्स और कैरकासान होते हुए और पिरेनीज पार करके हम स्पेनी रिविएरा के किनारे चलते गये जो हमें अपने फ्रांसीसी स्पर्धी (रिविएरा) के मुक़ाबिले में बहुत ही स्वाभाविक और अछूता नजर आया। वहाँ से हम बर्गास, बार्सीलोना, मैड्रिड और फिर

टोलेडो गये जो हमारे आने के कुछ महीने बाद गृहयुद्ध के कारण ध्वस्त हो गया।

बार्सीलोना में हमारी मुलाक़ात एक हिन्दुस्तानी रामोन (रमन का स्पेनी रूप) पणिक्कर से हुई जो बड़ा दिलचस्प आदमी था। वह बीसवीं शताब्दी के आरंभ में पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड गया था और धींगरा का मित्र था जिसने सर कर्ज़न विली का वध किया था। सर कर्जन राज्य सचिव की परिषद् के सदस्य थे। जब स्कॉटलैण्ड यार्ड वालों ने धींगरा के साथी-संगियों के बारे में जाँच-पड़ताल शुरू की तो पणिक्कर भाग कर स्पेन चला गया। वहाँ उसने एक सुंदर स्पेनी लड़की से विवाह कर लिया और अपना भारी व्यापार स्थापित कर लिया, लेकिन उसका दिल अब भी हिन्दुस्तान में ही पड़ा था। जब उसने मलाबार में अपने बचपन के और रिश्तेदारों के क़िस्से बड़ी भावुकता के साथ हमें सुनाये तो हमारा हृदय द्रवित हो उठा। अपने संबंधियों को देखे हुए उसे अर्सा बीत चुका था और अब उन्हें देखने की कोई संभावना भी न थी क्योंकि वह जानता था कि जब तक भारत पर ब्रिटेन का शासन रहेगा उसे पासपोर्ट मिलने की कोई आशा नहीं थी। जब हमने कुछ भजन उसे सुनाये जो बचपन में उसे भी याद थे तो उसकी आँखें डबडबा आईं। सच है परदेश में चाहे कोई निर्वासित व्यक्ति कितना ही खुशहाल क्यों न हो लेकिन उसके मन का एकाकीपन उसे हमेशा सालता रहता है।

अपनी छुट्टी के दौरान मैंने इतनी संस्कृत सीख ली थी कि मूल भगवद्गीता पढ़ सकूं। कुछ-कुछ संस्कृत तो मैंने ऑक्सफ़ोर्ड में ही सीख ली थी क्योंकि मैं वहाँ प्रो० मैक्डानेल के संस्कृत व्याख्यान सुनने जाया करता था लेकिन चूंकि संस्कृत का व्याकरण मुझे बहुत कठिन लगा था इसलिए मैंने संस्कृत छोड़कर फ्रांसीसी सीखना शुरू कर दिया था। अब मैंने अनुजी से संस्कृत पढ़ना शुरू की। मैंने गीता के कुछ सौ श्लोक कंठस्थ कर लिये थे यानी हर अध्याय के दस-बारह श्लोक, जो आज भी मैं अक्सर मन-ही-मन दोहराया करता हूँ। जो श्लोक मैंने याद किये थे वे नहीं थे जो रहस्यवाद या परलोक से संबद्ध हैं बल्कि ये वे श्लोक थे जो हम जैसे दुर्बल मर्त्य प्राणियों के लिए पथप्रदर्शक और ढाढ़स बँधाने वाले हैं। हम लोग जो मृत्यु की छाया में ही जीवित और कर्मरत हैं और मन में कुछ ऐसी धुँधली-सी आशा रखते हैं कि सुकर्मों और पुण्यों के फलस्वरूप तथा कई योनियों में जन्म लेने के पश्चात् अंततः हम जन्म-मरण या आवागमन के कष्टों से मुक्त हो जायेंगे।

गीता को पढ़कर मुझ पर हिन्दू धर्म की महत्ता और सहिष्णुता का ऐसा भारी प्रभाव पड़ा जो इससे पहले कभी नहीं पड़ा था। भला ऐसा कौन सा धर्म है जो अपने संरक्षकों के संबंध में यह कहेगा :

यावानार्थ उद्पाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

दूसरा कौन सा धर्म है जिसमें ईश्वर ने स्वयं कहा हो :

येऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्याविधिपूर्वकम् ॥

नई दिल्ली

००

छुट्टी समाप्त होने पर मैं भारत सरकार का उप-सचिव नियुक्त किया गया और मुझे शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि विभाग में तैनात कर दिया गया। अन्य कामों के अतिरिक्त इस विभाग के ज़िम्मे विदेश में रहने वाले भारतीयों की देखभाल का काम भी था। जब एन० आर० पिल्लै ने हमें लंदन से विदा किया तो कहा, 'जाओ और भारत में जाकर तहलका मचाओ।' उस ज़माने में जब महत्त्वाकांक्षी, युवा अधिकारी केन्द्रीय सचिवालय में भेजे जाते थे तो उनमें इसी प्रकार का उत्साह और उमंग हुआ करती थी। स्वयं एन० आर० पिल्लै ने एक अवर सचिव के रूप में बड़े प्रशंसनीय काम किये थे बल्कि कहना चाहिए कि तीस से भी अधिक वर्षों तक वे वाणिज्य सचिव, मंत्रिमंडल सचिव और महासचिव के पदों पर बड़े-बड़े कारनामे करते रहे थे।

हम लोग वाइसराय ऑफ़ इंडिया नामक एक शानदार जहाज पर सवार होकर भारत के लिए रवाना हुए। यह जहाज़ दूसरे विश्व युद्ध के दौरान डूब गया। और जिस उच्च पदाधिकारी (वाइसराय) के नाम पर इसका नाम रखा गया था वह भी दूसरे महायुद्ध की भेंट चढ़ गया क्योंकि इसमें तो कोई संदेह है ही नहीं कि युद्ध के छिड़ते ही भारत की स्वाधीनता की 'प्रक्रिया की गति तीव्र हो गई और शीघ्र ही वाइसराय की जगह भारत के राष्ट्रपति ने ले ली। दो महायुद्धों ने ग्रेटब्रिटेन को इतना निढाल कर दिया था कि अब उसमें न तो इतनी शक्ति ही रही थी कि वह तलवार के बल पर विद्रोही जनता का दमन करके अपने साम्राज्य की रक्षा कर सकता था और न ही किप्लिग की तरह उन लोगों को घृणा की दृष्टि से देखने का साहस जुटा सकता था जिसने कहा था :

> सिन्धु के स्वामित्व का मूल्य यदि शोणित है
> तो हे ईश्वर, उसे हमने पूरा चुका दिया है

बल्कि अब तो उनमें उस उदारवाद की भावना पुन: जागृत हो गई थी जो ब्रिटिश जन-जीवन का हमेशा से एक अभिन्न अंग रही है। पहले विश्व युद्ध के फलस्वरूप 1917 की ऐतिहासिक घोषणा प्रकाशित हुई जिसमें ग्रेट ब्रिटेन ने

भारत में अपने उद्देश्य की व्याख्या की थी और दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति पर वहाँ श्रमदल की सरकार आ गई जो भारत को स्वतंत्र करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थी। इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन ने जिस सम्मान के साथ साम्राज्य का भार उतारा उसकी मिसाल प्राचीन या वर्तमान काल में किसी और साम्राज्यवादी शक्ति के यहाँ नहीं मिल सकती।

इन आने वाली घटनाओं का आभास भारत में पहले से ही हो रहा था। अलबत्ता 1930-40 के दौरान केन्द्र-सरकार ने उन घटनाओं की उपेक्षा करने का उपक्रम किया था या कहना चाहिए उसको कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया था। दिल्ली में मेरा कार्यकाल भारत में ब्रिटिश शासन का उत्कर्ष-काल साबित हुआ। दूसरा असहयोग आंदोलन शांत हो चुका था, महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू जेल में आराम कर रहे थे और जिन्ना, जिनसे यह आशा थी कि वे कांग्रेस के मार्ग में बाधा खड़ी करेंगे, दुबारा भारतीय राजनीति में उतर आये थे। कांग्रेस का क्रांतिकारी उत्साह जो हर दस साल में घटता-बढ़ता रहा था, अब ठण्डा पड़ रहा था। भारतीय स्वाधीनता के विरोधी यह समझे बैठे थे कि अब कांग्रेस में खोई हुई शक्ति नहीं आ पायेगी। इसी ज़माने में कांग्रेस को शासन की बागडोर दी जाने वाली थी क्योंकि उसने अब सिद्धांततः प्रांतीय स्वायत्तता को स्वीकार कर लिया था। अब तक कांग्रेस प्रांतीय स्वशासन का विरोध करती आई थी लेकिन अब उसने 'पूरी जाती देखिए आधी लीजै बाँट' की कहावत चरितार्थ करते हुए यह बात मान ली थी और अब वह दिन आ गया था जब अधिकांश प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल बनने वाले थे, यह और बात है कि गवर्नरों के हाथों में तब भी पर्याप्त अधिकार रहते थे। लेकिन केन्द्र इन मंत्रिमंडलों से मुक्त था और ग्रेट ब्रिटेन ने बहुत सोच-समझकर यह निर्णय किया था कि यदि निकट या सुदूर भविष्य में केन्द्र पर आँच आई और वहाँ भी शक्ति का पुनर्विभाजन करना पड़ा तो वहाँ ऐसी सरकार बनेगी जिसमें प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी दोनों ही प्रकार के तत्त्व रहेंगे यानी कांग्रेस, मुस्लिम लीग और राजा-महाराजा और ये तीनों न केवल एक अच्छा संतुलन बनाये रखेंगे बल्कि एक-दूसरे में समन्वय भी क़ायम रह सकेगा, उधर अवशिष्ट अधिकार ब्रिटेन के ही हाथों में रहेंगे। लेकिन कुल मिलाकर देखा जाए तो 1935 में यह स्थिति थी कि शायद ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्यास्त कभी नहीं होगा।

भारत में ब्रिटिश शासन के उत्कर्ष के समय लॉर्ड विलिंगडन यहाँ के वाइसराय थे जिन्होंने उस समय पूरे आत्मविश्वास और बड़े संयम से काम लिया। जब उनकी नियुक्ति हुई तो सभी ने मिलकर इसका अनुमोदन किया था। दिल्ली आने से पहले ही उनकी अच्छी-खासी ख्याति फैल चुकी थी। वे भारत

के दो बड़े प्रांतों—मद्रास और बम्बई—के गवर्नर रह चुके थे और बड़े लोकप्रिय थे, इसके अलावा वे कनाडा के सफल गवर्नर जनरल भी रह चुके थे। और सच पूछिए तो वाइसराय बनने के बाद जो भाषण उन्होंने शुरू-शुरू में दिये उनमें यह भविष्यवाणी भी की थी कि मैं शायद भारत का अंतिम वाइसराय होऊँगा और शायद मैं ही यहाँ का पहला संवैधानिक गवर्नर-जनरल भी बनूँगा। उनका ऐसा विचार शायद इसलिए रहा हो कि वे कनाडा की डोमीनियन में इसी पद पर रहकर आए थे। लेकिन परिस्थितियों ने जो रूप धारण किया उससे पता चलता है कि उनके ये शब्द कितने निरर्थक थे क्योंकि वह भविष्यवाणी उनके सामने तो क्या उनके जाने के बहुत समय बाद तक सच्ची साबित न हो सकी।

भला लॉर्ड विलिंगडन बम्बई और मद्रास के जितने सफल गवर्नर रहे उतने ही असफल वाइसराय क्यों रहे? इसका मुख्य कारण यह था कि ग्रेट ब्रिटेन ने प्रान्तीय स्वायत्तता तो प्रदान कर दी थी लेकिन उसके आगे वह भारत को अन्य राजनीतिक रिआयतें देने के लिए बिल्कुल तैयार न था। लेकिन यहाँ बात लॉर्ड विलिंगडन के व्यक्तिगत स्वभाव की थी। वे अपने चतुर्दिक् वातावरण से बहुत जल्दी प्रभाव ग्रहण कर लेते थे और उनकी नीति हमेशा न्यूनतम प्रतिरोध की रहती थी। मद्रास और बम्बई में जहाँ वे गवर्नर रह चुके थे प्रांतीय स्वायत्त शासन लागू हो चुका था और उनके पास निर्वाचित मंत्रियों के समर्थन के अलावा कोई चारा ही न था। लेकिन दिल्ली में यह स्थिति थी कि वाइसराय की परिषद् और सचिवालय दोनों में भारतीय सिविल सेवा की गहरी जड़ें जमी हुई थीं। आइ० सी० एस० व्यक्ति को यही प्रशिक्षण दिया जाता था और यही उसका स्वभाव भी बन गया कि वह शासन करना अपना सबसे पहला कर्त्तव्य समझता था। स्वतन्त्रता वांछनीय तो हो सकती है लेकिन क़ानून और व्यवस्था का नम्बर सबसे पहले आता है अन्यथा वही स्वतंत्रता उच्छृङ्खलता का रूप धारण कर सकती है और जहाँ तक लोकतंत्र का प्रश्न है:

शासन तंत्र की बहस मूर्ख लोगों का काम है
वही तंत्र अच्छा जिसका अच्छा इंतिजाम है

ब्रिटिश सरकार के लिए महात्मा गाँधी एक हौवा थे। ब्रूमफ़ील्ड जो एक प्रबुद्ध जज थे और जिन्होंने गाँधीजी को छह वर्ष के कारावास का दण्ड दिया था, यह समझते थे कि वे चाहे व्यक्तिगत रूप में कितने ही निष्ठावान क्यों न हों, चाहे वे संत ही क्यों न हों, लेकिन किसी व्यक्ति की वास्तविकता उसके

व्यवहार से प्रकट होती है और चौरी-चौरा के कांड ने यह सिद्ध कर दिया था कि यदि गांधीजी के बढ़ते हुए प्रभाव को न दबाया गया तो भारत अंग्रेजों के हाथों से निकल जायेगा।

कुल मिलाकर वाइसराय के भारतीय सिविल सेवा के परामर्शदाता ईमानदारी से यह समझते थे कि यदि स्वतन्त्रता-आंदोलन की गति इसी प्रकार बढ़ती गई तो भारत में अव्यवस्था फैल जायेगी। लॉर्ड विलिंगडन में न तो माउण्टबैटन का सा अदम्य साहस था, न वेवल की-सी प्रबल निष्ठा और न ही इरविन जैसी दृढ़-आस्था कि वे अपने आसपास के वातावरण से ऊपर उठ सकते। उनके समय में केन्द्रीय सचिवालय ही सर्वेसर्वा था। उसे पक्का विश्वास था कि जो कुछ भी प्रस्ताव ऊपर भेजे जायेंगे वायसराय उनका तत्काल अनुमोदन कर देगा। जो कागज़ात उनके सामने पेश किये जायेंगे उन पर उनके आद्यक्षर 'डब्ल्यू' लिखकर आ जायेंगे या जैसा कि अक्सर होता था मैविक, जो वाइसराय का निजी सचिव था, केवल यह टिप्पणी लिखकर फ़ाइल लौटा देगा, 'परम मान्य अनुमोद करते हैं।'

मुझे अपने ही विभाग की घटना याद है जिससे पता चलता था कि जो कागज भी परम मान्य के पास जाता था वे उसका तुरन्त अनुमोदन करके लौटा देते थे। सर रज़ा अली जो दक्षिण अफ्रीका में भारत सरकार के एजेंट थे और एक अर्से से विधुर चले आते थे दक्षिण अफ्रीका में एक भारतीय स्त्री के प्रेमपाश में बँध गए। वह एक क़ुली की लड़की थी और अपनी जीविका के अर्जन के लिए एक मिठाई की दुकान चलाती थी। बाजपेयीजी ने—जो उस समय उस विभाग के सचिव थे—उस घटना को इस दृष्टि से देखा कि भारत सरकार के प्रतिनिधि के लिए अपने से निम्नतर स्तर की लड़की से विवाह करना उचित नहीं है और यदि रज़ा अली अपने इरादे पर अड़े रहें तो उन्हें वापस बुला लिया जाए और इस सिफ़ारिश के साथ फ़ाइल लॉर्ड विलिंगडन को भेज दी गई और वहाँ से वही 'परम मान्य अनुमोदन करते हैं' लिखकर वापस आ गया। कुछ दिन बाद स्थायी सचिव सर जगदीश प्रसाद उस विभाग के अध्यक्ष बने। उनका विचार था कि विवाह व्यक्तिगत मामला होता है और यदि रज़ा अली अपनी पसंद की लड़की से शादी करना चाहते हैं तो इसमें कोई बुराई की बात नहीं है, बल्कि हो सकता है इस तरह के विवाह से दक्षिण अफ्रीका में भारतीय समुदाय का मान और बढ़ जाए। लिहाज़ा उन्होंने वाइसराय से यह सिफ़ारिश की कि रज़ा अली को विवाह की अनुमति प्रदान कर दी जाए और फ़ाइल जब वापस आई तो उस पर फिर वही शब्द अंकित थे : 'परम मान्य अनुमोदन करते हैं।'

यह तो थे लॉर्ड विलिंगडन, लेकिन लेडी विलिंगडन का चरित्र उनसे अधिक प्रगतिशील और सक्रिय था। उन्हें अंग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनों विभिन्न

दृष्टिकोण से देखते थे और उनके प्रति श्रद्धा रखते थे। अंग्रेजों का विचार था कि वे एक प्रभावशाली, रूपवान और अतिथिपरायण महिला हैं और साथ ही वे वाइसराय भवन की मर्यादा का ध्यान रखती हैं। वे यह भी जानती हैं कि भारतीयों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाए। वे उनके नामों से जो बड़ी कठिनाई से उच्चरित होते थे परिचित थीं और जैसा व्यक्ति होता उसके साथ उनका वैसा ही रवैया होता था। किसी से वे हँसकर, किसी से मुस्कराकर और किसी से त्योरी चढ़ाकर बात करती थीं। उन्हें लोगों से काम लेना आता था और उनके मन की साधारण सी लहर का भी हर जगह ख़याल रखा जाता था और उसका महत्त्व आदेश से कुछ कम नहीं होता था। मिसाल के लिए उन्हें बैंगनी रंग बहुत पसंद था और जहाँ कहीं वे जातीं दीवारें, पर्दे और साजसज्जा इत्यादि सभी बैंगनी रंग के कर दिये जाते थे। जब उनका सुपुत्र लॉर्ड रैटंडन नई दिल्ली आया तो यहाँ की एक सड़क का नाम जो किसी लोदी बादशाह के नाम पर था, बदल कर रैटण्डन रोड रख दिया गया जबकि उनके लड़के की कोई विशेष प्रतिष्ठा भी नहीं थी।

जब मैं केन्द्रीय सचिवालय में दाख़िल हुआ तो बहुत घबरा रहा था। लेकिन रफ़्ता-रफ़्ता मुझे मालूम हुआ कि मेरा डर बेकार है—मैं तो एक विशाल यंत्र का एक छोटा-सा पुर्ज़ा मात्र हूँ। वह मशीन वे लोग चलाते थे जो अपने कार्य में निपुण थे और उनमें अपार कार्यनिष्ठा थी। टिप्पणी और मसौदा-लेखन की कला में उनका दूर-दूर सानी नहीं था। लेकिन उनके कठिन परिश्रम और असंदिग्ध योग्यता का भारतीय जनता के निराशामय जीवन पर कितना कम या अधिक प्रभाव पड़ता है इस प्रश्न पर शायद ही कोई सोचता हो। इसमें उनका कोई दोष न था, यह सारा दोष उस शासन-प्रणाली का था जो उन्हें विरसे में मिली थी। वह शासन-प्रणाली उन्नीसवीं शताब्दी में तत्कालीन अभिजात वातावरण के लिए अपनाई गई थी और उसे उसी युग के राजनीतिशास्त्र का समर्थन प्राप्त था। बीसवीं शताब्दी के लिए, जो जनसाधारण का युग है, वह प्रणाली उपयुक्त नहीं है। जॉन स्टुअर्ट मिल के मतानुसार वही शासन-प्रणाली सबसे अच्छी होती है जो व्यक्तिगत जीवन में कम-से-कम हस्तक्षेप करती है। इस प्रणाली को किसी ने 'अराजकता और सिपाही' की संज्ञा दी है। यदि तत्कालीन भारत में ब्रिटिश सरकार की तुलना ग्रेट ब्रिटेन के कल्याणकारी राज्य और समाजवादी ढंग के समाज से की जाए जो स्वाधीन भारत अपनी महती पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा यहाँ स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है तो उस समय की भारत सरकार को अराजकता और सिपाही कहना ठीक ही था। लेकिन अराजकता और सिपाही प्रणाली पुलिस शासन से तो बेहतर ही थी जो

1930–40 के दरम्यान यूरोप और एशिया के अनेक देशों में स्थापित हो रहा था।

दिल्ली और शिमले में गुज़ारे अपने ढाई वर्षों का जब मैं स्मरण करता हूँ तो यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि हम अधिकारिगण उस समय जनता के प्रति कितने उदासीन और उनसे कितने दूर थे। जिस समय हम शिमला के विरलित वातावरण में विश्राम कर रहे थे, उस समय इसमें से कुछ अधिकारी भारतीय सिविल सेवा के अपने उन साथियों से अपने को श्रेष्ठतर समझने लगे थे जो बेचारे उस भयंकर गर्मी में कलक्टर या सब-कलक्टर के ओहदों पर मैदानों में तप रहे थे। चूँकि हम हमेशा फ़ाइलों में डूबे रहते थे इसलिए जीवन के यथार्थ से हमारा नाता टूटना स्वाभाविक था। और यह प्रणाली इसी ख़तरे को दूर करने के लिए बनाई गई थी (कि कहीं हमारा नाता जीवन की वास्तविकताओं से जुड़ा न रहे)। कोई भी अधिकारी जब कुछ वर्ष ज़िलों में गुज़ार चुका होता था तब कहीं जाकर उसे केन्द्र में बुलाया जाता था, वहाँ भी वह थोड़े समय तक ही रखा जाता था और वहाँ उसका कार्यकाल समाप्त होने पर उसे फिर उसी ज़िले में भेज दिया जाता था और फिर काफ़ी अर्सा बीत जाने के बाद ही उसे दुबारा केन्द्र में आने का अवसर दिया जाता था। इस प्रकार केन्द्र की शासन-शिराओं में निरंतर अच्छे प्रांतीय रक्त का संचार होता रहता था। लेकिन इस नियम का हमेशा पालन नहीं किया जाता था। कुछ अफ़सर जो एक बार केन्द्र में आ जाते थे यहीं टिके रहने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाया करते थे क्योंकि वे दिल्ली और शिमला में उपलब्ध सुख-सुविधाओं के आदी हो जाते थे और वाइसराय की छत्रछाया में रहना उन्हें अच्छा लगता था। अगर केन्द्र में रहने की अपनी कोशिशों में वे सफल हो जाते तो वे यह समझने लगते थे कि अब उन्हें वहाँ से कोई हटा नहीं सकता। लेकिन वे केन्द्र के लिए अपरिहार्य हों या न हों, कुछ मामलों में उन अधिकारियों की सुन्दर पत्नियाँ अवश्य अपरिहार्य हो जाती थीं।

केन्द्र में जमे रहने की यह व्यवसायजन्य बीमारी केवल अंग्रेजों को ही नहीं लगती थी बल्कि मैं मानता हूँ कि भारतीय अधिकारी चूँकि थोड़े होते थे इसलिए उन्हें भी यह बीमारी लग जाती थी। उदाहरण के लिए हैदरी 1925 में दिल्ली आये और कुछ वर्षों को छोड़कर जबकि उन्हें श्रीलंका में रहना पड़ा था, ज़िन्दगी भर यहीं रहे और यहीं से वे गवर्नर बनकर असम गये जहाँ शिकार खेलते हुए उनकी हृदय-गति बन्द हो गई और मर गये। 1934 में वे शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि विभाग में संयुक्त सचिव के पद पर रहे। इस विभाग के सचिव भी पक्के दिल्ली वाले थे। गिरिजा शंकर बाजपेयीजी 1919 में इस

विभाग में अवर सचिव होकर आये फिर उपसचिव और उसके बाद संयुक्त सचिव बने और जब मैं उस विभाग में आया तो वे भारत सरकार के सचिव के पद पर आसीन थे और कुछ ही समय में वाइसराय की कार्यकारी परिषद् के सदस्य बन गये।

बाजपेयीजी की गणना भारतीय सिविल सेवा के अत्यंत योग्य अधिकारियों में की जाती थी। एक सफल आई० सी० एस० अधिकारी के सभी आवश्यक गुण उनमें मौजूद थे। प्रकृति ने उन्हें न केवल एक सुन्दर मुखाकृति प्रदान की थी बल्कि वे उत्कट प्रतिभा और प्रखर बुद्धि के भी धनी थे। वे हमेशा सुन्दर-स्वच्छ वेशभूषा पहनते थे और उनका मकान हमेशा सुसज्जित और सभी सुख-सुविधाओं से युक्त रहा करता था। उनका सुरागार भी श्रेष्ठ मदिराओं से भरा रहता था। वे स्वयं बड़े अच्छे पाकविद थे, मदिराओं के पारखी थे और अतिथियों की मान-मर्यादा के अनुरूप भोजन-सूची की व्यवस्था करने में प्रवीण थे। उन्हें अपने मकान और अपने उपवन दोनों पर बड़ा गर्व था। उन्होंने इंग्लैण्ड से गुलाब के पौधे मँगवाकर उन्हें नं० 2 किंगजॉर्ज एवेन्यू में अपने बंगले में लगवाया था। यही बँगला बाद में ब्रिटिश हाइ कमिश्नर का निवास स्थान बन गया। वे बड़े मँजे हुए वक्ता थे और विधान परिषद् में सरकार के विश्वसनीय प्रवक्ता थे। उन्हें भाषाओं से बड़ी रुचि थी: फ्रांसीसी बोलते तो ऐसी कि फ्रांसीसी स्वयं बोलें। और फ़ारसी बोलते थे तो लगता था कोई ईरानी बोल रहा है। लेकिन सबसे अधिक गर्व उन्हें अपनी अंग्रेज़ी शैली पर था। उनकी गणना सिद्धहस्त प्रारूपकारों में की जाती थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी शैली प्रभावशाली तो थी लेकिन यदि उसकी तुलना जवाहरलाल नेहरूजी की सरल, सुन्दर अंग्रेज़ी से की जाए तो वह उससे बिलकुल भिन्न लगती थी। नेहरूजी की शैली एक उबलते हुए सोते के समान थी तो बाजपेयीजी की शैली मानव द्वारा बनाया गया जलाशय मालूम होता था। नेहरू जी की भाषा उनके हृदय से निकलती थी जबकि बाजपेयीजी की अंग्रेज़ी मस्तिष्क से निःसृत होती थी। भारतीय लेखकों की अंग्रेज़ी के बारे में मॉलोनी साहब का मत था कि भारत के सर्वश्रेष्ठ अंग्रेज़ी लेखक भी उस व्यक्ति के समान हैं जो पियानो अपनी उँगलियों से न बजाकर यंत्र से बजाता है, नेहरूजी की भाषा से यदि इस मत का खंडन होता है तो बाजपेयीजी की भाषा से इस मत की पुष्टि होती है।

जब मैं शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि विभाग में पहुँचा तो बाजपेयीजी को वहीं कार्य करते हुए पंद्रह वर्ष हो गये थे। मुझे उस विभाग का वातावरण कुछ दमघोंट-सा लगा। शेक्सपियर के बारे में ड्राइडन की यह उक्ति कि चूंकि वे दृढ़ता से जमे रहे इसीलिए उनका समस्त प्रदेश नष्ट-भ्रष्ट हो गया, बाजपेयीजी पर भी

चरितार्थ होती थी। इसलिए जब एक साल शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि विभाग में उपसचिव रहने के बाद मुझे अपने पसंदीदा विभाग—विदेश और राजनीति विभाग—में भेजा गया तो मुझे बड़ा इत्मीनान महसूस हुआ।

विदेश और राजनीति विभाग के मंत्री स्वयं वाइसराय थे और ऑब्रे मेटकाफ़ उसके सचिव थे। मैं उनके अधीन पेशावर में रह चुका था। वहाँ उनके सरकारी जीवन में एक व्यतिक्रम आ गया था। जब लाल कुर्ती वालों ने सीमांत गाँधी खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खाँ के नेतृत्व में पेशावर में सरकार के विरुद्ध एक प्रदर्शन किया तो मेटकाफ़ साहब एक बक्तरबंद कार में बैठकर शहर में गये ताकि उस खतरनाक स्थिति का मुक़ाबिला कर सकें और उसे दबा दें। कार को देखते ही भीड़ भड़क उठी। कुछ ही मिनटों में कार को बेकार कर दिया गया और मेटकाफ़ साहब की जान के लाले पड़ गये। एक जाँच-कमीशन बैठा जिसने अपनी रिपोर्ट में कहा कि सर मेटकाफ़ ने बक्तरबंद गाड़ी में बैठकर पेशावर जाने और उत्तेजित भीड़ का सामना करने का जो निर्णय किया वह उनकी भारी ग़लती थी। उसी घटना के बाद मेटकाफ़ साहब की जगह कैरो साहब पेशावर के डिप्टी कमिश्नर बनकर गये जो एक दबंग व्यक्ति के रूप में विख्यात हो चुके थे और मेटकाफ़ साहब का तबादला उप-सचिव बनाकर दिल्ली कर दिया गया। कुछ ही वर्ष बाद वे विदेश सचिव बना दिये गये।

मेटकाफ़ साहब ने विदेश सचिव के पद में कुछ विक्टोरियन शान-शौकत और मर्यादा पैदा कर दी थी। उनकी योग्यता की वह धूम तो नहीं थी जो बाजपेयीजी की हो गई थी लेकिन हाँ वे अपने विभाग का कामकाज बड़े सुचारू ढंग से चलाते थे और उन्हें अपने सहकर्मियों का पूरा-पूरा सहयोग भी मिलता रहता था। शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि विभाग में जो कुछ भी होता था उससे हमेशा बाजपेयीजी की ही ख्याति फैलती थी। लेकिन विदेश विभाग में जो भी अधिकारी कोई अच्छा काम करता था उसका श्रेय उसी को दिया जाता था और यदि वह कोई काम बिगाड़ देता तो झिड़की भी उसे ही सुननी पड़ती थी। बाजपेयीजी की अपेक्षा सर मेटकाफ़ के अधीन रहकर तरुण अधिकारियों में अधिक दायित्व-भाव और आत्म-विश्वास पैदा होता था।

मैं पहला हिन्दुस्तानी था जिसकी नियुक्ति विदेश और राजनीति विभाग में की गई थी। मेरे अंग्रेज़ साथियों ने मेरे साथ हर प्रकार का सहयोग किया और कभी मेरे साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं बरता। लेकिन इसके बावजूद मैं वहाँ अपने को एकाकी महसूस करता था, अक्सर मुझे यह भी महसूस होता कि

मैं कहाँ आ गया। मुझमें बाजपेयीजी की-सी महत्त्वाकांक्षा तो थी नहीं जो उन्हें हमेशा दूसरों को गिराने और खुद को आगे बढ़ाने के लिए उकसाती रहती थी। वे हर अधिकारी से चाहे वह अंग्रेज़ हो या हिन्दुस्तानी आगे निकलने के लिए लालायित रहते थे। और मुझे यह मानने में भी संकोच नहीं है कि मेरी सिविल सेवा की भावना भी उतनी विकसित नहीं थी जितनी एन० आर० पिल्लै की थी। एन० आर० उस ब्रिटिश परंपरा से अनुप्रेरित थे जिसके अनुसार सिविल सेवक का कर्त्तव्य तत्कालीन सरकार की सेवा करना है चाहे उस सरकार का राजनीतिक स्वरूप कुछ भी हो। इस सिद्धांत से मैं भी परिचित था लेकिन कभी-कभी मुझे यह विचार सताता था कि एक अंग्रेज़ के लिए किसी भी सरकार की सेवा करना चाहे वह उदार दल की हो या श्रमदल की या अनुदार दल की एक बात है और एक भारतीय के लिए किसी विदेशी सरकार की सेवा करना दूसरी बात।

सिविल अधिकारी से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह राजनीति में भाग न ले। इस आदेश का मैं तत्काल पालन कर सकता था किन्तु मेरे लिए इस परिपाटी को मानना कठिन था कि किसी भी आई० सी० एस० को उन राजनीतिज्ञों से किसी प्रकार का संपर्क नहीं रखना चाहिए—सामाजिक स्तर का भी नहीं—जो इसलिए ब्रिटेन विरोधी घोषित कर दिये गये कि उन्होंने भारत को ब्रिटिश सत्ता से स्वतंत्र कराने की माँग करने की धृष्टता दिखाई। एक दिन मैं, एन० आर० और स्टैथम—जो भारत सरकार के शिक्षा आयुक्त थे—शिमला में माल पर टहल रहे थे। सामने से डॉ० ख़ान साहब आते दिखाई दिये। ख़ान साहब पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के बहुत ही प्रमुख कांग्रेसी नेता माने जाते थे। जब पेशावर में मेरी उनसे पहली मुलाक़ात हुई थी तो वे अपने तूफ़ानी भाई ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ की तरह राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं लेते थे। डॉ० ख़ान साहब ने एक अंग्रेज महिला से शादी की थी, वे अंग्रेज़ी वेशभूषा पहनते थे और पेशावर छावनी में बिल्कुल अंग्रेज़ों की तरह रहा करते थे। उनका यूरोपियनों से भी खूब मेलजोल था—यहाँ तक कि चीफ़ कमिश्नर सर राल्फ़ ग्रिफ़िथ से भी उनकी मैत्री थी। वे उन विदेशियों को अपने यहाँ खाने-पीने के लिए बुलाते थे और उनके यहाँ भी जाया करते थे। लेकिन बाद में वे तन-मन से स्वाधीनता आंदोलन में जुट गये और उन्होंने खद्दर पहनना शुरू कर दिया। जब वे माल पर मुझे मिले तो उन्होंने बड़ी गर्मजोशी से मुझे पठानों के ढंग से गले लगाया जिसे देखकर एन० आर० और स्टैथम दंग रह गये। 'अच्छा तो ये हैं आपके मित्रगण !' स्टैथम ने व्यंग्य से कहा। मुझे उनसे इस प्रकार के वाक्य की आशा नहीं थी क्योंकि वे एक उदार अंग्रेज के रूप में जाने जाते थे और उन्होंने मद्रास में रहकर वहाँ की कुछ बातें भी अपना ली थीं जिसके कारण वहाँ उनका नाम स्टैथम आयंगर पड़ गया था।

एक दिन डॉ० खान साहब मेरे यहाँ खाने पर तशरीफ़ लाये। अन्य अतिथियों में श्रीमती सरोजिनी नायडू, आसफ़ अली और श्रीमती अरुणा आसफ़ अली थीं जो सभी जाने-माने राष्ट्रवादी तथा आये दिन जेल जाने वाले नेता थे। एन० आर० और उनकी पत्नी भी मौजूद थीं। एन० आर० ने अंदाज़ा लगा लिया होगा कि ब्रिटेन-विरोधी कांग्रेस नेताओं के सम्मान में एक आई० सी० एस० द्वारा दिये गये भोज की सूचना अधिकारियों तक पहुँच गई होगी। दूसरे दिन एन० आर० ने बड़ी विनम्रता से मुझसे कहा, 'देखो भई, हम में से हरेक का जीवन में अपना-अपना सिद्धांत है और मैं समझता हूँ हमें उसीका पालन करना चाहिए।' और मुझे तभी यह एहसास हुआ कि एन० आर० न केवल एक निष्णात सिविल सेवक हैं बल्कि एक उच्च कोटि के दार्शनिक भी। एन० आर० पर कभी किसी ने स्वार्थ-सेवी होने का आरोप नहीं लगाया। जीवन में जिस रूप में जो भी कार्य उनके भाग्य में बदा था उसे उन्होंने पूरी निष्ठा और ईमानदारी से पूरा किया। उन्होंने विभिन्न महत्त्वपूर्ण पदों पर रहकर भारत सरकार की स्वतंत्रता से पहले और उसके बाद सेवा की थी और इतनी कुशलतापूर्वक सेवा की थी कि अंग्रेज़ों ने 1945 में उन्हें 'नाइट' की उपाधि से विभूषित किया था और भारत सरकार ने उनकी विशिष्ट सेवाओं के लिए उन्हें 1960 में 'पद्म विभूषण' की उपाधि प्रदान की थी। सिविल सेवकों में एन० आर० की गणना 'वेरी पारफ़िट जेण्टिल नाइट' में होती थी।

उस समय जो व्यक्ति अक्सर हमारे घर आया करते थे उनमें लियाक़त अली ख़ाँ थे जो बाद में पाकिस्तान के पहले प्रधान मंत्री बने। ऑक्सफ़ोर्ड से आने के बाद मेरी लियाक़त से बहुत कम मुलाक़ात हुई थी। अब हम दोनों के विवाह हो चुके थे और दोनों की पत्नियाँ आपस में मित्र बन गई थीं और बड़ी अनिच्छा से अपने पतियों के ऑक्सफ़ोर्ड के विद्यार्थी-जीवन के क़िस्से सुना करती थीं। लियाक़त मुस्लिम लीग के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे लेकिन उसका असर हमारी दोस्ती पर बिल्कुल नहीं पड़ा था। पाकिस्तान तब तक एक स्वप्न मात्र था और जिन्ना के शब्दों में एक 'स्कूली बच्चे का स्वप्न'।

यदि कोई व्यक्ति ऐसा था जिसके मस्तिष्क में पाकिस्तान की कल्पना उसकी स्थापना के पहले ही साकार रूप ग्रहण कर चुकी थी तो वह 'कियरो' था जो **'बुक ऑफ़ नंबर्स'** का लेखक था। उसकी दो भविष्यवाणियाँ ऐसी थीं जिन्होंने मेरे शंकाशील मन को झकझोर कर रख दिया था क्योंकि वे शब्दशः सच्ची साबित हुई थीं। एक तो यह थी कि प्रिंस ऑफ़ वेल्स प्रेमपाश में फँसकर गद्दी खो बैठेगा। और दूसरी यह थी कि भारत में स्वतंत्रता के बाद खून की नदियाँ बहेंगी और उसका दो भागों में विभाजन होगा। मुझे याद है कि आज से तीस

वर्ष पहले जब मैंने यह भविष्यवाणी पढ़ी थी तो उसके सत्य की कल्पना मात्र से मेरा मन काँप उठा था।

कियरो की बात निकली तो मुझे लियाक़त दंपति से अपने संबंधों के बारे में एक दिलचस्प घटना याद आ गई। एक बार लियाक़त और उनकी पत्नी की भेंट हमारे मकान पर वी० पी० मेनन के एक रिश्तेदार से हुई जो अपने को ज्योतिषी बताता था और कहता था कि मैं कियरो के ग्रंक-सिद्धांत का विद्यार्थी हूँ। उसने लियाक़त को यह विश्वास दिला दिया कि उनके लिए 8 का ग्रंक अशुभ है। नतीजा यह हुआ कि जब लियाक़त ने हार्डिंग एवेन्यू पर अपनी कोठी बनवाई तो उसका नंबर 8 से बदलकर 8 बी रख दिया। कुछ दिन पहले तक यह कोठी पाकिस्तान के हाइ कमिश्नर का निवास स्थान था। मजे की बात यह है कि उस पंक्ति में 8 या 8 ए नंबर का कोई मकान नहीं है। यह मानना पड़ता है कि हम चाहे कितने ही प्रबुद्ध क्यों न हों थोड़ा-बहुत ग्रंधविश्वास हम सभी में होता है और निश्चय ही लियाक़त दंपति इस नियम का अपवाद नहीं थे। देखिए न लियाक़त की हत्या की तारीख़ 16 अक्तूबर तो 8 का ही गुणज है।

लियाक़त से मेरी ग्रंतिम भेंट जुलाई 1950 में नई दिल्ली के गवर्नमेंट हाउस में हुई थी जबकि भारत और पाकिस्तान एक दूसरे से युद्ध करने को तैयार बैठे थे और उन्होंने नेहरूजी के साथ वार्ता करके उस खतरे को टाल दिया था। दुर्भाग्यवश वही हमारी आखिरी मुलाक़ात थी। उस समय लियाक़त दूर से मुझे देखकर मेरे पास आये और मेरा परिचय नेहरूजी से इन शब्दों में कराया, 'के० पी० एस० ऑक्सफ़ोर्ड में मेरे साथ थे।' लेकिन फौरन ही बड़ी विनम्रता और विनोदशीलता से इसे यों बदल दिया, 'या कहना चाहिए मैं के० पी० एस० के साथ था।' और फिर उन्होंने पंडितजी को वे सारी बातें बताईं कि मैं किस प्रकार प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ, कैसे मुझे छात्रवृत्ति मिली, फ़ेलो ऑफ़ सोल्स बनते-बनते रहा इत्यादि। मेरी वे उपलब्धियाँ न जाने कब से भुला दी जा चुकी हैं लेकिन लियाक़त की उपलब्धि—एक नये राज्य का निर्माण और उसके प्रारंभिक वर्षों में उसकी देखभाल—एक ऐसी उपलब्धि है जो मानव इतिहास में सदा अमर रहेगी।

विदेश और राजनीति विभाग दो पक्षों में विभक्त था। विदेश पक्ष में विदेशी मामले आते थे और राजनीति पक्ष में भारतीय रियासतें। मेरी नियुक्ति विदेश पक्ष में हुई थी। इसके तीन अनुभाग थे 'एफ़', 'एन' और 'एक्स'। 'एफ़' के ग्रंतर्गत पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत, अफ़ग़ानिस्तान और नेपाल आते थे, 'एन' का

संबंध निकट-पूर्व से था और 'एक्स' शेष संसार से संबद्ध था। मेरे ऊपर प्रमुख रूप से 'एक्स' अनुभाग का भार था। सीमाप्रांत और निकट-पूर्व को छोड़कर शेष समस्त संसार से संबद्ध कार्य करते हुए मैंने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश शासन के अधीन भारत सरकार संसार से कितना कम संबंध रखती थी। दक्षिण-पूर्व एशिया में उसकी केवल इतनी ही रुचि थी कि यदि भारतीय आप्रवासियों के साथ होने वाले व्यवहार का कोई प्रश्न हो तो उससे बातचीत कर ली जाती थी और वह मामला वास्तव में शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि विभाग से संबद्ध था। सरकार को मध्यपूर्व से भी कोई खास दिलचस्पी नहीं थी, हाँ कुछ अरब राज्यों से—जो ब्रिटिश संरक्षित राज्य थे—उसका कुछ संबंध अवश्य था। उसे ईरान से ज़्यादा दिलचस्पी ईरान की खाड़ी में थी। जहाँ तक संयुक्त राज्य अमरीका का प्रश्न है सरकार की मुख्य रुचि का विषय यह था कि यह प्रयत्न किया जाए कि कांग्रेस आन्दोलनकारी अमरीकी जनमत को इस हद तक न बरग़ला दें कि वे यह समझने लगें कि भारत में स्वाधीनता की तैयारियाँ पूरी हो चुकी हैं। सोवियत संघ तो हमारे लिए एक बंद किताब थी। रूस और चीन में हलचल मची हुई थी लेकिन भारत सरकार को उनकी कोई चिंता नहीं थी। चीन के बारे में यह ख़याल था कि वह तो सदियों से सामंतों का सुखद आखेट स्थल रहा है और हमेशा ऐसा ही बना रहेगा। भारत सरकार की रूस में उतनी दिलचस्पी भी न थी जितनी बाल्डविन को रही होगी जिसने अपने प्रधान मंत्रित्व के समय विदेश कार्यालय को इस आशय का तार दिया था, 'लोग मुझसे हमेशा पूछते रहते हैं कि रूस में क्या हो रहा है। कृपया मुझे एक टिप्पणी तैयार करके भेजें जो आधे पृष्ठ से अधिक की न हो।'

1935 से लेकर 1963 तक विदेश विभाग के आकार में जो अंतर आ गया था उसी अंतर के अनुपात से उसके दायित्वों में भी वृद्धि हो गई थी। अब उस विभाग में एक मंत्री, एक राज्य मंत्री, एक उपमंत्री, महासचिव, विदेश सचिव, राष्ट्रमंडल सचिव, विशेष सचिव, संसदीय सचिव, 7 संयुक्त सचिव, 9 निदेशक, 3 विशेषाधिकारी, 21 उपसचिव, 34 अवर सचिव और 30 अताशे हैं। 1935 में इसमें एक सचिव और दो उप-सचिव थे—औलेफ़ कैरो और मैं। कैरो का सीमा-प्रांत में बड़ा सफल सेवावृत्त रहा था, उनके सेवा-काल में वैसा कोई व्यतिक्रम भी नहीं आया था जैसा कि 1930 में मेटकाफ़ के साथ हुआ था। इसे प्रारब्ध के सिवाय क्या कहा जाए कि जिस संकट ने मेटकाफ़ की प्रतिष्ठा कलुषित की थी उसी के कारण कैरो की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई थी क्योंकि पेशावर में लाल कुर्ती वालों के विद्रोह को दबाने में जब मेटकाफ़ असफल रहे थे तब कैरो ही ने वहाँ पहुँचकर पेशावर ज़िले में क़ानून और व्यवस्था की पुनः स्थापना की थी। लेकिन

उनकी योग्यता एक जिला अधिकारी के पद के लिए ही उपयुक्त न थी, बल्कि जिस कुशलता और कार्यनिष्ठा से उन्होंने सचिवालय में काम किया था वैसी ही या उससे बढ़कर योग्यता का परिचय उन्होंने प्रशासनिक विषयों के क्षेत्रों में दिया था। उनकी सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि वे किसी बात को तथ्य मानकर कभी न चलते थे—यहाँ तक कि हिमालय की दुर्जेयता पर भी उन्हें विश्वास नहीं था। सदियों से हम इस भ्रांत धारणा के शिकार रहे हैं कि हिमालय हमारा संतरी और पासबान है और हर एक-दो शताब्दी के बाद हमने देखा है कि हिमालय ने हमें धोखा दिया है। ब्रिटिश शासक कुछ अधिक सतर्क थे, लेकिन वे भी पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की समस्याओं पर इतना ध्यान देते थे कि उत्तर-पूर्व बिल्कुल उपेक्षित रह जाता था।

1911 में ग्रेट ब्रिटेन, चीन और तिब्बत के बीच एक त्रिदलीय सम्मेलन हुआ और भारत, चीन और तिब्बत की सीमा निश्चित की गई और मैकमहन रेखा अस्तित्व में आई। लेकिन चीनियों ने इस समझौते को मानने से इन्कार कर दिया। उसके बाद तीस-पैंतीस वर्ष तक भारत सरकार मैकमहन रेखा को ही अपनी सीमा-रेखा मानती रही। ब्रिटिश शासक ऐसा मानने की स्थिति में थे क्योंकि चीन अपने गृहयुद्धों में ऐसा उलझा हुआ था कि अपनी स्थिति पर अड़ नहीं सकता था और तिब्बत, जिस पर शक्तिशाली दलाई लामा का आधिपत्य था, अपनी स्वाधीनता पर दृढ़ता से जमा हुआ था। कैरो ने अपनी दूरदृष्टि से, जिसे 1960–62 की घटनाओं के संदर्भ में अभूतपूर्व ही कहना चाहिए, तभी यह अनुमान लगा लिया था कि पूर्वोत्तर सीमाप्रांत किसी दिन वैसा ही सिर उठा सकता है जैसा पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत ने उठा रखा है। इसलिए उन्होंने आग्रह किया कि मैकमहन रेखा से संलग्न प्रदेश में सिविल और सैनिक प्रशासन के मूल सिद्धान्त लागू कर दिए जाएँ। यदि कैरो ने उस समय अपनी दूरदर्शिता का परिचय न दिया होता तो स्वतन्त्र भारत को चीनी आक्रमण का मुक़ाबिला करने में और अधिक कठिनाइयाँ पेश आतीं।

मैं भी अब अपने पूर्वोत्तर सीमाप्रांत में गहरी दिलचस्पी लेने लगा। तिब्बत से हमारे सम्बन्ध सिक्किम-स्थित एक राजनीतिक अधिकारी के माध्यम से क़ायम थे। वह एजेंट अक्सर ल्हासा जाता रहता था। एजेंट का काम बड़ा रोचक था और इस पद पर बीस वर्ष से अधिक एक प्रसिद्ध सीमांत अधिकारी सर चार्ल्स बेल रहे थे। दलाई लामा से उनकी गहरी मित्रता थी और सिक्किम में उनकी उपस्थिति का उतना ही महत्त्व था जितना भारतीय सेना की एक पूरी टुकड़ी

का होता क्योंकि जब तक चार्ल्स बेल वहाँ थे तब तक पूर्वोत्तर सीमाप्रांत में किसी सैनिक दस्ते का रखना आवश्यक नहीं था। मेरी बड़ी तीव्र इच्छा थी कि मैं सिक्किम में राजनीतिक अधिकारी बन जाता, लेकिन यह इच्छा कभी पूरी न हो सकी।

परतन्त्र या पराधीन राष्ट्र के लिए सबसे अधिक दुःखद बात यह होती है कि उसके पड़ौसी—चाहे वे छोटे ही क्यों न हों—यह समझते हैं कि उनके गले में गुलामी का तौक़ लटका हुआ है। और यह हीनता-भाव उनमें बना ही रहता है चाहे शासकगण उसे हटाने या छिपाने की कितनी ही कोशिश क्यों न करें। उदाहरण के लिए अफ़ग़ानिस्तान ने काबुल-स्थित ब्रिटिश दूतावास में भारतीय को एक अवर सचिव के रूप में अपने यहाँ रखने की अनुमति नहीं दी थी हालाँकि दूतावास का खर्च भारतीय राजस्व से पूरा किया जाता था और उसमें हमारे विदेश और राजनीति विभाग के लोग ही काम करते थे। एक बार यह प्रस्ताव रखा गया कि इस्कंदर अली मिर्ज़ा को द्वितीय सचिव के रूप में वहाँ तैनात किया जाए। यही इस्कंदर मिर्ज़ा थे जो उस समय एक अधिकारी थे लेकिन बाद में प्रगति करके पाकिस्तान के गवर्नर जनरल बन गये थे। परन्तु अफ़ग़ान सरकार ने इस प्रस्ताव पर आपत्ति की और ब्रिटिश विदेश विभाग ने उन आपत्तियों का समर्थन किया।

सिक्किम-स्थित राजनीतिक अधिकारी हमारे भूटान के साथ सम्बन्धों की भी देखभाल करता था। विदेशी सम्बन्धों के क्षेत्र में भूटान के महाराजा भारत सरकार का परामर्श मानने के लिए सहमत हो गये थे। लेकिन भारत में सेवाओं का जो उत्तरोत्तर भारतीयकरण किया जा रहा था उससे वे बड़े चिन्तित थे। और वे भी ब्रिटिश राजनीतिक अधिकारियों को तरजीह देने के पक्ष में थे। इस-लिए सिक्किम में राजनीतिक अधिकारी बनने और उस हैसियत से तिब्बत जाने की मेरी आशाओं पर पानी फिर गया था। लेकिन जब भारत स्वाधीन हुआ और मेरी पुत्री मालिनी को जो तिब्बत में कौंसल जनरल पी० एन० मेनन की पत्नी थी, दो वर्ष तक ल्हासा में रहने का अवसर मिला तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

दूसरा बाह्य क्षेत्र जिसमें मुझे रुचि थी वह था सिक्यांग या चीनी तुर्किस्तान। काशगर-स्थित हमारा दूतावास भारतीय साम्राज्य का दूरस्थ प्रहरिस्थान था। यहाँ भी एक अधिकारी उतने ही लम्बे अर्से से तैनात था जितने अर्से से सर चार्ल्स बेल तिब्बत में थे। यह अधिकारी फ़िलिप मैकार्टनी थे जो 1894 में सर फ्रांसिस यंगहस्बंड के निजी सहायक के रूप में वहाँ गये थे और तीस वर्ष तक वहीं रहे थे। उनके एक उत्तराधिकारी सी० पी० स्क्राइन थे जिन्होंने उसी ज़माने में **ए सेंट्रल एशियन आर्केडी** नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी।

उसमें उन्होंने बताया था कि काशगर पहुँचने के लिए पचास दिन तक पैदल या घोड़े पर सवार होकर संसार के अत्यन्त बीहड़ और घने पहाड़ी रास्ते से गुज़रना पड़ता था। मेरे उन सौभाग्यशाली साथियों ने जो काशगर में तैनात हुए थे जब अपनी यात्राओं का वर्णन किया तो उसे सुनकर मेरी कल्पना सजग हो उठी। 1944 में भारत से चीन जाते समय मैंने 125 दिन तक स्थल मार्ग से जो यात्रा की थी उसकी प्रेरणा मुझे इन्हीं यात्राओं से मिली थी और मैंने अपनी इस यात्रा का वर्णन अपनी पुस्तक **दिल्ली चुंकिंग** में किया है।

सिंक्यांग में भारत सरकार की जो नीति थी वह तिब्बत के प्रति उसकी नीति से सर्वथा असंगत प्रतीत होती थी। तिब्बत में उन्होंने चीनी प्रभुसत्ता को यथासम्भव अस्वीकार किया लेकिन सिंक्यांग में हर तरह से उसे मान्यता प्रदान की। इसका कारण यह था कि कहीं सिंक्यांग रूस के चंगुल में न फँस जाए क्योंकि उनके लिए वह ज़्यादा बड़ा ख़तरा था। 1930--40 के दौरान सिंक्यांग पर चीन का अंकुश बहुत शिथिल हो चला था। सिंक्यांग की प्रांतीय सरकार के विरुद्ध तुंगनों ने विद्रोह कर दिया था। सिंक्यांग सरकार ने चीन की केन्द्रीय सरकार से समर्थन का अनुरोध किया लेकिन जब वहाँ से उसे निराशा हुई तो वह रूस की ओर प्रवृत्त हुई। रूस को जो यह अवसर मिला तो वह तत्काल और खुशी से उनकी सहायता के लिए आया और उसने विद्रोह को शांत कर दिया। नतीजा इसका यह निकला कि सिंक्यांग हर दृष्टि से रूसी प्रभुत्व में चला गया। यह देखा तो काशगर-स्थित भारतीय दूतावास ने सिंक्यांग पर चीन की प्रभुसत्ता का समर्थन करने के लिए जो भी सम्भव था सभी कुछ किया।

सरकार का सिंक्यांग में चीनी प्रभुसत्ता का समर्थन और तिब्बत में चीनी प्रभुसत्ता का खंडन एक ही आधारभूत हित से प्रेरित था और वह यह था कि किसी भी शक्तिशाली शक्ति को भारत की ओर बढ़ने से रोका जाए। उन्नीसवीं शताब्दी में एशिया में ब्रिटिश विदेश नीति पर रूस का हौवा छाया हुआ था। उस समय ब्रिटेन यह समझता था कि यदि रूस ने अपना रुख पूर्व की ओर कर लिया तो उसका अर्थ केवल यही होगा कि भारत हाथ से गया। यही कारण था कि ग्रेट ब्रिटेन ने अफ़ग़ानिस्तान से तीन लड़ाइयाँ कीं और इसी उम्मीद में कि उसे भारत और रूस के बीच एक मध्यवर्ती राज्य बना दिया जाए और वह ब्रिटेन के अधीन रहे। और यही कारण था कि भारत सरकार सिंक्यांग में चीनी प्रभुसत्ता का समर्थन करती थी जो कि लड़खड़ा रही थी, और रूस का विरोध करती थी जो सबल से सबलतर बन रहा था और एक विशाल रूप धारण करता जा रहा था। जहाँ तक तिब्बत का प्रश्न है भारत सरकार ने चीन और रूस दोनों को उससे अलग रखने का भरसक प्रयत्न किया और उसकी ऐसी स्वाधीनता का

समर्थन किया जिस पर चीन की प्रभुसत्ता रहे किन्तु इस प्रभुसत्ता को उन्होंने स्पष्ट रूप नहीं दिया। अन्य शब्दों में ब्रिटिश शासन-काल में सिक्यांग और तिब्बत से भारत के सम्बन्धों का आधार अपने पड़ौसियों — चीन और रूस — के प्रति अविश्वास और सत्ता के लिए राजनीति के महत्त्व को मान्यता देना था। लेकिन स्वतंत्र भारत ने जो नीति अपनाई वह इससे भिन्न थी। चीन के साथ उसने पंचशील के आधार पर भ्रातृत्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने चाहे जबकि चीन की विचारधारा में बड़ी अनम्यता और दृष्टिकोण में बड़ी जड़ता थी। तिब्बत के सम्बन्ध में भारत और चीन ने पहले 1954 में अपने सम्बन्धों की घोषणा की लेकिन बाद में चीन ने तिब्बत के प्रति जो रवैया अपनाया और भारत की सीमा पर आक्रमण किया उससे यह ज़ाहिर हो गया कि उसकी कथनी और करनी में कितना भारी अन्तर है।

बलूचिस्तान

००

1937 के मध्य में भारत सरकार ने निर्णय किया कि मेरा तबादला बलूचिस्तान कर दिया जाए और मुझे ज़ाब का राजनीतिक एजेंट बनाकर फ़ोर्ट साण्डेमान में तैनात कर दिया जाए। ज़ाब एक उपद्रवी ज़िला था जो अफ़-ग़ानिस्तान और वज़ीरिस्तान के बीच में स्थित था। मैंने श्री बाजपेयी को अपने आगामी स्थानांतरण की सूचना दी और उनकी उस पर जो प्रतिक्रिया हुई उसे देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा कि यदि आप मेरे ही विभाग में रहते तो कुछ ही समय में आपकी पदोन्नति संयुक्त सचिव के पद पर और बाद में चलकर भारत सरकार के सचिव के पद पर हो जाती। उनका विचार था कि सीमाप्रांत एक असभ्य, दुर्दांत प्रदेश है जहाँ कब क्या हो जाए कुछ नहीं कहा जा सकता। और फिर क्या ज़रूरी है कि अपना रक्त देकर आप भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करें। यह परामर्श एक ऐसे व्यक्ति ने मुझे दिया था जो खुद दूसरे भारतीयों से बढ़कर मात्र अपनी लेखनी से भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को दृढ़ता प्रदान करता रहा था और जिसे अपनी इसी सेवा के पुरस्कार-स्वरूप सी० बी० ई०, सी० आई० ई०, के० बी० ई०, के० सी० आई० ई० और के० सी० एस० आई० जैसी उपाधियाँ प्रदान की गई थीं।

जब मैंने मेटकाफ़ से विदा ली तो उन्होंने मुझसे पूछा कि 'अगर आपका तबादला बलूचिस्तान कर दिया जाए तो कैसा रहेगा ?' मैंने जवाब दिया, 'बहुत बढ़िया'। फिर उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा, 'क्या आप पठानों से निपट लेंगे ?' 'कोशिश करूँगा, मैंने उत्तर दिया। 'अच्छा तो फिर हमारी अगली मुलाक़ात विंडसर क़िले में होगी।' उन्होंने कहा।

क़िला या जिसे कभी-कभी विंडसर क़िला भी कहते थे, हमारा निवास था जहाँ हम अगले दो वर्ष तक रहे। वह फ़ोर्ट साण्डेमान की सबसे ऊँची पहाड़ी पर

सी० बी० ई०=कमांडर (ऑफ़ द ऑर्डर,) ऑफ़ द ब्रिटिश एंपायर; सी० आई० ई०=कंपैनियन (ऑफ़ द ऑर्डर) ऑफ़ द इंडियन एंपायर; के० बी० ई०=नाइट कमांडर (ऑफ़ द ऑर्डर) ऑफ़ द ब्रिटिश एंपायर; के० सी० आई० ई०=नाइट कमांडर ऑफ़ इंडियन एंपायर; के० सी० एस० आई०=नाइट कमांडर (ऑफ़ द ऑर्डर) ऑफ़ द स्टार ऑफ़ इंडिया।

स्थित था। उसकी मीनारों और बुर्जों को देखकर ऐसा लगता था मानो कोई बहुत ही आलीशान इमारत है यद्यपि उसकी छत सैनिक इंजीनियरों की निराशा का प्रतीक थी। प्राय: ऐसा होता कि कोई पार्टी या आयोजन हो रहा है और छत में से मिट्टी का एक लोंदा या ढेला जमीन पर आ गिरा है जिसे देखकर पुरुष अतिथि तो हँस पड़ते थे लेकिन महिलाओं को बड़ा क्रोध आता था। मेरे बाद जो साहब राजनीतिक एजेंट होकर वहाँ गये उनके जमाने में यही क़िला दुबारा बँगले के रूप में बनवा दिया गया। ज़ाहिर है कि अब वहाँ रहने की सुविधाएँ तो बढ़ गई हैं किन्तु उसकी वह प्रतीकात्मक विशेषता समाप्त हो चुकी है।

क़िले से देखने पर बाहर का दृश्य बड़ा सुंदर और भव्य लगता था। पहाड़ी से नीचे उतरिये तो एक घुमावदार रास्ता था जो क्लब को और टेनिस के मैदानों को जाता था। उसके आसपास राजनीतिक एजेंट के बाग़ थे जहाँ हम सेब, आड़ू और स्ट्रॉबेरी के वृक्ष लगाते थे। उनसे आगे जाइये तो ऑफ़िसर्स मेस और सैनिक अधिकारियों के बँगले आते थे। बीच में शहर था जो दूर-दूर तक फैला हुआ था। इसी शहर में फ़ोर्ट साण्डेमान के दो बड़े-बड़े धनी रहते थे। ये दोनों हिन्दू दुकानदार थे जिनके नाम डाँडूमल और दयालदास थे, ये दोनों सैनिकों की आवश्यकता की चीज़ें रखते थे और दोनों की आपस में कभी न बनती थी। दूर फ़ासले पर वृक्षहीन पहाड़ियाँ थीं जिन्हें देखकर लगता था मानो दुर्दान्त वजीरिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान को रोकने वाले संतरी खड़े हैं।

फ़ोर्ट साण्डेमान की दूसरी पहाड़ी पर ज़ाब मिलीशिया के कमांडंट की कोठी थी। ज़ाब मिलीशिया एक अस्थायी सैन्य टुकड़ी थी जिनमें ऐसे क़बाइली हुआ करते थे जिन्हें विशेष रूप से भर्ती किया जाता था और बड़ी सावधानी के साथ प्रशिक्षित किया जाता था। उस मिलीशिया की कमान अंग्रेज़ अधिकारियों के हाथ में थी। यह सैन्य दल एजेंसी में क़ानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए राजनीतिक एजेण्ट के अधीन होता था। ज़ाब मिलीशिया का कमांडंट मेजर स्काटलैण्ड था जो बड़ा निष्कपट, मिलनसार और चौड़े-चकले शरीर का आदमी था जिसे सूचना मिली नहीं कि हमलावरों के पीछे दौड़ा। एक बार का ज़िक्र है, कोई आधी रात का समय था जब वह पड़ा ख़र्राटे ले रहा था कि मुर्ग़ा किबज़ई से, जो कोई तीस मील दूर स्थित था, क़बाइली आये और आकर बताया कि पेल नामक एक मशहूर भगोड़ा जिसने वहाँ के देहात में आतंक फैला रखा था वहाँ घूमता देखा गया है। जॉक स्काटलैण्ड का यह सुनना था कि घोड़े पर सवार हुआ, दो-एक पल्टनें अपने साथ लीं और मुर्ग़ा किबज़ई में जा पहुँचा। वहाँ जाकर उसे मालूम हुआ कि लोगों ने यों ही झूठी अफ़वाह उड़ा दी थी। असल बात यह थी कि कुछ मवेशी जो किसी रोगविशेष से पीड़ित थे, इधर-उधर भागते नजर आये

और किसी मसखरे ने यह अफ़वाह उड़ा दी कि पेल आ गया। जब जॉक और उसके सैनिक लौटे तो पौ फट रही थी और सवेरा होने वाला था। रात भर की व्यर्थ दौड़-धूप का उस पर ज़रा भी असर न था।

जब तक मैं ज़ाब में रहा अगर किसी ने मेरा नाक में दम किया तो वह पेल ही था, वरना मुझे वहाँ कोई परेशानी नहीं हुई। क़बाइली बुज़ुर्गों से लड़कर और गुस्से में वह ज़ाब और अफ़ग़ानिस्तान के बीच स्थित पहाड़ियों में जा छिपा था। आये दिन वह ज़ाब में आकर कोई-न-कोई कांड कर बैठता ताकि सरकार का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो और वह मजबूर होकर मालिकों पर ज़ोर डाले और उसकी शिकायत दूर करवाए। सरकारी डाकगाड़ी जो लोरालाई और फ़ोर्ट साण्डेमान के बीच चला करती थी अक्सर उसके हमले का निशाना बनती थी क्योंकि वह जानता था कि उस दूरस्थ प्रदेश में सरकारी सत्ता का वही एक चलता-फिरता प्रतीक है। एक बार जब मैं बाहर दौरे पर गया हुआ था कि पेल कपीप के पास अपने दो साथियों के साथ आया उसने डाकगाड़ी को रोका और उसके अन्दर के आदमियों को गोली से मार डाला। जब मैं लौटकर फ़ोर्ट साण्डेमान आया तो मैंने एक जिर्गा नियुक्त किया जिसके सुपुर्द यह काम किया कि वह मामले की जाँच-पड़ताल करे। उसकी सिफ़ारिशों के अनुसार मैंने कपीप नामक गाँव पर भारी जुर्माना लगा दिया जहाँ के निवासी अपराध को रोकने ग्रौर अपराधियों को पकड़वाने के अपने सामूहिक कर्त्तव्य का पालन करने में असमर्थ रहे थे। कुछ महीने गुज़रे होंगे कि पेल ने फिर अपना यही कारनामा दुहराया। तब भी मैं दौरे पर था। मेरे सहायक राजनीतिक एजेण्ट चांसी ने, जिसे आरंभिक जाँच-पड़ताल की अग्निपरीक्षा से गुज़रना पड़ा था, मुझसे कहा कि साहब मुझे तो अब यह संदेह होने लगा है कि पेल और कोई नहीं, आप खुद ही हैं। बलूचिस्तान से आने के बाद मुझे पेल कभी दिखाई न पड़ा लेकिन मैंने सुना कि वह वहाँ के एक प्रमुख सरदार नवाब जोगीज़ई के संरक्षण में ज़ाब लौट आया था और नवाब ने उसके सदाचरण का ग्राश्वासन दे दिया था।

हमारी पहाड़ी से लगी हुई पहाड़ी पर चांसी और उसकी पत्नी बारबरा रहते थे। पति-पत्नी दोनों बड़े मिलनसार और दिलचस्प थे। उनका चार वर्षीय नन्हा पुत्र फ़िलिप हमारे बच्चों को देखकर बड़ा खुश होता था और दौड़कर माँ के पास जाता और उल्लास के साथ कहा करता था, 'छह बच्चे आ गये।' इतने बहुत-से बच्चे देखकर उसका उत्तेजित और उल्लसित होना स्वाभाविक ही था क्योंकि फ़ोर्ट साण्डेमान में जहाँ राजनीतिक एजेण्ट और उसके सहायक के अलावा सभी अधिकारी और कर्मचारी छड़े थे, वही एक मात्र बालक था, इसलिए वह अपनी उम्र के बच्चों को देखकर खुश होता था। हमारे फ़ोर्ट साण्डेमान में पहुँचने

के एक वर्ष के भीतर ही चांसी बेचारे का तबादला ईरान की खाड़ी में हो गया और उसके बिछुड़ जाने का हमें बड़ा दुःख हुआ।

फ़ोर्ट साण्डेमान एक छावनी थी जहाँ सारा वातावरण सैनिकों का था। सिविल अधिकारियों में एक मैं था, सहायक राजनीतिक एजेंट था और एक सिविल सर्जन था। वहाँ लगभग पचास सैनिक अधिकारी थे जो तीन रेजिमेंटों में बँटे हुए थे—राजपूत, बलूची और गुरखा। इनमें जिस रेजिमेण्ट में भारतीय अधिकारी थे वह राजपूत रेजिमेंट था। वहाँ के सैनिक अधिकारी चूँकि अपनी पत्नियों को नहीं रख सकते थे इसलिए वहाँ जब भी खान-पान का कोई आयोजन होता उसका भार अनुजी पर पड़ता था। सैनिक अधिकारियों के साथ हमारे बड़े मैत्रीपूर्ण संबंध थे।

लेकिन वहाँ की परिस्थिति ऐसी थी कि राजनीतिक एजेण्ट और सेना के बीच कभी भी संघर्ष हो सकता था। राजनीतिक एजेण्ट को न केवल वहाँ के कमान अधिकारी पर पूर्वता प्राप्त थी बल्कि एरिया कमांडर का स्थान भी—जो लोरालई में रहता था और कभी-कभार फ़ोर्ट साण्डेमान आया करता था—उसके बाद आता था। मेरे समय में एरिया कमांडर ब्रिग्रेडियर रॉस था जो अपने मुटापे के कारण मुझे अब तक याद है क्योंकि वैसे स्थूलकाय व्यक्ति मैंने बहुत कम ही देखे हैं। उसके बारे में कहा जाता था कि जब वह लोरालई नदी में तैरता था तो उसकी तोंद धरातल से टकराती थी और जब वह खड़ा होने की कोशिश करता था तो वह अपने को गहरे पानी में महसूस करता था। वह बड़ा अचूक निशानेबाज़ था और अच्छा सैनिक था और अपनी मान-मर्यादा का हमेशा ध्यान रखता था। मेरे पूर्ववर्ती राजनीतिक एजेण्ट और उसके बीच हमेशा झगड़ा रहता था और मैं उस झगड़े से बचने की कोशिश करता था। जब हम एक-दूसरे से मिले तो हमारे संबंध बड़े मैत्रीपूर्ण थे। लेकिन एक दिन मेरे पास उसका एक तार आया जिसमें लिखा था : **एरिया कमांडर कल फ़ोर्ट साण्डेमान आ रहे हैं। चाहते हैं कि आप इन्स्पेक्शन बँगले में उनसे ग्यारह बजे मिलें।** मैंने जवाब भेजा : **राजनीतिक एजेण्ट को प्रसन्नता होगी यदि एरिया कमांडर 11-30 बजे विंडसर कासल में उनसे मिलने आयें।** ब्रिगेडियर रॉस ने इसे अपना अपमान समझा, उसने हमसे बिल्कुल संबंध-विच्छेद कर लिया और अगले सप्ताह जो घुड़दौड़ें होने वाली थीं उनमें सेना के घोड़ों को भाग लेने की अनुमति देने से भी इंकार कर दिया। इस संकट-काल में मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि फ़ोर्ट साण्डेमान के सभी सैनिक अफ़सरों की सहानुभूति मेरे साथ थी। मैंने

इस घटना की सूचना बलूचिस्तान-स्थित एजेंट जनरल सर आर्थर पार्सन्स को दी जिसके उत्तर में उन्होंने लिखा : 'बहुत अच्छे ! मैं भी दिल्ली में वित्त विभाग के साथ ऐसा ही व्यवहार किया करता था।'

सर आर्थर पार्सन्स उन सुयोग्य अधिकारियों में से थे जिनसे अपनी सेवा के दौरान मेरा वास्ता पड़ा था। मैं उनसे दिल्ली से ही परिचित था जब वे वहाँ स्थानापन्न विदेश सचिव के रूप में कार्य कर रहे थे। जब वे सचिवालय में आये थे तो लोगों को ऐसा लगा मानो तपते हुए कमरे में ताज़ी हवा का झोंका आ गया हो। और हवा भी कैसी, सीमाप्रांत की शीतल, निर्मल और स्वास्थ्यकर हवा। मित्र-मंडली में उन्हें 'बंच' पार्सन्स के नाम से ही पुकारा जाता था। उनकी आयु 50-55 वर्ष की थी लेकिन वे छरहरे बदन के किन्तु मज़बूत और बड़े संयम-नियम से जीवन बिताने वाले व्यक्तियों में से थे। उनके शरीर पर छटाँक भर मांस भी फ़ालतू नहीं था। जिस्म तो छरहरा था ही उनका दिमाग़ भी मोटा न था, बल्कि वह तो धार की तरह तेज़ था। कठिनाई उनके सामने आई नहीं और वे मिनटों में समस्या की जड़ तक पहुँच जाते थे। ज्योंही उन्होंने सचिवालय में क़दम रखा कि वे सारे फ़ाइल जो महीनों नहीं बरसों से रुकी हुई पड़ी थीं ऐसे चलने लगीं जैसे किसी ने उनमें चाबी भर दी हो। उनकी योग्यता और कार्यनिष्ठा के ही कारण वित्त विभाग के अधिकारी भी उनकी बड़ी इज़्ज़त करते थे। वे जानते थे कि पार्सन्स जो कुछ कहते या करते हैं वह कभी अकारण या निराधार नहीं होता। उन्हें यह भी मालूम था कि अगर कहीं कोई झोल निकला तो वे न सिर्फ़ यह कहने में कुछ कसर न उठा रखेंगे बल्कि उनका वही कहना सुनने वाले के लिए घातक भी सिद्ध होगा। बंच में उस बीमारी के लक्षण नाम मात्र को भी नहीं थे जिसके सचिवालय वाले एक लंबे अर्से से शिकार रहे थे। जितना आवश्यक था उससे अधिक न कभी उन्होंने एक शब्द कहा और न लिखा, लेकिन जिन शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग कर दिया वे सीधे निशाने पर जाकर लगे। जो बात बेनेडिक ने बीट्रिस के बारे में कही थी, वही उन पर भी चरितार्थ होती थी यानी उनके मुँह से कृपाणें निकलती थीं, : एक-एक शब्द कटार की तरह शरीर में घाव कर देता था। उनका रहन-सहन सादा था, बहुत ही संयत और सीधा-सच्चा। दंभ या आडंबर का तो उनमें नाम-निशान तक न था। उनके पूर्ववर्ती अधिकारी सर मेटकाफ़ बड़ी रईसाना ज़िंदगी बिताते थे। अपनी वेशभूषा का उन्हें हमेशा बड़ा ख़याल रहता था—यहाँ तक कि हम भी उनके सामने भूरे फ़लालेन पतलून और ट्वीड का कोट पहन कर कभी जाने का साहस न करते थे। लेकिन बंच का यह हाल था कि वे फ़लालेन और ट्वीड के अलावा कुछ पहनते ही नहीं थे। इसलिए जब वे विदेश सचिव बने तो हमने उन्हीं का अनुसरण किया। जिस दिन भी वे

हमें बढ़िया सूट में देख लेते फ़ौरन कहते, 'अच्छा तो आज कहीं दावत उड़ेगी !' बलूचिस्तान जाकर तो हमने अपने भूरे फ़लालेन और ट्वीड के कोट को भी तिलांजलि दे दी और बंच की तरह मज़री नैकर और बुशर्ट से ही काम चलाया।

दिल्ली और शिमला का थोथा सामाजिक जीवन बंच को कभी न भाया। वे उन्हीं लोगों से मिलते-जुलते थे और उन्हीं की आवभगत करते थे जिन्हें वे वास्तव में पसंद करते थे। और उन लोगों का आतिथ्य भी वे इस तरह करते थे कि उनके स्वभाव का सारा माधुर्य अतिथियों पर स्पष्ट हो जाता था। वे ब्रह्मचारी थे। कहा जाता था कि जिस ज़माने में वे सेना में थे उनका एक लड़की से प्रेम हो गया था जिसने एक लेफ़्टिनेंट जैसे छोटे सैनिक अधिकारी से विवाह करने से इन्कार कर दिया था और अपनी उसी प्रेमिका की याद में वे आजीवन अविवाहित रहे। लेकिन अपने परिवार के अभाव की पूर्ति उन्होंने इस प्रकार की कि अनेक लड़कों को अपना धर्मपुत्र बना लिया और अपनी दानशीलता से उन सभी को लाभान्वित किया।

फ़ोर्ट साण्डेमान में एक भारतीय की राजनीतिक एजेंट के रूप में नियुक्ति ने वहाँ के ब्रिटिश समाज के लिए कुछ समस्यायें खड़ी कर दी थीं। उनका एक क्लब था और सामान्यतः राजनीतिक एजेंट उसका अध्यक्ष हुआ करता था। जब मेरी नियुक्ति वहाँ राजनीतिक एजेंट के रूप में हुई तो उन लोगों के सामने यह प्रश्न उठा कि एक भारतीय को उन्हें न सिर्फ़ अपने क्लब में प्रवेश देना है बल्कि उसे क्लब की अध्यक्षता के लिए भी आमंत्रित करना है। लिहाजा ब्रिटिश अधिकारियों ने एक जोखिम लेने का निश्चय किया और उन्हें यह देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरी पत्नी पर्दा नहीं करतीं और न मैं ही शराब से परहेज़ करता हूँ। लेकिन अनुजी ने कभी शराब चखी तक नहीं। इसीलिए जब भी वे क्लब में जाती थीं हमारे मित्र ज़ोर से वेटर को आवाज़ देते थे और कहते थे, देखो श्रीमती मेनन के लिए पानी का एक 'स्ट्रांग ग्लास' लाओ।

ज़ाब के निवासियों में भी पहले-पहल तो बड़ी खलबली मची कि एक हिन्दुस्तानी, बल्कि हिन्दू और वह भी दक्षिण का (क्योंकि वहाँ मद्रासियों को यही कहा जाता था) हिन्दू, राजनीतिक एजेंट के रूप में नियुक्त होकर आ रहा है। पार्सन्स साहब वहाँ जो सुधार करने में प्रयत्नशील थे ज़ाब के मलिक उनसे इसी बात पर रूठे हुए थे। उन्होंने समझा कि हम पर शासन करने के लिए एक हिन्दू की नियुक्ति भी इसी पार्सन्स की एक चाल है और यह इस तरह हमारी इज्जत के साथ खिलवाड़ करना चाहता है। वे एक शिष्टमंडल के रूप में मेरे पूर्ववर्ती एजेंट के पास गये और मेरी नियुक्ति की अफ़वाह पर अपनी शंकाएँ

उनके सामने प्रस्तुत कीं। डि ला फ़ार्ग ने उन्हें समझाया कि वह (नया राज० एजेंट) सीमाप्रांत के लिए नया आदमी नहीं है, पेशावर में उसका बड़ा अच्छा रिकार्ड रहा है। ख़ैर, उन्होंने मलिकों से कहा आप ज़रा रुके रहिए और देखिए क्या होता है। जब उन्होंने मुझे देखा कि न मैं धोती पहनता हूँ, न तिलक लगाता हूँ और उन्हीं की भाषा पुश्तो उतनी ही तेज़ी से बोल लेता हूँ जितनी कोई अंग्रेज़ साहब बोलता, तो उन्हें कुछ संतोष हुआ।

फ़ोर्ट साण्डेमान का एक मशहूर नाम था। स्थानीय निवासी इसे अयोज़ई कहा करते थे और आज भी वे इसे इसी नाम से पुकारते हैं, लेकिन सरकार ने इसे बदलकर कर्नल साण्डेमान के नाम पर इसका यह नाम रख दिया था। कर्नल साण्डेमान सीमाप्रांत के सुयोग्य प्रशासकों में से माना जाता है। उसने बलूचिस्तान में प्रशासन की तथाकथित परोक्ष प्रणाली की न केवल योजना तैयार की थी बल्कि उसे कार्यरूप भी प्रदान किया था। इस प्रणाली के अनुसार वहाँ का वास्तविक प्रशासन मलिकों के सुपुर्द कर दिया गया था। क़ानून और व्यवस्था बनाए रखना तथा सरकार की सत्ता के प्रति जनता में आदर-भाव जगाना उन्हीं का कर्त्तव्य था। सरकार की प्रत्यक्ष सत्ता केवल छावनियों तथा संचार के सीमा-केन्द्रों तक सीमित थी और मलिकों से यह आशा की जाती थी कि वे उनकी रक्षा करें। ब्रिटेन की भारतीय भूमिराजस्व-व्यवस्था या भारतीय दंड संहिता अथवा दंड-प्रक्रिया संहिता को वहाँ लागू करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था, इसलिए कि क़बाइली प्रथा को ही पवित्र समझकर मान्यता देदी गई थी। उदाहरण के लिए यदि किसी का क़त्ल हो जाता तो मैं क़बीले के तीन या चार गण्यमान्य व्यक्तियों के जिर्गा की नियुक्ति कर देता और उनके निर्णय के लिए दो-चार सामान्य वाद-विषय उनके सामने पेश कर देता। बस इतना करके मैं अलग हो जाता और वही जिर्गा वादी तथा प्रतिवादी दोनों से बातचीत करता और यदि किसी और व्यक्ति को भी उस अपराध के बारे में कुछ जानकारी होती तो उससे भी पूछताछ करता और फिर अपना निर्णय सुना देता। यदि जिर्गा का फ़ैसला यह होता कि प्रतिवादी ने अपराध किया है तो उस पर मुक़दमा चलाने या उसे बरी करने का अधिकार मुझे होता और यदि उसके फ़ैसले के अनुसार प्रतिवादी दोषी न ठहराया जाता तब तो मेरे लिए उसे बरी कर देना अनिवार्य हो जाता। लेकिन उसके बावजूद अगर मेरी राय में उस अभियुक्त पर मुक़दमा चलाना आवश्यक होता तो मैं एक और जिर्गा उसी मामले की जाँच-पड़ताल के लिए नियुक्त कर देता। जिर्गा प्रणाली के अनुसार प्राणदंड वर्जित था, केवल

चौदह वर्ष का कारावास या जुर्माना ही किया जा सकता था। क़बाइली संहिता के अनुसार विभिन्न प्रकार के लोगों की हत्या के लिए जो हत्या-राशि ली जाती थी वह निश्चित थी : शीरानी की हत्या के लिए 600 रुपये, मंदोखेल की हत्या के लिए 1500 रुपये और किबज़ई के वध के लिए 3000 रुपये देने पड़ते थे। हत्या के झगड़े आम थे, बहुत से मुक़दमों में तो मैंने देखा कि हत्यारा लगातार एक-के-बाद-एक चालीस या पचास हत्याएँ कर चुका होता था।

प्रायः अपराध की प्रेरणा इन तीन तत्त्वों से मिलती थी : ज़र, ज़न और ज़मीन। आदिवासी क्षेत्र में इन्हीं तीनों चीज़ों की भारी कमी थी। वहाँ के लोग बहुत ही ग़रीब थे, उनकी ज़मीन बंजर थी और वहाँ मर्दों की संख्या औरतों से अधिक थी। मेरा यह अनुभव था कि जो मुक़दमे ज़मीन या घर के झगड़े के कारण होते थे उनमें मैं जिर्गा के फ़ैसलों पर विश्वास कर सकता था लेकिन जहाँ स्त्री का मामला होता वहाँ मुझे बड़ा सतर्क रहना पड़ता था।

क़बाइली क़ानून के अनुसार पुरुष को अधिकार था कि 'सियाहकारी' (दुराचरण) के संदेह पर वह अपनी पत्नी की हत्या कर सकता है। सियाहकारी के अंतर्गत केवल व्यभिचार ही नहीं आता था, यदि कोई स्त्री पड़ौसी को देख कर अर्थपूर्ण ढंग से मुस्करा देती या उसे प्रेमदृष्टि से देख लेती तो वह वध्य मानी जाती थी। ऐसे कई मुक़दमे मेरे सामने आये जिनमें आदमी ने गरमा-गरमी में अपने दुश्मन का वध किया और घर आकर अपनी पत्नी को मार डाला ताकि अपनी सफ़ाई में यह दलील दे सके कि चूँकि दोनों आपस में सियाहकारी करते थे इसलिए मैंने उन दोनों को मार दिया। और चूँकि जिर्गा में मर्द ही होते थे इसलिए वे हमेशा उसकी दलील मान लेते थे और अभियुक्त को बरी कर दिया करते थे। मेरी यह कठिनाई थी कि अगर मैं यह महसूस भी करता कि वह व्यक्ति अपराधी है तब भी मैं उसे तब तक दण्ड न दे सकता था जब तक कि जिर्गा उसे अपराधी घोषित न कर देता। नतीजा यह होता था कि अगर एक जिर्गा सही फ़ैसला नहीं करता था तो मैं दूसरा जिर्गा नियुक्त करता था और इसी तरह तीन, चार या इससे अधिक जिर्गाओं की नियुक्ति करनी पड़ती थी और जब तक मुझे वह निर्णय न मिल जाता जिसे मैं सही समझता था तब तक मैं कोई फ़ैसला नहीं करता था।

सियाहकारी के एक भयंकर काण्ड में मेरे लिए जिर्गा के निर्णय को मानने के अलावा कोई विकल्प नहीं था क्योंकि उसमें जो गवाही पेश की गई थी वह बहुत ही सच्ची थी। वह दुहरी हत्या का मुक़दमा था। उसका क़िस्सा यों बयान किया गया था कि एक दिन आधी रात को एक स्त्री अपने बिस्तर से उठी और चुपके से बाहर चली गई। पति ने पूछा तुम कहाँ जा रही हो तो उसने जवाब

दिया कि टट्टी करने। जब पति ने देखा कि वह बहुत देर तक नहीं लौटी तो वह बाहर निकला और क्या देखता है कि उसकी पत्नी पास ही की गली में अपने प्रेमी के बाहुपाश में बँधी हुई है। बस यह दृश्य देखना था कि वह आग-बबूला हो गया और लगा उन पर पत्थर बरसाने। यहाँ तक कि उसने पत्थरों से उन दोनों को वहीं ढेर कर दिया। और पहरेदारों ने गवाही के रूप में मृत स्त्री की योनि से निःसृत वीर्य की कुछ बूँदें पेश कीं।

समग्र रूप से आदिवासी क्षेत्रों में लोगों का जीवन कुछ वैसा ही था जैसा हॉब्स* ने समाज का आदिम अवस्था का जीवन बताया है : 'एकाकी, दरिद्र, दूषित, बर्बर और अल्पकालिक।' चूंकि सरकार की यह नीति थी कि उनके अंदरूनी मामलों में कोई हस्तक्षेप न किया जाए इसलिए वह उनमें सुधार करने के लिए कोशिश भी नहीं करती थी। अलबत्ता सरकार यह ज़रूर करती थी कि क़बाइली मलिकों की जेबें हमेशा पैसों से भरती रहती थी। प्रत्येक मलिक को मासिक भत्ता मिलता था जो पाँच रुपये से लेकर एक हज़ार रुपये तक होता था। इसके अलावा जब भी वह राजनीतिक ऐजण्ट से मिलने आता उसे कुछ रक़म उपहारस्वरूप भी दी जाती थी। हर सोमवार और गुरुवार को सुबह 10 बजे से दोपहर को 1 बजे तक मैं दरबार किया करता था यानी मैं रुपयों की एक थैली लेकर अपने कमरे में बैठ जाता था और जो भी मलिक मुझे सलाम करने आता मैं उस थैली के पैसे उसे दिया करता था। मेरा यह कर्त्तव्य था कि उनसे बातचीत करते समय मैं अपनी एजेंसी के मामलों की पूरी जानकारी रखूं।

बलूचिस्तान में पार्सन्स के एजेंट-जनरल बनने के पहले मलिक लोग दोहरी कमाई किया करते थे। अपनी सहायता के लिए वे कुछ पहरेदार या सिपाही रखते थे जिनका वेतन सरकार की ओर से दिया जाता था। उन सिपाहियों का काम सड़क पर गश्त लगाना, हमलों का सामना करना और हमलावरों को गिरफ़्तार करना था। उन पहरेदारों की तनख्वाह संबंधित मलिकों को दे दी जाती थी। प्रायः ऐसा होता था कि ये मलिक या तो वह सारी रक़म ही हड़प कर जाते थे या फिर उसका अधिकांश भाग खा जाते थे और नतीजा यह होता था कि वे पहरेदार राजनीतिक एजेंट या किसी अन्य उच्चाधिकारी को गुज़रता देखते तो सड़कों पर निकल जाते थे वर्ना पहरे पर होते ही न थे। पार्सन्स ने आकर इस धाँधली को समाप्त किया। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि पहरेदार अपनी-अपनी चौकियों में रहें और हर रोज़ सड़कों पर गश्त करें, यह नहीं कि ख़ास मौक़े पर ही वे सड़कों पर दिखाई दें। साथ ही उन्होंने यह व्यवस्था भी कर दी कि प्रत्येक पहरेदार का भत्ता मलिक के मार्फ़त न दिया जाकर सीधे

* टॉमस हॉब्स, इंगलैंड का प्रख्यात दार्शनिक (1588-1679)।

उसी को दिया जाए। इससे मलिकों की आमदनी घट गई, दूसरे इससे क़बीले के नवयुवकों में उनकी प्रतिष्ठा को भी आघात लगा। लिहाज़ा मलिकों ने पार्सन्स के सुधारों के विरुद्ध आंदोलन किया। जब मैं एजेंसी में आया तो उन्होंने यह निश्चय-सा कर लिया था कि हम सरकार के साथ कोई सहयोग नहीं करेंगे। मैंने महसूस किया कि स्थिति बड़ा भयानक रूप धारण कर रही है।

मैंने पार्सन्स से अनुरोध किया कि वे मलिकों का नियमित भत्ता बढ़ा दें और इस प्रकार सुधारों के कारण उन्हें जिन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था मैंने उन्हें कम करने का भरसक प्रयत्न किया। लेकिन दूसरी ओर मैंने मलिकों को पार्सन्स-योजना के लाभों के बारे में भी बताया और उन्हें समझाया कि अंत में सुधार उन्हीं के हितों के अनुकूल सिद्ध होंगे। क़बीले में पहले से ही कुछ असंतोष दिखाई दे रहा था और वह असंतोष हमेशा जायज शिकायतों के कारण फैलता था क्योंकि मलिक पहरेदारों का वेतन खा जाते थे। रफ़्ता-रफ़्ता सुधार-विरोधी आंदोलन ठण्डा पड़ गया और जब मैं फ़ोर्ट साण्डेमान से चला आया तो पार्सन्स का मेरे पास एक पत्र आया जिसमें उन्होंने लिखा था जब आप आये थे तो ज़ाब क्या था लेकिन आपके जाने के बाद तो इसका कायाकल्प ही हो गया। और मुझे यह जानकर खुशी हुई कि मेरे प्रयत्न सफल रहे थे।

वास्तव में देखा जाए तो सुधारों की सफलता का श्रेय पार्सन्स को ही है। जब तक आंदोलन चला वे चट्टान की तरह अपने निर्णय पर अटल रहे। उनका यह सिद्धान्त था कि जब कभी वे कोई ऐसी नीति अपनाते जिसे वे ठीक समझते थे तो उसके कार्यान्वयन में परिणामों की चिंता बिल्कुल नहीं करते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी नीति बलूचिस्तान की जनता के लिए लाभदायक थी, लेकिन दुर्भाग्य की बात देखिए कि इस नीति का एक फल यह हुआ कि मेरे परवर्ती राजनीतिक एजेण्ट की हत्या कर दी गई। ज़ाब के पहरेदारों का नेतृत्व जमादार दफ़ेदार और हवलदार किया करते थे। पार्सन्स के बलूचिस्तान में आने से पहले ये ओहदे बाप से बेटे को मिला करते थे। पार्सन्स का आग्रह था कि इन ओहदों पर नियुक्ति केवल वंशपरंपरा के अनुसार नहीं, योग्यता के आधार पर की जानी चाहिए। लिहाज़ा शेरजान नामक व्यक्ति की जिसका बाप जमादार था, पदावनति करके उसे हवलदार बना दिया गया। उसने इसे अपने नाम पर एक कलंक समझा और अवसर पाकर इस अन्याय की शिकायत मुझसे करता रहा। क़बीले के बुज़ुर्गों से परामर्श करने के बाद मैंने पार्सन्स से सिफ़ारिश की कि शेरजान को दफ़ेदार बना दिया जाए और वह बना दिया गया। लेकिन फिर भी वह अपने बाप की जमादारी की माँग करता रहा और मेरे ज़ाब से चले आने के बाद मेरे परवर्ती एजेंट मेजर बार्न्स के पीछे पड़ा रहा। एक दिन उसने बार्न्स से

कासल के उसी दफ़्तर में मुलाक़ात की जहाँ मैं भी बैठकर काम किया करता था। उस मुलाक़ात के दौरान उन दोनों में क्या बातें हुईं मुझे नहीं मालूम, लेकिन सुना है कि शेरजान ने सहसा रिवॉल्वर निकाला और बार्न्स के गोली मार दी। और इस प्रकार रक्त द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य की नींव मज़बूत करने की बाजपेयीजी की अशुभ भविष्यवाणी सच्ची साबित हो गई, फ़र्क़ बस इतना था कि रक्त मेरा न होकर मेरे परवर्ती अधिकारी का था।

वह रक्त मेरा भी हो सकता था। उसी ज़माने में फ़ोर्ट साण्डेमान में जिन राजनीतिक एजेंटों का क़त्ल हुआ था उनमें बार्न्स का तीसरा नंबर था। गैसफ़ोर्ड जब दाढ़ी बना रहे थे तो एक क़बाइली उन पर टूट पड़ा और उसने उन्हें मार डाला। फ़िनिस को एक शीरानी क़बाइली ने मनिरवा के समीप घेर लिया और गोली का निशाना बना लिया। कासल से कुछ ही दूर एक क़ब्रिस्तान था जहाँ फ़ौजी क़ब्रिस्तानों के रिवाज़ के अनुसार एक क़ब्र हमेशा खुली रहती थी। और मैं अक्सर सोचा करता था कि उसमें जगह पाने वाला अगला व्यक्ति कौन होगा।

सीमाप्रांत के राजनीतिक अधिकारी की ज़िन्दगी हमेशा जोखिम में पड़ी रहती थी। एक दिन ऐसा हुआ कि मुझे गुलकाच नामक एक खतरनाक चौकी पर जाना था जो अफ़ग़ान-बलूची सीमा पर स्थित थी लेकिन किसी-न-किसी कारणवश मुझे अपना जाना स्थगित करना पड़ा। बाद में मुझे पता चला कि जिस दिन मैं गुलकाच जाने वाला था उसी दिन एक कुख्यात डकैत संबाज़ा के निकट मेरी घात में बैठा था। एक और दिन जब मैं और अनुजी कासल के बरामदे में बैठे हुए थे तो क्या देखते हैं कि एक अजीब से हुलिये वाला क़बाइली हाथ में राइफ़ल लिये घोड़े पर सवार पहाड़ी पर चला आ रहा है। हमारी समझ में न आया कि आख़िर यह चाहता क्या है। लेकिन हमारे बड़े चपरासी की बुद्धि ने हमसे ज़्यादा तेज़ी से काम किया। पलक झपकते ही वह घुड़सवार के पास था। उसने उसे नीचे उतारा उसकी राइफ़ल छीन ली और उसे पुलिस स्टेशन ले गया जहाँ जाकर उसने यह स्वीकार किया कि मेरा लक्ष्य राजनीतिक एजेंट की हत्या करना था।

आये दिन हमारे पास यह सूचना आती थी कि कुछ असंतुष्ट क़बाइली हमारे किसी बच्चे का अपहरण करने की कोशिश में हैं ताकि उसकी छुड़ाई के लिए हमसे कोई भारी रक़म माँग सकें। यह कुछ मुश्किल भी न था क्योंकि हमारे बच्चे बिना किसी बड़े को साथ लिये अकेले ही कासल के आसपास घूमते-फिरते थे। लेकिन क़बाइलियों ने उन बच्चों के बजाय फ़ोर्ट साण्डेमान शहर से दो हिन्दू नवयुवकों का अपहरण किया और उन्हें ख़ुरासान ले गये। ज़ाब मिलीशिया इधर-उधर उनकी तलाश करती रही लेकिन बेकार। अंत में अतिरिक्त सहायक

कमिश्नर, दोस्त मुहम्मद अलीशाह की सूझबूझ की बदौलत वे पकड़ कर वापस ले आये गये। मैंने उसके लिए 'ख़ान बहादुर,' की उपाधि की सिफ़ारिश की और वह उसे मिल भी गई।

बच्चों के साथ हमने अपना सबसे अधिक उल्लासमय जीवन फ़ोर्ट साण्डेमान में ही बिताया। अब वे बड़े हो गये थे और कोई दस वर्ष का था तो कोई पंद्रह वर्ष का। हम सोचा करते थे कि अम्मिणी की जल्दी ही शादी हो जायेगी और फिर उसकी दूसरी बहनों की बारी आयेगी और वे सब अपने-अपने घर बसायेंगी और लड़के स्कूल चले जायेंगे। वे हमारी सेवा-काल के अंतिम दिन थे जब हम सब साथ थे। जब मैं देखता कि बच्चे क़द निकाल रहे हैं या उनकी मसें भीगने लगी हैं तो मुझे बड़ा अच्छा लगता था। उन सबकी वंशपरंपरा और वातावरण तो एक ही था लेकिन फिर भी वे शक्ल-सूरत और स्वभाव आदि में एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न उठ रहे थे। अम्मिणी और कुंजा में सिर्फ़ एक साल की ही छुटाई-बड़ाई थी। अम्मिणी बहुत ही शांत और गंभीर स्वभाव की थी किन्तु किशोरावस्था का कुछ धुँधला-सा एहसास उसे कभी-कभी परेशान कर देता था। उधर कुंजा की यह दशा थी कि उसका मन और शरीर दोनों ही विक्षुब्ध रहते थे और वह कल्पना-जगत में ही सुखी-संतुष्ट रहा करती थी। मालती और मालिनी जुड़वाँ थीं। मालती ने तौर-तरीक़े तो अम्मिणी के अपनाये थे लेकिन उसकी सूरत-शक्ल अपनी नानी पर गई थी और ज्यों-ज्यों बड़ी होती जाती थी उसका सौन्दर्य निखरता जाता था और वह परिवार की सुंदरी बनती जा रही थी। जहाँ तक मालिनी का संबंध है, उसका नाक-नक़्शा जो उलटा तो सीधे अपने दादा पर गया जिनका सौंदर्य से दूर का भी संबंध नहीं था लेकिन वह अपने दादा की ही तरह बुद्धिमान थी और उसकी स्मरणशक्ति बड़ी प्रबल थी। कुमार और शंकर भी जुड़वाँ थे। शंकर बड़ा सौम्य, शांत-स्वभाव था और पढ़ने-लिखने से उसे रुचि थी हालाँकि बाद में चलकर उसके अन्दर कुछ उच्छृङ्खलता और नकचढ़ापन आ गया था जिसका प्रयोग वह लोगों को यह बताने के लिए किया करता था कि मैं किताबी कीड़ा नहीं हूँ। और ख़ासकर अपनी पत्नी ललिता के प्रति तो उसका यही रवैया था जबकि ललिता का कॉलेज का रिकार्ड उससे भी बढ़कर अच्छा रहा था। कुमार जितना चंचल था उतना ही गंभीर भी। उसे परीक्षोपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त सभी प्रकार की पुस्तकें पढ़ने का शौक था। स्कूल की किताबों से उसे जितनी चिढ़ थी उतना ही वह उनसे डरता भी था। पढ़ाई के प्रति उसका क्या रवैया था यह उसकी डायरी से स्पष्ट हो जाता है जिसमें वह सब कुछ सूत्र में लिख लेता था। एक दिन उसने लिखा, 'टीचर बीमार हैं', और तीन दिन बाद लिखा, 'टीचर ठीक हो गईं। क्या तक़दीर है हमारी भी!'

हमारी नियमित दिनचर्या कुछ इस प्रकार थी : सुबह होते ही मैं बच्चों के कमरे में जाता था, उनके सिर सहलाकर उन्हें जगाता था। कभी मैं ऐसा करता कि उन्हीं के पास लेट जाता और झूठमूठ यह ज़ाहिर करता जैसे मैं सपना देख रहा हूँ। फिर वही सपना चाहे भयानक हो अथवा आह्लादकारी मैं बच्चों को सुनाया करता था। दिन भर बच्चे मुझे घेरे रहते थे, बस कुछ समय के लिए जब मैं दफ्तर का काम करता था और वे अपनी सुंदर और हँसमुख टीचर फ़्लोरेंस स्वामिकण्णु के साथ बैठकर स्कूल का काम किया करते थे, वे मुझसे अलग होते थे। फ़्लोरेंस स्वामिकण्णु हमारे साथ ही रहती थी और हर प्रकार से हमारे परिवार की सदस्य बन गई थी। हम साथ-साथ अनेक खेल खेला करते थे। फ़ोर्ट साण्डेमान में बच्चे तो इतने बड़े हो गए थे कि शेर और लोमड़ी वाला खेल नहीं खेल सकते थे जो कि श्रीलंका में उनका प्रिय खेल था। कुमार इस खेल में हमेशा लोमड़ी बनने पर ज़ोर देता ताकि बहला-फुसलाकर शेर को भयानक कुएँ के पास ले जाए। लेकिन अब तो हम ज्यादातर 'चोर-सिपाही' वाला खेल खेला करते थे और अक्सर सिपाही चोर को इतने जोर से मार बैठता था कि बेचारा चोर रो पड़ता था और खेल समाप्त हो जाता था। हम लोग ईसप की कहानियाँ और रामायण तथा महाभारत के आख्यान सुनाया करते थे। कभी-कभी हमारे यहाँ इस बात पर होड़ भी रहती थी कि देखें कौन सबसे ज़्यादा अदभुत कहानी सुना सकता है। उनमें सबसे अटपटी कहानी यह थी कि मैं पैदा तो मर्द हुआ था लेकिन मुझमें धीरे-धीरे स्त्रियों के-से लक्षण उभरने लगे, मेरा पेट बढ़ने लगा और अंत में शिघर की चोटी पर जो मैं खाँसा तो बच्चा निकल पड़ा। शिघर बलूचिस्तान का एक खूबसूरत पर्वत-स्थल था और हम गर्मी के चंद महीने वहीं बिताया करते थे और वहीं वह जगह मौजूद थी जहाँ पैदा होते ही बच्चे का सिर चट्टान से टकराया और वह मर गया। कभी-कभी हमारे यहाँ वाक्-प्रतियोगिता भी होती थी। एक बार उसका विषय था : 'सुखी कौन ब्रह्मचारी या विवाहित ?' इस पर लड़कियाँ तो किसी भी पक्ष में नहीं थीं लेकिन लड़के तो झूठमूठ में भी शादी के समर्थन को तैयार न हुए। एक दिन हमने देखा कुमार रो रहा है, उससे पूछा तो मालूम हुआ कि शंकर ने मारा है। शंकर से पूछा तो मालूम हुआ कि इसने मुझे गाली दी थी और कहा था तुम विवाहित हो। अलबत्ता 31 वर्ष की आयु के बाद शंकर को वास्तव में विवाहित कह कर अपमानित किया जा सकता था।

तीसरा पहर हम खेल-कूद में बिताया करते थे। हम लोग राजनीतिक एजेंट के बाग़ में आँख-मिचौली खेला करते थे। वहीं एक दिन अम्मिणी किसी ऐसी जगह जाकर छिपी कि हमने सारा बाग़ छान मारा और उसका कहीं पता न लगा। हमारे सबके पेट में पानी हो गया और हमने समझ लिया कि हो-न-हो

उसे वही मशहूर डाकू पेल उठाकर ले गया होगा। या फिर उस समय में मैं और फ़्लोरेंस टेनिस खेला करते थे और बच्चे हमें गेंद ला-लाकर दिया करते थे। हर रोज़ सिवाय कुंजा के जो घोड़े के नाम से डरती थी हम सभी घुड़सवारी किया करते थे। जाब मिलिशिया के घोड़े हमें मिल जाया करते थे और मालिनी ने घुड़सवारी में ऐसा कमाल हासिल कर लिया था कि उसे सभा-समाज में बैठने की बजाय घोड़े पर बैठने में ज़्यादा आनन्द आता था।

रात का खाना खाने के बाद हम लोग सर्दियों में आग के पास बैठ जाते थे क्योंकि फ़ोर्ट साण्डेमान में ऐसी भयंकर सर्दी होती थी कि तापमान शून्य से भी नीचे चला जाता था। सौभाग्यवश उस ज़माने में टेलीविज़न नहीं था जो बच्चों का ध्यान बँटाता या बिगाड़ता। शामें शांतिमय बातचीत, संगीत और कविता-पाठ में गुज़र जाती थीं। बच्चों ने 'ट्विंक्ल ट्विंक्ल लिट्ल स्टार' से कविता याद करनी और सुनानी शुरू की थी और अब वे 'द हाउण्ड ऑफ़ हैवन' नामक कविता कण्ठस्थ कर रहे थे। यह इतनी उत्कृष्ट कविता है कि आज भी हर्ष या अवसाद के क्षणों में मैं इसे आद्यंत दोहराया करता हूँ। समुद्र तट पर लेटे हुए या किसी पहाड़ी की चोटी पर खड़े हुए अक्सर ऐसे क्षण आते हैं जब इस कविता का विशेष रसास्वादन किया जा सकता है।

बस इसी तरह मैं अपना सारा फ़ालतू वक़्त बच्चों के साथ गुज़ारा करता था। ऐसा मैं उनके लिए नहीं करता था बल्कि अपने लिए ही किया करता था क्योंकि मुझे उनके साथ बैठने, खेलने-कूदने और घूमने-फिरने में मज़ा आता था। बच्चों के साथ मैं कभी ऐसा व्यवहार नहीं करता था जिससे उन्हें यह एहसास हो कि मैं उनका बड़ा हूँ या उनका पिता हूँ। मैं तो उनके साथ एक मित्र या हमजोली बन कर रहता था और उन नन्हें-मुन्हें, प्यारे बच्चों के भोलेपन और बालोचित क्रियाकलापों का आनन्द उठाया करता था।

अनुजी इन बातों में हमसे अलग रहती थीं, बल्कि एक तरह से हम सबके ऊपर थीं। हमारे सारे आमोद-प्रमोद में वे शामिल नहीं होती थीं। घुटनों की कमज़ोरी के कारण घुड़सवारी या टेनिस तो उनके बस की थी ही नहीं, ज़्यादा दूर चलना भी उनके लिए दूभर होता था। अलबत्ता बच्चों की देखभाल, उनका लालन-पालन और उनके आध्यात्मिक तथा भौतिक प्रशिक्षण का दायित्व उन्हीं पर था। गृहस्थी का सारा कामकाज उनके ज़िम्मे था और उसमें वे किसी का हस्तक्षेप पसंद नहीं करती थीं। भविष्य के लिए कुछ बचा रखने की चिंता भी उन्हीं को रहती थी। हमारा वेतन वैसे तो उस ज़माने को देखते हुए अच्छा-ख़ासा था लेकिन फिर भी बस महीना पूरा ही हो जाता था, उसमें से बचाने की गुंजाइश कम ही रहती थी। यह तो हुई इस लोक की बात इसके अलावा दूसरे

लोक में भी हमारे हितों की रक्षा का भार अनुजी के ही कंधों पर था। हममें से तो किसी की पूजा-पाठ की ओर प्रवृत्ति थी ही नहीं इसलिए वे ही हम सब की ओर से वह सब कर लिया करती थीं और दुगुना-चौगुना समय पूजा-अर्चना में लगाया करती थीं। हमने भी अपने और ईश्वर के बीच उन्हें मध्यस्थ बना दिया था और मैं समझता हूँ कि भगवान ने भी उन्हें सहर्ष स्वीकार कर लिया होगा क्योंकि भगवान के प्रति जो अपार श्रद्धा और भक्ति-भाव उनमें था उसको देखते हुए भगवान किसी और को अपना मध्यस्थ न बना सकते थे। वे भगवान के आगे कभी कोई माँग नहीं रखती थीं क्योंकि उनका विचार था कि भगवान हर समय उनके साथ है। भगवान के निर्गुण-निराकार होने पर तो उन्हें विश्वास था, फिर भी वे अपने ग्रामीण देवता के रूप में ही उसकी कल्पना किया करती थीं। जिन्दगी में जब भी कोई संकट आया उन्होंने यही अनुभव किया कि देवी उनकी और मेरी सहायता के लिए आई हैं। लेकिन मुझसे उस देवी का जीवन में केवल एक ही बार साक्षात्कार हुआ है और वह भी उस समय जब मैं चेचक से ग्रस्त था और मरणासन्न हो चुका था जबकि मैंने स्वप्न में उन्हें देखा था। कभी-कभी, जैसे कराकोरम के भयावह दर्रों को पार करते समय मैंने ईश्वर का नाम स्मरण किया था और अनुजी के बताये हुए मंत्र का उच्चार भी किया था। लेकिन मेरी और अनुजी की प्रार्थना में एक बुनियादी अंतर यह था कि मेरा मंत्रोच्चार सोद्देश्य हुआ करता था जबकि अनुजी निःस्वार्थ भाव से भगवान को याद किया करती थीं। उनके लिए ईश्वर-भक्ति और पूजा-अर्चना उतनी ही स्वाभाविक और आवश्यक थी जितना हमारे लिए श्वास लेना। जिस प्रकार श्वास लिये बिना जीवन असंभव है उसी प्रकार अनुजी के लिए नाम-स्मरण के बिना जीना संभव ही न था।

बच्चों की संगति का जो शुद्ध आनन्द मुझे मिला वह अनुजी को कभी न मिल सका। उनके स्नेह में चिन्ता का पुट भी रहता था। कभी हमारे शोर से वे क्षुब्ध हो जाती थीं और कभी अकेलापन महसूस करती थीं। और कभी-कभी तो वे यह भी सोचा करती थीं कि मेरा बच्चों के साथ इस प्रकार घुलना-मिलना उनके लिए हितकर भी है या नहीं। मिसाल के तौर पर बच्चियों का मुझे नहाते हुए देखना जब कि वे तेरह-चौदह वर्ष की उम्र को पहुँच चुकी थीं, या उनका हर समय मुझसे बातें करते रहना या लोगों और वस्तुओं के बारे में मेरी अनादरपूर्ण बातें सुनना यह सब उन्हें चिन्तित किये रहता था। दूसरी आपत्ति उन्हें यह थी कि बच्चे अंग्रेजी में क्यों बात-चीत करते थे, अपनी मातृभाषा मलयालम क्यों नहीं बोलते? और अंग्रेज़ी भी ऐसी कि शंकर ने एक दिन आकर कहा, आई वाज़ स्टैंड अपिंग, एण्ड कुडु वाज़ सिट डाउनिंग व्हेन वन नॉइज़ केम।' बच्चों ने कुछ ऐंग्लो-

इण्डियन आदतें भी सीख ली थीं, जैसे हमारे बैरे बिहारीलाल को जो उम्र में उनके बाप के बराबर था वे 'बॉय' कहकर पुकारा करते थे। एक बार हमने निश्चय किया कि अब जो कोई भी उसे बॉय कहे उससे एक आना जुर्माना लिया जाए। महीना भर ही गुज़रा होगा कि बिहारीलाल ने अच्छी-खासी रक़म जमा कर ली लेकिन बेचारे को चिंता यही लगी रही कि हमारे इन सुधारों का बच्चों पर कहीं बुरा असर न पड़े।

इसके अलावा अनुजी को यह चिंता भी होने लगी थी कि लड़कियाँ जितनी बढ़ती जाती हैं हुड़दंग मचाती फिरती हैं, भला इन हुड़दंगिनियों के लिए दामाद कहाँ से आयेंगे। लेकिन हुआ यह कि ज्यों-ज्यों वे बढ़ीं उन्होंने अपनी माँ का अनुकरण शुरू कर दिया। सच तो यह है कि मेरी लड़कियों पर मुझसे कहीं अधिक स्थायी प्रभाव अनुजी का ही रहा है, उनमें वही ख़ूबियाँ मौजूद हैं जो अनुजी में थीं- सादगी, आर्जवता, आडंबर के प्रति घृणा, शृंगार और अलंकरण के प्रति वितृष्णा, पूजा-पाठ का अभ्यास, उचित-अनुचित का विचार और मनुष्य के बनाये हुए सभी रीति-रिवाजों के प्रति समादर-भाव—यद्यपि उनमें से बहुत-से रिवाज ऐसे हैं जिनका मैंने पालन तो किया है लेकिन वे मुझे हमेशा नापसंद ही रहे हैं। बच्चों के उन आरम्भिक वर्षों में जब वे अच्छे बुरे किसी भी प्रभाव को ग्रहण करने की अवस्था में थे, मेरी स्थिति मात्र एक हवा के झोंके की-सी थी जिसने गुज़रते हुए उनके मस्तिष्क या हृदय में सिहरन पैदा की हो, किन्तु अनुजी की स्थिति तो उस धूप की भाँति थी जिसमें बैठकर उन बालकों को जीवन की ऊष्मा प्राप्त होती थी और यद्यपि वे अनजाने में ही ऐसा करते थे लेकिन उन्हीं से उन्हें आध्यात्मिक शक्ति भी मिलती थी। लेकिन जब वे बड़े हुए और मैंने देखा कि उन्हें हवा का वह झोंका अब भी याद है जो बचपन में उनसे अठखेलियाँ किया करता था, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। जब मैं मास्को में था तो 21 अप्रैल, 1953 को जिस दिन हमारे विवाह की तीसवीं वर्षगाँठ थी, मुझे अपनी मेज़ पर एक कविता रखी हुई मिली जो कुंजा ने मेरे नाम लिखी थी :

झुलसती धरती पर गिरी प्रथम बूंद को,
तुम्हींने मुझे प्यार करना सिखाया।
जीवन और जन्म के सारे सौंदर्य से,
तुम्हीं ने मेरा गाढ़ परिचय कराया।
धूप-धुले पेड़ों के मंद मुस्कराने पर,
पक्षियों के पंखों के मधुर फड़फड़ाने पर,
सागर के क्रोध पर

मानव के, वस्तु के उच्छृंखल बोध पर
आश्चर्य करना तुम्हीं ने बताया ।
मानव की धरती को, देवों के स्वर्ग को
बचपन से ही अंक भरना सिखाया
तुम्हींने मुझे प्यार करना सिखाया ।

फ़ोर्ट साण्डेमान में हमारे प्रवास के दो वर्ष यों चुटकियों में गुज़र गये । वहाँ कुछ स्थान ऐसे थे जिन्हें छोड़ने का हमें बड़ा दुःख हुआ । हालाँकि वहाँ हमारा जीवन हमेशा ख़तरे में रहा लेकिन फिर भी हमने वहाँ दो वर्ष बड़े आनंद-उल्लास में बिताये । वहाँ की सुखद जलवायु, वृक्षविहीन, खुली हुई पहाड़ियाँ और दूर-दूर तक फैले हुए स्थान, सभी हमें बहुत अच्छे लगते थे । पहाड़ी स्थानों में हमें शिघर बहुत पसंद था जो बहुत ही विचित्र था । वहाँ केवल तीन बँगले थे और वहाँ हम गर्मियों में दो-एक महीने जाकर बिताया करते थे । हमें वहाँ का क्लब भी पसंद था जहाँ जाकर मैं व्हिस्की का एक 'स्ट्राँग-ग्लास' पीता था और अनुजी पानी का एक 'स्ट्राँग ग्लास' पीकर संतुष्ट हो जाती थीं । हमें ऑफ़िसर्स मेस की शामें भी बड़ी अच्छी लगती थीं जहाँ हमें अक्सर सम्मानित अतिथियों के रूप में आमंत्रित किया जाता था । पठानों के गाँवों में जाकर भी हमें बड़ा आनन्द आता था जहाँ मलिक हमें बड़े लज़ीज़ कबाब खिलाया करते थे और बड़ी मज़ेदार चाय पिलाते थे । उनका यह क़ायदा था कि जितना सम्मानित अतिथि होता वे चाय में उतना ही अधिक दूध और चीनी डालते थे और उसे उतना ही ज़्यादा उबाला करते थे । देहाती इलाक़ों में घूमना-फिरना भी हमें अच्छा लगता था और उसमें हमारा सबसे लम्बा भ्रमण धनसर गार्ज़ से मुग़लकोट तक का होता था । धनसर गार्ज बहुत ही गहरा था और वह अफ़ग़ानिस्तान से सर्दियों में उत्तर भारत की ओर प्रस्थान करने वाले सुलेमान खेल के ऊँटों के अस्थिपंजरों से अटा हुआ था जो उधर से गुज़रते हुए फिसल कर गार्ज में गिर जाया करते थे । इन सबसे बढ़कर जिस चीज़ में हमें आनंद आता था वह था देहातियों के साथ फ़ोर्ट साण्डेमान और उसके आसपास के इलाक़े में घोड़ों पर घूमना । वे देहाती अपनी स्त्रियों को तो पर्दे में रखते थे लेकिन बड़े चकित हो, आँखें फाड़फाड़कर हमारी किशोर बच्चियों को देखा करते थे और सोचते थे कि ये कैसी लड़कियाँ हैं जिनकी वेशभूषा तो भारतीय है लेकिन ये बुर्क़ा ओढ़े बिना घोड़ों पर निर्लज्ज अंग्रेज़ मेमों की तरह बैठी हुई चली जा रही हैं ।

हमें अक्तूबर 1939 में फ़ोर्ट साण्डेमान से प्रस्थान करना था । चलने से पहले मैंने वहाँ दरबार किया । मैंने अपनी वर्दी पहनी, टोप लगाया, तलवार बाँधी

और किंग जॉर्ज पंचम जुबिली मेडल लगाया और इस प्रकार पूरी तैयारी के साथ वहाँ पहुँचा। मैंने पुश्तो में भाषण दिया और उन मलिकों को सनदें तथा पुरस्कार दिये जो उनके पात्र थे और दूसरों की भर्त्सना भी की जो इस योग्य नहीं थे। तत्पश्चात् हमने एक विदाई-पार्टी का आयोजन किया जिसमें वहाँ के सभी ब्रिटिश अफ़सर उपस्थित थे। उसी दिन शाम को मेरे बेटे शंकर को मोतीझरा हो गया और मेटकाफ़ ने जो अब पार्सन्स की जगह चीफ़ कमिश्नर हो गये थे मुझे सलाह दी कि जब तक बच्चा ठीक न हो जाए आप यहीं ठहरिए हालाँकि सेंट जॉन जो मेरी जगह आने वाले थे फ़ोर्ट साण्डेमान पहुँच चुके थे।

शंकर का मोतीझरा अपनी मीयाद पर खत्म हुआ और हम नवम्बर 1939 के मध्य में कहीं जाकर फ़ोर्ट साण्डेमान से रवाना हुए। हमें जो विदाई दी गई वह बड़ी स्नेहपूर्ण थी, मैंने महसूस किया कि ब्रिटिश अधिकारियों को हमारे जाने का बड़ा रंज हुआ। वे सभी मुझसे खुश थे और उन्होंने अपने ही एरिया कमाण्डर से मेरी झड़प में मेरा ही समर्थन किया था। सरदारों और मलिकों को भी मेरे बिछुड़ने का दु:ख हुआ। वे लोग जोगी ज़ई नवाब और उनके चचेरे भाई ज़रगुन ख़ाँ के नेतृत्व में जिनसे उनकी घोर अनबन थी हमें ज़ाब एजेंसी तक छोड़ने आये, पठानों के तरीक़े से हमें उन्होंने गले लगाया और जब उन्होंने हमें रुखसत किया तो उनकी आँखें डबडबा आई। उस समय मैंने कल्पना भी न की थी कि एक ऐसा समय भी आयेगा जब मैं फ़ोर्ट साण्डेमान जाना चाहूँगा तो मुझे किसी विदेशी सरकार से वीज़ा प्राप्त करना पड़ेगा।

भरतपुर

०ण

नवम्बर, 1939 में मैंने आठ महीने की छुट्टी ली और अपनी पत्नी तथा बच्चियों के साथ सरकाशिया में सवार होकर इंग्लैंड के लिए प्रस्थान करने वाला था कि युद्ध छिड़ गया और हमें अपना सारा कार्यक्रम रद्द कर देना पड़ा। लिहाज़ा मैंने छुट्टी आठ महीने से घटाकर चार महीने की कर दी और वह समय तिरुवांकुर जाकर अपनी माँ के साथ बिताया। माँ के साथ बीती मेरी यह अन्तिम छुट्टी थी।

छुट्टी समाप्त होने पर मुझे राजपूताने की एक रियासत भरतपुर का दीवान बना दिया गया। बलूचिस्तान के बाद भरतपुर खीर में नमक की डली के समान था। ऐसा लगता था किसी बहते हुए ग्लेशियर से गुज़र कर हम एक सुखद किन्तु अवरुद्ध नख़्लिस्तान में आ गये हैं। सीमाप्रांत का जीवन बड़ा साहसपूर्ण और उत्साहवर्धक था और भरतपुर की नौकरी बड़ी नीरस और बोझिल थी। बलूचिस्तान से भरतपुर आने पर हमने देखा कि न केवल वहाँ के मनुष्य सभ्य और शुष्क हैं बल्कि प्रकृति भी उन्हीं जैसी है। अभी मुझे दीवान का पद संभाले कुछ ही दिन बीते थे कि महाराजा का एक दूर का रिश्तेदार मेरे पास आया और उसने आकर मुझे अपनी दुःख भरी गाथा सुनाई और सुनाते-सुनाते रो पड़ा। मुझे उस पर बड़ी झुँझलाहट हुई और मेरे मुँह से उसकी सहानुभूति में एक शब्द भी न निकला, भला सीमाप्रांत में कोई ऐसी घटना की कल्पना भी कर सकता था कि पठान आकर किसी के आगे रो पड़े? उसकी गाथा और उसके सुनाने का ढंग ऐसा भी न था कि सुनने वाले के मन में करुणा उमड़ सके, बल्कि मुझे तो वह सब कुछ बड़ा हास्यास्पद लगा कि एक जवान आदमी आकर रो रहा है और अपनी साधारण-सी तकलीफों पर दूसरों में करुणा का भाव जगा रहा है।

यही नीरसता और निष्क्रियता भरतपुर की प्रकृति में भी थी। न वहाँ कोई पहाड़ियों की शृंखला थी, न कहीं गहरी घाटियाँ, न कोई संकीर्ण गार्ज ही थे जहाँ डाकू घात में बैठे रहते हों। भरतपुर की सर्दी हिन्दुस्तान की दृष्टि से तो ख़ासी सख़्त थी लेकिन वहाँ फ़ोर्ट साण्डेमान की तरह तापक्रम हिमांक तक कभी न जाता था, न ही वहाँ कभी बर्फ़ गिरती थी। गर्मी में वहाँ वे आँधियाँ और झक्कड़ भी न चलते थे जो फ़ोर्ट साण्डेमान में चलते थे और कासल की दीवारों तक को हिला

कर रख देते थे। बस अगर कभी प्रकृति अपना प्रकोप दिखाती भी तो गर्मियों में जब वहाँ धूल के बवण्डर उठते थे जो दमघोंट वातावरण उपस्थित कर देते थे। एक बार जब हम भरतपुर से दीग जा रहे थे जो महाराजा की ग्रीष्मकालीन राजधानी थी तो रास्ते में ऐसे ही झक्कड़ में घिर गये थे। सारा वातावरण ऐसा धूल में अट गया था कि हमें लन्दन में नवम्बर का कोहरा याद आ गया। चारों ओर ऐसा अंधकार-सा छा गया कि सामने छह फुट से आगे देखना दूभर हो गया। नतीजा यह हुआ कि जो यात्रा सामान्यत: हम पैंतालीस मिनट में पूरी करते उसमें हमें दो घण्टे लग गये।

हम 1 अप्रैल, 1940 को भरतपुर पहुँचे। मेरे पूर्ववर्ती दीवान सर रिचर्ड टॉटेनहैम ने मुझे तार से सूचना दी थी कि वे मुझे गृह मंत्री, शिक्षा मंत्री और न्याय मंत्री के साथ रेलवे स्टेशन पर लेने के लिए आयेंगे। लेकिन मैंने इस रस्म से बचने के लिए रेल की अपनी सीट अंतिम समय पर रद्द करवाई और बड़ा डरता-झिझकता अपनी कार में बैठकर भरतपुर के लिए रवाना हुआ।

टॉटेनहैम उन आई० सी० एस० अधिकारियों में से थे जिन्हें अपनी सेवा के आरम्भिक काल में ही केन्द्रीय सचिवालय में बुला लिया गया था। वे रक्षा विभाग में पहले उप सचिव और बाद में सचिव रहे थे और उन्हें 'नाइट' की उपाधि भी दी गई थी। उसके बाद वे दो वर्ष भरतपुर में रहे थे और वहाँ से उन्हें अपने प्रांत मद्रास भेज दिया गया था जिसका उन्हें बड़ा दुःख था क्योंकि मद्रास में भी उन्हें कहाँ भेजा गया था—सलेम जो ऐसा जिला था जहाँ मद्यनिषेध लागू था। इस तबादले पर टॉटेनहैम ने छुट्टी ली और शिमला चले गये और कुछ ही समय बाद गृह विभाग के अपर सचिव बना दिये गये। रिचर्ड टॉटेनहैम बड़े योग्य सचिवालय अधिकारी थे लेकिन उनका स्वभाव अपने प्रसिद्ध चाचा लोफ्टस टॉटेनहैम से भिन्न था, जो ज़िला अधिकारी के पद के लिए पैदा हुए थे। उनके चाचा भारत सरकार में उच्च से उच्चतर पद प्राप्त करने के पश्चात् निवृत्त हुए और दक्षिण भारत की पुड्डुकोटाई नामक एक रियासत में जाकर दीवान बन गये और अपने जीवन के अंतिम दिन बिताने के बाद वहीं उन्होंने अपना ब्रह्मचारी शरीर त्याग दिया।

जिस दिन मैं भरतपुर पहुँचा उसके अगले दिन रिचर्ड टॉटेनहैम मुझे महाराजा से मिलाने के लिए ले गये जो उस समय दीग में अपने महल में थे। उस समय हमारे पुराने मित्र हरबर्ट टॉमसन भी मौजूद थे जो वहाँ के राजनीतिक एजेंट थे। महाराजा ने बड़ी विनम्रता से मुझसे हाथ मिलाया और उसके बाद मुझसे मुँह फेर कर टॉटेनहैम से ही बातें करते रहे। लेकिन महाराजा पर मेरा पहला प्रभाव अच्छा पड़ा। मुझे ऐसा लगा कि महाराजा बड़े स्पष्टवादी, विनोद-

प्रिय, प्रखर बुद्धि और मृदु स्वभाव के व्यक्ति हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा इंग्लैण्ड में हुई थी और इसी कारण उनमें अल्पभाषण का वह गुण पैदा हो गया था जो बहुत कम भारतीयों में पाया जाता है। मुझे कुछ ऐसा आभास हुआ कि दीवान के रूप में मेरी नियुक्ति उन्हें पसन्द नहीं है और बाद में टॉमसन ने मेरी इस धारणा की पुष्टि भी की। महाराजा चाहते थे कि बजाय इसके कि उनकी देख-रेख के लिए एक भारतीय को नियुक्त किया जाए, टॉटेनहैम ही को अगर वहाँ रहने दिया जाता तो ज़्यादा अच्छा रहता है। इसके अलावा मैं राजनीतिक विभाग में था और टॉटेनहैम उस विभाग में नहीं रहे थे और कुछ भारतीय नरेश राजनीतिक अधिकारी को तो अपना सहज शत्रु मानते थे। लेकिन महाराजा को अपना विचार बदलने में अधिक समय न लगा। मेरे भरतपुर पहुँचने के एक महीने बाद सरकार के राजनीतिक सचिव सर बर्ट्रैण्ड ग्लांसी ने मुझे लिखा कि मुझे यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि भरतपुर का वातावरण अब कुछ कम जड़ हो गया है। एक वर्ष के बाद वाइसराय के राजनीतिक परामर्शदाता सर फ्रांसिस वाइली ने महाराजा भरतपुर के साथ मेरे सम्बन्धों की तुलना पड़ौसी रियासत अलवर में महाराजा अलवर के साथ हार्वी के सम्बन्धों से की और कहा कि महाराजा अलवर की तो हार्वी की बातों पर वही प्रतिक्रिया होती है जो एक साँड की लाल कपड़े के प्रति होगी लेकिन महाराजा भरतपुर मुझसे इतना हिल गये हैं कि जब तक मैं उन्हें न भराऊँ या खिलाऊँ कुछ खाते ही नहीं। लेकिन यह मात्र अतिशयोक्ति थी, इतना ज़रूर था कि महाराजा अब मुझे अपना मित्र मानने लगे थे। उनसे मेरी दोस्ती का राज़ मेरी जी-हुज़ूरी या चापलूसी या बहैसियत दीवान के अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग न करना नहीं था बल्कि उसका एक मात्र कारण यह था कि मैं उन्हें एक सामान्य मानव मान कर उनके साथ सद्भाव और सहानुभूति का व्यवहार किया करता था जिसके वे पात्र थे। सीमाप्रांत हो या भारत की रियासत, स्वदेश हो या विदेश जब कभी मनुष्यों से व्यवहार का प्रश्न आया है मैंने हमेशा गेटे के सिद्धान्त का अनुकरण किया है कि यदि आप किसी व्यक्ति को अच्छा बनाना चाहते हैं तो उसे यह महसूस कराइये कि मैं जो कुछ आप में देखना चाहता हूँ वह आप में पहले ही से मौजूद है। आम तौर से मुझे इस सिद्धांत के अनुसरण से बड़ा लाभ पहुँचा है।

भरतपुर भारत की जाट रियासतों में प्रमुख थी और वहाँ की शौर्य-परंपराएँ बड़ी प्रख्यात थीं। यहाँ तक कि लॉर्ड लेक जिसने दिल्ली और आगरा तक पर अपना अधिकार कर लिया था, भरतपुर के क़िले के सामने ठण्डा पड़ गया था और पीछे हटने पर बाध्य हो गया था। ब्रिटिश अधिकार में आने वाली राजपूताना की रियासतों में भरतपुर का नम्बर सबसे आख़िर में आता है। वहाँ

के कुछ शासकों का इतिहास में बड़ा प्रमुख स्थान रहा है जिनमें सत्रहवीं शताब्दी में महाराजा सूरजमल और उन्नीसवीं सदी में महाराजा जसवंत सिंह के नाम प्रसिद्ध हैं। उन्नीसवीं सदी के अंत में जाकर भरतपुर की स्थिति बिगड़ गई। जसवंत सिंह का पुत्र महाराजा रामसिंह चंचल स्वभाव का निकला और परिणामस्वरूप उसे गद्दी से उतार दिया गया। उसका पुत्र किशन सिंह उस समय नाबालिग़ था और जब तक वह बालिग़ हुआ भरतपुर पर वाइसराय द्वारा नियुक्त अधिकारी शासन करते रहे। किशन सिंह का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था लेकिन वह इतना फ़िज़ूलखर्च था कि उसने सारी रियासत को क़र्ज में डुबो दिया। लिहाज़ा उसे अपने अधिकारों को छोड़ने और रियासत से दूर जाकर रहने पर मजबूर किया गया। उसकी असामयिक मृत्यु के उपरांत फिर बहुत अर्से तक अल्पवयस्क शासन जारी रहा क्योंकि उसका पुत्र भी तब अल्पवयस्क था। 1938 में उस महाराजा को शासनसत्ता सौंप दी गई लेकिन इस डर से कि कहीं इतिहास अपने को फिर से न दुहराये उसके अधिकार बहुत सीमित कर दिये गये। उसे यह वचन देने पर बाध्य किया गया कि मुझे भारत सरकार द्वारा नियुक्त दीवान स्वीकार्य होगा, मैं दीवान से परामर्श किये बिना और उसको माध्यम बनाये बिना कोई आदेश जारी नहीं करूँगा : और यदि मुझमें और दीवान में कभी मतभेद होगा तो मैं वह समस्या भारत सरकार के समक्ष प्रस्तुत करूँगा। इस प्रकार दीवान के अधिकार यदि महाराजा से बढ़कर नहीं थे तो उसी के बराबर थे और यही कारण था कि महामान्य को यह बात पसंद नहीं थी। यह स्वाभाविक भी था। लेकिन यह बात महाराजा ने समझ ली थी कि मैं अपने उन अधिकारों का प्रयोग कभी स्वेच्छाचारिता के साथ नहीं करूँगा या यदि करूँगा भी तो इस तरह से नहीं जिससे कि प्रजा की दृष्टि में महाराजा का महत्त्व या मान कम हो जाए।

महाराजा स्वभाव से कलाकार थे। सौंदर्य की उन्हें बड़ी अच्छी परख थी। उन्होंने मोती महल के बाग़ों को ऐसा सुधारा-सँवारा कि उनका रूप ही बदल गया और उनमें ऐसी बातें पैदा कीं जिनसे उनकी स्वस्थ और सुथरी रुचि प्रकट होती थी। दीग में अपने राजमहल के आँगन में उन्होंने वे फ़व्वारे खुदवाये थे जो सौ वर्ष से भी पहले से छिपे पड़े थे और उनके अस्तित्व की जानकारी उन्हें एक प्राचीन पुस्तक से मिली थी। उन्होंने वन में एक बड़ी सुंदर छोटी-सी कुटी भी बनवाई थी जिसका नाम 'कदम कुंज' रखा था। भरतपुर को सुंदर बनाने की उनकी और भी अनेक योजनाएँ थीं। लेकिन दुर्भाग्यवश इन सभी योजनाओं के लिए पैसा चाहिए था और यहाँ यह हाल था कि रियासत अभी उनके पिता का ऋण भी पूरी तरह नहीं चुका पाई थी। महाराजा का प्रिवी पर्स निश्चित करा

दिया गया था और उन्हें यह मालूम था कि ख़ज़ाने के पैसे को छूने का तो प्रश्न ही नहीं है।

मैं समझता हूँ हर वह व्यक्ति जो कलाकार है क्रोधी या उग्र स्वभाव का होता है। एक अवसर पर तो मैंने महाराजा से कह भी दिया कि आपको अपने गुस्से पर क़ाबू करने की कोशिश करनी चाहिए। 'ठीक कहते हैं मि० मेनन आप,' उन्होंने सहज भाव से कहा, 'आपको मानना पड़ेगा कि मैंने पिछले जून, यानी तीन महीने से कभी गुस्सा नहीं किया है।' एक ऐसे ही अन्य अवसर पर मेरी महाराजा से इस प्रश्न को लेकर बहस हो गई कि झील का पानी पहले घना में दिया जाए जहाँ बत्तख़ों का शिकार होता है या सिंचाई के लिए खेती की ज़मीन को पानी दिया जाए। घना बत्तखों के लिए भारत की सबसे श्रेष्ठ झील थी और हर साल की एक महत्त्वपूर्ण घटना यह होती थी कि वाइसराय एक ही दिन में तीन हज़ार से लेकर पाँच हज़ार तक बत्तख़ों का शिकार कर लिया करते थे। मुझे बत्तख़ों को मारने के बजाय उन्हें घेर कर छल्ला पहनाने में ज़्यादा आनंद आता था और अपने पक्षीविज्ञानी सलीम अली के साथ मैंने जो एक बत्तख़ को छल्ला पहनाय। तो वह दूर बैकल झील में जाकर निकली। महाराजा बड़े अच्छे निशानेबाज़ थे और चाहते थे कि घना में इतना पानी होना चाहिए कि बत्तख़ें आकृष्ट होकर वहाँ आयें। मेरा आग्रह यह था कि सिंचाई की आवश्यकता को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इस पर महाराजा ने कहा कि मैं अपनी प्रजा की आवश्यकता को आपसे ज़्यादा अच्छी तरह समझता हूँ। मैंने इस पर प्रत्युत्तर में कहा तो फिर इसी बात पर अमल करके दिखाइये। यह सुनना था कि महाराजा का पारा चढ़ गया और वे अपने अमल को साथ लेकर बरेठा झील चले गये और कुछ दिनो वहीं दुःखी और उदास पड़े रहे। एक हफ़्ते बाद जब वे भरतपुर लौटे तो वही उल्लास उनके चेहरे पर था मानो कुछ हुआ ही नहीं है। और उसके बाद से तो उन्हें मुझसे इतना लगाव हो गया कि मुझे चाचा कह कर पुकारने लगे।

मुझे भी इसकी ख़ुशी थी कि राज घराने का एक सदस्य मेरा भतीजा है, मैं चाहता था उसी घराने में मेरी एक भतीजी भी होती। महाराजा एक वरणीय कुमार थे और उनका पाणिग्रहण करने वालों की कमी नहीं थी। उनकी एक भावी वधू महाराजा पटियाला की बहन थी लेकिन दुर्भाग्यवश वह क़द में उनसे लंबी थी और महाराजा अपने से ऊँचे क़द की लड़की से विवाह करने के लिए किसी क़ीमत पर तैयार न थे। दूसरी लड़की जो वधू बनने योग्य थी महाराजा धौलपुर की पुत्री थी। यह रिश्ता इस दृष्टि से बड़ा अच्छा था कि धौलपुर भी जाट रियासत थी और भरतपुर के पड़ौस में ही थी। लेकिन धौलपुर-नरेश अपनी

तानाशाही के लिए मशहूर थे। वे राजा को ईश्वरीय प्रतिनिधि मानते थे और समझते थे कि राजा जो कुछ करता है न्यायोचित होता है, अन्याय की तो राजा कल्पना भी नहीं कर सकता। राजा और उसकी प्रजा के बीच एक रहस्यमय एकता होती है जिसे ईश्वर की मान्यता प्राप्त होती है। महाराजा की दृष्टि में स्कूलों, सड़कों और अस्पतालों जैसी भौतिक बातों का कोई महत्त्व नहीं था, वे तो इस बात को महत्त्वपूर्ण समझते थे कि राजा और प्रजा के बीच एक वैयक्तिक संपर्क होना चाहिए। यहाँ तक कि धौलपुर के पशु-पक्षी भी राजा के वैयक्तिक संपर्क का अनुभव करते प्रतीत होते थे। एक बार वे मुझे धौलपुर की एक झील पर ले गये और मैंने देखा कि जंगली साँभर क़रीब के जंगल से निकल कर आ रहा है ताकि राजा के हाथ से भोजन खाये। लेकिन इन सब बातों से उनकी तानाशाही में कोई कमी नहीं आती थी और मेरा विचार था कि ऐसा निर्मम श्वसुर तरुण महाराजा भरतपुर पर सौम्य प्रभाव न डाल सकेगा।

सौभाग्यवश ज्योतिष-शास्त्र ने हमारी सहायता की। राजज्योतिषी ने महाराजा भरतपुर और धौलपुर की राजकुमारी की जन्मपत्रियाँ देखीं और उनकी तुलना की और राजकुमारी को 10 में से 4 अंक दिये जबकि पास होने के लिए उसे 6 अंक मिलने चाहिए थे। शिक्षा मंत्री कर्नल संपत सिंह को और मुझे यह काम सौंपा गया कि हम यह दुःखद समाचार लड़की के पिता को जाकर सुना दें। संपत सिंह ने कुछ औपचारिक बातचीत के बाद अपने ख़ास अंदाज़ में घुमा-फिरा कर महाराजा को बताया कि धौलपुर और भरतपुर के भावी सम्बन्ध रूपी क्षितिज पर ग्रहों के सघन मेघ घिर आये हैं। पहले तो महाराजा उनकी बात समझे नहीं कि वे क्या कहना चाहते हैं। फिर सहसा उन्होंने पूछा, 'क्या इसका यह मतलब है कि इन्दु मेरी लड़की से विवाह नहीं कर सकता?' मैंने कहा, 'जी हाँ, इसका यही अभिप्राय है।' एक क्षण के लिए तो महाराजा सन्न-से रह गये, उनकी उँगलियाँ ऐंठ गईं और चेहरा पीला पड़ गया। लेकिन अगले ही क्षण उन्होंने अपने पर नियन्त्रण कर लिया और विवाह की बातचीत को वहीं समाप्त कर दिया और हमें भोजन कराया जो बड़ा ही स्वादिष्ट था। और उसके बाद फिर मेरी महाराजा धौलपुर से कभी भेंट नहीं हुई।

उसी दौरान महाराजा मैसूर ने महाराजा भरतपुर के साथ अपनी बहन के विवाह का प्रस्ताव भेजा। मुझे वह पसंद आया, क्योंकि मैसूर भारत की सबसे प्रगतिशील रियासत थी और उसका शासक बड़ा प्रबुद्ध व्यक्ति था। मेरा ख़याल था कि यह रिश्ता बहुत ही उपयुक्त रहेगा। और अन्त में यह निश्चय हुआ कि महाराजा (भरतपुर) लड़की और उसकी माता से बंबई में मैसूर की युवरानी के महल में मिल लें। उस निर्णयात्मक भेंट में मैं और अनुजी उपस्थित थे। युवरानी

अपनी दोनों पुत्रियों के साथ वहाँ मौजूद थीं जिनमें से महाराजा शायद बड़ी पुत्री से विवाह करने वाले थे। राजकुमारी बड़ी घबराई हुई और परेशान नज़र आई। छोटी राजकुमारी देखने में अधिक सुंदर थी और अपनी बहन के भावी जीवन पर बड़ी चंचल मुद्रा में मुस्करा रही थी। उस भेंट के बाद महाराजा ने मुझसे आकर कहा कि मुझे तो छोटी लड़की पसंद है और मैं उसी से शादी करना चाहता हूँ। इस पर तो एक बखेड़ा उठ खड़ा हुआ क्योंकि लड़की की उम्र अभी चौदह वर्ष की भी न थी और दूसरे वहाँ यह रिवाज था कि यदि बड़ी बहन कुँआरी बैठी हो तो छोटी का विवाह नहीं किया जा सकता था। कुछ भी हो आखिर महाराजा तो महाराजा ही होता है और फिर भरतपुर रियासत का अपना ऐतिहासिक महत्त्व था, वह कोई मामूली रियासत तो थी नहीं, अत: मामला पक्का हो गया।

हम विवाह-संस्कार में सम्मिलित होने के लिए महाराजा के साथ मैसूर गए। अभी हम वहाँ पहुँचे ही थे कि मुझे एक तार मिला जिसमें लिखा था कि मेरी माँ सख़्त बीमार है। मैं फ़ौरन ही उन्हें देखने कोट्टयम चला गया। वे अचेत थीं और उनकी चेतना फिर कभी न लौटी। 11 जुलाई 1941 की शाम को छह बजे उनका देहान्त हो गया। सूर्यास्त का समय था और मुझे ऐसा लगा कि मेरे जीवन का भी सूर्य अस्त हो गया है, मुझे चारों तरफ अँधेरा ही अँधेरा दिखाई देने लगा। कोट्टयम भी अंधकारमग्न हो गया, अब मेरे लिए वहाँ क्या शेष रह गया था। जब कभी मुझे अपनी माँ की याद आती है मुझे गीता की वह सुन्दर उपमा स्मरण हो आती है : 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते'। अपने 78 वर्षीय जीवन के 64 वर्ष उन्होंने कोट्टयम में बिताये थे और वहाँ सभी उनका आदर करते थे और उनके गुणों के प्रशंसक थे। मर्त्य लोक के कष्ट और विपत्तियाँ वे भी झेल चुकी थीं। जब उनकी 55 वर्ष की आयु थी तो उनके पति की मृत्यु हो गई, पाँच वर्ष भी उस विपदा को न बीते थे कि उनका बड़ा बेटा उनसे बिछुड़ गया और फिर उनके सबसे छोटे बेटे के विवाह-सम्बन्धी झंझटों ने उन्हें बड़ा परेशान किया। लेकिन उनमें एक आंतरिक शांति थी जो उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी और उसी के कारण उनके मुख पर एक अलौकिक आभा आ गई थी जो जीवन पर्यंत बनी रही। वे उन महान् स्त्रियों में से थीं जो दृढ़ और सबल होने के साथ-साथ स्त्रियोचित गुणों से सम्पन्न होती हैं और ऐसी स्त्रियाँ हमारे मातृकुलीय समाज में कभी-कभी ही जन्म लेती थीं।

माँ की मृत्यु पर शोक-संताप का भी मुझे समय न मिला। मुझे फ़ौरन ही लौट कर मैसूर जाना था जहाँ महाराजा भरतपुर का विवाह-संस्कार सम्पन्न होना था। वह विवाहोत्सव उसी वैभव और शान-शौकत के साथ मनाया गया जो उन दोनों रियासतों की मर्यादा के अनुकूल थी। महारानी देखने में बालिका-सी

लगती थी लेकिन कम उम्र के बावजूद बड़ी गुरु-गंभीर दिखाई देती थी। एक बार किसी भोज में कर्नल रसैल जो भरतपुर के राजनीतिक एजेण्ट थे मेज पर उनके पास ही बैठे और उनसे पूछा, 'आपको पढ़ने का भी शौक़ है?' और उन्होंने जवाब दिया, 'जी हाँ।' 'तो आपकी रुचि किस लेखक में अधिक है?' महारानी ने उत्तर दिया, 'शेक्सपियर में।' बस उसके आगे रसेल साहब ने वह बातचीत बन्द कर दी क्योंकि वे बेचारे एडगर वैलेस से आगे गये ही नहीं थे। एक बार महाराजा, महारानी, मैं और अनुजी बरेठा झील में मोटर-बोट पर सवार थे और महाराजा मगरों का शिकार करके अपनी निशानेबाज़ी का प्रदर्शन कर रहे थे। इतने ही में महारानी ने मुझसे एकाएक पूछा, 'क्या आपने कभी हाथी की चिंघाड़ भी सुनी है?' 'जी नहीं,' मैंने उत्तर दिया। 'बड़ी भयानक होती है,' महारानी ने कहा। मुझे ऐसा लगा मानो उन्होंने अभी-अभी यह शब्द कहीं देखा है और उसका प्रयोग मेरे सामने कर रही हैं। उनका हृदय बड़ा कोमल था। एक बार अनुजी उनके साथ **गॉन विद द विंड** फिल्म देखने गईं। उनमें जो महारानी ने बहुत सी मौतें देखीं तो उनका दिल घबराने लगा। जब कभी कोई नया पात्र उसमें आता, वे अनुजी की ओर मुड़कर रुआँसी होकर कहतीं, 'मिसेज़ मेनन, क्या यह भी मर जायेगा?'

मैसूर जैसी प्रगतिशील रियासत की लड़की के लिए अपने को भरतपुर के वातावरण के अनुसार ढाल लेना सरल नहीं था क्योंकि यह रियासत अब भी मध्ययुगीन मान्यताओं में उलझी हुई थी। महारानी ने अपने पति को सन्तुष्ट करने का भरसक प्रयास किया, महाराजा भी उनके प्रति बड़े अनुरक्त थे लेकिन एक मामले में वे अपने पति को ख़ुश न कर सकीं। वे उन्हें पुत्र न दे सकीं जो महाराजा का उत्तराधिकारी बन सकता। अभी वे 15 वर्ष की ही थीं कि उनकी पहली बच्ची हुई, दूसरी और तीसरी सन्तानें भी जो बहुत जल्दी हो गईं लड़कियाँ ही थीं। उस समय भी ऐसे दरबारियों की कमी न थी जिन्होंने हाल ही में शाह ईरान को परामर्श दिया था कि वे मलिका सुरैया को तलाक़ दे दें क्योंकि वे उन्हें उत्तराधिकारी देने में असफल रही हैं। लेकिन महाराजा ने बड़ी उदारता का परिचय दिया और उस राय को मानने से इन्कार कर दिया और महारानी भी यथावत् उन्हें पुत्र और उत्तराधिकारी देने के लिए प्रयत्नशील रहीं। चौथा बच्चा हुआ, लेकिन वह भी लड़की ही निकली। उन्होंने अंत में एक बार फिर कोशिश की, लेकिन परिणाम वही रहा। बस इस निरन्तर असफलता से उनका दिल टूट गया और अभी वे बाईस-तेईस वर्ष की ही थीं कि उनकी मृत्यु हो गई।

महाराजा के पारिवारिक मामलों में मेरा बहुत समय लग जाता था। उनकी दो बहनें और तीन भाई थे। बहनें इतनी सुंदर थीं कि संसार के किसी भी

भाग में यदि सौंदर्य-प्रतियोगिता की जाती तो वे अवश्य पुरस्कार जीत कर लातीं। बड़ी बहन और महाराजा के सम्बन्ध कुछ अच्छे न थे और उसमें महाराजा का कोई दोष नहीं था। तीनों भाइयों की शिक्षा इंग्लैंड में हुई थी। उनमें से दो मुट्टू और बच्चू जब लौट कर भरतपुर आये तो मैं वहीं था। दोनों की वापसी पर उनका भव्य स्वागत किया गया। मुट्टू से बड़ी बहन का बहुत स्नेह था लेकिन वह बेचारा जल्द ही बुखार में पीड़ित होकर मर गया। बच्चू वायुसेना में भर्ती हो गया और उसने महाराजा कपूरथला की पोती से विवाह कर लिया। हम भी बरात के साथ कपूरथला गये और वहाँ महाराजा ने हमारा बड़ा आतिथ्य-सत्कार किया। महाराजा के राजप्रासाद पर फ्रांसीसी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता था। वहाँ की वास्तु कला फ्रांसीसी थी और यही बात वहाँ की पाकशाला के बारे में भी कही जा सकती थी। वहाँ का प्रधान रसोइया फ्रांसीसी था और उसका वेतन मुख्य चिकित्सा अधिकारी या शिक्षा निदेशक से अधिक था।

महाराजा कपूरथला विश्व पर्यटक थे। वे हमें अपने अध्ययन-कक्ष में ले गये जहाँ उन्होंने हमें एक नक़्शा दिखाया जिसमें उन्होंने लाल, नीली, हरी और पीली डोरियों के द्वारा उन दूरस्थ प्रदेशों का संकेत किया था जहाँ की यात्रा वे कर चुके थे। ये डोरियाँ इतनी अधिक थीं कि लगता था मानो कोई रंग-बिरंगा मकड़ी का जाला है। इस बात का श्रेय उन्हीं को जाता है कि उन्हीं के माध्यम से कुछ देश जैसे लैटिन अमरीका आदि भारत से परिचित हुए। जब मैं 1954 में हंगरी गया तो वहाँ के ग्रैंड होटल के मैनेजर ने मुझे एक विज़िटर्स बुक दिखाई जिसमें महाराजा कपूरथला ने अपने हस्ताक्षर किए थे। मैनेजर ने हमें वे दिन याद दिलाये जब महाराजा साहब उस होटल की सारी मंज़िल अपनी महारानियों और कर्मचारियों के लिए किराये पर ले लिया करते थे। आग़ाख़ाँ ने अपने संस्मरणों में एक क़िस्सा लिख दिया है जो महाराजा कपूरथला ने स्वयं उन्हें सुनाया था। महाराजा रोम गये हुए थे कि इटली के राजा उम्बर्टो, जो अपने हुलिये और वेशभूषा से सैनिक दिखाई देते थे, सहसा वहाँ पहुँच गये। बैठने के कमरे में उन्होंने जो अनेक सुंदरियों के चित्र देखे तो राजा उम्बर्टो ने झल्लाकर कहा, 'ये स्त्रियाँ कौन हैं?'

'ये मेरी पत्नियां हैं हुज़ूर!'

राजा घूम गया और बोला, 'मेरी भी इतनी ही पत्नियाँ हैं जितनी आपकी, लेकिन मुझमें और आपमें एक यही अन्तर है कि आप उन्हें अपने साथ महल में रखते हैं और मैं सबको अलग-अलग मकानों में रखता हूँ।'*

---

* मेमॉयर्स ऑफ़ आग़ाख़ाँ, पृ० 302

न जाने राजा उम्बर्टो का निदान ठीक था या नहीं लेकिन जब हम कपूरथला पहुँचे तो कार का शोफ़र हमें बताया करता था कि यह मकान स्पेनिश महारानी का है, यह फ्रांसीसी महारानी का, यह जॉर्जियाई महारानी का और इसी प्रकार अन्य महारानियों के मकान अलग-अलग बने हुए थे ।

जिस ज़माने में मैं महाराजा भरतपुर के लिए उपयुक्त दुल्हन की तलाश करने में व्यस्त था उन्हीं दिनों मुझे अपनी पुत्रियों के लिए दामादों की भी तलाश थी । हमारी सबसे बड़ी लड़की के मामले में तो कुछ कठिनाई नहीं हुई, वह तो बचपन से ही राजन को तय हो गई थी । राजन हमारे एक घनिष्ठ मित्र का लड़का था । मुझे याद है एक दिन मैं दाढ़ी बना रहा था जब अम्मिणी ने आकर मुझसे कहा, 'पिताजी राजन वास्तव में बहुत ही सुंदर व्यक्ति है ना ?' शायद मेरी दूसरी बच्चियाँ अपने दूल्हों के बारे में शुरू-शुरू में इतनी उल्लसित नहीं रहीं, लेकिन वे सभी अपने-अपने पति की बड़ी निष्ठावान् और पति-भक्त पत्नियाँ बन गई थीं । उनके मामले में पति के प्रति प्रेम विवाह के बाद शुरू हुआ जबकि अम्मिणी का प्रेम विवाह से पहले ही शुरू हो गया था ।

विवाह के एक वर्ष बाद अम्मिणी ने एक बच्ची को जन्म दिया जो हमारी पहली नातिन थी । उस समय अनुजी की आयु चालीस वर्ष की थी और मैं 44 वर्ष का था । बच्ची का जन्म 15 अगस्त 1942 को हुआ था । 15 अगस्त एक ऐसा दिन है जिसका भारत तथा ब्रिटेन के लिए ऐतिहासिक महत्व है क्योंकि पाँच वर्ष बाद इसी दिन भारत स्वतन्त्र हुआ । हमने अपनी नातिन का नाम उसकी दादी के नाम पर भारती रख दिया था जिनका हाल ही में देहांत हुआ था, इस नाम में मानो भारतीय स्वतन्त्रता की प्रत्याशा निहित थी । जब वह पैदा हुई थी तो भारत की स्वाधीनता के लक्षण दूर-दूर तक दिखाई नहीं देते थे । क्रिप्स मिशन असफल हो चुका था और चर्चिल ने घोषणा कर दी थी कि 'जो कुछ हमारे पास है उसे हम हाथ से नहीं जाने देंगे ।' अगस्त 1942 में महात्मा गाँधी ने व्यापक पैमाने पर 'भारत छोड़ो' आंदोलन चलाने की घोषणा कर दी और 'करेंगे या मरेंगे' का नारा बुलंद किया । सरकार ने भी यह चुनौती स्वीकार कर ली । 8 अगस्त को महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरू और कांग्रेस की कार्यकारिणी के सभी सदस्य गिरफ़्तार करके जेल में डाल दिये गये । ये हिदायतें भी जारी कर दी गईं कि प्रत्येक प्रांत और प्रत्येक रियासत के प्रमुख कांग्रेसी सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया जाए । यही हिदायत भरतपुर पर भी लागू होती थी और उसी के अनुसार राज बहादुर, आदित्येन्द्र, जुगल किशोर चतुर्वेदी और दूसरों को पकड़ कर जेल भेज दिया गया । उनकी गिरफ़्तारी के विरुद्ध भरतपुर में कुछ सभाएँ भी हुईं और जुलूस भी निकाले गये । मैंने स्पष्ट हिदायतें दी थीं कि जब तक ये

सभाएँ और जुलूस हिंसात्मक रूप धारण न करें तब तक उन्हें न छेड़ा जाए और नतीजा यह हुआ कि वे अपने आप ही फुसफुसा कर रह गईं। मैं चाहता था कि भरतपुर में कांग्रेसी नेताओं को यथाशीघ्र रिहा कर दूँ, और वे भी अकारण ही जेल में पड़े रहना नहीं चाहते थे। और कुछ ही दिन बीते होंगे कि उनकी रिहाई का अवसर आ गया।

भरतपुर में मैंने जो प्रशासनिक कार्रवाइयाँ की थीं उन्हें यहाँ गिनाना तो व्यर्थ होगा क्योंकि वे सब अब पुरानी पड़ गई हैं। यहाँ तक कि जो उपाय उस समय महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे, आज उनका भी कोई महत्त्व नहीं रह गया है। उदाहरण के लिए मैंने महाराजा को भरतपुर में एक उच्च न्यायालय स्थापित करने के लिए राज़ी किया। तब तक अंतिम अपीलीय अधिकार महाराजा की परिषद् को था जिसमें एक न्याय मंत्री और दूसरे ख़ान बहादुर मुहम्मद हलीम थे जो ब्रिटिश भारत के अवकाशप्राप्त जिला और सेशन जज थे। उनकी विशेषता यह थी कि वे न केवल क़ानून के विशेषज्ञ थे बल्कि साँप के काटे के इलाज के भी विशेषज्ञ थे। उनके इलाज का तरीक़ा भी बड़ा मौलिक था। जो भी साँप के काटने की ख़बर लाता मुहम्मद हलीम कसकर उसके एक तमाँचा मारते और बस साँप का ज़हर दूर हो जाता। मैं नहीं जानता कि उनका वह इलाज आस्था पर आधारित था या भरतपुर के अधिकांश साँप ही ज़हरीले न थे, बहर हाल इलाज उनका सफल सिद्ध होता था। भारत की स्वाधीनता के बाद भरतपुर के उच्च न्यायालय का विलय राजपूताना के उच्च न्यायालय में हो गया।

एक और क़दम जो मैंने उठाया था और जिसकी उस समय बड़ी प्रशंसा भी हुई थी यह था कि वहाँ एक विधान सभा का निर्माण हुआ जिसमें कुछ सदस्य निर्वाचित और कुछ नामित हुआ करते थे। उस सभा का अब तो कहीं नाम-निशान तक बाक़ी नहीं है और न ही अब भरतपुर की कोई अलग प्रभुसत्ता बाक़ी रह गई है—आज वह भी राजस्थान के अनेक ज़िलों में से एक है। अलबत्ता विधान सभा की स्थापना के प्रस्ताव का यह लाभ अवश्य हुआ कि मुझे जेल में बन्द कांग्रेसी नेताओं को रिहा करने का मौक़ा मिल गया क्योंकि मैंने कहा कि जनमत से परामर्श करने के लिए उन नेताओं को मुक्त करना आवश्यक है। जब मैं भरतपुर से जाने लगा तो उन्हीं नेताओं ने मेरे सम्मान में एक सार्वजनिक सभा की और मेरी प्रशंसा में अनेक बातें कहीं जिनका मैं पात्र नहीं था। मेरे वहाँ से आने का महाराजा को भी बड़ा दुःख हुआ और भारत सरकार ने भी भरतपुर में मेरी सेवाओं के पुरस्कार में मुझे सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान की। इस प्रकार भरतपुर में अपने कार्यकाल में मैंने 'बाग़बाँ भी खुश रहे राज़ी रहे सैयाद भी' को चरितार्थ किया और राजा, प्रजा और भारत सरकार इन तीनों को संतुष्ट

रखा, हालाँकि ये तीनों तत्त्व ऐसे थे जिनके हित कभी एक दूसरे के साथ क़तई मेल नहीं खाते थे। कहावत है कि एक ही समय में दो मालिकों की सेवा संभव नहीं, लेकिन मैंने वहाँ रहकर दो नहीं तीन मालिकों की सेवा की और न तो किसी एक की हानि होने दी और न ही किसी का अपने प्रति समादर कम होने दिया। मैं समझता हूँ मेरे राजनयिक जीवन के लिए यह एक सफल प्रारंभिक प्रशिक्षण था क्योंकि वहाँ से आने के बाद मेरा राजनयिक जीवन प्रारंभ हो गया।

चीन : युद्ध के दौरान

००

जब भरतपुर में मेरा कार्यकाल समाप्त होने वाला था तो मुझे दिल्ली बुलाया गया और एक अप्रत्याशित नियुक्ति का प्रस्ताव मेरे सामने रखा गया। मुझसे पूछा गया क्या आप चीन में भारत के एजेंट जनरल के पद का कार्यभार संभालने के लिए तैयार हैं जो सर ज़फ़रुल्ला ने उसी समय ख़ाली किया था ? कैरो ने जो उस समय विदेश सचिव थे मुझे आगाह किया कि चुंगकिंग बड़ा कष्टप्रद स्थान है, न वहाँ जीवन की सभी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हैं और न ही वहाँ की जलवायु अच्छी है। इसके अलावा यह भी संभव है कि गर्मी भर चुंगकिंग पर भारी बमवर्षा होती रहे। लेकिन कैरो ने यह भी बताया कि इस सबके बावजूद चुंगकिंग में एजेंट-जनरल के पद की नियुक्ति भारत के लिए विशेष महत्त्व रखती है। चुंगकिंग और वाशिंगटन में एजेंट-जनरलों के पद विदेश में भारत के पहले राजनयिक या अर्ध-राजनयिक पद हैं। मैंने अनुजी से सलाह ली और उसके बाद उनसे कहा कि मैं चुंगकिंग जाने के लिए बिल्कुल तैयार हूँ बशर्ते कि मुझे अपनी पत्नी और एक पुत्री कुंजा को वहाँ ले जाने की अनुमति मिल जाए। यह वैसे बड़ी विचित्र-सी शर्त थी क्योंकि चुंगकिंग में जो दूसरे विश्व युद्ध में उलझा हुआ था शायद ही कोई राजनयिक ऐसा हो जो अपनी पत्नी को लेकर वहाँ गया हो। लेकिन फिर भी भारत सरकार ने मेरा निवेदन स्वीकार कर लिया।

हमें 1943 के वसंत में चीन के लिए प्रस्थान करना था लेकिन चुंगकिंग में हमारे लिए उपयुक्त निवास की व्यवस्था नहीं हो सकी थी और भारत सरकार तब तक हमें जाने की अनुमति नहीं दे सकती थी जब तक कि चीनी अधिकारी हमारे लिए मकान का प्रबंध न कर दें। लिहाज़ा तब तक की अल्पकालीन रिक्ति में उन्होंने मुझे पश्चिमी राजपूताना की रियासतों का राजनीतिक एजेंट बनाकर भेज दिया। यह एक नई बात थी क्योंकि अभी दस वर्ष पहले ही सर बर्ट्रेण्ड ग्लांसी ने जो उस समय राजनीतिक सचिव थे मुझे बताया था कि 'निकट भविष्य' में यह संभव नहीं है कि किसी भारतीय को किसी भी रियासत में रेज़िडेंट या राजनीतिक एजेंट के रूप में नियुक्त किया जाए। और उन्होंने इसका कारण यह बताया था कि राजे महाराजे इसे ख़ुद पसंद नहीं करते हैं। अधिकांश नरेश जो मान-मर्यादा के थोथे विचार से ग्रस्त थे, निश्चय ही यह चाहते थे कि सर्वोच्च

प्रभुसत्ता के प्रतिनिधि के रूप में यदि किसी को उन पर अंकुश ही रखना है तो वह उन्हीं का देशवासी न होकर अंग्रेज हो तो बेहतर है। लेकिन महाराजा जोधपुर इसके अपवाद थे, उन्होंने न केवल मेरी नियुक्ति का स्वागत किया बल्कि मेरे साथ ऐसा विनम्रता का व्यवहार किया कि मुझे वह दिखावा-सा महसूस होने लगा। जब मैं उनके शिकारी-निवास पर गया तो बजाय इसके कि मैं सीढ़ियाँ चढ़ कर ऊपर जाता और वे मुझसे मिलते, वे ज़ीना उतरकर नीचे आ गये और उन्होंने मेरा स्वागत किया। वस्तुत: नयाचार के अनुसार उनका मुझे ऊपर बुलाना सर्वथा उपयुक्त था।

और ब्रिटिश अधिकारी भी इस आचार-व्यवहार का कितना ख़याल रखते थे। जब मैं राजनीतिक एजेंट बनकर जोधपुर रियासत में गया तो सर डोनैल्ड फ़ील्ड वहाँ के प्रधान मंत्री थे। विदेश और राजनीति विभाग में वे मुझसे बहुत वरिष्ठ थे, जब मैं केवल अवर सचिव था तो वे तिरुवांकुर-कोचीन में ब्रिटिश रेज़िडेंट थे। लेकिन जब मैं वहाँ गया तो वे मुझे जोधपुर रेलवे स्टेशन पर लेने के लिए, और जब मैं वहाँ से आया तो छोड़ने के लिए आये क्योंकि उस समय वे एक रियासत के अधिकारी थे जबकि मैं सर्वोच्च प्रभुसत्ता का प्रतिनिधि बनकर वहाँ गया था।

मेरी एजेंसी के अंतर्गत चार रियासतें और आती थीं—बीकानेर, जैसलमेर, सिरोही और पालनकोट। जैसलमेर तो मरुस्थल के बीच स्थित है और मुझे भरी गर्मी में वहाँ जाना पड़ता था ताकि महाराजा को जाकर बताऊँ कि टिड्डियों के आक्रमण की आशंका है इसलिए अभी से कुछ उपाय कर लीजिए। जिस दिन मैं वहाँ पहुँचा मुझे एक छपा हुआ निमंत्रण मिला जिसमें मुझे महाराजा के महल में होने वाले भोज में बुलाया गया था। मैंने अपना सरकारी वेश पहना हालाँकि उस समय तापक्रम 120 से अधिक था, और मैंने देखा कि महाराजा भी अपने समारोह-वेश में वहाँ मौजूद हैं। महाराजा एक लंबी मेज़ के एक सिरे पर बैठे और मैं दूसरे सिरे पर। अन्य कोई अतिथि वहाँ नहीं थे, अलबत्ता वर्दीपोश सेवक वहाँ अनेक थे। शराब के दरिया बह रहे थे और जब शैंपेन आई तो महाराजा बड़ी शान के साथ खड़े हुए, उन्होंने अपना ग्लास उठाया और कहा, 'द किंग।'

आख़िरकार चुंगकिंग में हमारे लिए मकान मिल गया और अनुजी, कुंजा और मैं 17 सितम्बर 1943 को चीन के लिए रवाना हुए। कलकत्ता से चीन तक की हवाई यात्रा बड़ी आह्लादकारी थी। पौ फटते ही हम वहाँ से चले, तेज़ी से

हम बादलों में से गुज़रते हुए ऊपर उठे। ऊपर से वही बादल हमें बड़े अद्‌भुत-से लगे और कभी वे कुछ रूप धारण करते और कभी कुछ। नाचते हुए, रेंगते हुए, घूमते-चकराते हुए बादल, चलते-फिरते हुए, रुकते-ठहरते हुए, झुकते हुए बादल, बादल जो ऐसे आकाश की ओर उठते चले जाते थे मानों धुएँ के स्तंभ खड़े हों, बादल जो हवा में ऐसे लटकते थे मानों चाँदी के टुकड़े लटक रहे हों और ये सारे बादल सूर्य की किरणों से प्रकाशित और प्रदीप्त होते जाते थे। जहाँ-जहाँ ये बादलों की पंक्तियाँ टूट जाती थीं वहीं उन झिरियों में से हमें ब्रह्मपुत्र की झलक दिखाई दे जाती थी जो हिमालय पर्वत के एक सिरे से घूमकर भारत की ओर मुड़ती थी। और फिर हमारा जहाज़ नीचे उतरने लगा और हम इतने नीचे आ गये कि असम के पेड़ और वहाँ की चाय की झाड़ियाँ उठकर हमारा अभिनंदन करने लगीं। लगभग दस बजे होंगे जब हम डिजोन नामक स्थान पर पहुँचे जो भारत के सुदूर उत्तर-पूर्वी भाग में स्थित है और जिसे भगवान ने लावारिस छोड़ रखा है।

वहाँ रुक कर एंजिन में ईंधन डाला गया और हम लोगों ने अपने पेट में रोटी डाली और कोई आधे घण्टे में वहाँ से फिर चल दिये। हम उस 'त्रिकोण' के ऊपर से गुज़रे जहाँ भारत, बर्मा और चीन की सीमाएँ एक-दूसरे से मिलती हैं। जब जो दृश्य हमने देखे वे उनसे सर्वथा भिन्न थे जो हम पीछे छोड़ आये थे। नीचे पहाड़ और जंगल दोनों एक-दूसरे में ऐसे गड्ड-मड्ड हो गए थे कि यह पता चलाना कठिन था कि कहाँ पहाड़ समाप्त हुए और कहाँ से जंगल शुरू हुआ। हमारे पीछे, नीचे और सामने जिधर देखो पहाड़ी सिलसिला चला जा रहा था, उनमें कुछ पहाड़ियाँ बर्फ़ से ढँकी थीं और एक-दूसरे के समानांतर चली जा रही थीं। यदि वे कहीं अलग होती होंगी तो केवल इरावदी, मैकोंग और सलवीन नदियों की गहरी घाटियाँ ही उन्हें अलग करती होंगी। हमारा विमान ऊपर उठता गया, उठता गया यहाँ तक कि 20,000 फुट की ऊँचाई पर पहुँच गया। हमारे कुछ साथी तो घोड़े बेचकर सो रहे थे लेकिन कुछ ऐसे भी थे जो चुपके-चुपके अपने ऑक्सीजन सिलिंडर से हवा ले रहे थे। हमारे लिए भी अब जागते रहना कठिन हो गया था क्योंकि सारा वातावरण बहुत ही ठण्डा हो गया था। लेकिन हमारे लिए जागते रहना था जरूरी क्योंकि हम उन दृश्यों का अवलोकन करते जा रहे थे जिनका वायुयान के आविष्कार के पहले केवल देवतागण ही आनंद-लाभ करते होंगे। अब हम 'हंप' पर पहुँच गए थे, यह उस विशाल पर्वत-शृङ्खला की वह चोटी थी जहाँ से चीन और भारत अलग होते हैं। हमें लगा मानों हम अजंता की मूर्तियों के शिव और पार्वती हैं जो आकाश में विचरण कर रहे हैं। लेकिन अब हमारे शरीर में एक ऐसी क्षीणता-सी आ गई कि आँखें खुली

रखना कठिन हो गया और फिर हम सो गये। हमें परिचारिका ने जगाया जो खिड़कियों के पर्दे गिरा रही थी ताकि हम बाहर न झाँक सकें और वह सैनिक प्रदेश न देख लें जिससे हम उस समय गुज़र रहे थे। थोड़ी ही देर में हम कुनमिंग में जा उतरे और हमने धरती माता का स्पर्श कर उसे नमस्कार किया। धरती माँ का वास्तविक महत्त्व हमें तभी दिखाई दिया जब हम वायु में विचरण करते-करते पृथ्वी पर उतरे और वहाँ पहुँच कर हमें सुरक्षा का वही आभास हुआ जो बच्चे को अपनी माँ की गोद में जाकर होता है।

दो बजे के लगभग हम कुनमिंग से रवाना हुए। दृश्य अब भी वही पर्वतों का था लेकिन अब वह उतना भयानक और डरावना नहीं था जैसा हम पहले देख चुके थे। पहाड़ियों का चक्कर लगाते-लगाते हमने बर्मा रोड देखी जो इंजीनियरी का एक चमत्कार माना जाता है। उसे चीन की जीवनदायिनी माना जाता था क्योंकि जब उसकी सभी बंदरगाहों पर जापान का क़ब्ज़ा हो गया तो यही एक मात्र सड़क बच रही थी जो बाहर की दुनिया और चीन के बीच संचार का साधन थी। घण्टा भर बीत जाने के बाद जो दृश्य हमें दिखाई दिये वे हमें कुछ अधिक परिचित लगे। हमने देखा कि खेत लहलहा रहे हैं और उनका सुव्यवस्थित विभाजन हो रहा है तथा भूमि बिल्कुल समतल बनी हुई है। और देखते-देखते हम ऐसे प्रदेश में दाख़िल हुए जो घने कुहरे से आच्छादित था। छह मास तक यह कुहरा चुंगकिंग पर छाया रहता है और हवाई हमलों से उस इलाक़े की रक्षा करता है। अभी सूर्यास्त में कुछ समय शेष था कि हम फिर नीचे उतरने लगे और थोड़ी ही देर में याँग्ट्सी नदी की रेत पर जा उतरे। बस यही हमारी यात्रा का अंत था, हम चुंगकिंग पहुँच गए थे।

यह संसार के सबसे अधिक खतरनाक वायुमार्गों में से था और यदि युद्ध की आवश्यकताएँ बाध्य न करतीं तो शायद इस मार्ग को कभी न अपनाया जाता। जब चीन के समुद्रतट पर हर जगह जापानियों का क़ब्ज़ा हो गया तो चीन को रसद भेजने की समस्या बड़ी विकट हो गई। पहले तो अंशतः बर्मा रोड से और अंशतः हवाई मार्ग से रसद भेजी गई। लेकिन जब बर्मा रोड भी जापानियों के हाथ में चली गई तब तो रसद भेजने का एक मात्र साधन वायुमार्ग ही रह गया। शुरू-शुरू में वायुमार्ग बर्मा से गुजरता था और सी० एन० ए० सी० (चाइनीज़ नेशनल एयरवेज़ कार्पोरेशन) के विमान-चालक, जिनमें अधिकतर अमरीकी हुआ करते थे, 10,000 फुट की ऊँचाई से ही 'हंप' पार कर लिया करते थे। लेकिन जब जापानियों ने मितकियना पर अधिकार कर लिया तो विमान चालकों को और भी पश्चिम की ओर से 20,000 फुट की ऊँचाई से विमान ले जाने पड़ने लगे।

सी० एन० ए० सी० केवल या मुख्यत: पैसेंजर सर्विस नहीं थी। बल्कि उसके माध्यम से चीन में पैट्रोल, चिकित्सा का सामान, ढाई टन वजन ढोने वाली लारियाँ और 4000 पौंड वज़न वाली विमान भेदी तोपें भेजी जाती थीं। इस हवाई सेवा के संचालन में जान-जोखों तो निश्चित ही थी। विमान-चालकों को न केवल मनुष्य के हमले झेलने पड़ते थे बल्कि प्रकृति के आक्रमणों का भी सामना करना पड़ता था। यह ख़तरा सदा बना रहता था कि जहाज़ ख़तरनाक हवाई क्षेत्रों में पहुँच जाए, यह भी भय था कि उनके पंखों पर बर्फ़ जम जाए और यह भी आशंका रहती थी कि जापानी उन्हें मार कर गिरा लें। लेकिन अमरीकी और चीनी विमान चालकों ने हँसते-हँसते अपने प्राण न्यौछावर किए हैं ताकि चीन जीवित रह सके। इस बात की पूरी सावधानी रखी जाती थी कि विमान-दुर्घटना में कम-से-कम लोग आहत हों। लड़ाके-प्रहरी जहाज़ों का संगठन किया गया और रक्षक-विमानों की प्रणाली भी शुरू की गई। प्रत्येक विमान चालक को एक छतरी, एक मच्छरदानी, राशन और एक चाकू दिया जाता था ताकि जंगल में भी वह अपना रास्ता निकाल सके। एक विमान-चालक कहीं पहाड़ी पर फँस गया था और वहाँ से निकलने में उसे डेढ़ महीना लग गया था। एक दूसरा विमान चालक जब जहाज़ से कूदा है तो उसका वज़न 185 पौंड था और जब वह आबादी में पहुँचा है तो उसका वज़न सिर्फ़ 80 पौंड रह गया था। लेकिन इन सब कठिनाइयों और संकटों के बावजूद हवाई सेवा बड़ी वीरता के साथ चलती रही। उसे 'चीन की फ़ेरी सर्विस' कहा जाता था।

अब तक जिन-जिन स्थानों में मैं रह चुका था चुंगकिंग उन सबसे बढ़कर अटपटा और साथ ही सबसे अधिक आकर्षक स्थान लगा। जब मुझे मालूम हुआ कि मैं चीन जाने वाला हूँ तो वहाँ चीनी वास्तु कला से सम्बद्ध वस्तुओं को देखने की इच्छा मेरे मन में अँगड़ाई लेने लगी—वहाँ के पैगोडा, टेढ़ी छतें, चमकीले टाइल और रंगों से जगमगाती हुई इमारतें। लेकिन चुंगकिंग में हमें इनमें से कुछ भी देखने को न मिला। इसका कारण शायद यह हो कि चुंगकिंग को एक अस्थायी और कामचलाऊ राजधानी बना लिया गया था। वह एक गहरे भूरे रंग का शहर दिखाई देता था और उस पर भारी बमवर्षा हो चुकी थी और वह बुरी तरह ध्वस्त कर दिया गया था। गहरा भूरा रंग ही सर्वत्र व्याप्त था क्योंकि टाइल भी भूरे थे, ईंटें भी भूरी और दीवारें भी भूरे या काले रंग से रंग दी गई थीं जैसा कि हवाई हमले से बचने के लिए एहतियात के तौर पर कर दिया जाता है। वहाँ के स्त्री-पुरुषों की मानक वेशभूषा भी गहरे नीले रंग की थी। इन सबसे

बढ़कर यह कि आकाश भी भूरे रंग का था और लगभग सात महीने तक हमें धूप देखने तक को नहीं मिली थी। चीन में आंस्ट्रेलिया के राजदूत सर फ्रैडरिक एगलसटन, जो बड़े मिलनसार तथा विद्वान व्यक्ति थे, वे हर सप्ताह सूर्य के निकलने और धूप के रहने का एक-एक सेकंड का हिसाब रखते थे। उन्हें गठिया की बीमारी थी, उन्होंने यह हिसाब लगाया था कि चुंगकिंग में साढ़े चार महीने में कुल मिलाकर साढ़े तीन घण्टे धूप रही थी और वास्तव में वहाँ धूप ऐसी शर्मीली थी कि लोगों में यह कहावत प्रचलित हो गई थी : 'स्यूचवान में धूप निकलने पर कुत्ते भौंकने लगते हैं।'

हम जब चुंगकिंग पहुँचे तो आधा सितंबर बीत चुका था। जिधर देखो लोग उमस में पसीने से तर-बतर हो रहे थे। पुरुष तो अपने सिरों पर गीले तौलिये ढँके बाहर निकलते थे और स्त्रियाँ अपने सुन्दर पंखे साथ लिए रहती थीं। जब हम पहुंचे तो हमें ऐसा लगा जैसे हम किसी विशाल हम्माम में उतर गये हैं लेकिन एक दिन सुबह क्या देखते हैं कि सर्दी पड़ने लगी। जिधर देखो कुहरा ही कुहरा है और चारों ओर अँधेरा छा गया है और यह सब एकदम हो गया। साइबेरिया की बर्फ़ीली अधित्यका से उठती हुई ठण्डी हवा के झोंकों ने याँग्ट्सी घाटी के तपे हुए वातावरण को विक्षुब्ध कर दिया था और वहाँ की हवा आगामी सात महीनों तक कुहरे की छत बन कर छा गई थी। सर्दी के मौसम में कुछ हल्की-हल्की लेकिन लगातार बारिश भी होती थी जिससे सड़कों पर कीचड़ के दरिया बहने लगते थे। कभी-कभी हिमपात भी हो जाता था। लेकिन वह बर्फ़ उतनी सफ़ेद और निर्मल न होती थी जितनी कि आम तौर पर होनी चाहिए थी क्योंकि बर्फ़ गिरते ही पिघल जाती थी और कीचड़ बन जाती थी।

अप्रैल के मध्य में तो इस स्थान की बिल्कुल काया ही पलट गई। पेड़ों में पत्ते आने लगे, पौधों में फूल आने लगे और चिड़ियों की चहचहाहट सुनाई देने लगी। लेकिन पक्षियों के कलरव के साथ ही हवाई हमलों के ख़तरे की भयानक आवाज़ें भी सुनाई देने लगीं। सर्दी के जमाने में तो सारा शहर कुहरे से ढँका रहता था इसलिए ऊपर से शत्रु को कुछ दिखाई न देता था, लेकिन अप्रैल के गुजरते ही दुश्मन की ललचाई नजरें चुंगकिंग पर टिक जाती थीं। हवाई हमले की चेतावनी की शहर में बड़ी अच्छी व्यवस्था थी और सभी बड़ी-बड़ी सड़कों पर चेतावनी-चौकियाँ बनी हुई थीं। ज्योंही दुश्मन का कोई जहाज़ प्रांतीय सीमा से गुज़रता, दो गोले छुटते थे जिनका मतलब यह था कि लोग घण्टे भर के अंदर अपने शरण-स्थलों में पहुँच जाएं। चुंगकिंग में जगह-जगह खाइयाँ खुदी हुई थीं जिनमें 6 लाख आदमी शरण पा सकते थे। ये खाइयाँ चट्टानों में बनी हुई थीं और इन्हें लगातार बढ़ाया जाता था। 1943 में हमें ख़तरे की कुछ घण्टियाँ तो

सुनाई दी थीं लेकिन हमला कोई नहीं हुआ था। शायद इसका कारण यह रहा हो कि जापानी विमान कहीं और व्यस्त थे। लेकिन 1941 और 1942 में चुंगकिंग पर दिन-रात बम वर्षा होती रही थी, कभी-कभी तो निरंतर बमबारी हुई थी और परिणामस्वरूप लोगों को कई-कई दिन तक खाइयों में छिपे रहना पड़ा था और शहर का सारा कारोबार ठप हो गया था। चुंगकिंग की अनेक ठोस इमारतें बमबारी के कारण राख का ढेर हो गई थीं। नई इमारतें बनती तो जा रही थीं लेकिन चूंकि वे बाँस और मिट्टी की थीं इसलिए सारी राजधानी ऐसी लगती थी जैसे झोंपड़ियों के ढेर जमा कर दिये गये हों।

चुंगकिंग में जीवन की सुख-सुविधाएँ नगण्य थीं। सड़कें गंदी थीं और दुर्गंध से सिर फटता था क्योंकि खाद के लिए मल-मूत्र एकत्र किया जाता था। ज़फ़रुल्ला खाँ ने मुझे सलाह दी थी कि हिन्दुस्तान से चलने से पहले ही आप अपनी घ्राणेन्द्रिय का आपरेशन करवा लीजिए। मनोरंजन के साधन भी बहुत कम थे और रात को पढ़ना इसलिए दूभर था कि बिजली की रोशनी बहुत कम हो जाती थी। हफ़्ते में एक दिन तो बिजली बिल्कुल ही काट दी जाती थी और बाक़ी दिनों में भी जब बिजली पर भार बढ़ जाता था तो 7 से 9 तक रेडियो भी नहीं सुना जा सकता था। इस सबके बावजूद यह ज़रूरी नहीं था कि चुंगकिंग में रात को बिल्कुल ही अँधेरा कर दिया जाए। हमारे निवास से कुछ ही दूर कोयले की एक खदान थी जिसमें यदि ठीक ढंग से काम होता तो उस पूरे इलाक़े के लिए पर्याप्त ईंधन उपलब्ध किया जा सकता था। लेकिन वहाँ से कोई सौ मील की दूरी पर एक ऐसी खदान थी जिसमें चीनी जनरल का विशेष हित निहित था और दूरी के कारण ही वहाँ से ईंधन का परिवहन कठिन भी था और महँगा भी। लेकिन होता यही था कि एक आदमी के हित सध जाएँ चाहे उससे दस लाख आदमियों को नुक़सान क्यों न पहुँचे।

चुंगकिंग में चीज़ों की क़ीमतें भी बहुत ज़्यादा थीं। जब मैं वहाँ पहुँचा तो मूल्य युद्धपूर्व स्तर से 140 गुना अधिक हो चुके थे और एक वर्ष के भीतर ही 310 गुना हो गये थे। 1944 में अंडा एक रुपये में मिलता था, आधा सेर गोश्त 35 रुपये का था, आधा सेर मछली 45 रुपये में मिलती थी, सिगरेट का एक डिब्बा 200 रुपये का था, एक जोड़ी जूते 300 रुपये के आते थे और सबसे अधिक दुःख इस बात का था कि व्हिस्की की एक बोतल 1500 रुपये में मिलती थी।

मैंने 10 अक्तूबर 1943 को अपने प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत किये थे। वह दिन बड़ा महत्त्वपूर्ण और घटना-प्रधान था। उसी दिन चीनी गणतंत्र की 32 वीं

वर्षगाँठ थी। इसी दिन जनरलिस्सिमो चियाँग काई-शेक राष्ट्रपति बने थे। औपचारिक समारोह 10 बजे सुबह हुआ और दोपहर को मैंने उनसे भेंट की। राष्ट्रपति अपनी सैनिक वेशभूषा में विभूषित थे और मदाम चियाँग अपने हीरे-जवाहरात में जगमगा रही थीं। ऐसे औपचारिक समारोह में मदाम चियाँग की उपस्थिति सर्वथा अप्रत्याशित थी, बल्कि नयाचार-अधिकारी तो बड़े धर्म संकट में पड़ गये थे और राजनयिक कोर के एक वयोवृद्ध सदस्य ने भी उनकी उपस्थिति के औचित्य पर अपनी शंका प्रकट की थी।

शाम को राष्ट्रपति और मदाम चियाँग ने एक स्वागत-समारोह में राजनयिक कोर के सदस्यों को आमंत्रित किया। मेरी पत्नी और पुत्री को भी बुलाया गया। मेरे सचिव अशोक मेहता को नयाचार-प्रमुख ने बताया कि इतिहास में यह पहला अवसर है कि किसी राजनयिक की पुत्री को भी ऐसे समाहोह में आमंत्रित किया गया है। जब राजदूत और मंत्रिगण वरिष्ठता के अनुसार राष्ट्रपति और मदाम चियाँग से हाथ मिला चुके तो नयाचार-प्रमुख ने मुझे आगे बढ़ने के लिए कहा। इतने ही में तुर्की का कार्यदूत धक्का-मुक्की करता हुआ आगे आया और उसने फ्रांसीसी भाषा में और उसी हाव-भाव के साथ नयाचार-प्रमुख से बातचीत की और आग्रह किया कि मेरा नंबर इनसे पहले आना चाहिए और कुछ अनिच्छा से और दबे-दबे नयाचार-प्रमुख ने उसे आगे जाने की अनुमति दे दी। नयाचार-प्रमुख ने मुझसे क्षमा-याचना की और कहा कि यद्यपि आपका पद भी मंत्री का है लेकिन मैं नहीं चाहता था कि राष्ट्रपति के सामने कोई अशोभन दृश्य उपस्थित होता। वास्तव में बात यह थी कि मेरी स्थिति एजेंट-जनरल के रूप में कुछ असंगत भी थी। वियाना में जो सम्मेलन हुआ था उसमें राजनयिक नयाचार के सभी मामलों का नियमन कर दिया गया था और उसके अनुसार मिशन के सभी अध्यक्षों को राजदूत, मंत्री और कार्यदूत इन तीन भागों में विभक्त किया गया था। उक्त सम्मेलन में इस बात पर विचार ही नहीं किया गया था कि भारत जैसे देश को जो अभी स्वाधीन नहीं हुआ था, विदेशों में अपने प्रतिनिधि भेजने का भी अधिकार दे दिया जायेगा। सामान्य चीनी के लिए एजेंट-जनरल कुछ रहस्यमय शब्द था। कुछ लोग तो मुझे व्यापारिक एजेंट समझते थे और कुछ ऐसे थे जो मुझे सैनिक जनरल समझ बैठे थे हालांकि मुझे एक बार भी देख लेने पर उनका यह संदेह दूर हो सकता था कि मेरा सेना से कोई संबंध नहीं हो सकता।

मैंने सबसे पहले भारत सरकार को अपनी जो रिपोर्ट भेजी उसे मैंने 'सांग

ऑफ़ सूंग्ज़' की संज्ञा दी थी। यह सूंग परिवार उतना ही आश्चर्यजनक था जितना कुंग परिवार और इसी परिवार का चीन पर आधिपत्य था। प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत करने के फ़ौरन ही बाद विदेश मंत्री टी० वी० सूंग ने मुझे दोपहर के खाने पर आमंत्रित किया। भोजन बहुत ही स्वादिष्ट था और मदिरा भी बहुत ही बढ़िया थी। लेकिन शिष्टाचार का मुलाहिज़ा फ़रमाइये कि सूंग साहब ने अपने अतिथियों को, जिनमें नार्वे के राजदूत भी शामिल थे, कोई आधे घण्टे तक इंतिज़ार कराया और जब वे तशरीफ़ लाये तो क्षमायाचना के लिए उनके मुँह से एक शब्द भी जो निकला हो। जब लंच समाप्त हो गया तो उन्होंने एक भी मेहमान से बैठने तक के लिए नहीं कहा। अभी नार्वेजियन राजदूत ने अपनी काफ़ी खड़े-खड़े पूरी पी भी नहीं थी कि सूंग के सिर के इशारे पर उपविदेश मंत्री ने राजदूत को संकेत किया कि अब आप तशरीफ़ ले जा सकते हैं। और फिर हम सबको वहाँ से हँकाल दिया गया। मुझे अब भी विश्वास नहीं हुआ कि चीनी शिष्टाचार ऐसा ही होता होगा। तो फिर क्या वह 'सूंग वंश' का शिष्टाचार था?

बहरहाल जब मैं अनुजी और कुंजा के साथ सूंग की प्रसिद्ध बहन मदाम चियाँग के यहाँ चाय पीने के लिए गया तो यही विचार मेरे मन में उठ रहे थे। लेकिन 'मदामिस्सिमो'—राजदूतों ने उनका यही नाम रख दिया था—सम्मोहन और आकर्षण की प्रतिमा थीं। वे अपने सम्मोहन का उसी प्रकार प्रयोग करती थीं जिस प्रकार कोई व्यक्ति एक कृत्रिम फ़व्वारे का करे और जब तक आदमी पूरी तरह भीग न जाए फ़व्वारे का पानी ऊँचा चढ़ता जाए। उस समय वे अपना सम्मोहन एडमिरल माउण्ट बैटन पर केन्द्रित किये हुए थीं जो दक्षिण-पूर्व एशिया के सर्वोच्च सेनाध्यक्ष थे और चियाँग दंपति से मिलने के लिए आये हुए थे। सुना है पहाड़ी पर स्थित अपने मकान से चलते हुए माउंट बैटन ने चर्चिल को यह तार दिया था: **मदाम कहती हैं मैं उनका जीवन भर के लिए मित्र बन गया हूँ। कल हम चुंगकिंग से प्रस्थान कर रहे हैं।**

हमारे साथ बातचीत करते समय मदाम चियाँग बड़ी दक्षता और सहजता के साथ विभिन्न विषयों पर बातें करती रहीं: साड़ी से लेकर (उन्होंने बड़े गर्व से हमें बताया कि उनके पास कुछ साड़ियाँ तो थीं लेकिन वे उन्हें पहनना नहीं जानती थीं) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति तक सभी प्रकार के विषयों पर हमने विचार-विनिमय किया। उनकी बातों से मुझे यह आभास हुआ मानो वे जितनी चिंतित मेरी पुत्री के बारे में थीं जिसे जिनलिंग कॉलेज में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था, उतनी ही चिंता उन्हें बंगाल के अकालपीड़ित लोगों के बारे में थी।

दूसरे दिन मेरी भेंट सूंग बहनों में से एक और—मदाम कुंग—से हुई। उनसे पहले सुन यात-सेन ने प्रेम किया था लेकिन उनका झुकाव कुंग की ओर था इसलिए उन्होंने कुंग से विवाह कर लिया। कुंग बड़ा धनवान् व्यक्ति था और कन्फ्यूसियस का वंशज था। मुझे लगा मदाम कुंग बड़ी व्यवहार कुशल महिला हैं और कुल मिलाकर वे थोथे मूल्यों की समर्थक हैं। जब उन्होंने गाँधीजी की किसानों जैसी सादगी का ज़िक्र करते हुए कहा, 'क्या हमें जनता का स्तर ऊँचा उठाकर अपने बराबर नहीं लाना चाहिए—बजाय इसके कि हम अपने को गिरा-कर उन जैसे बन जाएँ ?' तो मुझे बड़ी वितृष्णा-सी हुई। चीन में एक कहावत मशहूर थी कि मदाम चियाँग को शक्ति से, मदाम कुंग को धन से और मदाम सुनयात-सेन को चीन से प्रेम है।

इन सूंग बहनों को जिस विशेषता ने इतना महान् बनाया, वह यह थी कि 1911 और 1948 की क्रांतियों के दौरान चीन की तीन ज़बरदस्त हस्तियों से उनके विवाह हुए थे, सुन यात-सेन, चियाँग काई-शेक और एच० एच० कुंग। जब मैं कुंग से मिला तो वे पिछले दस वर्षों से वहाँ के वित्त मंत्री थे। यद्यपि वे कन्फ्यूसियस के वंशज थे लेकिन लगते ऐसे थे जैसे सूअर का गोश्त बेचने वाला क़साई हो और उसके अलावा उनकी बातचीत से उनके नवधनिक होने का भी आभास मिलता था। उधर तो चीन की जनता भूखों मर रही थी और इधर सूँग दौलत से मालामाल हो रहे थे—कारें, क़ालीनें, लॉन, केन्द्रीय तापन यंत्र, स्विमिंग बाथ, चित्र और नौकरों की कतारें सभी कुछ उनके पास मौजूद था। उन्होंने मुझसे पूछा उस राजा का क्या नाम है जो संसार में सबसे बढ़कर धनवान् है ? शायद उनका मतलब निज़ाम से था और मेरा ख़याल था कि वे निज़ाम ही से होड़ कर रहे थे। कुंग निश्चय ही एक ऐसे अष्टबाहु पूंजीपति थे जिनका वित्त-जाल सारे चीन पर फैला हुआ था। सैंट्रल ट्रस्ट से चियालिंग हाउस तक जो चुंग-किंग का एक होटल था जिसके वही मालिक थे, शायद ही कोई ऐसी व्यापार-संस्था हो जिसमें उनका पैसा नहीं लगा था। वहाँ का दूसरा होटल विक्टरी हाउस था जिसके मालिक हो चिंग-चिन थे जो चीन के प्रधान सेनाध्यक्ष थे।

नव वर्ष के उपलक्ष्य में कुंग ने जो भोज दिया था वह मुझे याद है। वह भोज अंग्रेज़ी के मुहावरे 'थ्रोइंग ए पार्टी' को चरितार्थ करता था। भोज में लगभग 600 अतिथि सम्मिलित हुए थे जिनमें अधिकांश विदेशी थे। जितनी भद्दी पार्टी वह थी शायद ही मैंने कोई दूसरी देखी हो। उसमें अत्यधिक आडंबर, थोथा और कृत्रिम उल्लास और अतिथियों के साथ अभद्र व्यवहार, यही सब कुछ था। मेहमानों के एकत्र होने के कुछ ही मिनट बाद एक चीनी मेजर-जनरल ने, जिसकी आवाज़ में गरज थी एलान किया, 'महिलाओ और महाशयो,' परममान्य डॉ०

कुंग और मदाम कुंग पधार रहे हैं।' और फिर जब डिनर समाप्त हुआ तो उसी गरजदार आवाज़ ने फिर घोषणा की, 'महिलाओं और महाशयो, अब हमें डॉ० कुंग और मदाम कुंग को धन्यवाद देना चाहिए कि उन्होंने हमारा ऐसा भव्य अतिथि-सत्कार किया। अब वे एक और बड़े आयोजन में भाग लेने जा रहे हैं जहाँ वे ही आतिथेयी हैं।' उस भोज में जनरल विनगेट, मदाम सुन यात-सेन और मैं तीनों एक ही मेज़ पर बैठे थे। भोज में जहाँ बिल्लियों, कुत्तों, घोड़ों और सुअरों की आवाज़ें गूंज रहीं थीं हम ही तीन व्यक्ति थे जो शांत बैठे थे। वहाँ हरेक मेज़ पर एक-न-एक जानवर का निशान बना हुआ था और हरेक मेज़ पर बैठे मेहमान उस गरजदार आवाज़ के पूछने पर म्याऊँ, भों-भों, हिनहिन या धुरधुर की आवाज़ें निकाल रहे थे। भोज के दौरान विनगेट ने एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला जबकि उनके बग़ल में बैठा हुआ एक पागल-सा बौना लगातार उन्हें बोलने पर उकसा रहा था। लगता था वे अपने विचारों में मग्न थे और शायद उनके विचार उस पार्टी से दूर, बहुत दूर बर्मा के जंगलों में भ्रमण कर रहे थे। क्या उन्हें इस बात का पूर्वाभास हो चुका था कि यह मेरा अंतिम नववर्ष समारोह है? उस समय उनकी मुद्रा पेन्सेरोज़ो* का स्मरण करा रही थी। 1944 के आरंभ में उस नववर्ष समारोह में वे जिस प्रकार बैठे थे, उनकी वह मुद्रा मुझे वर्षों याद रहेगी। भूत-प्रेतों के उस जमघट में वही एक ऐसे थे जो मानव योनि धारण किये हुए थे।

सूँग बहनों को दुनिया में और विशेष रूप से 'नई दुनिया' में जो यश मिला उसकी कोई सीमा नहीं थी। 1944 के प्रारंभ में चीनी सरकार ने राज्य के लिए की गई विशिष्ट सेवाओं के पुरस्कारस्वरूप मदाम चियाँग को 'आर्डर ऑफ़ द ब्लू स्काई' और 'व्हाइट सन' की उपाधियाँ प्रदान की थीं। उनका स्थान चीन में वैसा ही था जैसा फ्रांस में जोन ऑफ़ आर्क का। उनकी तुलना चीन की एक और वीरांगना चिन लियांग-यू से की जाती थी जिसने मिंग वंश के अंतिम काल में मांचुओं के विरुद्ध अभियान में 8000 सैनिकों का नेतृत्व किया था और उन्हें महान् दीवार के एक दर्रे में परास्त किया था। उसके अवशेष—कढ़े हुए वस्त्र, हाथीदाँत का राजचिह्न, जूते, तलवार और मुहर-अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर चीन में आयोजित प्रदर्शनी में रखे गये थे।

अमरीका में भी मदाम चियाँग को कुछ कम मान नहीं मिला था। अमेरिकन एलुमनी काउंसिल ने उन्हें 'ऑर्डर ऑफ़ मेरिट' की उपाधि प्रदान की

---

* अंग्रेज कवि मिल्टन की एक कविता। इतालवी भाषा के इस शब्द का अर्थ है 'चिन्ता-ग्रस्त मानव'।

थी। यह उपाधि हर वर्ष उस व्यक्ति को दी जाती थी 'जिसने उस वर्ष के दौरान अपने व्यवहार द्वारा उन आदर्शों की प्रतिष्ठा की हो जिनकी ओर अमरीकी शिक्षा प्रणाली प्रेरित करती है।' और उस समय तो लोगों को यह आभास हुआ था मानो उन्हें कोई संत समझा जा रहा है। चीनी अख़बारों ने तो एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी कि उनके चित्र को एक दाग़दार शीशे की खिड़की के लिए 'धर्म का जीवित प्रतिनिधि' चुन लिया गया है। यह खिड़की न्यूयार्क में मैसेना नामक स्थान के सेंट जॉन्स चर्च में प्रतिष्ठित की गई थी जिसका निर्माण 13 वीं सदी के फ्रांसीसी, बेल्जियन और अंग्रेजी शीशे के 7000 टुकड़ों को मिला कर किया गया था। उस चित्र का प्रधान विचार अलौकिक आराधना था जो बाइबिल में दिया गया है, और मदाम चियाँग को रेक्टर ने अपने संदेश में 'ईसाई जगत की पहली महिला' के नाम से अभिहित किया था। चित्र में दिखाया गया था कि वे चीनी फूलों के बीच एक निषेधपत्र लिये खड़ी हैं जिस पर उनके मैडिसन स्क्वेयर में दिए गए भाषण का एक वाक्य अंकित है: 'हमें क्षमा करने का अभ्यास करना चाहिए।'

यदि एक ओर धन और शक्ति का नियंत्रण सूंग और कुंग परिवारों के हाथ में था तो दूसरी ओर कुओमिंतांग की विचारधारा का दायित्व चेन भाइयों—चेन को-फू और चेन ली-फू के ऊपर था जिन्हें प्रो० नीधैम सी० सी० गिरोह कहा करते थे। उनकी विचारधारा एक अजीब चूँ-चूँ का मुरब्बा थी जिसमें कन्फ़्यूसियस सुन यात-सेन और चियाँग काई-शेक तीनों के सिद्धांत आकर गड्ड-मड्ड हो गये थे। कन्फ़्यूसियस संसार का महान्तम आचार्य था जिसने सदाचार का पाठ पढ़ाया था लेकिन 2500 वर्ष पुराने उपदेश बीसवीं शताब्दी की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान में हमारी कोई सहायता नहीं कर सकते। सुन यात-सेन भी गाँधीजी और लेनिन की भाँति एक महान् देशभक्त थे लेकिन उनमें इन दोनों की-सी मौलिक चिंतन की क्षमता नहीं थी। उनके 'थ्री पीपुल्स प्रिंसिपल्ज़' पाश्चात्य और पौर्वात्य विचारों की खिचड़ी थी और उनकी सरकार की परि-कल्पना अमरीकी, फ्रांसीसी, ब्रिटिश और चीनी आदर्शों पर आधारित थी और सर्वथा अव्यवहार्य सिद्ध हो चुकी थी। सैद्धांतिक दृष्टि से उनके तीन सिद्धान्त—राष्ट्रीयता, लोकतंत्र और आजीविका—ऐसे थे जिन पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी और उनके इन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने का काम चियाँग काई-शेक ने किया। चियाँग बुनियादी तौर से एक युद्ध नेता थे बल्कि एक अति-युद्ध नेता थे जिन्होंने चीन के अन्य युद्ध नेताओं को उन्हीं के खेल में परास्त किया था। लोकतंत्र के संबंध में उनके जो विचार थे वे बड़े धूमिल और अस्पष्ट थे और वे बैंकरों, जागीरदारों और अन्य धनिकों के पंजे में ऐसे फँसे हुए थे कि उनसे

जनता के हित की आशा करना बेकार था। जहाँ तक राष्ट्रीयता का प्रश्न है उसे प्रोत्साहन देने के संबंध में भी उनके विचार बड़े अद्‌भुत थे। उन्होंने अपनी पुस्तक **डेस्टिनी ऑफ़ चाइना** में यह मानने से इन्कार किया है कि मंगोल, मांचू और तिब्बती भिन्न जातियाँ हैं। उनकी दृष्टि में वे सब क़बीले हैं, जातियाँ नहीं। चीनी सरकार ने एक परिपत्र जारी करके इतिहास के विद्यार्थियों से कहा था कि वे चीन में सभी 'जनजातियों' के समान उद्‌गम की खोज करें और उसी के अनुसार इतिहास की पाठ्य पुस्तकों को फिर से लिखें।

चेन भाइयों में से एक, चेन ली-फू, शिक्षा-मंत्री था। उनका नारा हिटलर जैसा आदेशात्मक था—'एक दल, एक विचारधारा, एक नेता'। चीन की अतीत उपलब्धियों पर उन्हें अनुचित गर्व था और उनका दावा था कि आइन्सटाइन के आपेक्षिकता-सिद्धान्त की कल्पना चीनी वैज्ञानिकों ने बहुत पहले की थी। अकाडेमिया सिनिका के एक सदस्य ने मुझे बताया था कि चेन ली-फू का मस्तिष्क 'ऐसा खोखला है कि उसमें हर प्रकार का कूड़ा-कचरा जाकर जम सकता है।' जब चेन ली-फू से मेरी पहली बार मुलाक़ात हुई तो उसने मुझे बताया, 'इतिहास तो एक खड़ी रेखा है जबकि भूगोल एक पड़ी रेखा है और जब ये दोनों रेखाएँ मिल जाती हैं तो राष्ट्र बन जाता है।' वह अपनी पार्टी का कट्टर समर्थक था और शिक्षा मंत्री के रूप में उसे मुख्य रूप से यही चिन्ता रहती थी कि पार्टी-विरोधी सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का उन्मूलन कर दिया जाए। चीन में चीनी विद्यार्थियों पर नियंत्रण करके भी जब उसे संतोष नहीं हुआ तो उसने विदेशों में भी उन पर नियन्त्रण करने की चेष्टा की। नवंबर 1954 में उसने एक अधिसूचना जारी की जिसके अनुसार विदेश जाने के इच्छुक सभी विद्यार्थियों के लिए राज-नीतिक प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम पूरा करना अनिवार्य कर दिया गया। उसका यह भी प्रस्ताव था कि जिन-जिन देशों में विद्यार्थी जाएँ उनमें से प्रत्येक में पर्यवेक्षण अधिकारी नियुक्त कर दिये जाएँ जो 'चीनी छात्रों के विचारों और उनके आचरण पर नियंत्रण रख सकें।' हारवर्ड विश्वविद्यालय के कुछ प्रोफ़ेसरों ने इस परिपत्र पर घोर आपत्ति की और यह माँग की कि जब तक चीन की सरकार उस परिपत्र को वापस न लेले तब तक अमरीका के किसी भी विश्वविद्यालय में चीनी विद्यार्थियों को दाखिला न दिया जाए। चेन ली-फू ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा कि विदेशों में पर्यवेक्षक नियुक्त करने का प्रस्ताव कोई नई बात नहीं है, 1871 में जब पहले-पहल विद्यार्थी अमरीका गये थे तब भी सरकार ने उनकी देखरेख के लिए एक पर्यवेक्षक नियुक्त किया था। लेकिन हारवर्ड के प्रोफ़ेसर इस स्पष्टीकरण से संतुष्ट नहीं हुए और अप्रैल 1944 में चीन की सरकार ने अपने इस निर्णय की घोषणा कर दी कि अब वह कोई विद्यार्थी विदेश नहीं भेजेगी

क्योंकि युद्ध की अंतिम अवस्थाओं में चीन की जनशक्ति और भौतिक साधनों का संरक्षण करना आवश्यक है।

चीन में मैंने महसूस किया कि मैं एक नई दुनिया में आ गया हूँ। चीन हमारा पड़ौसी देश है और चीनी लोग पूर्ववासी हैं, लेकिन मैंने देखा कि चीनियों का सोचने का ढंग तो पश्चिमवासियों से भी अधिक विचित्र है। वास्तव में देखा जाए तो चीन के बारे में जो विचार मैंने सँजो रखे थे उनमें मुझे संशोधन करना पड़ा। भारत में हम भारत और चीन के बीच आध्यात्मिक सादृश्य की चर्चा बड़े ज़ोर-शोर से किया करते थे, लेकिन जब मैं चीन गया तो मुझे पता चला कि जहाँ तक धर्म का संबंध है भारत और यूरोप में अधिक समानता है। हिन्दू, बौद्ध और ईसाइयों के विपरीत चीनियों को परलोक से कोई सरोकार नहीं था। बल्कि मैं समझता हूँ उन्हें तो इसमें भी संदेह था कि इस लोक के अतिरिक्त कोई अन्य लोक है भी या नहीं। सदियों पहले उन्होंने अपने महर्षि कन्फ्यूसियस से दूसरे लोक के बारे में प्रश्न भी पूछा था कि मनुष्य का मृतात्माओं के प्रति क्या कर्त्तव्य है? और उनका उत्तर था, 'जब तुम जीवन को ही नहीं समझते तो मृत्यु को कैसे समझ सकोगे?' यह जीवन एक वास्तविकता है जबकि मरणोपरांत जीवन एक कल्पना मात्र, और चीनी बजाय कल्पना के पीछे भागने के वास्तविकता को ही अधिक महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि समस्त चीनी दर्शन का आधार मानव-संबंधों को इस प्रकार नियमित करना है कि मनुष्य इस संसार में बिना किसी संघर्ष के सुख-समृद्धि का जीवन व्यतीत कर सके। यह सत्य है कि कुछ सदियों तक चीनी जनता महात्मा बुद्ध के पारलौकिक उपदेश के प्रति आकृष्ट रही है और भारतीय बौद्धमत की अमिट छाप चीनी कला और चिन्तन पर भी पड़ी है। किन्तु कालांतर में वे अपने ही देश के कन्फ्यूसियस और ताओवाद से प्रभावित हुए और उन्होंने बौद्धमत का तिरस्कार कर दिया।

सामान्यत: हमारा विचार था कि चीनी लोग भौतिकवादी हैं और उनके भौतिकवाद का एक शुभ तथा हितकर पक्ष है। उनके लिए धर्म कोई हौवा नहीं था जैसा कि अधिकांश भारतीयों के लिए बना हुआ था। वास्तव में अधिकांश चीनियों का तो कोई धर्म था ही नहीं। मैंने जब कभी भी लोगों से उनके धर्म के बारे में पूछा तो वे हक्के-बक्के से दिखाई दिये। वहाँ अक्सर देखा गया कि एक ही परिवार के तीन या चार भाइयों में एक बौद्ध है, दूसरा कन्फ्यूसियस का अनुयायी, तीसरा ताओमत का अनुयायी है और चौथा प्रोटेस्टेंट है। इस प्रकार उन्हें यह आशा है कि हममें से एक-न-एक तो स्वर्ग में जायेगा ही और वहीं हम सबको भी

वहाँ खींच लेगा। यह प्रवृत्ति भी वहाँ आम है कि एक व्यक्ति अपने निजी जीवन में बुद्ध का अनुयायी है तो सार्वजनिक जीवन में कन्फ्यूसियस का अनुकरण करता है और उसके पारिवारिक जीवन में अपने पैतृक धर्म का पालन होता है। चीन के धर्म पर विचार करते समय मुझे अक्सर लॉर्ड शैफ़्ट्सबरी का वह उत्तर याद आ जाता है जो उन्होंने एक जिज्ञासु वृद्ध महिला के यह प्रश्न करने पर दिया था कि आप किस धर्म के अनुयायी हैं। 'बुद्धिमान लोग,' उन्होंने कहा, 'सब एक ही धर्म के अनुयायी हुआ करते हैं।' 'लेकिन वह धर्म है कौन सा ?' वृद्धा ने पूछा। लॉर्ड शैफ़्ट्सबरी ने जवाब दिया, 'बुद्धिमान लोग कभी बताया नहीं करते।' लेकिन वह समय दूर नहीं था जब बुद्धिमान लोगों का एक दल चीन का भाग्य-निर्माण केवल धर्म-त्याग द्वारा ही नहीं बल्कि सच्चे मार्क्सवादी ढंग से धर्म के विरुद्ध संघर्ष करके करने जा रहा था। और इस कार्य के लिए चीन जिसका दृष्टिकोण मूलतः भौतिकवादी था, भारत की अपेक्षा कहीं अधिक तैयार था, बल्कि कहना चाहिए शायद भारत इसके लिए कभी तैयार ही न हो सके।

जब तक मैं चीन में रहा मैंने देखा कि साम्यवाद वहाँ की सरकार के लिए एक हौवा बना हुआ है। वास्तव में कुओमिंतांग के लिए तो वह जापानी साम्राज्यवाद से भी बड़ा ख़तरा दिखाई देता था। कुओमिंतांग वाले जापानियों से लड़ने की अपेक्षा कम्युनिस्ट 'डाकुओं' को उन्हीं के अड्डों में ख़त्म करने पर उतारू थे। चीनी सेना के कुछ उत्कृष्ट दस्तों को कम्युनिस्ट इलाक़ों की घेराबन्दी के काम पर लगाया गया था। 1944 के आरंभ में **रेनाल्ड्स न्यूज़** में प्रकाशित इस रिपोर्ट से चीन में भारी हलचल मच गई थी कि मदाम सुन यात-सेन ने ब्रिटेन और अमरीका के मज़दूरों के नाम यह सनसनीपूर्ण अपील जारी की है कि वे उन क्षेत्रों में जहाँ साम्यवादी जापानियों के विरुद्ध छापेमार आंदोलन चला रहे हैं, चीनी सरकार द्वारा लगाई गई घेराबंदी उठाने में उनकी सहायता करें। रिपोर्ट में कहा गया था कि मदाम सुन यात-सेन ने चीन की उन प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर यह आरोप लगाया था कि वे उन क्षेत्रों की घेराबंदी कर रही हैं और यहाँ तक कि वहाँ चिकित्सा-संबंधी सहायता पहुँचाने में भी बाधा डाल रही हैं। और चियाँग काई-शेक की इसी बात पर जनरल स्टिलवेल ने आपत्ति की थी। उसकी डायरियों से पता चलता है कि चियाँग के कम्युनिस्ट-विरोधी भय का उसे कितना भारी दुःख था क्योंकि उनका वह भय मित्र राष्ट्रों के युद्ध-प्रयत्नों में बाधक सिद्ध हो रहा था। स्टिलवेल ने चियाँग के लिए प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं कहा है। वह तो उन्हें 'जनजातियों का सरदार', 'बुद्धिदंभी' 'मटर का

दाना' और 'साँप' की संज्ञा देता है।

चुंगकिंग में आम लोगों का यह ख़याल था कि चूँकि चीन ही जापानी आक्रमण का सबसे पहला शिकार रहा है इसलिए वह अब संतुष्ट है कि मित्र राष्ट्र ही जापान से लड़ते रहें। अलबत्ता एक लड़ाई चीन ने भी लड़ी थी। एक विशाल प्रेस प्रतिनिधिमंडल को, जिसमें अनेक विदेशी पत्रकार भी शामिल थे, चाँगटेह मोर्चा देखने के लिए आमंत्रित किया गया था ताकि वह अपनी आँखों से वहाँ की स्थिति देख सके। प्रतिनिधिमंडल जब वहाँ से लौटा तो उसने इस बात पर संतोष प्रकट किया कि चाँगटेह में चीनियों ने दुश्मन का डट कर मुक़ाबिला किया और उसमें 6,400 सैनिक मारे गये जो उनकी कुल सेना का अस्सी प्रतिशत भाग थे। कमान अधिकारी जो शेष बीस प्रतिशत सैनिकों को साथ लेकर पीछे हट गया था, गिरफ़्तार कर लिया गया और उस पर सैनिक न्यायालय में मुक़दमा चलाया गया। चीनियों के हाथों जो जापानी हताहत हुए उनकी भारी संख्या थी, हालाँकि उनकी संख्या अनुमानित 44000 में से केवल एक-तिहाई थी। चाँगटेह क़स्बा, जिसकी आबादी 150,000 थी, बिल्कुल ध्वस्त हो गया था, केवल 30 मकान ऐसे थे जो बच गये थे। चाँगटेह की लड़ाई और क़ाहिरा सम्मेलन साथ-साथ ही हुए और उसका उद्देश्य सम्मेलन पर प्रभाव डालना ही था।

चीनी कम्युनिस्ट—जो लगातार अपने छापेमार क्रिया-कलाप में व्यस्त थे—जापानियों के लिए कुओमिंतांग से भी अधिक खतरनाक थे। उधर, सरकार न केवल उनके मार्ग में हर संभव बाधा उपस्थित कर रही थी बलिक जो कुछ वे कर रहे थे उसकी घोर निन्दा भी कर रही थी। मिसाल के लिए यह गप्प छोड़ दी गई थी कि कम्युनिस्ट छापेमार नागरिकों को आपस में बाँध कर उनके गिरोहों को आगे बढ़ने पर बाध्य कर रहे हैं ताकि वे आगे जाकर सैनिकों की रक्षा कर सकें। एक और अवसर पर सरकार ने यह ऐलान कर दिया था कि हमारे पास इस बात का अकाट्य प्रमाण मौजूद है कि जापानियों और चीनी कम्युनिस्टों में एक गुप्त समझौता हो गया है।

जैसी कि पहले से आशा थी, ज्योंही जापान से लड़ाई समाप्त हुई कुओ-मिंतांग और कम्युनिस्टों के बीच शत्रुता और भी बढ़ गई और अमरीकी सरकार ने स्थिति का सामना करने के लिए जनरल मार्शल को चीन भेजा। वह 20 दिसंबर 1945 को शंघाई पहुँचा और नानकिंग जाकर चियाँग काई-शेक से मिला। नानकिंग वही राजधानी थी जहाँ से जनरलिस्सिमो को दिसंबर 1937 में भागना पड़ा था और जहाँ वे और मदाम चियाँग हाल ही में लौट कर आये थे। अभी जनरल मार्शल चीन पहुँचे भी न थे कि राष्ट्रपति ट्रूमेन ने चीन के प्रति अमरीका की नीति की घोषणा कर दी जिसमें उन्होंने कहा कि अमरीकी सरकार का लक्ष्य

'चीन को मज़बूत, संगठित और लोकतंत्रात्मक' बनाना है और हम चीन की राष्ट्रीय सरकार को ही चीन की एक मात्र वैध सरकार के रूप में मान्यता देते हैं और उसी को संगठित चीन के लक्ष्य की प्राप्ति का उचित साधन मानते हैं।'

जनरल मार्शल ने बड़ी निष्ठा और तत्परता से चीन में एक संगठित सरकार स्थापित करने का प्रयत्न किया। 1946 के आरंभ में जनरलिस्सिमो और मदाम चियाँग ने नये वर्ष के उपलक्ष्य में नानकिंग-स्थित अपने ग्राम्य निवास में जो भोज दिया था वह मुझे याद है। जनरलिस्सिमो काफ़ी थके हुए-से लग रहे थे और उन्हें देखकर लगता था जैसे विगत दो ही वर्षों में उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया है और वे बूढ़े हो गये हैं। लेकिन मदाम चियाँग के स्वास्थ्य और स्वभाव में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। हम समझे थे कि भोज नववर्षारंभ के उपलक्ष्य में दिया गया होगा लेकिन वह तो मार्शल के 65वें जन्म-दिन के सम्मान में निकला। मार्शल के स्वास्थ्य के लिए जाम पीते समय चियाँग काई-शेक ने जनरल मार्शल को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। उन्होंने मार्शल को न केवल जर्मनी और जापान का मुख्य विजेता बताया बल्कि उनकी एक ऐसे व्यक्ति के रूप में भी प्रशंसा की जो युद्ध और शांति में निहित मानसिक समस्याओं से भी भली प्रकार परिचित हैं। अतः उन्होंने चीनी जनता से, और विशेषकर चीनी सेना से, अपील की कि वे जनरल मार्शल को अपना आदर्श बनाएँ। अभिनंदन-पत्र का उत्तर देते हुए मार्शल ने पहले तो चीनी जनता के प्रति 'अमरीकी जनता का स्नेह-संदेश' दिया और उसके बाद सरकारों, जनता और समुदायों के बीच सहिष्णुता और सद्भाव की 'आत्यंतिक आवश्यकता' पर बल दिया। उन्होंने कहा कि आगामी वर्षों में यह मालूम हो जायेगा कि इस प्रकार का सद्भाव संभव होगा या सभ्यता नष्ट होकर रहेगी। बहुतों ने यह महसूस किया कि मार्शल ने अपने भाषण में न तो चियाँग की प्रशंसा में कोई शब्द कहा और न ही उसने अपने प्रतिष्ठित आतिथेयी के स्वास्थ्य के लिए मदिरा-पान किया। उसने तो 'राष्ट्रों के बीच श्रेष्ठतर सद्भाव के लिए' जाम पिया।

कुओमिंतांग और कम्युनिस्टों के बीच जो श्रेष्ठतर सद्भाव उभरता दिखाई दे रहा था उसका प्रतीक वह भोज था जो चीन के जादूगर जनरल चाऊ एन-लाई ने विक्टरी हाउस में दिया था। यह पहला आयोजन था जो कम्युनिस्टों ने चुंगकिंग में किया था। वह इस बात का भी द्योतक था कि अब वे 'डाकू' नहीं रहे, 'भद्र व्यक्ति' बन गये हैं। राजनयिक कोर के एक सदस्य ने कहा कि पिछले साल कम्युनिस्ट चुंगकिंग में ऐसे भोज की कल्पना तक नहीं कर सकते थे, और क्या अगले वर्ष भी वे ऐसा करेंगे?

जनरल मार्शल के तत्वावधान में कुओमिंतांग और कम्युनिस्टों के बीच जो

वार्ता हुई उसका यहाँ ब्यौरा प्रस्तुत करना मुझे अभीष्ट नहीं है। एक ऐसा समय भी था जब वह वार्ता कुछ फलवती भी जान पड़ी थी। माओ त्से-तुंग और कुओमिंतांग नेताओं में 40 दिन के विचार-विमर्श के बाद दोनों दल युद्ध-विराम के लिए और राष्ट्रीय सभा के गठन के लिए सहमत हो गये। इस सभा की परिकल्पना राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के उद्देश्य से की गई थी। इस खबर से चीन के सभी क्षेत्रों में उल्लास की लहर दौड़ गई लेकिन जो लोग चरमपंथी थे वे अब भी संतुष्ट न हुए और **ता कुंग पाओ** ने जनरल मार्शल के बारे में कहा, 'वह एक दाई है जिसने चीनी राष्ट्र को शान्ति-पुत्र का जापा कराया है।' लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि वह बालक अकालप्रसूत निकला।

चुंगकिंग में अपने प्रवास के दौरान हमने चीन के अंदर अनेक स्थानों का भ्रमण किया जिनमें सबसे अधिक दिलचस्प यात्रा यून्नान प्रांत की थी। चुंगकिंग के धूमिल, कुहरे से घिरे वातावरण से निकल कर जब हमने यून्नान का खुला वातावरण, नीला आकाश और शानदार धूप देखी तो हमें बड़ा अच्छा महसूस हुआ। यून्नान का शाब्दिक अर्थ है 'सूर्य के नीचे।' यून्नान एक ऐसा प्रांत है जिसकी चारों सीमाओं पर चार देश स्थित हैं भारत, बर्मा, थाईलैंड और हिन्द चीन।

यून्नान में अब भी अफ़ीम की गंध बसी हुई है। वहाँ का गवर्नर उसका आदी था और उसी की तरह **वाइ चाओ पू** का विशेष प्रतिनिधि शांकी भी अफ़ीम का रसिया था। भूतपूर्व महाराजा पटियाला की तरह उन दोनों का दिन तीसरे पहर तक तो निकलता नहीं था। कुनमिंग में दुकानें 3 बजे से लेकर 10 बजे रात तक खुला करती थीं जिसका कारण कुछ तो अफ़ीम खाने की आदत थी और कुछ हवाई हमलों का डर था जो अक्सर सवेरे के समय हुआ करते थे। जिस समय मैं वहाँ गया हुआ था वहाँ हवाई हमले की चेतावनी तीन घण्टे तक जारी रही थी। ब्रिटिश काउंसल-जनरल ब्रेविस का ख़याल था कि इतने लंबे अर्से तक हवाई हमले की चेतावनी शायद मेरे कारण हुई होगी क्योंकि मिस इनिन वार्ड, एम० पी० जब वहाँ गई थीं तो उनके प्रवास के दौरान भी इसी प्रकार की दीर्घकालीन चेतावनी दी जाती रही थी जबकि आकाश पर बादल छाये हुए थे और जापानी हवाई हमले की दूर-दूर तक संभावना नहीं थी।

अमरीकी वायु सेना की बदौलत कुनमिंग में अब बमबारी बहुत कम हो गई थी और चीन की दृष्टि में अमरीका का सम्मान अन्य सभी राज्यों की अपेक्षा अधिक था। कुनमिंग में कोई 5000 अमरीकी रहते थे। जनरल शेनाल्ट ने निश्चय कर लिया था कि उससे अधिक अमरीकी वहाँ नहीं रहने दिये जायेंगे।

क्योंकि आपतकाल में इतने ही लोगों को वहाँ से आसानी से हटाया जा सकता था। वहाँ लगभग सौ ब्रिटिश और थोड़े भारतीय नागरिक थे जिनमें से एक अपने को 'तांत्रिक तथा नेत्रवैद्य, बताया करता था। जब मैं उसकी दुकान पर अपना चश्मा ठीक करवाने के लिए गया तो मुझे पता चला कि वह नेत्रवैद्य न होकर केवल तांत्रिक ही है।

मुझे यून्नान के गवर्नर लुंग युन से मिलने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ जो वहाँ के एक प्रसिद्ध युद्धनेता थे। सौभाग्य इसलिए कि वे विदेशियों से मिलने से कतराते थे। ब्रेविस की भी उनसे पहले कभी भेंट नहीं हुई थी। लेकिन जब लुंग युन से मैं मिलने गया तो उन्होंने मेरा स्वागत उसी ठाठबाट और धूम-धड़ाके के साथ किया जैसा कि एक सामंतों के सरदार से अपेक्षित था—यहाँ तक कि वे खुद मेरे लिए शैंपेन की एक बोतल लेकर आये। विदेशी लोग उन्हें 'अजगर' के नाम से याद करते थे, लेकिन मैंने यह महसूस किया कि जितने तत्त्व उनमें अजगर के थे कुछ उससे अधिक तत्त्व सर्प के भी थे क्योंकि उनमें सर्प की-सी बुद्धि और अजगर की-सी भयंकरता दोनों ही विद्यमान थे। उन्होंने भारतीय सेना मुस्लिम समस्या और सुभाष चन्द्र बोस के संबंध में मुझसे जो प्रश्न पूछे उनसे उनकी चालाकी का पता चलता था। बात को तत्काल पकड़ने की भी उनमें अपार क्षमता थी। जब मैंने उन्हें बताया कि बोस और ब्रेविस (जो मेरे साथ उनसे मिलने गये थे) दोनों एक ही विश्वविद्यालय में पढ़ते थे तो लुंग युन फ़ौरन ब्रेविस से मुख़ातिब हुए, 'ऐसा तो नहीं कि आप उनके शिष्य हों।' लुंग युन यून्नान के थे या कहना चाहिए यून्नान लुंग युन का था। चियाँग काई-शेक से पहले उनका बड़ा नाम था और अक्सर लोगों का मत था कि वे चियाँग काई-शेक के विरोधियों में से हैं। लेकिन जब वे 1945 में कुओमिंतांग की केन्द्रीय कार्य-कारिणी की बैठक में भाग लेने के लिए चुंगकिंग आये तो उनके विरुद्ध उड़ी हुई अफ़वाहें गलत साबित हो गईं। वह पहला अवसर था जब वे राजधानी जाने के लिए सहमत हुए थे।

कुनमिंग विश्वविद्यालयों का एक भारी केन्द्र था। प्रांतीय विश्वविद्यालय के अतिरिक्त राष्ट्रीय शिङ्गवा विश्वविद्यालय और राष्ट्रीय नानकाई विश्व-विद्यालय ने भी वहीं जाकर शरण ली थी। जिन कठिनाइयों में वे विश्वविद्यालय अपना काम चला रहे थे वे वास्तव में हृदयविदारक थीं। विद्यार्थी फटे-पुराने चिथड़े पहने फिरते थे और उनके आवास इतने गंदे थे कि भारत में भंगियों के मकान उनसे बेहतर होंगे। उनको जो खाना दिया जाता था वह भी बहुत ही घटिया था और वे लोग खड़े-खड़े खाना खाया करते थे क्योंकि उनके पास फ़र्नीचर खरीदने के लिए पैसे ही न होते थे। **सण्डे ईवनिंग पोस्ट** के एक लेख में

इन विश्वविद्यालयों को 'दरिद्रालय' की संज्ञा दी थी। अध्यापकों की दशा तो और भी शोचनीय थी। वहाँ सबसे अधिक वेतन (भत्ते सहित) 4000 चीनी डालर प्रति मास था जो एक छड़े व्यक्ति के लिए भी काफ़ी नहीं था, विशेषकर कुनमिंग के लिए तो बहुत ही कम था क्योंकि वहाँ का निर्वाह-व्यय चुंगकिंग की अपेक्षा 50 प्रतिशत अधिक था। एक प्रोफ़ेसर ने जो किंग्ज कैंब्रिज के ग्रेजुएट थे, मुझे बताया कि उन्हें लकड़ी फाड़नी पड़ती है और कुएँ से पानी खींचना पड़ता है क्योंकि वे नौकर रखने की स्थिति में नहीं हैं। 'वैसे तो इन कामों में बड़ा मजा आता है लेकिन समय बहुत लग जाता है।' एक और प्रोफ़ेसर थे जिन्होंने अपनी दशा का वर्णन करते हुए मुझे बताया कि उनके पास एक ही पतलून है जिसकी मोहरी बिल्कुल जवाब दे चुकी है। प्रो० ह्यूजेस, जो ऑक्सफ़ोर्ड में चीनी शोधछात्र रह चुके थे और जो अब कुनमिंग में अध्यापन कर रहे थे, एक पुराने चीनी थ्येटर के एक खोखे में रहते थे। वही उनका अध्ययन कक्ष था, वही शयनागार और वही उनका भोजन का कमरा। वहाँ रह कर वे चीनी पुस्तकों का अध्ययन करते थे, चीनी श्रेण्य साहित्य का अनुवाद किया करते थे और चीनी सिगरेट पीते रहते थे।

कुनमिंग में मुझे कुओमिंतांग की बड़ी खरी-खरी आलोचना सुनने को मिली। डॉ० मेइ ई-ची जो शिङ्गवा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे, जाने-माने उदारवादी थे। शिक्षा मंत्रालय उन्हें नापसंद करता था और जब उन्होंने केन्द्रीय प्रांतीय कोर के प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में भाग लेने से इन्कार कर दिया तो मंत्रालय ने उनका बहुत विरोध किया। प्रो० शुइ तिएन-तुंग जो यून्नान प्रांतीय इंग्लिश अध्यापक कॉलेज के अध्यक्ष थे, सरकार की घोर निन्दा करते थे। उनका यह निश्चित मत था कि चीनी सरकार के अस्तित्व का आधार भय है—अमरीका का भय, भविष्य का भय और जनता का भय। अब वहाँ ऐसी स्थिति आ पहुँची थी कि जो कोई भी जनता के अधिकारों की माँग करता उसे कम्युनिस्ट कह कर पकड़ लिया जाता था। अध्यापक भूखों मर रहे थे और जब वे अपने बच्चों को भी पढ़ा नहीं पाते थे तो उनसे कॉलेज में पढ़ाने की आशा कैसे की जा सकती थी? उन्हें अभी-अभी उनके बहनोई ने लांची से सूचना दी थी कि वहाँ अध्यापकों ने हड़ताल कर दी है लेकिन सरकार के कानों पर ऐसी बातों से जूँ तक नहीं रेंगती थी।

चीन में हमारी सबसे अधिक दिलचस्प यात्रा चेंग्टू की थी जहाँ कुंजा पढ़ रही थी। वहाँ जाते हुए हम चीन के सबसे अधिक उपजाऊ प्रांत से गुज़रे जो संसार के सबसे उपजाऊ प्रदेशों में गिना जाता था। वह इलाक़ा आम तौर से पहाड़ी था लेकिन उन सारी पहाड़ियों को काट-तराश कर लहलहाते खेतों में

परिणत कर दिया गया था। चीनी किसान की उद्यमशीलता और कुशलता विस्मयकारी थी। वहाँ एक इंच ज़मीन भी ऐसी न थी जिसमें खेती न होती हो, एक बूंद पानी भी वहाँ बेकार नहीं जाता था और घास-पात तो कहीं देखने तक को न मिलते थे। प्रत्येक पौधे में अलग-अलग खाद डाला जाता था, यहाँ तक कि एक खेत को दूसरे से अलग करने के लिए जो सँकरी-सी मेंड़ें बनाई गई थीं उनमें भी सब्ज़ी उगाई जाती थी। खेतों में मर्द-औरतें एक जैसे उत्साह से काम करती थीं। हमने देखा कि स्त्रियों के बच्चे उनकी कमर से बँधे हैं और वे खुदाई कर रही हैं, या उनके बच्चे दूध पी रहे हैं और वे बुआई कर रही हैं। लगे हाथों यह भी बता दूं कि चीनी स्त्रियाँ अपना वक्ष खुला रखने में मलाबार की स्त्रियों से कुछ पीछे नहीं थीं।

चेंग्टू जाते हुए हम एक रात नीकियांग में ठहरे थे, यह शहर गन्ने की खेती का बहुत बड़ा केन्द्र था। नीकियांग से हम मोटर में बैठकर त्सेलियुत्सिंग की नमक की प्रसिद्ध खदानें देखने गये जो आदिम इंजीनियरी कौशल का चमत्कार थीं। प्रायः सारी मशीन बाँस की बनी होती थी और नमक उसी से खींचा जाता था और बाँस की नलियों द्वारा कोई छह मील की दूरी पर पहुँचाया जाता था। ये नमक की खदानें ली पिंग नामक व्यक्ति ने क़ायम की थीं जो 250 ई० पू० में स्यूच्वाँ का गवर्नर था और जिसकी लोग देवता मानकर पूजा करते थे और उसने जो कुछ उनके लिए किया उसे देखते हुए यह सम्मान उचित ही था। चेंग्टू से 50 मील की दूरी पर स्थित क्वानशिएन नामक स्थान में सिंचाई की जो उत्तम प्रणाली निकाली गई थी वह भी उसी का कारनामा था। उसी ने पत्थर इकट्ठे करवा कर मछली की थूथन के आकार के विभाजन स्तंभ खड़े करवा कर मीनकियांग नदी को दो सरणियों में विभक्त करवाया था। इन दोनों नहरों से लगभग 5 लाख एकड़ भूमि को विगत 2200 वर्षों से पानी दिया जाता रहा है और इन्हीं के प्रताप से पश्चिमी स्यूच्वाँ में आज तक कभी अकाल नहीं पड़ा है। क्वानशिएन का एक और दिलचस्प काम 552 मीटर लंबा एक झूला पुल था जो सारा बाँस और लकड़ी से बनाया गया था और उसमें कहीं एक कील भी नहीं लगाई गई थी।

नीकियांग से हम मोटर में चेंग्टू पहुँचे जो वहाँ से 140 मील दूर था। रास्ते में गन्ने और सेवती के खेत पड़ते थे जो मीलों तक फैले हुए थे। सेवती का प्रयोग चाय को सुगंधित बनाने में किया जाता था। यदि कोई स्थान ऐसा था जहाँ किसी प्रकार की खेती नहीं होती थी तो वह था क़ब्रिस्तान। चीन में पूर्वजों का बड़ा मान था, मरने के बाद भी वे ऐसे ऊँचे और शानदार स्थानों में रहते थे मानो वे अब भी अपने वंशजों के क्रियाकलापों का अवलोकन कर रहे हों।

अनुमान लगाया गया था कि चीन की 20 से 25 प्रतिशत तक की खेती योग्य भूमि क़ब्रों ने घेर रखी थी। लेकिन अब कम्युनिस्टों ने—जो दिल से कम दिमाग से ज्यादा काम लेते हैं—मुर्दों को दफ़नाने के बजाय उन्हें जलाना शुरू कर दिया है।

इस प्रकार की यात्रा में हमें प्राचीन चीन साम्राज्य के बड़े सुंदर अवशेष देखने को मिल जाते हैं। हर कुछ मील के बाद हमें बड़ी सुंदर नक़्क़ाशी वाले द्वार और स्मारक दिखाई दिये जिन्हें तत्कालीन सम्राटों ने उन पुरुषों की बल्कि अधिकतर स्त्रियों की स्मृति में बनवाया था जो सदाचार का जीवन व्यतीत करती थीं। हमें अनेक छोटे-छोटे मंदिर भी देखने को मिले जिनमें किसी ज़माने में धरती की देवी, तू ती, प्रतिष्ठित थी। बेचारी तू ती चीनियों की सबसे पहली देवियों में से थी जिसे 1911 की क्रांति ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और सारे मंदिर खाली हो गये।

ज़रा देखिए तो चीनी लोगों पर हम हिन्दुस्तानियों की तुलना में धर्म का कितना साधारण और क्षणिक प्रभाव था—यहाँ तक कि शिक्षित जन-समुदाय के भी धर्म के संबंध में बड़े अद्‌भुत विचार थे। उदाहरण के लिए डॉ० मकियान ने, जो चेनचिंग विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे, मुझे अपने मसीही मत स्वीकार करने का बड़ा ही विचित्र कारण बताया था। उन्होंने कहा कि शुरू में तो मैं कन्फ़्यूसियस का अनुयायी था लेकिन बाद में मैं ईसाई बन गया क्योंकि मैंने देखा कि कन्फ़्यूसियसवाद मात्र एक शांतिवादी धर्म था जब कि मसीही धर्म बड़ा युद्धप्रिय धर्म है और वही आधुनिक परिस्थितियों के लिए अधिक उपयुक्त है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने यह पंक्ति कभी देखी ही न होगी, 'वे सब जो तलवार उठायेंगे, तलवार के ही द्वारा नष्ट हो जायेंगे।'

चेंग्टू वहाँ के युद्धनेताओं की याद ताजा करता था। उनमें से कुछ तो अब भी जीवित थे और धधकते हुए ज्वालामुखी की बने थे। उनमें से एक से मैं मिला भी था जिसका नाम जनरल तांग शी-हो था। वह उस समय स्यूच्वाँ का पैसी-फ़िकेशन कमिश्नर था। कोई मुझे यह न बता सका कि उसका असल काम क्या था, अलबत्ता लोग यह कहते थे कि उसका पद प्रांतीय गवर्नर के समकक्ष है। मेरा अपना यह विचार था कि वह पद प्रांत के लोगों को शांत करने के लिए नहीं बल्कि जनरल को शांत करने के लिए बनाया गया होगा। मुझे लोगों ने बताया कि अन्य अनेक युद्धनेताओं के विपरीत जनरल का जीवन सदाचारपूर्ण है हालांकि हाल ही में जब उसकी बूढ़ी पत्नी ने चीनी रिवाज के अनुसार उसके लिए एक रखैल का चुनाव किया जो उसको बिल्कुल पसंद नहीं थी, तो वह गुस्से में उठा और उसी दिन जाकर उसने दो स्त्रियों से विवाह कर लिया। एक और

कुख्यात युद्धनेता पान बेन-ह्वा था जो अब भी उतना ही प्रभावशाली था। उसने अपनी पत्नियों के लिए उतने ही मकान बनवा रखे थे जितने महाराजा कपूरथला ने अपनी अंतर्राष्ट्रीय रानियों के लिए बनवाये थे। हम एक और युद्धनेता लियू शियाँग का शानदार मक़बिरा देखने भी गये जो 1938 तक स्यूच्वाँ का गवर्नर रहा था। कहा जाता है उसने उस प्रांत में करोड़ों डॉलरों का और इन्सानों की जानों का नुक़सान कराया था लेकिन इसके बावजूद उसकी इज्जत बच गई और उसकी याद में एक मक़बिरा बनवाया गया जिस पर भूतपूर्व राष्ट्रपति लिन सेन और चियाँग काई-शेक ने अपने हाथों से बड़े उपयुक्त समाधि-लेख अंकित किये। उसका भतीजा लियू वेन-ह्वी अब सियाँग का गवर्नर था और उसके पास अनेक सेनाएँ थीं जिनमें से कुछ तो वहीं स्यूच्वाँ में थीं और आपत्काल में प्रयोग के लिए वहाँ रखी गई थीं। उसकी विधवा के बारे में कहा जाता है कि उसने अधिकांश चावल ख़रीद कर जमा कर लिया था जिसके फलस्वरूप पश्चिमी स्यूच्वाँ में चावल की क़ीमतें बढ़ गई थीं। लेकिन यह एक ऐसा शौक़ था जिसमें चियाँग काई-शेक और मदाम सुन यात-सेन के अलावा चीन के सभी बड़े-बड़े लोग दिलचस्पी लेते थे।

स्यूच्वाँ में दो स्मारक ऐसे थे जो उस प्रांत के वास्तविक स्वरूप के प्रतीक थे। उनमें से एक स्टब्स स्मारक था जो प्रो० स्टब्स की स्मृति में बनवाया गया था। प्रो० स्टब्स पश्चिम चीन यूनियन विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर थे जिनकी 30 मई को हत्या कर दी गई थी। यह दिन 'विदेश विरोधी दिवस' के रूप में मनाया जाता था क्योंकि इसी दिन 1925 में शंघाई में कुछ उपद्रवकारी छात्रों को गोली से मार डाला गया था। दूसरा 'शहीदों का स्मारक' था। यह उन इंजीनियरों की याद में बनवाया गया था जो लगभग 30 वर्ष पहले रेलवे लाइन की व्यवस्था की की संभावनाएँ देखने के लिए स्यूच्वाँ भेजे गये थे और सबके सब मार डाले गये थे। उसी का यह परिणाम हुआ कि वहाँ आज तक रेल नहीं है। प्रांत में परिवर्तन तो हुआ था लेकिन अधिक नहीं और यह बात हमने अन्तर्विश्वविद्यालय खेल-कूद के दौरान महसूस की जिनका आयोजन सुन यात-सेन के जन्मोत्सव सप्ताह के दौरान किया गया था। उसी समय वायु सेना के मैकेनिकों और पुलिस में झड़प हो गई थी क्योंकि मैकेनिकों को खेल-कूद में भाग नहीं लेने दिया गया था। हमने देखा कि पलक झपकते ही तीन आदमी मैदान में ढेर हो गये थे जिनके शरीर गोलियों से छलनी हो गये थे। उसके बाद जो भगदड़ मची उसमें कुछ बच्चे दब कर मारे गये और मेरे सचिव अशोक मेहता को, जो उस समय खेल देख रहा था, एक भारी-भरकम सैनिक अधिकारी ने उसकी कार तक पहुँचाया था।

चेंगटू में हम विश्वविद्यालय परिसर में रहे। वहाँ पाँच विश्वविद्यालय थे

जिनमें चार तो ऐसे थे जिन्होंने नानकिंग शिनान से आकर यहाँ शरण ली थी और जिनमें 3000 से भी ऊपर विद्यार्थी थे। चेंग्टू के कॉलिज अधिकतर मिशनरी संस्थाएँ थी इसलिए उनमें ब्रिटिश, कनैडियन और अमरीकी प्रोफ़ेसरों की अच्छी-ख़ासी संख्या थी। मेरी लड़की जिनलिंग कॉलेज में पढ़ती थी जो एक मिशनरी संस्था थी और वहाँ के एक विख्यात शिक्षा शास्त्री डॉ० वू० यी फ़ांग उसके अध्यक्ष थे। छात्रावास का जीवन तो वास्तव में क्रांतिकारी था। कुंजा जिस कमरे में रहती थी उसमें छह दुहरे पलंग थे। खाने में सिर्फ़ चावल, मटर और सब्ज़ियाँ होती थीं। छात्रों को सप्ताह में केवल एक बार मांस दिया जाता था लेकिन कुंजा के साथ विशेष रिआयत की जाती थी और उसे रोज़ाना एक ग्रंडा और एक कप दूध दिया जाता था। उसकी चीनी सहपाठिन उससे बहुत स्नेह करती थी और उसका बड़ा ख़याल रखती थी—यहाँ तक कि वे उसे अपना बिस्तर भी बिछाने नहीं देती थीं। उसे निचले बिस्तर पर लिटाया करती थीं और उसे स्नान भी करा दिया करती थीं। जिनलिंग लड़कियों का कॉलेज था लेकिन कक्षाओं में लड़के-लड़कियाँ दोनों बैठते थे। चीन ने सहशिक्षा में बड़ी प्रगति की थी और उसका उचित से अधिक मूल्य भी चुकाया था। लड़कों को इन छात्रावासों में आने की अनुमति नहीं थी लेकिन लड़कियों के लड़कों के कमरों में जाने पर कोई प्रतिबंध नहीं था। एक मिशनरी महिला ने, जिनके साथ हम पेइंग गेस्ट के रूप में ठहरे थे, मुझे बताया कि लड़कियाँ नियम की इस कमज़ोरी का खूब फायदा उठाती हैं। लेकिन वह महिला अविवाहिता थी और कैथरिन मेयो की तरह ही जिसकी पुस्तक उन्होंने कॉलिज के पुस्तकालय को भेंट भी की थी, यौन संबंधों पर उनके विचार भी बड़े दूषित थे।

वे बड़ी सम्मानित महिला थीं जो चीन में कल्याण-कार्य करने के लिए उत्सुक थीं। वे 1911 की क्रांति के समय से ही चीन में थीं। तीस वर्ष बीत गये, अनेक घटनाएँ इतिहास बन गईं लेकिन उन सबका उनके मस्तिष्क पर उतना ही नगण्य प्रभाव पड़ा जितना कि डोवर की चट्टानों पर समुद्र की लहरों का पड़ता होगा। जब हमने पूछा क्या सुबह के समय हमें चाय भी मिल सकती है तो उन्हें एक धक्का सा लगा। उन्होंने ऐसे स्वर में हमसे पूछा जिससे हमें यह ख़याल आया कि कहीं हमने ग़लती से उनसे व्हिस्की तो नहीं माँग ली थी, 'अच्छा तो आप सुबह सवेरे ही चाय पीते हैं ?' जब मेरी बेटी ने यों ही कहा, 'शुक्र है भगवान का कि डैडी कल नहीं आ रहे।' तो वह महिला बड़ी गंभीरता से बोली, 'यह बात भी कोई ऐसी है जिसके लिए भगवान का शुक्रिया ग्रदा किया जाए ?' और जब वू ने जो विदेश मंत्रालय के कमिश्नर थे, उनसे पूछा क्या हम आपके कमरे में ब्रिज खेल सकते हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया, 'जी नहीं, कृपया ग्राज ऐसा

न करें क्योंकि इतवार है। उन्हें देखकर मुझे अनातोले फ्रांस के उपन्यास **क्राइम ऑफ़ सिल्वेस्प्र बोनार** की मकान मालिकिन की याद आ गई जो दो ही चीज़ों पर विश्वास रखती थी, अपने ऊपर और भगवान के ऊपर। वह बाइबिल और पाक-शास्त्र की पुस्तक पढ़ती रहती थी और शेष सारा संसार उसकी दृष्टि में कूड़ा था।

मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि मैं समझता हूँ कि चीन के उदारतापूर्ण वातावरण में ऐसी संकीर्ण पवित्रता उचित नहीं थी—जहाँ ईश्वर का कोई नाम था बल्कि यदि किसी व्यक्ति से उसके धर्म के बारे में पूछा जाता तो उसकी दो ही प्रतिक्रियाएँ होती थीं या तो वह चकित हो जाता था या फिर अपने को एक साथ कन्फ्यूसियसवादी, बौद्ध और ईसाई तीनों बता दिया करता था। और शायद चीनियों के इसी दृष्टिकोण के कारण मिशनरी चीन में लोकप्रिय नहीं हो सके जबकि उन्होंने वहाँ बड़ा अच्छा काम किया था। लेकिन निस्संदेह चेंग्टू के अनेक मिशनरी प्रोफ़ेसर बहुत ही निःस्वार्थ जीव थे। उनका लक्ष्य तो सत्य का बीज वपन करना मात्र था, उसके फल की उन्हें कोई चिंता नहीं थी। यदि उनके सुकृत्यों के बावजूद परिणाम उनकी आशा के अनुकूल नहीं निकलते थे तो उसमें उनका निश्चय ही कोई दोष नहीं था।

चेंग्टू जाने का हमारा प्रमुख उद्देश्य कुंजा से मिलना था। उसकी सभी साथिन हमें देखने के लिए आईं क्योंकि हम पहले भारतीय थे जिन्हें उन्होंने देखा। जब हम वहाँ से चलने लगे तो उनमें से एक ने कुंजा से कहा, 'तुम्हारी माँ में शायद कुछ विदेशी रक्त आ गया है, लेकिन तुम्हारे पिता ठीक हैं वे हम ही जैसे हैं।'—अनुजी की आँखें बड़ी-बड़ी हैं और नाक बहुत लंबी तथा सुतवाँ है। जब उन्होंने उस लड़की की बात सुनी तो मुझसे कहा संभव है इसी कारण आपको चीन में भारत का प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया है।

युद्ध के दौरान चीन के विद्यार्थी जगत के बारे में मेरी जानकारी का स्रोत कुंजा ही थी। उसके पत्रों से तरुण चीन की चिंताधारा पर प्रकाश पड़ता था। उस नेएक पत्र में लिखा : 'वाई० डब्ल्यू० सी० ए० और न्यू लाइफ़ मूवमेण्ट के एक चुनाव में अधिकांश लड़कियों ने अपनी यही इच्छा व्यक्त की कि हम 25 वर्ष से पहले विवाह नहीं करेंगी, हमारे पति चाहे सुंदर न हों किन्तु स्वस्थ हों, हमारी कुल संतान चार हों—दो पुत्र और दो पुत्रियाँ और हमें अपने खोये हुए समस्त प्रदेश की पुनः प्रप्ति में जिसमें कोरिया, हिन्द चीन और बर्मा भी सम्मिलित हैं, हाथ बँटाने का अवसर प्राप्त हो। ये प्रदेश पहले चीन के अधीन थे। उनकी प्रमुख राष्ट्रविभूतियाँ हैं : राष्ट्रपति और मदाम चियाँग काइ-शेक, डॉ० सुन यात-सेन, अब्राहम लिंकन, राष्ट्रपति रूज़वेल्ट और वेंडेल विल्की।'

एक अन्य अवसर पर कुंजा ने मुझे लिखा, 'रात हमने फ़िल्म रैबेका देखी। उसके बारे में मेरी सभी सहेलियों की बड़ी विचित्र राय है। एक ने तो मुझसे यह तक पूछा कि क्या मैंडरली भारत में है। उनकी कुछ अन्य धारणाएँ भी बड़ी अजीब-सी हैं। उन्होंने मुझे बताया कि एक सदी पहले भारत पर चीन का आधिपत्य था और जब मैंने उनका विरोध किया तो वे इतनी दुःखी हुईं कि मेरा जी चाहा मैं इन्हीं की बात मान लूँ। लेकिन इतने में इतिहास की एक प्रबुद्ध छात्रा ने आकर मेरे मत का समर्थन किया और बात वहीं समाप्त हो गई।'

चीन में विद्यार्थियों को जो भोजन दिया जाता था वह बड़ा ही नीरस था, पौष्टिकता तो उसमें नाम को नहीं थी और कुंजा मटर खा-खाकर अपनी ताक़त बनाये रखती थी। उसने एक बार लिखा, 'यहाँ मटर खाने वालों में मेरा रेकार्ड है लेकिन एक टोस्ट और भारतीय चाय की प्याली के लिए मैं यहाँ तरसती हूँ।' एक बार उसे गाल्सवर्दी के नाटक में एक बूढ़ी-स्त्री लेडी मोरकोंब का पार्ट अदा करना था। 'यह पार्ट मुझे ही अदा करना पड़ा क्योंकि और कोई चीनी लड़की बूढ़ी स्त्री की भूमिका करने के लिए तैयार ही न हुई। नाटक में जो लड़के थे मेरे दामाद बने हुए थे और उन्होंने युद्धनेताओं के बड़े शानदार रोल अदा किये।' विश्वविद्यालय में जिस तरह का बड़ा दिन मनाया गया उसका वर्णन कुंजा ने बड़े ही दिलचस्प ढंग से किया था, 'दो रातों में हमने अनेक कार्यक्रम देखे, चीनी भाषा में मसीहा के जीवन पर आधारित एक फ़िल्म, चिमपांज़ी क्लब द्वारा आयोजित संगीत-कार्यक्रम, पर्ल एस० बक के भूतपूर्व पति द्वारा कृषि पर दी गई वार्ता, लॉन पर जाज़ संगीत का एक कार्यक्रम, उसी लॉन पर किया गया एक चीनी नाटक और साथ ही क्रिसमस के अवसर पर भजनमंडली द्वारा प्रस्तुत तुमुल नादमय कार्यक्रम जिसे किसी ने मसीहा का घोष कहा है और एक वाक्-प्रतियोगिता जिसमें मैंने भी भाग लिया।'

जनरलिस्सिमो और मदाम चियाँग तो विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय थे लेकिन कुंग परिवार से उन्हें घृणा थी। विद्यार्थियों का विचार था कि कुंग खुद तो दौलत में नहा रहे हैं और जनता भूखों मर रही है। कुंजा ने लिखा कि 'यहाँ विद्यार्थी कुंग को मेंढक कहते हैं (और चीनी भाषा में यह शब्द हिन्दी की अपेक्षा ज़्यादा भद्दी गाली है), मदाम कुंग को धन-देवी और उसकी लड़की को डाकू। एक बार जब भूगोल की कक्षा में विद्यार्थियों से चीन का नक़्शा बनाने के लिए कहा गया तो उनमें से एक ने सिर्फ़ एक आयताकार आकृति बनाई और उसमें 'कुं' अक्षर भर दिये। 1945 के समाप्त होते-होते विद्यार्थियों का कुंग के प्रति जो क्रोध था वह चियाँग पर उतरने लगा। अक्तूबर 1945 में कुंजा ने मुझे लिखा, 'मैं स्यूच्वाँ विश्वविद्यालय से जिनलिंग वापस आ रही थी जब मैंने विद्यार्थियों से

पहली बार कम्यूनिस्टों के पक्ष में और कुओमिंतांग के विरुद्ध बड़े प्रचंड विचार सुने। ईश्वर करे मेरा यह पत्र सेंसर न हो लेकिन मेरी एक सहेली ने वास्तव में मुझसे कहा कि वह चियाँग काई-शेक के मुक़ाबिले में माओ त्से-तुंग को तरजीह देती है।'

वह समय दूर नहीं था जब सारे चीन पर माओ त्से-तुंग का प्रभुत्व स्थापित होने वाला था।

मध्य एशिया

००

अब मैं कुछ पीछे लौटकर अपने उस एकमात्र कार्य का ब्यौरा देना चाहता हूँ जो मेरे जीवन का एकमात्र ऐसा कार्य है जिसे साहसिक कार्य की संज्ञा दी जा सकती है। चुंगकिंग के अपने प्रवास के बीच मुझे भारत से चीन तक की सड़क से यात्रा करनी पड़ी। चुंगकिंग की मेरी यह दूसरी यात्रा थी। पहली यात्रा में मुझे 11 घण्टे लगे थे और दूसरी में 125 दिन।

कश्मीर में बाँदीपुर से सिक्याँग के यांगीहिसार तक की मेरी यात्रा का पहला भाग हिमालय, कराकोरम और पामीर से परे बूजिल, मिनटैका और चिचकिलिक दर्रों के ऊपर तक फैला हुआ था। यह पूरी यात्रा पैदल और घोड़े पर करनी थी और मुझे उसमें 46 दिन लगे। यांगीहिसार से ताकलामाकान मरुस्थल के दक्षिणी किनारे से होता हुआ मैं खुतन और केरिया के ऐतिहासिक नगरों में पहुँचा। वहाँ से मैं काशगर लौटा जो दक्षिणी सिंकिंग का एक महत्त्वपूर्ण नगर है और वहां दस दिन तक रहा। काशगर से चीनी-सोवियत सीमा पर लगभग एक हज़ार मील चलने के बाद मैं उरुंची पहुँचा जो सिक्यांग की राजधानी थी। वहाँ तीन हफ़्ते बिताने के बाद मैं विमान द्वारा लांचाउ गया और वहाँ से चुंगकिंग के लिए रवाना हो गया।

मैंने 16 अगस्त 1944 को वुलर झील पर स्थित बाँदीपुर से अपनी यात्रा प्रारंभ की। वहीं से मैंने रहमान को अपने साथ लिया जो मेरा बावर्ची, बेरा और गाइड था। वह हिमालय के कई अभियानों पर जा चुका था और उस प्रदेश में ज़मीन के चप्पे-चप्पे से परिचित था। हमारे साथ पाँच टट्टू थे जिन पर हमारा सामान लदा हुआ था। 23 अगस्त को हमने बूज़िल दर्रा पार किया जो 13,400 फुट ऊँचा था और जिसकी चोटी पर हमें एक कमरे की झोंपड़ी नज़र आई जो चालीस फुट ऊँची बल्लियों पर छाई हुई थी। यह झोंपड़ी सर्दी के मौसम में डाकियों के लिए एक प्रकार का शरणस्थल थी और सर्दियों में बर्फ़ फ़र्श तक जम जाती थी। उन हरकारों के अदम्य साहस और वीरता के प्रति मेरे मन में अपार आदरभाव उत्पन्न हुआ कि वे इतने कम वेतन पर भारत से चीन पत्र-पार्सल लेकर जाते हैं और मार्ग में उन्हें अनेक विपत्तियों, बर्फ़ीले तूफ़ानों, तुषाराघातों और हिमानियों का सामना करना पड़ता है।

बूर्जिल से हम नीचे उतर कर चिलम और गोडाई पहुँचे और वहाँ से फिर चढ़ाई पर चलते हुए एस्टर गये। यह एक छोटा-सा सुन्दर क़स्बा था जो कश्मीर के अंतिम सीमांत प्रदेश का मुख्यालय था। अगले पाँच दिन की यात्रा बहुत ही कष्टकर और दुःसाध्य थी। सिंधु के किनारे पथरीली जमीन पर घोड़े पर सवार हम आगे बढ़ते गये। हालाँकि उस समय हम समुद्र तल से पाँच हज़ार फुट की ऊँचाई पर थे लेकिन गर्मी वहाँ भी भयंकर थी और धूप बहुत तेज़। इसके अलावा विश्राम गृहों में मक्खियों और मच्छरों की भरमार थी।

इस सबके बावजूद हमें एक संतोष यह रहा कि बुंजी से हमें नंगा पर्वत का बहुत सुन्दर दृश्य देखने को मिला। यह पर्वत 26,660 फुट ऊँचा है और संसार के सबसे ऊँचे पर्वतों में नवाँ है। इस पर कहीं बर्फ़ की हलकी और कहीं बहुत भारी परतें जमी हुई थीं। 1937 में इस पर्वत पर जर्मनों के दुःखदाई अभियान में रहमान भी साथ था। उसी ने मुझे बताया कि किस प्रकार सात जर्मन और नौ शेरपा उस अभियान में काम आ गये थे। पर्वत की ऊँची चोटी पर जो शिविर उन्होंने बनाये थे रात के समय हिमानी में ऐसे बह गये कि न तो शिविर रहा और न ही उसमें सोये हुए लोगों का नाम-निशान शेष रहा।

तेरह दिन की लगातार यात्रा के बाद 30 अगस्त को मेरी मुठभेड़ घुड़सवारों के एक शानदार गिरोह से हुई। गिलगित के और ब्रिटिश तथा भारतीय सभी अधिकारी और वहाँ के सारे मध्य एशियाई व्यापारी मुझसे मिलने आये। हम एक जुलूस बनाकर सड़कों से गुज़रे जिन्हें खूब सजाया गया था। हमारे साथ बैंड बज रहा था और आगे-आगे लोग संयुक्त राष्ट्र संघ के झण्डे लिये चल रहे थे। न जाने उस समय मेरी स्थिति जूलियस सीज़र की-सी थी जिसने एक विजेता की तरह रोम में प्रवेश किया था या मैं एक देहाती दूल्हा था जिसे सड़कों पर घुमाया जा रहा था?

दो दिन गिलगित में ठहरने के बाद हमने फिर अपनी यात्रा शुरू की। वहाँ के वे दो दिन बड़े सुखद और आनंदप्रद रहे। 4 सितंबर को हम बालटिट पहुँचे। यह हुंज़ा के मीर की राजधानी थी जो भारत की अंतिम सीमांत रियासत का राजा था। मीर एक गढ़ी में रहता था जो 800 वर्ष पुरानी थी और एक चट्टान पर बनी हुई थी, उसके पीछे ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ थीं। इसी गढ़ी से हमने राकापूशी पर्वत का बड़ा सुन्दर दृश्य देखा। यह पहाड़ी 25,550 फुट ऊँची थी और नंगा पर्वत से कोई एक हज़ार फुट ही नीची थी, लेकिन उससे अधिक भव्य लगती थी। यह बर्फ़ की एक चोटी जो हुंज़ा के मैदानों से उठकर

आकाश से बातें करती प्रतीत होती थी।

हुंज़ा के सभी निवासी इस्माइली थे जो आग़ा ख़ाँ के अनुयायी थे। हालाँकि रमज़ान का महीना था, लेकिन मैंने देखा कि एक आदमी भी रोज़ा नहीं रखता था। या कहना चाहिए एक आदमी रोज़ा रखता था और वह था जमाल ख़ाँ जो मीर हुंज़ा का लड़का और उनका उत्तराधिकारी था। उसने मुझे एक दिलचस्प क़िस्सा सुनाया जिससे यह बात मालूम हुई कि उस प्रदेश के लोग आग़ा ख़ाँ के कैसे भक्त हैं। दो-चार साल पहले बाल्टिट में मोतीझरे की महामारी का भयंकर प्रकोप हुआ। मीर ने जमाल ख़ाँ से कहा कि आग़ा ख़ाँ को तार देकर उनसे प्रार्थना करो कि हमें इस विपत्ति से उबारें। जमाल ख़ाँ ने इस पर आपत्ति की। उसने कहा भला आप ख़ुदा को तार कैसे भेज सकते हैं? आग़ा ख़ाँ हमारे ख़ुदा हैं, भला आप एक ख़ुदा से दूसरे ख़ुदा के काम में दख़ल देने के लिए कैसे कह सकते हैं? इस पर मीर को क्रोध आया और तार भेज दिया। नतीजा यह हुआ कि आग़ा ख़ाँ ने भारी मात्रा में दवाएँ उनके पास भेज दीं, महामारी का प्रकोप शांत हुआ और हुंज़ा के निवासियों को आग़ा ख़ाँ की ख़ुदाई का एक और सबूत मिल गया।

हुंज़ा के लोग एक विचित्र भाषा बोलते थे जो बुरुशास्की कहलाती थी और जिसका संसार की किसी भी भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं था। सर ऑरेल स्टीन ने इसे 'अतीत के एक विचित्र एवं भ्रांत काल-खंड का द्योतक' कहा था। वहाँ के लोग भारत-सीथियन परिवार के थे और मीर तो अपने को सीधा सिकन्दर महान् का ही वंशज बताता था।

हमारी अगली दस दिन की यात्रा बहुत ही कष्टप्रद रही। अब जिस रास्ते पर हम चल रहे थे वह कराकोरम पर से गुज़रता था। वह देश उतना ही कठोर और दुर्गम था जितना कि उसका नाम। दूर-दूर तक सिवाय वीरानी के कुछ नज़र न आता था। मीलों चलते जाइये मनुष्य क्या कोई प्राणी जो दिखाई पड़ जाए। अलबत्ता कभी-कभी कोई छिपकली या तितली हमारा रास्ता ज़रूर काट जाती थी और तितली भी कोई ख़ुशरंग नहीं बल्कि ऐसी ही फीकी और अनाकर्षक जैसा कि वहाँ का वातावरण था। कराकोरम में तो पहाड़ की वह कठोरता और ताक़त भी न थी जो हिमालय में मौजूद है। वह तो ऐसा लगता था जैसे उसे कीड़े खा गये हैं और कुछ ही समय में वह दीमक के ढीह की तरह ज़मीन में बैठ जायेगा। कुछ-कुछ देर के बाद हमें पत्थर आते दिखाई देते थे और ऐसा लगता था जैसे कोई शत्रु कहीं छिपा हुआ हम पर पत्थर बरसा रहा है। हम लोगों ने पारिस के ज़रिए कराकोरम पार किया। जिस पगडंडी पर हम चले जा रहे थे वह तीन फुट से ज़्यादा चौड़ी नहीं थी। ऊपर पहाड़ था जो हमसे बीस

हज़ार फुट ऊँचा था और नीचे घाटियाँ थीं जो आठ हज़ार फुट नीची थीं। उन्हें देखकर ऐसा डर लगता था मानो वे घोड़े को और उसके सवार को सभी को निगल जायेंगी। अभी एक पर्वत श्रृङ्खला समाप्त न होती थी कि दूसरी सामने दिखाई दे जाती थी। अभी हम एक को पार करने के बारे में सोचते ही थे कि नासिरो जिसे मीर हुंज़ा ने हमारे साथ भेजा था, एक लंबा घुमावदार रास्ता पहाड़ी में दिखा देता। इस प्रकार दस दिन तक उन पहाड़ों पर चलते-चलते हम मिसगार पहुँचे।

कराकोरम प्रदेश में मुझे तीन हिम नदियाँ पार करनी पड़ीं—पासू सासेनी और बातूरा। बातू तो संसार की सबसे बड़ी हिम नदियों में से एक थी जो चौबीस मील लम्बी और डेढ़ मील चौड़ी थी। सासेनी और पासू की तरह वह नदी के पास तक ही नहीं रुकती थी बल्कि सीधी उसमें जाकर गिरती थी। उसकी सतह पर तो सिर्फ चट्टानों के ढेर, शिलाखंड, कीचड़ और रेत दिखाई देती थी जो वह 2500 फुट ऊँचे पहाड़ों से अपने साथ लाती थी। हिम नदी पर से गुज़रते हुए हमने महसूस किया जैसे हम किसी ऐसी ज़मीन पर चल रहे हैं जो जगह-जगह से हिल गई है, कहीं फट गई है और कहीं प्रकृति के भयंकर संक्षोभ के कारण ऊपर-नीचे भी हो गई हैं। लेकिन थोड़ी-थोड़ी देर बाद हमें कोई स्रोत दिखाई दे जाता था जो उसी शांत और अविचलित भाव से बह रहा होता जैसे नियति। रेल, कंकड़ आदि से लदा हुआ वह धीरे-धीरे सरकता हुआ चलता जाता था। कहीं हमें बर्फ़ के खंड दिखाई दिये, कहीं बर्फ़ की गुफाएँ, कहीं बर्फ़ की दीवारें और कहीं बर्फ़ के सफेद स्फटिक जैसे महल। और उन्हीं में हमें वे गहरी रोमानी तलइयें भी दिखाई दीं जिनके किनारे शीशे जैसे चमकते थे और जहाँ पानी उसी तरह टप-टप करके गिर रहा था जैसे आँखों से आँसू।

उस हिम नदी को, जो डेढ़ मील चौड़ी थी, पार करने में हमें डेढ़ घण्टा लगा। मीर की चामरगौ मुझे उसके पार ले जाने के लिए तैयार खड़ी थी। सच पूछिये तो पहले मैंने अपनी उस सवारी के साथ कुछ अच्छा सुलूक नहीं किया और उसने भी शायद मेरे प्रति कोई स्नेह नहीं दर्शाया। वह झबरे बालों वाला एक जंतु था जिसके सींग मुड़े हुए थे। जब उसने अपनी आँखों के लाल कोनों से मेरी ओर देखा तो मुझे लगा वह बड़ी नफ़रत से मुझे घूर रही है। इसके अलावा उसका रंग-ढंग भी मुझे बड़ा घृणित लगा। वह सूँस की तरह फूत्कार करती थी, कभी बाँयें और कभी दाँयें झूमती जाती थी और हर वक़्त अपनी जीभ बाहर निकाले रहती थी जिससे राल टपकती रहती थी। उसका समग्र व्यवहार मुझे एक ब्रिगेडियर की याद दिलाता था जिसे मैं जानता था। इस सबके बावजूद, मुझे उस चामरगौ पर बैठे अभी कुछ ही सेकण्ड हुए होंगे कि

मुझे ऐसा महसूस हुआ जैसे मैं उस पर उतना ही सुरक्षित हूँ जितने शिवजी अपने बैल पर रहे होंगे। जब वह चली तो ऐसा लगा मानो उससे बढ़कर शायद ही कोई दूसरा पशु हो जो इतनी दृढ़ता से चलता हो। हमारे पीछे टट्टू चले आते थे जो कहीं फिसलते थे, कहीं गिरते थे, फिर उठकर चल पड़ते थे और कुछ दूर जाकर फिर फिसल पड़ते थे, लेकिन चामरगौ की चाल में एक अजीब उदासीनता थी, उसका एक-एक पग उतनी ही दृढ़ता और निश्चयात्मकता के साथ पड़ता था जितनी दृढ़ता से शतरंज का खिलाड़ी अपना वज़ीर चलता है। उस समय स्थिति बड़ी नाज़ुक थी जरा उसका पैर डगमगाता और मैं उन रोमानी तलइयों में से किसी एक में जा गिरता।

10 सितम्बर को मैं मिसगार पहुँचा। यह जगह आख़िरी बस्ती थी जहाँ भारत की सीमा पर स्थित अंतिम तारघर था। उसके बाद मुझे वे तार के खंभे कहीं दिखाई न दिये और मुझे उनकी अक्सर याद आती रही। मैंने उन्हें अपना साथी बना लिया था क्योंकि उस बीहड़ प्रांत में वही सभ्यता के प्रतीक थे जो दिखाई देते थे। धूमिल पहाड़ की चोटियों पर टिके और गहरी अँधियारी घाटियों में गड़े वे यह प्रकट करते थे कि ब्रिटिश सम्राट का आदेश उन उजाड़ प्रदेशों में भी पहुँचा हुआ है। पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में तो जब भी कोई क़बाइली सरकार से असंतुष्ट होता, वह अपना क्रोध इन्हीं तार के खंभों पर उतारा करता था लेकिन यहाँ ऐसा नहीं था, कोई उन्हें छूने तक का साहस नहीं करता था। उनके लिए तो वे उतने ही पुनीत और श्रद्धेय थे जितने स्वयं आग़ा ख़ाँ।

हिन्दुस्तान की सीमा में हमने अपनी आख़िरी रात गुलख़्वाजा नामक स्थान पर व्यतीत की। यहाँ कोई विश्रांति गृह तो था नहीं, अलबत्ता एक चट्टान पर बनी एक झोंपड़ी थी जो उसमें से भेड़ों और उनके चरवाहे को जल्दी-जल्दी हटा कर ख़ाली की गई ताकि चीन में भारत का एजेंट-जनरल अपनी एजेंसी की सरहद में प्रवेश करने के पहले भारतीय सीमा में अपनी अंतिम रात्रि व्यतीत कर सके। रात को सहसा बर्फ़ गिरने लगी और बर्फ़ के लोंदे उस झोंपड़ी में भी आने लगे। हम सवेरे जल्दी ही उठ बैठे ताकि बर्फ़ के पिघलने से पहले ही हम मिनटैका दर्रा पार कर लें। लेकिन देखते क्या हैं कि हमारे घोड़े ग़ायब हैं। मालूम हुआ कि रात को प्रेम-प्रणय की कोई घटना घट गई। हमारे उन्नीस-के-उन्नीस टट्टू नर थे, लेकिन एक मादा टट्टू ने जो गुलख़्वाजा की छलना थी, उन सबको अपने जाल में फँसा लिया और उन्हें लुभाकर मुरकुशी के जंगल में ले गई। उनकी खोज में लोग इधर-उधर भेजे गये और दोपहर तक जाकर कहीं उनका

पता लगा। वे सभी अपराधी लौटे तो संतुष्ट किन्तु उनके चेहरे शर्म से झुके हुए थे।

गुलख्वाजा हिम नदी के किनारे हम कुछ घण्टों तक घोड़ों पर सवार होकर चलते रहे और चलते-चलते सहसा मिनटैका दर्रे की चोटी पर पहुँच गये जो 15,500 फुट की ऊँचाई पर थी। यहाँ से मैं चाहता था मध्य एशियाई पर्वत-शृङ्खला का पूरा दृश्य देख लूँ जिसमें हिमालय, कराकोरम, पामीर हिन्दूकुश और कुनलुन श्रेणी सभी आ जाते थे। लेकिन मुझे सिवाय बर्फ़, और काले शिला-खंडों के, जो कुहरे की झिरियों में से दिखाई दिए, और कुछ भी तो नज़र नहीं आया। लेकिन जब मैं दर्रे पर खड़ा हुआ था और मेरा एक पैर भारत में तथा दूसरा चीन की सीमा में था तो मुझे यह सोचकर बड़ी प्रसन्नता हुई थी कि मैं कितना सौभाग्यशाली व्यक्ति हूँ जिसे अपने देश का प्रतिनिधि बनाकर एक उतने ही बड़े और प्राचीन देश में भेजा जा रहा है और मैं ही वह व्यक्ति हूँ जो इन दो देशों की मित्रता को सुदृढ़ बनाने के लिए यथासंभव प्रयत्न करूँगा।

अब हम संसार की छत (पामीर) पर पहुँच चुके थे, और हिमालय तथा कराकोरम को पीछे छोड़ चुके थे। पामीर का प्रदेश पहले से अधिक ताज़ा, साफ़ और खुला हुआ था और हम पृथ्वी के धरातल पर इतनी ऊँचाई पर थे कि 20000 फुट ऊँचे पहाड़ों से हमें अब बिल्कुल डर नहीं लगता था। संसार की छत की नदियाँ भी कराकोरम क्षेत्र की नदियों से भिन्न थीं। हुंज़ा नदी का पानी गँदला और कीचड़ से भरा था, ताशकूरग़ान का पानी नीला और निर्मल था, उसके नीले रंग में हल्का हरा भी मिला हुआ था। ये नदियाँ वास्तव में स्वर्गीय जलस्रोत थे।

संसार की छत एक विशाल पठार थी जिसकी ऊँचाई दस से पंद्रह हज़ार फुट तक की थी और चरागाहों तथा घुड़सवारी के लिए बहुत ही उपयुक्त थी। कराकोरम की घाटियों से जीवित निकल आने पर मुझे इतना आनन्द प्राप्त हुआ कि अब मैंने जमकर घोड़े की यात्रा की और कहीं-कहीं तो उसे ख़ूब तेज दौड़ाया। लेकिन उसका नतीजा अच्छा न निकला। जब मैं चीन के पहाड़ी इलाक़े की पहली बस्ती ताशकूरग़ान में दाखिल हुआ तो मेरी पेशियाँ तन गई थीं और कमर में ऐसा सख्त दर्द हुआ था कि चार दिन तक मैं बिस्तर से उठ नहीं सका था। ताशकूरग़ान में चीनी अधिकारी मेरी सहायता के लिए तैयार थे और किसी डॉक्टर को भी ले आए थे जिसका नाम ली था। कमान अफ़सर ने मुझसे कहा कि हम यह तो निश्चय से नहीं कह सकते कि ली अच्छा डॉक्टर है लेकिन

इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि वह आदमी बहुत अच्छा है।

23 सितंबर को बच्चों की एक डोली में बैठकर मैं ताशकूरग़ान से रवाना हुआ और तीन दिन बाद मैंने उस डोली को अलग रखवा दिया। शहर छोड़ते समय मुज़तक अटा का, जिसे बर्फ़ीले पहाड़ों का जनक कहा जाता है, बड़ा सुन्दर दृश्य मुझे देखने को मिला। इसका आकार मीनार जैसा है और इसी के कारण उससे अनेक आख्यान जोड़ दिए गए हैं। ताजिकों और किरग़ीज़ों का मत है कि यह हज़रत मूसा, अली और अन्य मुसलमान संतों के अवशेष का संग्रहालय है जबकि हुएन साँग का यह कहना है कि यह एक बौद्ध भिक्षु का समाधि-स्थान था।

ताशकूरग़ान से आगे मैं उसी रास्ते पर चलता गया जिस पर चलकर हुएन साँग 642 ई० पू० में भारत आया था। ताशकूरग़ान से रवाना होने के दो दिन बाद हमने चिचकिलिक का विशाल दर्रा पार किया जो 15,500 फुट ऊँचा है। इस दर्रे के ख़तरों का हुएन साँग ने बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। कहता है, 'इस दर्रे में सर्दी और गर्मी दोनों मौसमों में बर्फ़ के ढेर गिरते रहते हैं और ठण्डी हवाएँ तथा बर्फ़ीले तूफ़ान उठते रहते हैं। चूँकि ज़मीन में शोरा है इसलिए वहाँ कोई फ़सल नहीं हो सकती, न ही वहाँ पेड़ हैं। बस अगर कुछ है तो तल झाड़ियाँ हैं। चाहे गर्मी कितनी ही सख़्त पड़ रही हो लेकिन झक्कड़ों का चलना और बर्फ़ का गिरना तब भी जारी रहता है। ज्योंही यात्री इस प्रदेश में प्रवेश करते हैं कि बर्फ़ का कुहासा उन्हें घेर लेता है। व्यापारी कारवाँ जो चीन आते हैं या वहाँ से बाहर जाते हैं इन दुस्तर और भयानक स्थानों में बड़ा कष्ट उठाते हैं।' सच पूछिए तो हुएन साँग का वर्णन बिल्कुल यथार्थ है, उसमें कोई अत्युक्ति नहीं है क्योंकि मैं यह सब अपनी आँखों से देख चुका हूँ। हमारा सारा मार्ग उन्हीं गधों और टट्टुओं के अस्थिपंजरों से अटा पड़ा था जो यहाँ प्रकृति की क्रूरता के शिकार हो कर नष्ट हो गए थे।

अगले दिन हम टेंजीतार घाटी में उतरे। वह गरम सोतों से भरी हुई थी जिनमें से गंधकमय भाप उठती थी और एक पहाड़ी जलधारा निकलती थी जो चट्टानों और शिलाखंडों पर गिरती थी। यह जलधारा हमें रास्ते में कोई बीस-पच्चीस बार मिली। यहाँ हुएन साँग के साथ एक भयंकर दुर्घटना घटी थी। उस पर डाकुओं ने हमला किया और उसके बाद जो झड़प हुई उसमें उसका बहुमूल्य हाथी, जिसे वह बेचारा भारत से लेकर गया था, डूब कर मर गया। वह बूढ़ा यात्री अपनी उस घोर क्षति पर कैसा फूट कर रोया होगा।

हम दो ही दिन और चले थे कि ताजिकिस्तान पीछे छूट गया और हम किरग़ीज़ों के प्रदेश में दाख़िल हुए। ताजिक लोग दुनिया की छत पामीर पर

स्थित सौरिकोल के निवासी हैं। वे बड़े हट्टे-कट्टे और ऊँची नस्ल के लोग हैं और उनके नाक-नक़्श बाज़ जैसे होते हैं। वे मूलतः आर्य हैं लेकिन उनमें कुछ ईरानी झलक भी दिखाई देती है। लेकिन किरग़ीज़ अपने चेहरे-मोहरे में मंगोलों से अधिक मिलते-जुलते हैं। दो हफ़्ते तक मैं इन्हीं क़बीलों का मेहमान रहा और मैंने देखा कि ये लोग बड़े ही अतिथिपरायण हैं। मैं उन्हीं के तंबुओं में रहा। वे नम्दे के बने हुए गोलाकार तंबू थे जिनके बीचोंबीच एक सूराख धुआँ निकलने के लिए बना हुआ था। मैंने उन्हीं का खाना खाया और जहाँ भी मैं गया उन्होंने बकरी के गोश्त, दूध, दही और क्रीम से मेरी आवभगत की। ये क़बाइली अब भी घुमंतु लोगों का जीवन बिताते थे और उनकी संपत्ति मुख्यतया भेड़ें और चामर गौएँ ही थी।

27 सितंबर को जब मैं सैसास्थिक पहुँचा तो मैंने देखा कि मेरे सभी साथी सहसा दाढ़ी बनवा कर आये हैं। इस पर मुझे आश्चर्य हुआ क्योंकि हमने यह निश्चय किया था कि जब तक हम किसी बड़े शहर जैसे गिलगित या काशगर में नहीं पहुँच जायेंगे, तब तक दाढ़ी नहीं बनायेंगे। दाढ़ी बनाये बिना भी हवा और धूप ने हमारे हुलिए बिगाड़ रखे थे। इसीलिए मैंने सोचा कि आखिर मेरे साथियों ने अपने रिवाज के प्रतिकूल दाढ़ी-मूँछें क्यों मुँड़ा दीं। लेकिन कारण जानने में अधिक देर न लगी, बल्कि उसका एक नहीं इकट्ठे तीन कारण थे: यानी तीन सुन्दर किरग़ीज़ लड़कियाँ जो हमारी मेज़बान थीं। हालाँकि वे मुसलमान थीं लेकिन पर्दा नहीं करती थीं और उसी आज़ादी के साथ अपने काम पर जाती थीं जैसे मलाबार की स्त्रियाँ जाती हैं।

मेरे सभी साथी मुसलमान थे। जब मैं इस यात्रा पर चलने ही वाला था तब भारत सरकार का एक तार मुझे मिला जिसमें मुझसे मालूम किया गया था कि मेरे कितने साथी हैं और मुझे कितने टट्टुओं की ज़रूरत है। मैंने उत्तर दिया: **साथी एक नहीं, टट्टू पाँच चाहिए।** अब हमारे साथ 19 टट्टू थे जिनमें से कुछ हमारी सिंक्याँग यात्रा के लिए पेट्रोल ले जा रहे थे और अब हमारे साथियों की कोई कमी नहीं थी। वे सब सीमाप्रांत के विभिन्न भागों के रहने वाले थे। मेरा बावर्ची और बेरा दोनों हुंज़ा वाले थे, मेरे क़ाफ़िले का नेता तुर्की था, मेरा सहायक सफ़दर अली नागर का रहने वाला था और मेरे मार्गदर्शक ताजिक और किरग़ीज़ थे। इस प्रकार एक मुसलमान मार्गरक्षी के साथ मैं अकेला हिन्दू उन प्रदेशों से होता हुआ गुज़रा जो शत प्रतिशत मुस्लिम प्रदेश थे। लेकिन वहाँ मेरे हिन्दू होने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था, अगर महत्त्व था तो सिर्फ़ इस बात का कि मैं भारतवासी था और भारत सरकार का प्रतिनिधि था।

श्रीनगर से रवाना हुए मुझे 46 दिन हो चुके थे। पहली अक्तूबर को मैं

इग़िज़यार पहुँचा जहाँ काशगर-स्थित ब्रिटिश कांसुल-जनरल गिलेट अपनी स्टेशन वैगन में बैठकर आये और मुझसे मिले। वहीं मुझे पहली बार रेगिस्तान की झलक देखने को मिली। कई हफ़्तों से हम संसार के सबसे विशाल पर्वतीय मार्ग पर चलते रहे थे। अपनी यात्रा के अंतिम दिनों में हमने देखा कि पहाड़ घटकर पहाड़ियाँ बन गई हैं और पहाड़ियों ने टीलों का रूप धारण कर लिया है। अब वे सबके-सब मानो मेरे सम्मान में एक तरफ़ हटकर खड़े हो गए थे और दोनों हाथ फैलाये अनंत अंतरिक्ष की ओर संकेत कर रहे थे। और उस अनंतता की अनुभूति को द्विगुणित करने के लिए एक धूल का बवंडर भी उठ खड़ा हुआ था जिसने उस मरुस्थल के रहे-सहे वृक्षों और बादलों को भी छिपा लिया था। वह दृश्य मुझे उतना ही प्रभावशाली लगा मानो मैं किसी विशाल समुद्र के सामने खड़ा हुआ हूँ और दूर-दूर तक फैली हुई उसकी सीमा को देख रहा हूँ।

अब हम ताकलामाकान मरुस्थल के दक्षिणी भाग के सहारे चलते-चलते पूर्व की ओर बढ़े। हमारी दाहिनी ओर कुनलुन पर्वतश्रृङ्खला थी जो मरुस्थल के कुहासे में उसी प्रकार लिपटी हुई थी जिस प्रकार यह संसार माया में लिपटा हुआ है। लेकिन एक दिन ऐसा भी आया जबकि कुनलुन की पहाड़ियों ने कुहासे का पर्दा हटाकर हमें अपने दर्शन दिये और मैंने उस पर्वतश्रृङ्खला की सबसे ऊँची चोटी माउण्ट कुंगर देखी जो बर्फ़ से ढँकी हुई थी और जिस पर हिम नदियाँ रेंग रही थीं।

अब हमारा रास्ता एक विशाल मरुस्थल में से ही गुज़रता था जिसमें रह-रहकर कुछ मरुद्यान दिखाई पड़ जाते थे। रेगिस्तान में कहीं रेत थी तो कहीं रोड़ी और कहीं ये दोनों। लेकिन फिर भी उसकी एक अजीब शान थी, उसकी उस निरंकुशता में भी एक गरिमा थी जिससे उसने अपने आसपास ऐसा कोई पदार्थ बाक़ी नहीं रहने दिया था जो आपकी असीमता की कल्पना में बाधक होता। मीलों चलने के बाद भी हमें वहाँ सिवाय गधों की लाशों के और उन पर मंडराते हुए गिद्धों के कुछ दिखाई न देता था। मरुस्थल की भयंकर निर्जनता और एकांत का जितना मार्मिक वर्णन हुएन सांग ने किया है, शायद ही किसी और ने किया हो। दूर-दूर तक रेत के ढेर लगे हैं जैसे पानी का कोई भयंकर सैलाब उन्हें बहाकर ले आया हो। कहीं उसके टीले बन गये हैं और कहीं हवा के थपेड़ों ने उसे बिखेर दिया है। यात्रियों के पद्‌चिह्न देख पाना भी दूभर है और प्रायः यह होता है कि लोग रास्ता भूल जाते हैं और बेचारे किसी मार्गदर्शक या दिशा के न मिलने तक कभी इधर और कभी उधर भटकते रहते हैं। पानी या हरियाली का कहीं नाम-निशान नहीं और गर्म हवाएँ हैं कि यात्रियों को निरंतर झुलसाये जाती हैं। जब हवाएँ अपना प्रकोप दिखाती हैं तो क्या मनुष्य और क्या पशु सभी घबरा जाते हैं

और सिट्टी-पिट्टी भूल जाते हैं। और उन थपेड़ों से त्रस्त वे आगे बढ़ने से मजबूर हो जाते हैं। कभी-कभी बड़ी दुःखद और शोकाकुल आवाज़ें और करुणाभरी चीत्कार सुनाई दे जाती है और परिणाम यह होता है कि मरुस्थल की वीरानी को देखकर और भयानक आवाज़ों को सुनकर यात्री ऐसा उलझ जाता है कि अपना रास्ता नहीं पहचान पाता। और अंत में इन्हीं विपत्तियों में ग्रस्त बहुत से यात्रा में ही समाप्त हो जाते हैं।

मरुस्थल पर कहीं-कहीं मरुद्यान भी थे जो किसी खाली जगह पर लगे बिंदु-से दिखाई देते थे। कहना चाहिए कि जहाँ भी पानी होता था वहीं एक नख़लिस्तान बन जाता था। कुनलुन पहाड़ी सिलसिले की बर्फ़ के पिघलने से बने अनेक सोते तकलामाकान रेगिस्तान में बहकर आते थे और उसी पानी की सहायता से लोग वहाँ फ़सलें बोते थे और तरबूज़, नाशपातियाँ, अंगूर और अनार जैसे फल भी उगा लेते थे। लेकिन वे शाद्वल हमेशा मरुद्यान की गिरफ़्त में रहते थे और उन दोनों में निरंतर संघर्ष होता रहता था। अक्सर ऐसा होता था कि मरुस्थल के निर्मम जबड़े उन मरुद्यानों को जकड़ लेते थे और उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता था।

इन सभी मरुद्यानों यांगीहिसार, यारक़ंद, पोसगाम, गोमा, कारगालिक, खुतन और केरिया में मैंने हिन्दुस्तानियों की बस्तियाँ देखीं। मेरा उन बस्तियों में जाने का मुख्य उद्देश्य यह था कि मैं उन भारतीयों से मिलूँ और जो कुछ ढाढ़स मैं उन्हें बँधा सकता था, बँधाऊँ। और वास्तव में उन्हें ढाढ़स की बड़ी आवश्यकता थी। उनकी जो दयनीय स्थिति थी उसको समझने के लिए सिंक्यांग के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन आवश्यक है। 1911 की क्रांति के बाद जबकि मांचू वंश के शासन का तख़्ता उलटा गया था, नवोदित चीनी गणराज्य अपनी ही समस्याओं में इतना उलझा हुआ था कि इस सीमांत प्रदेश पर ध्यान देना उसके लिए संभव न था। परिणाम यह हुआ कि सिंक्यांग पर हमेशा एक-न-एक ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति का अधिकार रहा जिसने इस पर शासन किया और केन्द्रीय सरकार के प्रति नाममात्र की वफ़ादारी बरती, बल्कि कभी-कभी तो उन्होंने उसे भी ज़रूरी नहीं समझा। वहाँ का अंतिम शक्तिशाली शासक यांग त्सेंग-शीन था जिसने 1911 से 1928 तक वहाँ निरंकुश शासन किया और सिंक्यांग को चीनी और रूसी क्रांति की हवा तक न लगने दी। 1928 में उसकी हत्या कर दी गई और वहाँ अराजकता फैल गई। 1933 में मा चुंग-यिंग नामक एक तरुण तुंगन जनरल के नेतृत्व में वहाँ की जनता ने प्रांतीय सरकार के विरुद्ध भयंकर विद्रोह किया। लेकिन वह विद्रोह सोवियत सरकार की सहायता से कुचल दिया गया और उसी का यह परिणाम हुआ कि अगले दस वर्षों तक सिंक्यांग पर रूस का राजनीतिक

और आर्थिक प्रभुत्व बना रहा। रूसी सलाहकार और रूस की खुफ़िया पुलिस के लोग यह देखते रहते थे कि सिंक्यांग के नाममात्र के शासकों की नीति सोवियत हितों के विरुद्ध न हो। उस अवधि में सरकार का उद्देश्य यह रहा कि वहाँ से रूस के अलावा अन्य विदेशी प्रभाव समाप्त कर दिया जाए। लेकिन सिंक्यांग में जो विदेशी थे और जिनकी भारी संख्या थी वे भारतीय ही थे। चूँकि वे ब्रिटिश सरकार की प्रजा थे इसलिए उन्हें तरह-तरह से परेशान किया जाता था और उन पर अत्याचार किये जाते थे। सदियों से भारत और सिंक्यांग के बीच व्यापार-संबंध रहे थे और उनमें हिमालय और कराकोरम जैसे बड़े-बड़े पहाड़ भी कभी बाधक नहीं हो पाए थे। लेकिन अब वह व्यापार ठप हो गया था। दक्षिणी सिंक्यांग के मरुद्यानों में भारतीय किसानों की हैसियत से भी जाकर बस गये थे। लेकिन किसी-न-किसी बहाने से उनकी ज़मीनें ज़ब्त कर भी गई थीं और उन ज़मींदारों को भीख माँगने पर मजबूर कर दिया गया था। कभी-कभी उनके साथ जो व्यवहार किया जाता था उसे परिमार्जित क्रूरता की संज्ञा ही दी जा सकती है। किसी व्यक्ति को बिना परमिट के सिंक्यांग छोड़ने की अनुमति नहीं थी। लेकिन जब सर्दी कड़ाके की पड़ने लगती और सारे दर्रे वर्फ से ढंक जाते तो सहसा बाहर जाने के परमिट इस आदेश के साथ जारी कर दिये जाते थे कि जो भी व्यक्ति जाना चाहें चौबीस घण्टे के अंदर-अंदर सिंक्यांग छोड़ दें। वे बेचारे अपने घर-बार और बाल-बच्चों को लेकर उस लम्बी यात्रा पर निकल पड़ते, लेकिन ज्योंही वे किसी वीरान जगह पर पहुँचते पुलिस के इशारे पर उनका कारवाँ ग़ायब कर दिया जाता और फलस्वरूप कुछ तो वहीं रास्ते में मर-खप जाते और तुषाराघात से उनके बच्चों के हाथ पैर बेकार हो जाते थे।

लेकिन 1943 में रूस अपना बोरिया-बिस्तरा उठाकर सिंक्यांग से चला गया और बीसवीं सदी में पहली बार चीन की केन्द्रीय सरकार ने सिंक्यांग पर अपना शासन स्थापित किया। भारत सरकार ने सोचा कि अब अच्छा मौक़ा है कि वे अपना प्रतिनिधि सिंक्यांग भेजें और चीन की सरकार से अनुरोध करें कि वह न केवल वहाँ बसे हिन्दुस्तानियों की शिकायतें दूर करे बल्कि भारत-सिंक्यांग व्यापार भी दुबारा शुरू कर दे। मैंने वहाँ जाकर जो भी संभव हुआ किया, लेकिन अभी मेरी कोशिशें फल नहीं ला पाई थीं कि सिंक्यांग के उत्तरी प्रदेश में भयंकर विद्रोह हो गया। चीनी तुर्किस्तान में फिर खलबली मच गई।

ऐसे उपद्रव सिंक्यांग में आये दिन होते रहते थे। और वहाँ के लोग भी इनके इतने अभ्यस्त हो गये थे कि इस ओर ध्यान ही न देते थे। तुर्कियों को तो अपने आमोद-प्रमोद से काम था। मरुद्यान में रहने वाले और सिंचाई का काम

करने वाले वे लोग हमेशा ऐन्द्रिय सुख के लिए लालायित रहते थे। हुएन सांग ने भी उनकी इस प्रवृत्ति का उल्लेख किया है। यहाँ के लोग जो बहुत आराम-तलब हैं और विलासिता में डूबे हुए हैं, अपने-अपने भाग्य से संतुष्ट हैं। संगीत का इस देश में बड़ा रिवाज है और पुरुषों को गीत और नृत्य से बड़ी रुचि है। दसवीं सदी में जिस सादगीपसंद इस्लाम धर्म का आविर्भाव हुआ वह भी इन लोगों की आदतों को न सुधार सका। मैंने कई तुर्की नाटक देखे। तुर्की लड़कियाँ लंबे पाजामे, छोटी बंडियाँ और छोटी कढ़ी हुई तिरछी टोपियाँ पहने जब बड़ी नाज़-ओ-अदा के साथ नाचतीं और 'सान मिनचू' गीत गाती थीं तो बड़ी भली लगती थीं। तुर्कियों के बारे में सामान्य धारणा यह है कि उनमें चारित्रिक दुर्बलता होती है। मार्को पोलो, जिसने तेरहवीं सदी में इसी रास्ते से यात्रा की थी, लिखता है : 'यदि किसी स्त्री का पति कहीं बाहर यात्रा पर जाता है और 20 दिन से अधिक बाहर रहता है तो उस अवधि के बीतते ही स्त्री किसी और व्यक्ति से विवाह कर सकती है और पति भी जिस स्त्री से चाहे शादी कर सकता है।' मैंने भी यह देखा कि तुर्कियों में यौन संबंधों पर कोई विशेष प्रतिबंध नहीं है लेकिन अपनी भोगासक्ति का वे परिणाम भी भुगतते थे, रतिरोग वहाँ आम था।

कैरिया से लौटकर हम काशगर गये जहाँ मैं लगभग दस दिन रहा। 75 दिन तक लगातार यात्रा करने के बाद मैं थक गया था और मुझे आराम की ज़रूरत थी लेकिन हमारे प्रवास के दौरान कई सामाजिक और सरकारी आयोजन ऐसे हुए जिनके कारण मैं विश्राम न कर सका। इस दौरान गिलेट ने अधिकारियों के साथ दक्षिणी सिक्यांग में रहने वाले ब्रिटिश निवासियों की समस्याओं पर विचार-विनिमय किया।

4 नवंबर को हमारी यात्रा फिर शुरू हुई। उरुम्ची अभी हमसे हज़ारों मील दूर था। जिस सड़क से हम जा रहे थे उसके बाँयीं ओर तिएनशान और दायीं ओर ताकलामाकान मरुस्थल था। यह सड़क तो नाममात्र की ही थी, ज्यादातर तो वह एक पगडंडी ही थी जो रेत में से गुज़रती थी। लेकिन इसमें सड़क बनाने वालों का कोई दोष नहीं था। पहाड़ों और रेगिस्तान के बीच में सड़क निकालना बहुत ही मुश्किल काम था। यदि इसे पहाड़ियों से बहुत निकट बनाया जाता तो उसके जलप्रवाह से बह जाने का खतरा होता और यदि उनसे दूर हट कर सड़क निकाली जाती तो रेगिस्तान की रेत में सड़क के लिए मज़बूत नींव खोदना असंभव था। सिक्यांग में सड़क बनाने वाले के सामने हमेशा यही समस्या रही है।

अपनी इस यात्रा के दौरान रूसी-चीनी सरहद से हमारा फ़ासला मुश्किल से पाँच या दस मील रहा होगा। हमारी मुलाक़ात कई रूसियों से हुई क्योंकि काशगर और उरुम्ची में स्थित रूसी कांसुलावास में इतनी भारी संख्या में रूसी कर्मचारी थे कि वे कांसुलावास राजदूतावासों जैसे लगते थे। सिक्यांग में रूसी बड़े ठाट-बाट के साथ रहते थे और उनके सुरागार भी बहुत बढ़िया थे। रूसी राजनयिक वैयक्तिक रूप में तो बहुत सादगीपसंद, निराडंबर और श्रमिकों जैसे थे लेकिन ऐसा लगता था कि विदेश जाकर वे कुछ ऊपरी टीम-टाम में विश्वास करने लगते थे। मुझसे तो वे जब भी मिलते बहुत ही मित्रतापूर्ण ढंग और आतिथ्यपरायणता के साथ पेश आते थे। कभी-कभी तो उनकी अतिथि-परायणता-विशेषकर सुरा के संदर्भ में—कुछ ज़्यादा ही हो जाती थी। सिक्यांग की प्रिय मदिरा वोदका थी और मुझे मालूम हुआ था कि रूस में ही उसमें 45 प्रतिशत एलकोहल मिली रहती थी और जब वे उसका निर्यात करते थे तो उसकी मात्रा 55 प्रतिशत कर दी जाती थी। शायद ऐसा इसलिए किया जाता था कि परिवहन में कठिनाई न हो। रूसियों को इस बात में बड़ा आनंद आता था कि अपने मेहमानों को ख़ूब शराब पिलाओ और तब तक पिलाते रहो जब तक वे नशे में चूर न हो जाएँ। लेकिन हमारे साथ वे ऐसा करने में कभी सफल न हो सके। कभी तो ख़ैर क्या हाँ, बहुत कम सफल हो सके।

अब हम सिल्क रोड—उत्तरी सिल्क रोड पर जा रहे थे। ख़ुतन और केरिया तक हमारी यात्रा दक्षिणी सिल्क रोड पर हुई थी। ये दोनों सड़कें इतिहास के अत्यन्त प्राचीन अंतर्राष्ट्रीय मार्गों में मानी जाती हैं। चीन आदि-काल से ही अपने रेशम के लिए प्रसिद्ध है—यहाँतक कि रोमवासी उसे सेरिका या रेशम का देश कहा करते थे। यह भी कहा जाता है कि रोमन साम्राज्य के पतन और विनाश का एक कारण यह भी था कि वे चीन से रेशम ख़रीदने के लिए सोने-चाँदी का अनुचित मात्रा में निर्यात किया करते थे। रेशम ही नहीं, धर्म और संस्कृति भी इन्हीं मार्गों से होकर अन्य देशों में पहुँची थी। चीनी तीर्थयात्री इन्हीं सड़कों से बौद्ध धर्मग्रंथों की खोज में भारत आया करते थे। हुएन साँग ख़ुद भी उत्तरी मार्ग से भारत आया था और दक्षिणी मार्ग से लौट कर चीन गया था। अनेक भारतीय तीर्थ-यात्री भी बौद्ध धर्म का संदेश लेकर इसी मार्ग से चीन गये थे। ईसवी सन् के पहले एक हज़ार वर्ष तक भारत और चीन के संबंध मैत्रीपूर्ण थे। सांस्कृतिक दृष्टि से तो सिंक्यांग को भारत का ही एक भाग कहा जा सकता है। उस ज़माने में वहाँ जगह-जगह बौद्ध राज्य थे और उनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध ख़ुतन था। लेकिन जैसा कि ओवेन लैटिमोर ने लिखा है, 'दसवीं शताब्दी में इस्लाम आया और अतीत के दिये बिल्कुल बुझ गये।'

लेकिन इस्लाम के वहाँ पहुँचने से वहाँ की सभ्यता बिलकुल नष्ट नहीं हुई थी बल्कि उस सौम्य सभ्यता के अवशेष अब भी वहाँ विद्यमान थे जो इस्लाम से पहले उस प्रदेश में प्रचलित थी। उन्हें रेत में सुरक्षित रखा गया था और उनका उद्घाटन सर ऑरेल स्टीन ने किया था। इनमें सबसे अधिक रोचक पुरावशेष वे थे जो मैंने स्वयं कूचार और बूगुर के आसपास देखे थे। वहाँ चट्टानों को काट कर जो मंदिर बनाये गये थे उनके डिज़ाइन और बारीकियाँ देखकर मुझे अजंता और एलौरा की याद आ गई।

काशगर से रवाना होने के तेरह दिन बाद हम तूर्फ़ान गढ़े में उतरे। कहीं-कहीं तो उसकी गहराई समुद्र से भी हज़ार फ़ुट अधिक थी और अपनी यात्रा के दौरान कोई सोलह हज़ार फ़ुट नीचे उतरने के बाद जब मैंने अपने को सहसा समुद्री सतह से भी नीचे पाया तो मुझे बड़ा अजीब लगा। तूर्फ़ान अंगूरों के लिए प्रख्यात था।

तूर्फ़ान से हम मोटर में बैठकर तिएनशान के मार्ग से उरुम्ची पहुँचे जो सिंक्यांग की राजधानी थी। मेरा इरादा उरुम्ची में एक हफ़्ता रहने का था लेकिन मैंने वहाँ तीन हफ़्ते बिताये। कारण यह था कि उरुम्ची से चुंगकिंग तक मुझे विमान से यात्रा करनी थी और चूंकि बर्फ़ानी तूफ़ान उठ रहे थे इसलिए विमान उरुम्ची तक जा ही नहीं सकते थे। जितने दिन मैं वहाँ रहा शहर बर्फ़ से ढँका हुआ था। यह बर्फ़ इंग्लैण्ड की बर्फ़ नहीं थी जो सप्ताहांत में अतिथि के रूप में आती और बड़ी विनम्रता के साथ विदा हो जाती, बल्कि उसकी तुलना महाद्वीपीय बर्फ़ से की जा सकती थी जो धुँआधार गिरती है और वसंत ऋतु तक जमी रहती है। किसी ने मुझे बताया कि उरुम्ची में गवर्नर के निवास के सामने जो कीचड़ और बर्फ़ जमी थी वह इतनी गहरी थी कि एक ऊँट उसमें धँस गया था। सर्दी ऐसी कड़ाके की थी जैसी मैंने पहले कभी न देखी थी। हर रात तापक्रम हिमांक से 50° नीचे पहुँच जाता था।

उरुम्ची में भी अन्य स्थानों की तरह चीनी अधिकारियों ने हमारी खूब आवभगत की। मैं गवर्नर वू चुंग-शिन और आठवीं सेना के सर्वोच्च सेनाध्यक्ष जनरल चू शाओ-लियाँग से मिला और मैंने विभिन्न समस्याओं पर उनसे विचार-विनिमय किया। हालाँकि भारतीय समस्याओं पर उन्होंने मेरे साथ बड़ी नम्रता से बातचीत की लेकिन उनका ध्यान अधिक गंभीर मामलों में लगा हुआ था। इली में विद्रोह हो गया था और विद्रोहियों की कार्रवाइयों और चीनी अधिकारियों तथा व्यापारियों के क़त्ले-आम की खबरें हर रोज आ रही थीं। इली इलाक़े के अधिकांश स्थान विद्रोहियों के हाथ में आ गये थे, यहाँ तक कि उरुम्ची में भी तनातनी फैली हुई थी। कर्फ़्यू लगा दिया गया था और शहर की प्राचीरों

पर भारी पहरे लगा दिये गये थे और चीनी परिवार अधिकाधिक संख्या में दीवार से घिरे शहर में शरण लेने के लिए चले जा रहे थे। हमारा अपना मकान शहर से बाहर था और हमारे नौकर कभी-कभी भयभीत हो जाते थे। उन्हें यह डर था कि पहले की तरह उरुम्ची के मुसलमान विद्रोह न कर बैठें और तमाम काफ़िरों को मौत के घाट न उतार दें। साथ ही उनका यह भी विचार था कि हमारे घर पर भूत-प्रेत का असर है और उन्होंने गवर्नर के भाई के भूत को उसमें देखा है। गवर्नर का भाई मुझसे पहले उस मकान में रहता था और हाल ही में बड़ी रहस्यमय परिस्थितियों में उसकी हत्या कर दी गई थी।

सर इरिक टीख़मैन ने उरुम्ची को 'मनहूस शहर' कहा है और जब हम वहाँ से 4 दिसंबर को निकल गये तो हमें बड़ी ख़ुशी हुई। हम लोग हवाई जहाज़ से चले ताकि उसी दिन लांचाउ पहुँच सकें। दुर्भाग्य की बात है कि उसी दिन बर्फ़ का भारी तूफ़ान आया और हमें बरबस एक बीहड़-उजाड़ स्थान श्रंसी में उतरना पड़ा। अगले दिन हमने फिर अपना सफ़र शुरू किया और फिर हमें विवश होकर चिया यू क्वाँ नामक स्थान पर उतरना पड़ा जहाँ चीन की दीवार समाप्त होती थी। तीसरे दिन हम बर्फ़ के समुद्र पर से गुज़रते हुए लांचाउ पहुँचे जो काँसू प्रांत की राजधानी था।

लांचाउ एक सुंदर शहर है जो येलो नदी पर स्थित है। नदी जमी हुई थी और उसका आधा मार्ग हमने पैदल चल कर तय किया। उस पर चलते हुए ऐसा महसूस होता था जैसे हम शीशे पर चल रहे हैं। नदी के दूसरे हिस्से में अभी बर्फ़ जम रही थी और बर्फ़ के ढेर-के-ढेर तैरते जा रहे थे। लेकिन बर्फ़ के ये पिण्ड बड़े-बड़े न होकर छोटे-छोटे स्फटिक अंश दिखाई देते थे। चीनी भाषा में उनका बड़ा सुंदर नाम था लियू चू—यानी बहते हुए मोती। ये बहते हुए मोती जब एक-दूसरे से टकराकर सरसर की आवाज़ करते हुए नीचे की ओर बहते थे तो बड़े सुंदर लगते थे। हमने नदी का यह भाग बेड़ों में बैठकर पार किया। यह बेड़ा बकरे के फूले हुए चमड़ों से बनाया गया था जिन्हें रस्सी से बाँध लिया था और उसे बहते हुए बर्फ़ के ढेरों पर बड़ी कुशलता से चलाते हुए हम सही-सलामत पार उतरे थे।

लांचाउ का दूसरा स्मरणीय अनुभव चंगेज़ ख़ाँ की समाधि थी जिसे देखने हम गये थे। अभी चार ही साल पहले चंगेज़ ख़ाँ के अवशेष यहाँ लाये गये थे। इसके पहले वे आंतरिक मंगोलिया के पवित्र पेलिंग मंदिर में रखे थे। जापानी एक अर्से से मंगोलों को पटा रहे थे जैसे कि किसी ज़माने में उन्होंने मांचुओं के साथ किया था और एक मंगोल सरदार राजा तेह उनके झाँसे में आ भी गया था। उसके बाद अन्य मंगोल राजाओं ने, जिनकी निष्ठा चीनियों के साथ थी, चीन

की सरकार से अनुरोध किया कि वह चंगेज़ ख़ाँ की क़ब्र चीन के अंदरूनी भाग में ले जाएँ ताकि एक कठपुतली मंगोल राज्य के लिए वह युद्ध का कारण न बन सके। सभी मंगोलों का यह विश्वास है कि चंगेज़ ख़ाँ एक दिन अपनी क़ब्र से उठेगा और सारे संसार पर अपना साम्राज्य स्थापित करेगा, लेकिन वे यह नहीं चाहते थे कि चंगेज़ जापानियों के तत्त्वावधान में अपनी क़ब्र से उठे।

चंगेज़ ख़ाँ की समाधि पर चीनी सिपाहियों और मंगोल लामाओं का पहरा था। हमने वह चाँदी का ताबूत भी देखा जिसमें उसके अवशेष रखे हुए थे। हमने वह धनुष बाण और भाला भी देखा जिनका उसने प्रयोग किया था। इन सबमें भयानक वह झंडा था जो मनुष्य के बालों का एक बहुत बड़ा ढेर था। चंगेज़ ख़ाँ अपने शत्रुओं में से प्रत्येक के सिर का एक बाल उखाड़ता था और उसे अपने झण्डे में लटका लिया करता था और उस झण्डे में इतने बाल इकट्ठे हो गये थे जितने कि आकाश में तारे। मंगोल लामाओं ने हमें कुछ लोबान दिया जो हमने बड़ी श्रद्धा से नतमस्तक हो उसकी क़ब्र पर जलाया। 12 दिसंबर को, जबकि मुझे दिल्ली से गये हुए 125 दिन हो गये थे, हमने लांचाउ से विमान द्वारा चुंगकिंग के लिए प्रस्थान किया।

इस यात्रा के दौरान मैंने जो डायरी लिखी थी उसे पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सका और उसे मैंने **दिल्ली-चुंगकिंग** शीर्षक से छपवाया था। एक नवोदित लेखक के लिए इससे बढ़कर करुण स्थिति और क्या हो सकती है कि वह अपनी पहली पुस्तक पर हुई प्रतिक्रिया की बड़ी बेचैनी और कुतूहल के साथ प्रतीक्षा करता रहता है। मेरी इस पुस्तक का पाठकों ने जो स्वागत किया वह मेरे लिए आशातीत था। वास्तव में जो समीक्षाएँ मेरी पुस्तक की हुईं उनमें अपनी प्रशंसा पढ़कर मुझे विश्वास न हुआ। लंदन के **टाइम्स लिटररी सप्लिमेंट** ने लिखा—'इस डायरी के पन्नों से एक सौम्य और रोचक व्यक्तित्व उभरता है। यह एक अव्यवसायी और सरल-स्वभाव व्यक्ति द्वारा रचित अपने ढंग की अनूठी कृति है।' **न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन** की समीक्षक डोरोथी कुडमैन ने लिखा, 'इस प्रकार की यात्रा में मैं इस पुस्तक के लेखक श्री के० पी० एस० मेनन को अपना साथी बनाना पसंद करूँगी। उनमें विनोद वृत्ति है, चीन के इतिहास और साहित्य का विस्तृत ज्ञान है, पर्वत और मरुस्थल के सौंदर्य की परख है और बीते हुए युग के साथ तादात्म्य स्थापित करने की सामर्थ्य है। तभी तो उस बीहड़ और निर्जन स्थान की यात्रा में जब वे मार्को पोलो के पद-चिह्नों पर चलते हैं तो यह अनुभव करते हैं कि गोबी के उस संरक्षक ऋषि का लबादा उन्होंने ओढ़

लिया है ।' वाशिंगटन से प्रकाशित **मिड्ल ईस्ट जर्नल** ने लिखा : 'आधुनिक जगत और आधुनिक चेतना के सजग विद्यार्थियों के लिए **दिल्ली-चुंगकिंग** का पढ़ना अनिवार्य है । इस छोटी-सी पुस्तक में एशिया के सौंदर्य का हरेक पक्ष यत्र-तत्र चमकता हुआ दिखाई देता है । पाश्चात्य पाठकों को इसमें एशिया के पर्वत प्रदेश के बड़े मनोरम चित्र देखने को मिलेंगे ।' बी० बी० सी ने पुस्तक-समीक्षा प्रसारित करते हुए कहा, 'इस पुस्तक में जो कुछ वर्णित है वह एक सौम्य, संवेदनशील, चिंतनशील, और विनोदप्रिय मस्तिष्क की सहजता और सुरभि से ओतप्रोत है ।'

इन समीक्षाओं को देखकर मुझे अपार हर्ष ही नहीं हुआ बल्कि मेरे अंदर यह विश्वास भी पैदा हो गया कि मुझमें लिखने की योग्यता है । अब तक मेरे श्रोताओं में मेरी पत्नी थीं, जो एक अर्से से मेरी बातें सुनते-सुनते ऊब गई थीं, और मेरे बच्चे थे जो मेरी रचनाओं की प्रशंसा करते थे। उन्होंने **दिल्ली-चुंगकिंग** की अनुक्रमणिका भी तैयार की थी । लेकिन अब मैं अपनी बात हजारों श्रोताओं को सुना सकता था। अपनी सेवा-निवृत्ति के पश्चात् मैंने एक के बाद एक दो पुस्तकें लिखीं **रशियन पैनोरमा** और **फ़्लाइंग ट्रॉइका** । लेकिन अफ़सोस मैं अपने बच्चों से उसकी अनुक्रमणिका तैयार करने के लिए न कह सका क्योंकि यहाँ तक आते-आते अब वे भी अपनी संतान के लालन-पालन में व्यस्त हो गये थे और अब तो हमारे बच्चों के बच्चों के भी अपने बच्चे हो गये हैं ।

दिल्ली से चुंगकिंग की अपनी यात्रा के तेरह वर्ष बाद मैं दुबारा चीनी मध्य एशिया गया। उस समय मैं सोवियत संघ में राजदूत था और क़ज़ाक़िस्तान की राजधानी अल्मा अटा से विमान द्वारा उरुम्ची पहुँचा था । उस समय मेरी स्थिति रिप वैन विंकल* की-सी थी । उरुम्ची की काया पलट गई थी । साम्यवाद की जादू की छड़ी ने उसे छू दिया था। भिखारी अब कहीं ढूंढ़े न मिलते थे और स्त्रियों ने पर्दा छोड़ दिया था । स्कूलों की संख्या बढ़कर तिगुनी हो गई थी और जहाँ पहले एक भी तकनीकी संस्थान न था वहीं अब दर्जन भर तकनीकी संस्थान स्थापित हो चुके थे । मेरी पहली यात्रा के दौरान उरुम्ची में तीन प्राचीन उद्योग थे और अब वहाँ तीन दर्जन उद्योग क़ायम हो चुके थे । कृषि का न केवल सामूहिकीकरण हो चुका था बल्कि यंत्रीकरण भी हो रहा था । भूमि-संबंधी इस क्रांति

* अमरीकी लेखक वाशिंगटन इरविंग के प्रख्यात उपन्यास स्लीपी हॉलो का नायक जिस पर कैटस्किल पर्वत पर जादू कर दिया गया था । वह बीस वर्ष तक सोता रहा था और जब घर लौटकर गया तो उसकी पत्नी मर चुकी थी और लोग उसे भूल चुके थे । यहाँ अभिप्राय एक लंबी अवधि बीतने के बाद उरुम्ची जाने से है । —अनु०

का मुख्य साधन सैनिक उत्पादन कोर था जिसमें जन मुक्ति सेना के 240,000 भूतपूर्व सैनिक थे जो देश के बीच में जाकर बस गये थे और वे चालीस राज्यीय फ़ार्मों का संचालन कर रहे थे। इस कार्य में उन्हें हज़ारों ट्रकों, ट्रैक्टरों, फ़सल-संयंत्रों और लाखों पशुओं से सहायता मिल रही थी। प्रधान सेनापति जनरल ताओ शीह-यू ने हमें बताया कि सैनिक इस काम के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं क्योंकि उनमें न केवल अधिक अनुशासन है बल्कि राजनीतिक चेतना भी उनमें मौजूद है। दूसरों से कहीं बढ़कर निस्संदेह वे यही राजनीतिक चेतना सिंक्यांग की आदिम विचारों वाली जनता के मस्तिष्क में जगा रहे होंगे। और इस कार्य के लिए जो तरीक़े उन्होंने अपनाये होंगे उनकी केवल कल्पना ही की जा सकती है।

सिंक्यांग अब मध्य एशिया के आदर्श मूर्ख का स्वर्ग नहीं रह गया था। उसका शेष देश से अलगाव हमेशा के लिए समाप्त कर दिया गया था। लांचाउ से अलमा अटा तक एक रेलवे-लाइन बिछा दी गई थी जो उरुम्ची से होकर गुज़रती थी और सुना गया है कि इस काम को दोनों ही सिरों पर शुरू किया गया था। हाल ही में दक्षिणी सिंक्यांग में कारग़ालिक से तिब्बत की सीमाओं तक एक सड़क बना दी गई थी जो अकसाई चीन में से निकलती है। यह सड़क संसार की सबसे ऊँची सड़क है। पहले तो इस पर क़ाफ़िले गुज़रते थे और यह बड़ा ख़तरनाक रास्ता माना जाता था। सिंक्यांग में भारत का अंतिम कांसुल-जनरल साठे और उसकी साहसिक पत्नी इसी सड़क से घोड़े पर सवार होकर काशगर से भारत लौटे थे। एक और सड़क पामीर पर बनाई जा रही थी जो यांगीहिसार से ताश-क़ूरग़ान तक जायेगी। 1944 में मुझे यह फ़ासला तय करने में आठ दिन लगे थे और अब यही दूरी 8 घण्टे में पूरी की जा सकती है। इस प्रकार हिमालय-करा-कोरम प्रदेश भी, जो प्रकृति का अंतिम आश्रय था। धीरे-धीरे मनुष्य के आक्रमणों के सामने सिर झुकाने लगा था।

लेकिन चीनियों ने यह निश्चय कर लिया जाना पड़ता है कि वे अन्य मनुष्यों को सिंक्यांग में नहीं घुसने देंगे। भारत से चीन तक का सदियों पुराना रास्ता जिस पर क़ाफ़िले भी जाते थे और तीर्थयात्री भी, अब बंद कर दिया गया है। काशगर में हमारा कांसुलावास और उरुम्ची में ब्रिटिश तथा अमरीकी कांसुल वापस बुला लिये गये थे—यहाँ तक कि काशगर में सोवियत कांसुला-वास भी बंद कर दिया गया था। सिंक्यांग में जो कांसुलावास बच रहा था वह था उरुम्ची-स्थित सोवियत कांसुलावास और वह भी चीनियों की मुरव्वत पर ही बाक़ी रह गया था।

जिस बात पर मुझे सबसे अधिक आश्चर्य हुआ वह यह थी कि उरुम्ची अब मुख्य रूप से चीनियों का नगर बन गया था। 1944 में मैंने वहाँ के बाज़ार में

शायद ही कोई चीनी देखा हो। जो कुछ थे भी, उन्हें खदेड़ कर एक अलग प्रदेश में भेज दिया गया था। लेकिन अब वहाँ की आबादी में 74 प्रतिशत चीनी थे। 1944 में जब चियाँग काई-शेक ने यह घोषणा की कि वे होनान के कुछ शरणार्थियों को सिंक्यांग में बसाना चाहते हैं जिसकी आबादी घनी नहीं है तो ऐसा लगा था कि वहाँ की जनता इस आदेश के विरुद्ध विद्रोह कर बैठेगी। लेकिन अब वहीं चीनी लोग टिड्डी दल की तरह घुसते चले जा रहे थे और प्राचीन मान्यताओं को नष्ट कर रहे थे और वहाँ की स्थानीय जनता लाचारी से उन्हें देख रही थी। चीनी वहाँ अगर पुराने सीमा-चिह्नों को खत्म कर रहे थे तो यह भी मानना पड़ेगा कि उनके स्थान पर नये सीमा-चिह्नों का निर्माण भी कर रहे थे।

सिंक्यांग की जनता में नई व्यवस्था के प्रति समादर जगाने के अपने प्रयत्नों में चीनी नेता कहीं शक्ति का प्रयोग करते होंगे और जहाँ जरूरत पड़ती होगी वहाँ धूर्तता और चालबाज़ी से भी काम लेते होंगे। शक्ति का प्रयोग तो अदृश्य है और साथ ही अपरिमेय भी किन्तु उनकी चातुरी सर्वत्र दिखाई दे जाती है। जब मांचुओं ने उरुम्ची पर विजय प्राप्त की थी तो अपनी अहम्मन्यता के कारण उसका नाम बदल कर ती-ह्वा (सभ्यता की वापसी) रख दिया था, लेकिन अब उस शहर का फिर वही मंगोल नाम उरुम्ची रख दिया गया है। चीनियों ने मांचू और कुओमिंतांग दोनों के शासन-काल में यह आग्रह किया था कि स्थानीय बच्चे चीनी भाषा सीखें, लेकिन अब वहाँ शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषाएँ बन गई थीं। अब सिंक्यांग का गवर्नर एक उइगुर था जिसकी कुओमिंतांग के समय कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उसकी सहायता के लिए चार उपाध्यक्ष नियुक्त किये गये थे जिनमें एक तार्तारी, एक क़ज्ज़ाक़ और दो चीनी थे। उइगुर, तार्तारी और क़ज्ज़ाक़ तो मात्र कठपुतलियाँ थीं वास्तविक शक्ति चीनियों के ही हाथों में थी।

जब मैंने उरुम्ची का काया-पलट होते देखा और यह भी देखा कि चीनियों के भारी संख्या में वहाँ पहुँचने के फलस्वरूप वहाँ के स्थानीय निवासी घटते-घटते अल्पसंख्यक बन गये हैं तो मुझे खयाल आया कि कहीं यही हश्र तिब्बत का भी न हो। मैं सोचा करता था कि क्या वे लोग तिब्बत को भी इसी तरह विकसित करेंगे जैसे उन्होंने सिंक्यांग को किया है? क्या वहाँ भी वैसी ही सड़कें, हवाई अड्डे और छावनियाँ बनाई जायेंगी जहाँ अब तक लोग पहुँच भी नहीं पाते हैं? क्या तिब्बत के प्राचीन सीमाचिह्न भी उसी कारगर ढंग से नष्ट कर दिये जायेंगे जैसे कि सिंक्यांग के नष्ट किये गये थे? 1952 में जब जवाहर लाल नेहरू ने चाउ एन-लाई से तिब्बत की स्वायत्तता पर अपनी चिंता व्यक्त की थी तो चाउ एन-लाई ने अपनी उसी रहस्यमयी, दुर्ग्राह्य मुस्कान के साथ कहा था कि तिब्बत

इतना पिछड़ा हुआ है कि वहाँ निकट भविष्य में समाजवादी प्रयोग किसी प्रकार किये ही नहीं जा सकते और 1954 में तिब्बत पर हुए भारतीय-चीनी समझौते में ही पंचशील के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप दिया गया था। मुझे उस समय इस बात की ज़रा भी आशंका नहीं थी कि समझौते पर हस्ताक्षरों को दस वर्ष भी न बीतने पायेंगे कि वही चीनी उन पाँचों सिद्धान्तों को पैरों तले रौंद देंगे, तिब्बत की सामाजिक और राजनीतिक प्रणाली का तख़्ता उलट दिया जायेगा, दलाई लामा को भारत की शरण लेने के लिए बाध्य होना पड़ेगा, चीनी भारत पर हिमालय के दर्रों से आक्रमण कर बैठेंगे और नेहरू जी जिनका चीन में भव्य स्वागत हुआ था 'शांति के प्रथम शत्रु' बन जायेंगे और ख्रुश्चोव को 'शांति का द्वितीय शत्रु' की संज्ञा दे दी जायेगी।

संयुक्त राष्ट्र संघ

००

अप्रैल 1945 में मुझे सान फ्रांसिस्को में होने वाले सम्मेलन के लिए भारतीय प्रतिनिधि मंडल का मुख्य सलाहकार नियुक्त किया गया। प्रतिनिधि-मंडल के गठन का स्वरूप वैसा ही था जैसा कि ब्रिटिश शासन काल में हुआ करता था। सदस्यों के चयन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया था कि हिन्दू, मुसलमान और देशी रियासतों के बीच तथा हिन्दुस्तानियों और अंग्रेज़ों के बीच संतुलन बना रहे। उसमें सर रामास्वामी मुदालियार थे जिन्होंने सरकारी सेवा में बड़ा उच्च पद प्राप्त किया था और उनकी इस प्रगति का कारण उनकी अपनी योग्यता तथा उनका कांग्रेस-विरोधी दृष्टिकोण था, दूसरे सर फ़िरोज़ ख़ाँ नून थे जिनके उत्कर्ष में मुसलमानों की सांप्रदायिक राजनीति का हाथ था और तीसरे सर वी० टी० कृष्णमाचारी थे जिन्होंने ब्रिटिश भारत तथा रियासतों में बहुत समय तक और बड़ी उल्लेखनीय सेवा की थी। मेरे अलावा दो सलाहकार सर जॉन बार्टले और मेजर-जनरल काथॉर्न तथा एक सचिव ब्राउन्सडन भी थे। एक समाचारपत्र में मेरा और तीनों प्रतिनिधियों का एक चित्र भी छपा था जिसका शीर्षक था 'तीन नाइट (सर) और एक भावी नाइट।' लेकिन भावी नाइट को नाइट बनना ही नहीं था क्योंकि शीघ्र ही कांग्रेस के हाथ में सत्ता आ गई और उसने सभी उपाधियाँ समाप्त कर दीं।

सान फ्रांसिस्को जाते हुए हम कुछ दिन लंदन में ठहरे जिस पर तब भी वी 1 और वी 2 बम बरसाए जा रहे थे। हमने सान फ्रांसिस्को जाने वाले राष्ट्र-मंडलीय प्रतिनिधियों की एक प्रारंभिक सभा में भाग लिया और उनमें बड़ा औपचारिक और उपयोगी विचार-विनिमय किया। सभा में न तो कोई प्रस्ताव पास हुए और न ही कोई निर्णय लिया गया। मेरे प्रतिनिधि-मंडल ने अपने मत दूसरों पर लादने की कोई कोशिश नहीं की। उपनिवेश और न्यासधारिता के विषयों पर आस्ट्रेलिया ने जहाँ उस समय श्रमदल की सरकार थी, यूनाइटेड किंगडम और दक्षिण अफ्रीका की अपेक्षा अधिक उदारता का परिचय दिया, कनाडा का रवैया तटस्थता का रहा और भारतीय प्रतिनिधि-मंडल ने तो उन मामलों पर अपना कोई मत ही नहीं दिया।

सम्मेलन में सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व स्मट्स का रहा। वर्साई

सम्मेलन में भाग लेने वालों में से केवल वे ही ऐसे थे जो जीवित थे। उनका भाषण बहुत ही सुंदर रहा क्योंकि उसमें उनका उत्साह और गंभीरता स्पष्ट नज़र आती थी और जब उन्होंने बड़ी शक्तियों की भूमिका के बारे में बताया तब तो सभी उनसे बहुत प्रभावित हुए। राष्ट्र संघ में सभी राष्ट्रों के साथ समान व्यवहार किया जाता था। स्मट्स ने कहा कि वास्तव में देखा जाए तो सभी राष्ट्र प्रतिष्ठा की दृष्टि से तो समान हैं किन्तु कार्य की दृष्टि से वे समान नहीं हैं। बड़ी शक्ति का तात्पर्य है बड़ा दायित्व और यह पहला अवसर है जब शक्ति और दायित्व में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उन्होंने छोटे राष्ट्रों को चेतावनी देते हुए कहा कि विश्व शांति बनाये रखने के लिए आप लोगों को बड़े बलिदान करने होंगे। और यदि आपको जीवित रहना है तो उसकी शर्त यही है कि आप उन क़ुरबानियों के लिए तैयार रहें।

नून बेचारे का दुर्भाग्य कि उन्हें स्मट्स के फ़ौरन बाद बोलना पड़ा। उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन और डोमिनियनों को विश्वास दिलाया कि युद्ध तथा शांति में भारत उनके साथ रहेगा। उन्होंने भारत और डोमिनियनों की समानता पर भी अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, लेकिन उनका भाषण जितना ज़ोरदार था उतना प्रभावशाली नहीं था। उन्होंने बताया कि महामहिम को पता भी नहीं चला और भारत डोमिनियन बन गया। उदाहरण के लिए वाइसराय की कार्यकारी परिषद् के 15 सदस्यों में 11 भारतीय हैं जिनमें एक मैं भी हूँ—यह दलील गणित की दृष्टि से तो ठीक थी लेकिन राजनीतिक दृष्टि से यह दलील कुछ कारगर नहीं थी क्योंकि नून और मुदालियार जैसे लोग अपने अलावा किसी और का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे थे। उन्होंने यह भी कहा कि सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इण्डिया ने हमारे प्रतिनिधि-मंडल को कोई अनुदेश नहीं दिये हैं—और यह बात बिल्कुल झूठ थी। लॉर्ड वेवल इस भाषण से बहुत असंतुष्ट हुए। वे उस समय लंदन में थे और सरकार से गाँधीजी, नेहरूजी तथा अन्य नेताओं को रिहा करने का अनुरोध कर रहे थे ताकि कोई राजनीतिक समझौता हो सके, और नून साहब थे कि वहाँ ऐलान कर रहे थे कि भारत पहले ही डोमिनियन बन चुका है।

लंदन में प्रतिनिधि-मंडल के सदस्यों के साथ महामहिम की सरकार के अतिथियों के रूप में व्यवहार किया गया। महामहिम ने बकिंघम पैलेस में अतिथियों के सम्मान में एक भोज भी दिया जिसमें उन्होंने और राजकुमारियों ने अतिथियों के साथ बड़ा मिलनसारी और अनौपचारिकता का व्यवहार किया। जब किंग जॉर्ज षष्ठ ने कृष्णमाचारी से पूछा कि आपने बड़ौदा नरेश की नौकरी क्यों छोड़ दी तो वे बहुत प्रसन्न हुए बल्कि इस सम्मान से फूले न समाये। कृष्णमाचारी ने बड़ौदा के महाराजा की वैवाहिक उच्छृंखलताओं के विरोध

स्वरूप वहाँ की नौकरी छोड़ी थी। चर्चिल ने भी राष्ट्र-मंडलीय प्रतिनिधियों के सम्मान में एक भोज का आयोजन किया और 10 डाउनिंग स्ट्रीट में उनके साथ एक सभा भी की, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति की व्याख्या का दायित्व उन्होंने ईडन को सौंप दिया था। ईडन क्राइस्ट चर्च में मेरे साथ पढ़ते थे और मेरी तरह एशियाटिक सोसाइटी तथा लोटस क्लब के भी सदस्य थे। वे बेचारे पहले ही कई परेशानियों में फँसे हुए थे और स्वेज़ नहर के झगड़े ने तो उनके सब किराये-कराये पर पानी फेर दिया था। जिस शान के साथ उन्होंने विदेश मंत्री के पद पर रहते हुए कार्य किया था उतनी ही अपमानजनक स्थिति उनकी प्रधानमंत्री बनने के बाद हो गई और परिणामस्वरूप उनका राजनीतिक जीवन समाप्त हो गया। बीच-बीच में चर्चिल अपने विशिष्ट ढंग से कुछ-न-कुछ टिप्पणी देते जाते थे। बड़ी शक्तियों में चीन की गणना को उन्होंने 'अमरीका की भारी भ्रांति' बताया और अधिकार-पत्र में उल्लिखित 'राज्यों की प्रभुसत्तात्मक समानता' के सिद्धान्त की घोर निन्दा की। लिबेरिया भी संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनने वाला था। चर्चिल ने कहा, 'लिबेरिया ? वह देश जहाँ के हब्शियों में लाखों क़िस्म की बीमारियाँ हैं ?' जहाँ तक बड़ी शक्तियों के प्रस्तावित निषेधाधिकार का प्रश्न था चर्चिल के विचार में वह ब्रिटेन के लिए भी हितकर था। उदाहरण के लिए यदि चीन हाँगकाँग का प्रश्न उठाए तो वे फ़ौरन उस पर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर लेंगे और कह देंगे, 'मेरे जीते जी तो आपको हाँगकाँग मिल नहीं सकता।'

इंग्लैंड में मुझे सबसे बढ़कर ख़ुशी इस बात की हुई कि मुझे थोड़े समय के लिए ऑक्सफ़ोर्ड जाने का अवसर मिल गया। दुर्भाग्यवश उन दिनों विश्वविद्यालय में छुट्टियाँ थीं। वसंत ऋतु आ चुकी थी और क्राइस्ट चर्च के चरागाह बड़े सुंदर लग रहे थे। मैं एडम्स से मिलने गया जो ऑल सोल्स के वार्डन थे। वे चीन में रह चुके थे इसलिए वहाँ के बारे में मेरे विचार जानने की उन्हें बड़ी इच्छा थी। भारत में भी उनकी ख़ासी दिलचस्पी थी। एडम्स, लिंड्से—जो मास्टर ऑफ बैलिऔल थे—और कुछ अन्य लोगों ने उसी ज़माने में 'टाइम्स' के संपादक को एक पत्र लिखा था जिसमें यह अनुरोध किया गया था कि भारत का राजनीतिक गतिरोध दूर किया जाए।

लंदन से हम विमान द्वारा सान फ्रांसिस्को के लिए रवाना हुए। रास्ते में हमें एक रात मौंट्रियल में बितानी पड़ी। मौंट्रियल से सान फ्रांसिस्को तक हमने एक लम्बी उड़ान भरी और अपनी उस 18 घण्टे की यात्रा में कनाडा और संयुक्त

राज्य अमरीका से गुजरे, बीच में ओंटेरियो और मिशिगन झीलें भी पड़ीं। हमने नियागरा जलप्रपात देखा तथा शिकागो के गगनचुंबी मकानों और हिमाच्छादित रॉकी पहाड़ों पर से उड़ते हुए हम अपने गंतव्य पर पहुँचे। हमारे विमान-चालक ने अपनी दक्षता का हमारे सामने भरपूर प्रदर्शन किया। उसने नियागरा जल प्रपात का दायें और बायें चक्कर लगाया और हमें कनाडा तथा संयुक्त राज्य अमरीका दोनों ओर का बड़ा ही मनोहारी दृश्य देखने को मिला। डेट्राइट में फ़ोर्ड कारखाने का भी बड़ा अच्छा दृश्य हमने देखा। उस कारखाने के बृहत् आकार को समझाने के लिए हमारे विमान चालक ने एक कहानी भी सुनाई। एक महिला जो उस कारखाने को देखने गई थीं, घबराई हुई किसी डॉक्टर की तलाश में फिर रही थी क्योंकि वे पूरे दिनों से थी, कि इतने में वहाँ के एक अधिकारी ने उनसे कहा, 'आपको यहाँ आने की क्या ज़रूरत आ पड़ी थी? क्या आप यह नहीं जानतीं कि ऐसी स्थिति में यहाँ किसी भी दर्शक को नहीं आने दिया जाता?' महिला ने झुँझलाकर जवाब दिया, 'अरे साहब तो जब मैं यहाँ दाखिल हुई थी तब भला मेरी यह स्थिति थोड़े ही थी।'

सान फ्रांसिस्को पर्वत और समुद्र का एक रमणीक चित्रण था। उसके आस-पास एक नहीं अनेक खाड़ियाँ थीं और उससे दूर प्रशांत महासागर फैला हुआ था। उस नगर की एक आँख तो प्रशांत महासागर को पार करती हुई जर्जर जापान पर टिकी हुई थी और दूसरी अमरीका और अटलाँटिक से दूर यूरोप पर लगी हुई थी जो अब भी अपनी कठिनाइयों में ग्रस्त था। सान फ्रांसिस्को में आये दिन भारी उथल-पुथल होती रहती थी और उसे 'टिल्टेड सिटी' या 'दि सिटी इन रिपल्स' की जो संज्ञाएँ दी गई थीं वे उचित ही थीं। कैलिफ़ोर्निया का समस्त समुद्र तट सुंदर था, उसमें एक प्रकार की गर्मी, कोमलता और मधुरता थी। कैलिफ़ोर्निया के विभिन्न नगरों में जो पारस्परिक द्वेष था उसे देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। लास एंजेलेस वहाँ से अधिक दूर नहीं था। लॉस एंजेलेस सान फ्रांसिस्को के प्रति ऐसी ईर्ष्या रखता था कि वहाँ के समाचारपत्रों ने सम्मेलन को कभी 'सान फ्रांसिस्को सम्मेलन' नहीं कहा बल्कि वे उसे 'संयुक्त राष्ट्र-वार्ता' ही लिखते रहे। हॉलिवुड भी वहाँ से बहुत फ़ासले पर नहीं था। मैं वहाँ तो नहीं गया लेकिन हॉलिवुड के कुछ सुंदर चित्र वहाँ आते रहते थे जिनसे हमारा खासा मनोरंजन हो जाता था।

सेक्रामेण्टो में कैलिफ़ोर्निया राज्य की संसद के भवन के प्रवेश द्वार पर एक उपयुक्त आदर्श वाक्य अंकित था, 'प्रभु तुम ऐसे पुरुष हमें दो जो दृढ़ता में पर्वत

से हों'। एक और आदर्श-वाक्य जो बोहेमियन क्लब के प्रवेशद्वार पर अंकित था मुझे बहुत पसंद आया : 'कुचक्रियों का यहाँ काम क्या जो वे आएँ ?' बोहेमियन क्लब में हमने एक दिन बड़े आनंद-उल्लास में बिताया। उस क्लब की सदस्यता केवल साहित्य, संगीत और कला के क्षेत्र में प्रतिष्ठित पुरुषों तक सीमित थी। स्त्रियों का प्रवेश वहाँ वर्जित था। उस क्लब के सदस्य हर साल कुछ सप्ताह के लिए अवकाश ग्रहण करते थे और प्रकृति की क्रोड़ में शरण लिया करते थे। वहाँ 350 फुट ऊँची और हज़ारों वर्ष पुराने रेड वुड वृक्षों की छाया में बने बोहेमियन निकुंज में पड़े रहना बड़ा अच्छा लगता था।

सान फ्रांसिस्को में ही मुझे पहली बार अमरीकी जनता को निकट से देखने और उनके बारे में अपनी धारणा बनाने का अवसर मिला था। मैंने यह महसूस किया कि अंग्रेजों के मुक़ाबिले में वे अधिक सौहार्दपूर्ण और अनौपचारिक हैं और हमेशा हमें अपने घर बुलाने के लिये तैयार रहते हैं। सान फ्रांसिस्को में ही मुझे अंग्रेज़ों की ग़ैर-मिलनसारी के बारे में एक नया क़िस्सा सुनने को मिला। एक अंग्रेज़ कर्नल एक होटल में गया और उसने नीचे की मंज़िल पर एक कमरा माँगा। होटल के मालिक ने उसे बताया कि नीचे की मंज़िल का कमरा आपके लिए असुविधाजनक रहेगा क्योंकि सड़कों का शोर और बाहर की धमाधमी की आवाज़ें आती रहेंगी। लेकिन अंग्रेज अपनी माँग पर अड़ा रहा। इस पर होटल के मैनेजर ने उससे पूछा, 'लेकिन नीचे ही की मंज़िल पर रहना आपके लिए इतना क्यों आवश्यक है' ? अंग्रेज़ कर्नल ने उत्तर दिया, 'इसलिए कि लिफ़्ट में जाते समय हो सकता है कोई अजनबी मुझसे बोल उठे और मैं यह नहीं चाहता।'

अमरीका में जो भाषा मैंने सुनी वह भी कुछ अजीब-सी थी। वहाँ लिफ़्ट को एलिवेटर, कॉफ़िन को कैस्केट, अंडरटेकर को मार्टीशियन, सबवे को अंडरपास और क्रासरोड को इंटरसेक्शन कहते हैं।* अमरीका में बिल को चेक और चेक को बिल कहते हैं, वहाँ नीचे की मंज़िल पहली और पहली मंज़िल दूसरी मंज़िल कहलाती है, वे रोड को पेवमेण्ट और पेवमेण्ट को साइडवाक कहते हैं। अमरीकियों को नये शब्द गढ़ने में भी कोई संकोच नहीं होता। अमरीका में केवल होटल ही नहीं मोटल भी हैं जहाँ मनुष्यों के अलावा मोटरों की भी ख़ातिरदारी की जाती है क्योंकि मोटर अमरीकी जीवन-पद्धति का एक अभिन्न अंग बन गई है। एक बार मैंने सड़क पर यह पट्टी देखी 'बिवेअर ऑफ़ सॉफ़्ट शोल्डर्स'। मैं यह समझा कि कोई नीति-विषयक आदेश होगा लेकिन बाद में मुझे मालूम हुआ कि उसका केवल यह अर्थ है कि 'सड़क के फिसलवाँ किनारों का ध्यान रखिए।'

---

* ये पाँचों शब्द और उनके स्थान पर अमरीका में प्रयुक्त शब्द अर्थ की दृष्टि से तो एक ही हैं किन्तु सामान्य अंग्रेजी में वे उन अर्थों में प्रचलित नहीं हैं। यहाँ केवल अमरीकियों के आविष्कार की ओर संकेत किया गया है। —अनु०

सम्मेलन ऑपेरा हाउस में हुआ जो एक बड़ा भव्य हाल है जिसके निर्माण पर 50 लाख डॉलर ख़र्च हुए थे और जो प्रथम विश्वयुद्ध की स्मृति में बनवाया गया था। इस सम्मेलन में पचास राष्ट्रों के प्रतिनिधि एकत्र हुए थे और उनका उद्देश्य यह था कि सब मिलकर इस विश्व संस्था के लिए अधिकार पत्र (चार्टर) तैयार करें और डंबार्टन ओक्स के प्रस्ताव पर आये हज़ारों संशोधनों पर विचार करें। कोई भी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन सकता था बशर्ते कि वह शांतिप्रिय राष्ट्र हो और उस शांतिप्रियता का प्रदर्शन वह इस प्रकार कर सकता था कि जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दे। यही कारण था कि आयरलैंड और स्विट्ज़रलैंड जैसे देशों को संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन में भाग लेने के लिए नहीं बुलाया गया था क्योंकि वे युद्ध में तटस्थ रहे थे। इस पर अमरीका के एक समाचारपत्र ने कार्टून प्रकाशित किया था। डि वैलरा को दिखाया गया था कि वे स्विस गणराज्य के राष्ट्रपति से फ़ोन पर कह रहे हैं, 'प्रिय राष्ट्रपति महोदय, ऐसा करें कि हम दोनों एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दें और यह साबित कर दें कि हम भी शांतिप्रिय हैं और सान फ्रांसिस्को जा सकते हैं।

जिस समय सान फ्रांसिस्को में हमारा सम्मेलन हो रहा था उसी समय यूरोप में अनेक घटनाएँ घट रहीं थीं। युद्ध अपने चरम बिन्दु की ओर बढ़ रहा था और हमारे सम्मेलन के दौरान ही यूरोप में युद्ध समाप्त हो चुका था। हिटलर ने हथियार डाल दिये थे और वह अपनी चांसलरी के सामने मर गया था या वहाँ से भाग गया था हमें कुछ पता नहीं था। लेकिन जैसा कि चर्चिल ने कहा था कि चाहे हिटलर इस लोक में हो या परलोक में हमें यह समझ लेना चाहिए कि वहाँ के स्थानीय शासक उसकी अच्छी तरह देखभाल करेंगे। मुसोलिनी भी मारा गया था। दस साल पहले जब मैं और अनुजी मिलान में थे तो हमने सुना था कि हज़ारों लड़के-लड़कियाँ मुसोलिनी की प्रतीक्षा में और बड़े उत्तेजित स्वर में चिल्ला रहे हैं 'ड्यूस। ड्यूस।'* मुसोलिनी आकर उनको इनाम बाँटने वाला था। और अब उसका यह हाल है कि उसके और उसकी रखैल के शरीर उलटे लटका दिये गये हैं और उसी के देशवासी उस पर थूक रहे हैं। उसी दिन अबिसीनिया के प्रतिनिधि ने सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में खड़े होकर श्रोताओं को उन शब्दों का स्मरण कराया जिनका प्रयोग अबिसीनिया के सम्राट ने दस वर्ष पहले उस अवसर पर किया था जब उस देश पर इटली ने आक्रमण किया था। सम्राट ने कहा था, 'यदि आप न्याय की ओर से आँखें मूँदकर शांति स्थापित करना चाहते हैं तो मैं आपको बता दूँ कि न आपको शांति मिलेगी और न आप

* इटली का अधिनायक

न्याय ही पा सकेगें।' और उसी समय मुझे मुसोलिनी के बेटे के शब्द याद हो आये जो अब एक जाली पासपोर्ट की सहायता से स्विट्ज़रलैंड में दाख़िल होने की कोशिश कर रहा था। जब उसने हज़ारों अबीसीनियाइयों के काले शरीर देखे जिन्हें इटली की मशीनगनों ने छलनी कर दिया था तो कहा था, 'इन्हें देखकर मुझे ऐसा लगता है जैसे कि काले गुलाब की कलियाँ खिल कर पुष्प का रूप धारण कर रही हैं।'

विजय-दिवस आया भी और चला भी गया, किसी ने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। यह पहले महायुद्ध के बाद की विराम-संधि से भिन्न था। उस समय मैं ऑक्सफ़ोर्ड में था और मैंने देखा था कि सारा राष्ट्र संतोष और उल्लास में फूला नहीं समाता था। लेकिन अब जो प्रतिक्रिया हुई वह ऐसी थी मानो कुछ हुआ ही नहीं। सब कुछ सामान्य ढंग से होता जा रहा था। उन्हीं दिनों एक और युद्ध भी हो रहा था—वह युद्ध जो अमरीका के लिए बड़ा भयंकर था और उसकी भयंकरता का अनुमान ओकिनावा में हताहतों की संख्या से होता था जिनकी रिपोर्ट प्रतिदिन समाचारपत्रों में छपती थी। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय परि-स्थिति भी ऐसी थी जिसे देखकर कोई क्या खुश होता। दैत्य तो मारा गया था लेकिन उसका प्रेत अभी बाक़ी था। समग्र रूप से अमरीकी जनता एक ऐसे बालक जैसा व्यवहार कर रही थी जिससे किसी पवित्र अवसर पर आनंद-उल्लास मनाने की अपेक्षा की जाए लेकिन वह ऐसा कर न पाये।

सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में जो वाद-विवाद हुआ या अधिकार-पत्र के निर्माण में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल ने जो योगदान किया उसका मैं यहाँ उल्लेख नहीं करूँगा। यद्यपि हमारे प्रतिनिधि-मंडल के नेता बड़े योग्य और धुरंधर वक्ता थे किन्तु उनकी और उनके साथियों के साथ यह कठिनाई थी कि वे एक ऐसी सरकार का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जो अपनी अंतिम साँसें गिन रही थी और अभी हम सान फ्रांसिस्को में ही थे कि यह ख़बर पहुँची कि महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरू और अन्य कांग्रेसी नेता रिहा कर दिये गये हैं और वाइसराय ने उन्हें शिमला में वार्ता के लिए बुलाया है। सान फ्रांसिस्को के एक समाचार-पत्र ने यही रिपोर्ट इस शीर्षक से प्रकाशित की : **वाइसराय का नेटिव सरदारों को शिमला में निमंत्रण।**

चूँकि विजयलक्ष्मी पंडित उन दिनों व्यक्तिगत हैसियत से सान फ्रांसिस्को गई हुई थीं इसलिए वहाँ की जनता की दृष्टि में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का महत्त्व कुछ घट गया था। रामास्वामी मुदालियार ने यही बेहतर समझा कि श्रीमती पंडित को प्रतिनिधि-मंडल से दूर ही रखा जाए। उन्होंने उन भोजों में भी श्रीमती पंडित को आमंत्रित नहीं किया था जो उन्होंने अपने होटल में दिये थे,

अलबत्ता मेरे उनसे निजी रूप में मिलने पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। मैं उनसे कई बार मिला था। एक दिन उन्होंने उसी होटल में एक पत्रकार-सम्मेलन बुलाया जिसमें हम ठहरे हुए थे। पत्रकार भारी संख्या में एकत्र हुए थे और उस सम्मेलन की ख्याति एक खान की वजह से बहुत फैली थी जो सर फ़िरोज़ ख़ाँ नून का स्टैनोग्राफ़र था और जिसने सिवाय नून के किसी को भी यह नहीं बताया था कि वह एक पत्रकार के रूप में उस सम्मेलन में जा रहा है। वहाँ उसने श्रीमती पंडित से अनेक उल्टे-सीधे प्रश्न पूछे और अंत में उसे वहाँ से निकाल दिया गया क्योंकि वह पत्रकार नहीं था। दूसरे दिन एक आम सभा में यह ऐलान किया गया कि भारत सरकार ने अपना एक आदमी भेजकर प्रेस सम्मेलन को विफल बनाने का प्रयत्न किया। अब क्या था ख़ान सहसा प्रसिद्ध हो गया, अख़बारों में उसके चित्र छपे और स्त्री-पुरुषों का उसके यहाँ ऐसा ताँता लगा कि बेचारे को अपनी दाढ़ी मुंडवानी पड़ी। उसके बाद उसके दोनों चित्र एक साथ छपे जिनमें से एक में उसके दाढ़ी थी और दूसरे में उसकी दाढ़ी मुँडी हुई थी।

सान फ्रांसिस्को में जिन बातों पर मुझे आश्चर्य हुआ उनमें सबसे बढ़कर यह थी कि स्तालिन के रूस ने ख़ुद ही अपना अनावरण कर दिया। भारत में हमें रूस के बारे में कुछ जानने के लिए कभी प्रोत्साहन नहीं मिलता था इसलिए हमें यह संदेह होता था कि रूस के साथ हमारे सम्बन्धों की स्थापना इतनी कठिन नहीं हो सकती जितनी कि हमें बताई जाती थी। लेकिन जो कुछ हमें सान फ्रांसिस्को में देखने को मिला उससे हमारी आँखें खुल गई। ऐसा अनुभव हुआ मानो किसी ऐसी स्त्री के मुख पर से सहसा अवगुंठन हटा लिया गया हो जिसके नाक-नक़्शे के बारे में विरोधी मत प्रकट किये जाते रहे हैं। न तो वह कोई नौसिखुआ ही थी और न ही कोई अल्हड़ बाला बल्कि वह तो एक ऐसी स्त्री थी जो अपने सौंदर्य के प्रति सजग थी और जिसका प्रयोग वह मनुष्यों और राष्ट्रों को अपने सामने झुकाने के लिए किया करती थी। उसकी छाया समस्त पूर्वी यूरोप पर पहले ही फैल चुकी थी और वह 'मर्मस्थल' जहाँ से चर्चिल दूसरा मोर्चा बनाना चाहता था अब साम्यवाद के इंजेक्शन से कठोर हो गया था। उसकी छाया मध्य और पश्चिमी यूरोप में भी फैलने के लिए तैयार बैठी थी। रूस ने याल्टा क़रार का उल्लंघन करके पोलैण्ड में लुबलिन शासन को मान्यता दे दी थी और उससे बीस वर्ष के लिए समझौता कर लिया था और मोलोतोव ने सान फ्रांसिस्को से चलने के दिन ही यह घोषणा की थी कि बीस पोलिश नेता जो इंग्लैण्ड से अभय वचन लेकर पोलैण्ड गये थे, लाल सेना के विरुद्ध विध्वंसात्मक

कार्रवाइयों के अपराध में गिरफ़्तार कर लिये गए हैं।

मोलोतोव कई प्रकार से स्तालिन के रूस के विशिष्ट प्रतिनिधि थे। बात चाहे छोटी हो या बड़ी, झुकना तो वे जानते ही न थे। जब अमरीका ने परमाणु का रहस्य जान लिया और युद्ध के दौरान अपने मित्र रूस को वह रहस्य बताने से इन्कार कर दिया तब से तो रूस का रवैया और भी सख्त हो गया और वह पहले से अधिक हठी बन गया। अधिकार-पत्र में जब भी किसी प्रकार की उदारता का प्रश्न आया मोलोतोव ने उसका डटकर विरोध किया। डंबार्टन ओक्स से हटकर जब भी कोई प्रस्ताव रखा गया, उन्होंने विरोध किया और निषेधाधिकार का डटकर इस्तेमाल किया।

जहाँ तक निषेधाधिकार की आवश्यकता का प्रश्न था पाँचों बड़ी शक्तियाँ उस पर पूरी तरह सहमत थीं। लेकिन सम्मेलन के अन्य सदस्यों ने जिनकी संख्या 45 थी और इवैट ने जो ऑस्ट्रेलिया के विदेश मंत्री थे, निषेधाधिकार की कटु आलोचना की और वे स्वयं उस छोटे-से दल के नेता बन गये। इवैट ने अपनी वक्तृता और तर्क देने की क्षमता से सम्मेलन को प्रभावित किया। लेकिन उनसे भी बढ़कर लोकप्रियता कनाडा के लेस्टर पियर्सन को प्राप्त हुई जिनमें बड़ी हास्य-क्षमता थी और जो हमेशा विरोधी पक्षों में सहमति के सूत्र तलाश करते थे और बड़े रचनात्मक समाधान प्रस्तुत करते थे। उनकी यह ईश्वरीय देन 1956 के स्वेज़ संकट के दौरान अपने श्रेष्ठतम रूप में उभरकर आई और उसी के कारण उन्हें नोबेल पुरस्कार भी प्रदान किया गया। जवाहर लाल नेहरू उनका हमेशा आदर करते थे। नेहरूजी को मैंने कहते सुना है कि राष्ट्र मंडल के सम्मेलनों में अगर मेरी किसी से अच्छी निभी तो वे कनाडा के प्रतिनिधि लेस्टर पियर्सन और सेंट लॉरेंट थे, हालाँकि भौगोलिक दृष्टि से कनाडा संयुक्त राज्य अमरीका से बहुत निकट है जो जॉन फ़ॉस्टर डलेस के नेतृत्व में भारत की तटस्थता की नीति को न केवल नापसंद करता रहा है बल्कि कभी-कभी उसकी कड़ी आलोचना भी करता रहा है।

सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में अमरीकी प्रतिनिधि-मंडल में जिस व्यक्ति ने हमें सबसे अधिक प्रभावित किया वे थे स्टैसन। तरुण, प्रतिभाशाली और संयत, स्टैसन का युद्ध कला में बड़ा अच्छा रिकार्ड रहा था और उनको देखकर ऐसा लगता था कि यही व्यक्ति अमरीका का अगला राष्ट्रपति बनेगा। लेकिन उसके बाद उनकी कीर्ति किस तरह और क्यों मंद पड़ गई मैं नहीं जानता। संभवतया ऐसा इसलिए हुआ है कि उनमें अडलाई स्वेटीसन जैसी धुआँधार भाषण देने की क्षमता नहीं थी और जैसा कि हम देखते हैं अमरीकी जनता इसी क्षमता को राष्ट्रपति पद के लिए एक आवश्यक शर्त समझे बैठी है। फिर भी अमरीका के

लोकतंत्र को यह श्रेय अवश्य है कि कभी-कभी वहाँ की राजनीति में लिंकन, रूज़वेल्ट और कैनेडी जैसी विभूतियाँ भी उभर आती हैं।

सान फ्रांसिस्को में रूस ने ज़ाहिर किया कि वह एक बड़ी शक्ति है जो सबल, दृढ़ और युद्धप्रिय है। उसे अपने साध्य का पूरा निश्चय है लेकिन साधनों के प्रति उसका कोई आग्रह नहीं। उसे न कोई शांत कर सकता या बहला सकता है और न उसे जनमत की लेशमात्र चिंता है परन्तु साथ ही यदिआवश्यकतापड़ेगी तो जनमत का स्वागत करने में भी उसे संकोच नहीं है। मैंने मन-ही-मन सोचा आख़िर रूस की ये विशेषताएँ उसे किधर ले जायेंगी? क्या इसका यह मतलब है कि एक संगठन जिसका आधार पाँच बड़ी शक्तियों की सर्वसम्मति है नष्ट होकर रहेगा? क्या रूस में अब भी यूरोप और सारी दुनिया को लाल रंग में रंग देने की उतनी ही प्रबल इच्छा है? क्या उसकी नीति से प्रादेशिक विस्तार के उन्हीं प्राचीन ज़ारवादी सपनों के पुनरुज्जीवन की गंध नहीं आती है? या उसकी नीति केवल यह प्रकट करती है कि वह अपनी सीमाओं की सुरक्षा के लिए सचेष्ट है और उसकी चेष्टा चाहे अत्युक्तिपूर्ण ही क्यों न हो लेकिन इतिहास के परिप्रेक्ष्य में जो सर्वथा अन्यायोचित भी नहीं जान पड़ती? चाहे इन प्रश्नों के उत्तर कुछ भी क्यो न हों इस बात में तो कोई संदेह था ही नहीं कि रूस ने सान फ्रांसिस्को में जो नीति अपनाई थी और यूरोप में उसका जिस प्रकार का व्यवहार रहा था उससे इस बात का पता चलता था कि वह एक लंबे अर्से तक दूसरे देशों से कटा रहा है और उसी विलगाव के कारण उसमें कुछ भय भी पैदा हो गए हैं। मुदालियार ने निषेधाधिकार पर अपने भाषण के दौरान यही बात बड़े सुन्दर ढंग से कही थी: 'कुछ राष्ट्र यद्यपि बड़े हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दृष्टि से अभी वे आयु में छोटे ही हैं।' यह सान फ्रांसिस्को सम्मेलन की एक महान् उपलब्धि थी कि उसने रूस को अपने अलगाव के घेरे से बाहर निकाला और उसे अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ला बैठाया।

सान फ्रांसिस्को सम्मेलन की रिपोर्ट भारत सरकार के सामने प्रस्तुत करने का दायित्व मुझे सौंपा गया था। बोज़मैन ने जो उस समय सूचना विभाग के सचिव थे, इस रिपोर्ट के प्रकाशन का इसलिए विरोध किया कि उसमें रूस के विरुद्ध पूर्वाग्रह से काम लिया गया था और उससे बड़ी शक्तियों के बीच एकता की बजाय मतभेद का अधिक आभास होता था। एकता की भी एक ही कही! अगले दस वर्षों ने बता दिया कि रूस और पश्चिम के देशों में कितनी एकता है।

सान फ्रांसिस्को सम्मेलन 26 जून तक चला। मुदालियार सम्मेलन के श्रेष्ठ वक्ताओं में माने गए थे और उनका अंतिम भाषण तो अभूतपूर्व था। उन्होंने कहा कि राष्ट्र बड़े हों या छोटे सभी नियति के नियंत्रण में हैं। विधाता ही वह

शक्ति है जो हमारे लक्ष्यों को, चाहे हमने उन्हें कैसा ही भद्दा-भोंडा रूप क्यों न दे दिया हो, बना-सँवार कर एक ऐसा रूप प्रदान करता है जो अंततोगत्वा उसी एक दूरस्थ अलौकिक परिणाम में विलीन होता है जिसकी ओर समस्त सृष्टि अग्रसर है और वह है मानव-संसद, विश्व संघ। मुदालियार की कविता उनकी राजनीति की ही भाँति विक्टोरियन युग की घालमेल कविता की याद दिलाती थी।

जब हम वापसी पर न्यूयार्क से सान फ्रांसिस्को जा रहे थे तो रास्ते में हमें मालूम हुआ कि हमारी रेल ग्लेशियर पार्क में रुकेगी जो रेड इण्डियनों की बस्ती है और वहाँ अगले दिन मुदालियार रेड इंडियनों के ब्लैक फ़ीट क़बीले के सदस्य चुने जायेंगे। मेरा हल्कापन देखिए कि मैंने विदेश सचिव कैरो को एक तार दे दिया जिसमें मुदालियार को दिये जाने वाले सम्मान का उल्लेख किया और यह भी बता दिया कि 'प्रतीकात्मक ख़तना की रस्म कल मनाई जायेगी।' इस तार को सभी सम्बद्ध विभागों में घुमाया गया और अंत में वह वाइसराय तक पहुँच गया। तार के हाशिये पर लार्ड वैवल ने लिखा : 'शंकर इस पर एक अच्छा व्यंगचित्र बना सकते हैं।'

एक वर्ष बाद मैं न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के पहले अधिवेशन में सम्मिलित हुआ। तब तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस असहयोग को तिलांजलि देकर इतिहास में पहली बार सरकार में शामिल होने के लिए सहमत हो गई थी और भारत स्वाधीनता के द्वार पर खड़ा हुआ था। न्यूयार्क को जो प्रतिनिधि-मंडल भेजा गया वह सान फ्रांसिस्को के प्रतिनिधि-मंडल से बहुत भिन्न था। श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित उसकी नेता थीं और उन दोनों प्रतिनिधि-मंडलों के बीच की कड़ी मैं स्वयं था।

हमें सबसे अधिक दिलचस्पी दक्षिण अफ्रीका के मामले में थी। श्रीमती पंडित ने बड़ी भावुकता और उत्साह के साथ उस विषय पर भाषण दिया। उन्होंने कहा, 'यदि आज ईसा मसीह भी दक्षिण अफ्रीका में प्रवेश करना चाहें तो उन्हें भी एक निषिद्ध आप्रवासी कहकर निकाल दिया जायेगा।' जनरल स्मट्स ने बड़े संयम और गरिमा के साथ दक्षिण अफ्रीका की नीति का समर्थन किया। दक्षिण अफ्रीका के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव रखा गया था यद्यपि उसका स्वर बड़ा हल्का था लेकिन फिर भी उसकी स्वीकृति संदिग्ध थी। राजनीतिक समिति में तो वह पास हो गया था लेकिन पूर्ण अधिवेशन में उसे अपेक्षित दो-तिहाई बहुमत प्राप्त होगा या नहीं यह अनिश्चित था। अपने अंतिम भाषण के

समय श्रीमती पंडित की आँख में फड़क से पानी निकलने लगा था और बहुत से लोग यह समझ बैठे थे कि वे रो रही हैं। उनकी आँखों में आँसू आ जाने से अंतिम मतदान पर कोई प्रभाव पड़ा या नहीं, मैं नहीं कह सकता, लेकिन हमें यह देखकर अपार हर्ष हुआ कि हमारा वह प्रस्ताव बहुमत से पास हो गया। वही पहला अवसर था जब इस विश्व संस्था के अंतःकरण में कुछ स्पंदन हुआ था और उसी का परिणाम था कि 1962 में उसी संस्था में दक्षिण अफ्रीका और पुर्तगाल के विरुद्ध एक प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ था।

1946 में महासभा में ही मेरा उस व्यक्ति से पहली बार परिचय हुआ जो भारत के राजनीतिक क्षेत्र ही में नहीं बल्कि उस अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर भी छा जाना चाहता था, बल्कि पन्द्रह वर्ष तक उसने ऐसा किया भी था। मैं यह मानता हूँ कि पहली बार जब मैंने वी० के० कृष्ण मेनन को देखा तो मुझे कुछ अजीब-सी चिढ़ उस व्यक्ति से हुई जबकि उस बेचारे ने मुझसे कुछ कहा तक न था। पहले कुछ दिनों तक तो वे कुछ बोले ही नहीं और अपने को सबसे श्रेष्ठ समझते रहे। हमें ऐसा लगा जैसे वे यह समझ रहे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अगर किसी में कुछ समझ-बूझ थी तो बस वे ही थे और हमारे प्रतिनिधि-मंडल के अन्य सदस्य तो मात्र बाल-अभिनेता थे, जिनके साथ एक बाल अभिनेत्री भी थी। लगता था कि आई० सी० एस० से तो उन्हें विशेष विद्वेष है, हालाँकि सरदार पटेल, जवाहर लाल नेहरू और राजगोपालाचारी जो उनसे कहीं बड़े नेता थे इस प्रकार की भावना से मुक्त थे। और अन्त में जब कृष्ण मेनन ने मुँह खोला और उसमें से शब्द निकले तो वे व्यंग्य में लिपटे हुए थे।

और एक बार तो मेरी उनसे ज़बरदस्त टक्कर हो गई। लेक सक्सेस में एक कमरे में बैठे हम नये सदस्यों—जैसे आयरलैंड, पुर्तगाल और मंगोलिया—के संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश के बारे में एक प्रस्ताव पर विचार-विमर्श कर रहे थे। श्रीमती पंडित को उस विषय पर महासभा में भाषण देना था। मैंने उनके लिए एक भाषण तैयार किया था और कृष्ण मेनन ने उसमें कीड़े निकालने शुरू कर दिये। मैंने अपना दृष्टिकोण उनके सामने रखा और उन्हें बताया कि आपकी आलोचना में कोई सार नहीं है। बस फिर क्या था वे तो और भड़क गए और हम दोनों में जो ले-दे हुई तो मेरी आवाज़ भी अनायास उभरती गई और अंत में मुझे श्रीमती पंडित से कहना पड़ा कि अगर आपने मेरे तैयार किये हुए भाषण में एक कॉमा भी बदला तो आप जानें और महासभा का काम जाने। मेरा इससे कोई संबंध न रहेगा। परिणामस्वरूप श्रीमती पंडित बड़ी दुविधा में पड़ गईं।

उनके लिए यह समस्या थी कि हम दोनों में से किसकी बात मानें—मेरी या कृष्ण मेनन की। दूसरे, शायद हम दो पुरुषों की लड़ाई में उन्हें कुछ नारी-सुलभ आनन्द भी आ रहा था, जैसा कि तत्कालीन विदेश सचिव बेटमैन को भी महसूस हुआ था जिन्होंने कहा था यह अच्छा हुआ कि दो मेननों को आपस में लड़ा दिया ताकि सही बात उभर सके। आखिरकार श्रीमती पंडित ने सभा में वही भाषण पढ़ा जो मैंने उन्हें लिखकर दिया था।

मैंने इस घटना का उल्लेख अनुजी को लिखे अपने पत्र में किया और जवाब में उन्होंने लिखा, 'जब आप जैसे से भी उस व्यक्ति का झगड़ा हो गया तो निश्चय ही वह कोई विचित्र जीव है।' संयोगवश वह पत्र जो मुझे गोथेम होटल के कमरा नं० 801 में मिलना चाहिए था उसी होटल के कमरा नं० 901 में कृष्ण मेनन के पास पहुँच गया। उन्होंने पत्र खोला और लिफ़ाफ़े पर लिख दिया, 'खेद है मैंने भूल से पत्र खोल लिया' और वह मेरे पास भेज दिया।

मालूम होता है श्रीमती पंडित ने इस घटना की सूचना जवाहर लाल नेहरू को भी दी होगी क्योंकि जब मैं लौटकर दिल्ली आया तो पंडितजी ने मुझे देखते ही कहा, 'अच्छा तो एक म्यान में दो मेनन नहीं रह सके।' मैंने उन्हें बताया कि मैं तो उन लोगों में हूँ जो अच्छे-बुरे सभी से निबाह कर लेते हैं, लेकिन मैंने देखा कि कृष्ण मेनन बहुत दंभी व्यक्ति है। पंडितजी ने बड़े ध्यान से मेरी बात सुनी और कुछ देर चुप रहने के बाद कुछ दार्शनिक के-से स्वर में कहा कि दुनिया में सभी प्रकार के लोग होते हैं, कुछ ऐसे हैं जो बड़े योग्य और कर्मठ होते हैं लेकिन वे कुण्ठा के शिकार होते हैं जो अनेक प्रकार से उनके व्यवहार में व्यक्त होती है। यदि ऐसे लोगों को दायित्व का काम सौंप दिया जाए तो वे देश के लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

कुछ ही समय बाद कृष्ण मेनन को लंदन में भारतीय हाइ कमीशन का दायित्व सौंप दिया गया और उसके कुछ अर्से बाद जब लंदन में उनकी कुछ कार्रवाइयों पर हुई आलोचना ठण्डी पड़ने लगी तो उन्हें दिल्ली में रक्षा मंत्री नियुक्त कर दिया गया। इस अर्से में संयुक्त राष्ट्र के वार्षिक अधिवेशनों में जो भारतीय प्रतिनिधि-मंडल गया वे उसके नेता होकर गये और वहाँ उनके व्यक्तित्व की धूम मच गई। कुछ लोगों में उनके प्रति आदर क्या श्रद्धा तक के भाव जागे और कुछ में उनके प्रति निन्दा पैदा हुई। मेरा उनके प्रति जो दृष्टिकोण रहा उसमें प्रशंसा के साथ कुछ खीझ का भी पुट था। उनकी अपूर्व देशभक्ति, उनके अटूट विश्वास, उनकी सहज और कभी-कभी जोशीली वक्तृता, उनकी अभिनय-प्रतिभा और कठिन परिश्रम की उनकी क्षमता का मैं हमेशा प्रशंसक रहा। लेकिन साथ ही मुझे उनके दंभ और उद्धत व्यवहार से हमेशा घृणा रही। इस

अहम्मन्यता के अतिरिक्त उनकी एक कमज़ोरी यह भी रही कि वे मूर्खों को सहज ही सहन नहीं कर सकते (अलबत्ता यदि वे उनकी उद्देश्यपूर्ति में सहायक हों तो ठीक है)। दूसरे उन्हें दुनिया में हर कोई मूर्ख नजर आता है और इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि वे न तो बहुत अधिक उत्कर्ष कर सके और न ही भारतीय राजनीतिज्ञों की अगली पंक्ति में रह सके। उन्हें देखकर मुझे अक्सर तालेराँ के शब्द स्मरण हो आते हैं जो उन्होंने नेपोलियन के लिए कहे थे, 'कितने दुर्भाग्य की बात है कि कितना बड़ा आदमी और किस बुरी तरह उसका पालन-पोषण हुआ।' लेकिन इसके साथ ही जब मैं यह सोचता हूँ तो संतोष होता है कि कुछ भी हो इतिहास में नेपोलियन का तालेराँ से कहीं ऊँचा स्थान है।

चीन : युद्ध के बाद

००

मई 1946 में चीन की सरकार अपनी युद्धकालीन राजधानी चुंगकिंग से उठकर युद्ध-पूर्व राजधानी नानकिंग चली गई। उस समय उन्हें यह ख़याल न आया और न ही हमने यह सोचा कि नानकिंग तीन वर्ष भी युद्धोत्तर चीन की राजधानी न रह पायेगी। 1946 के प्रारंभ में ही ऐसे लक्षण दिखाई दिये थे कि कुओमितांग और कम्युनिस्टों के बीच जमकर संघर्ष होगा लेकिन उसका परिणाम क्या होगा इसके बारे में राजनयिक कोर के सदस्यों में मतभेद था। कोई तो कहता था कि वह गृहयुद्ध कम-से-कम बीस वर्ष तक तो चलेगा ही क्योंकि लड़ाई तो चीनियों की विशेषता है बस अन्तर यह है कि इस समय जिस रूप में यह हो रही है वह नया है। दूसरों का कहना था कि चीन दो भागों में विभक्त हो जायेगा। विभाजन का उस समय सभी जगह प्रचलन था—जर्मनी, कोरिया, भारत और फ़िलिस्तीन सभी बँट चुके थे और यह आशंका थी कि चीन भी सोवियत और अमरीकी प्रभाव क्षेत्रों में बँट जायेगा। लेकिन राजनयिकों में कुछ ऐसे आशावादी भी थे जिनका कहना था कि चियाँग काई-शेक अमरीका की सहायता से एक ही वर्ष में कम्युनिस्टों को कुचल देगा। यह किसी ने कल्पना भी न की थी कि कम्युनिस्ट चियाँग काई-शेक को तीन वर्ष के भीतर ही समाप्त कर देंगे।

युद्ध की समाप्ति के फ़ौरन बाद मेरी मुख्य चिंता यह थी कि शंघाई में भारी संख्या में बसने वाले भारतीय समुदाय के साथ क्या बीतेगी। वहाँ रहने वाले हिन्दुस्तानियों में अधिकतर सिख थे जो अन्तर्राष्ट्रीय बस्तियों में सिपाही थे और स्वाभाविक ही था कि चीनी उन्हें नापसंद करते थे क्योंकि वे लोग विदेशियों की सेवा कर रहे थे। अब विदेशी सुविधायें समाप्त कर दी गई थीं इसलिए सिखों की चीन में कोई जगह नहीं थी, लेकिन इसके बावजूद उनमें से अधिकांश ऐसे थे जो लौटकर भारत नहीं आना चाहते थे। वे इतने अर्से से वहाँ रह रहे थे कि अपने देश से अब उनका कोई संपर्क नहीं रह गया था। दूसरे उनके जीविकोपार्जन के साधन भी अनिश्चित थे, वे ब्याज पर रुपया उधार देते थे जिसकी वजह से और अधिक अलोकप्रिय हो गये थे। अंततः मैंने भारत सरकार को इस बात के लिए राज़ी कर

लिया कि वे दो चार जहाज़ उन लोगों के लिए भेंज दें ताकि वे मुफ़्त में भारत आ सकें। इसके साथ ही हमें उन हिन्दुस्तानियों को भी राहत पहुँचानी थी जो दूसरों की अपेक्षा अधिक दरिद्र थे। अतः हमने यह निर्णय किया कि अविवाहितों के मुक़ाबिले में विवाहितों को, और निस्संतान दंपति की अपेक्षा बाल-बच्चे वाले लोगों को, अधिक रक़म दी जाए। तभी शंघाई के एक प्रमुख मुसलमान नेता को एक बात सूझी। उसने मुसलमानों को सलाह दी कि तुम चीनी स्त्रियाँ चुनो, विशेषकर ऐसी स्त्रियाँ जिनके बच्चे भी हों, उन्हें मस्जिद में ले जाओ और इमाम के सामने उनसे निकाह करके फिर राहत माँगो। परिणामस्वरूप मुझे यह मनमाना आदेश जारी करना पड़ा कि पहली अक्तूबर 1945 के बाद होने वाले विवाहों को राहत के प्रयोजन के लिए मान्यता नहीं दी जायेगी।

शंघाई जिसे पूरब का पोर्ट सईद कहा जाता था—बहुत ही असाधारण नगर था। संसार के सभी भागों से साहसिक पुरुष और स्त्रियाँ उसकी ओर आकृष्ट होते थे। जब मैं वहाँ था, मैंने शंघाई की एक प्रसिद्ध महिला एमिली या मिकी हान की लिखी हुई एक दिलचस्प किताब पढ़ी। उस महिला का जीवन इतना वैविध्यपूर्ण रहा होगा इस पर सहज विश्वास करना कठिन है। वह अमरीकी पत्रकार थी, सिगरेट पीती थी, बन्दर पालती थी, मदाम चियाँग काई-शेक की सचिव रही थी, सूँग बहनों पर उसने एक पुस्तक लिखी थी, वह वेश्यालय में रहती थी, ब्रिटिश सेना के एक विवाहित अधिकारी से उसका एक अवैध पुत्र था और उसके पितृत्व की घोषणा उसने अपनी पुस्तक **चाइना एण्ड मी** में की थी। उस व्यक्ति का नाम बॉक्सर था। जब मिकी विवाह के बिना ही गर्भवती बन गई और किसी ने उसका फूला हुआ पेट देखा तो उससे उसका कारण पूछा। मिकी ने उत्तर दिया, 'अरे इसमें एक और बॉक्सर उभर रहा है।' शंघाई से मैंने अपनी रिपोर्ट भेजी तो लॉर्ड वेवल ने उसके हाशिये पर लिखा कि बॉक्सर के पिता मेरे साथ सेना में रहे थे। एक और रिपोर्ट जो मैंने चुंगकिंग से भेजी थी उस पर उन्होंने यह टिप्पणी दी थी : 'मेनन में विनोदवृत्ति है जिसकी चुंगकिंग में उन्हें ज़रूरत भी है।'

चीन में हमारी मुलाक़ात कई दिलचस्प लोगों से हुई जिनमें रॉबर्ट चेन और उनकी पत्नी भी थीं। श्रीमती चेन युवाँ शीह-काई के प्रधान मंत्री की पुत्री थीं। उनका संबंध चीन के एक प्रतिष्ठित परिवार से था और उनकी बहन मदाम चियाँग के अनाथालयों की व्यवस्थापिका थीं। श्रीमती पेन ने अब तक विभिन्न जातियों के लोगों से वैवाहिक प्रयोग किये थे जिनमें चीनी, फ्रांसीसी और इतालवी थे और अब वे एक अंग्रेज की पत्नी थीं। उन्हें देखकर मुझे ईस्ट इंडिया कम्पनी

के समय की बेगम समरू की याद आ जाती थी जिसे बुढ़ापे में जब उसके एक भूतपूर्व पति का चित्र दिखाया गया था तो उसने कहा था कि मेरी स्मरण-शक्ति दुर्बल हो गई है और मैं इन्हें पहचान नहीं पा रही। श्रीमती पेन के पहले पति का उनसे झगड़ा हो गया था। उसे अपनी पत्नी और अपने भाग्य से घृणा थी। वह आवारा बदमाशों के साथ रहता था, रिक्शा चलाता था और अंत में हैज़े से मर गया था। वे देखने में बड़ी आकर्षक थीं और उनका बातचीत करने का ढंग भी बड़ा सुन्दर था। पेन उनसे उम्र में बहुत छोटे थे और श्रीमती पेन ने अपने पति को पूरी तरह वश में कर रखा था। पेन कुनमिंग शिङ्ह्वा विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी साहित्य के प्रोफ़ेसर थे। इस विश्वविद्यालय को ब्रिटिश कौंसिल आर्थिक सहायता देती थी। व्यक्तियों और वस्तुओं के बारे में उनकी निश्चित धारणाएँ थीं। स्पेन के गृहयुद्ध में वे रिपब्लिकनों की ओर से लड़े थे और एक बार जब हिटलर वियन्ना आया था तो उन्होंने कुछ नवयुवकों के साथ मिलकर उसकी हत्या के षड्यन्त्र में भी भाग लिया था। उन्हें कुओमिंतांग शासन से घृणा थी और वे अपनी ज़हर-बुझी लेखनी से चियाँग काई-शेक पर एक पुस्तक लिखने में व्यस्त थे। जब 1942 में महात्मा गाँधी गिरफ़्तार हुए तो उस अन्याय का उन पर इतना गहरा असर हुआ कि वे बड़ी गंभीरता से अमरीकी नागरिक बनने का विचार करने लगे। उनमें बड़ी असामान्य आदतें थीं : वे दिन भर सोते थे और रात भर काम किया करते थे। जब शिङ्ह्वा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष डॉ० मी ई-ची से पूछा गया कि क्या पेन एक विचित्र व्यक्ति नहीं हैं जिनके साथ निबाह करना बहुत कठिन है? इस पर मी ने उत्तर दिया, 'हमारा विश्वास है कि यदि किसी व्यक्ति में अपार मेधा है तो संस्था को चाहिए कि वह अपने को उसके अनुरूप बनाए, न कि उससे यह अपेक्षा करे कि वह अपने को संस्था के अनुसार बना ले।'

पर्ल हार्बर की घटना के वार्षिकोत्सव के अवसर पर शंघाई के मेयर शेन शी-ह्वा और उनकी पत्नी ने हमें और अनेक अमरीकी उच्चाधिकारियों को, जिनमें जनरल स्ट्रेटमेयर भी शामिल थे, रात्रि के भोज में आमंत्रित किया। डिनर के साथ हमें एक नाटक भी दिखाया जाने वाला था जो विशेष रूप से भिन्न राष्ट्रों के अधिकारियों के मनोरंजन के लिए किया जाने वाला था और जिसमें चीन का महान् अभिनेता भी लान-फाँग अभिनय करने वाला था। डिनर बहुत ही स्वादिष्ट था। हमने छक कर खाया और उसके बाद थ्येटर की ओर गये। वहाँ जाकर क्या देखते हैं कि चीनी सैनिक ज़बरदस्ती हॉल में घुस आये हैं और उन्होंने सारी सीटों पर क़ब्ज़ा कर लिया है। हमें तो यह देखकर आश्चर्य हुआ ही, लेकिन हमारे मेज़बान को इस पर बहुत खेद हुआ। किसी को इतना साहस न हुआ कि उन

सैनिकों से कुछ कहता, और अंततः हमें और हमारे जैसे बीसियों मेहमानों को भी लान-फाँग को देखे बिना ही वापस घर आना पड़ा। हमारे मेजबान इस अप्रत्याशित घटना पर बड़े लज्जित हुए और श्रीमती शेन ने भुनभुनाते हुए कहा, 'हो न हो यह कम्युनिस्टों की शरारत होगी।'

नानकिंग जाने के कुछ ही दिन बाद मैं पीकिंग गया। पीकिंग ठीक वैसा ही था जैसी कि मैंने उसकी कल्पना की थी, किन्तु उससे अधिक नहीं। कुछ ऐसा ही अनुभव मुझे ताज देखकर हुआ था जब मैंने उसे पहली बार देखा था। ताज ऐसी अभूतपूर्व कलाकृति थी जिसे देखकर यह आभास होता था जैसे वह कला की सामान्य परिधि से परे हो, जैसे वह एक स्पर्शमात्र से उठेगा और अंतरिक्ष में विलीन हो जायेगा। पीकिंग की इमारतों में अलौकिकता जैसी कोई बात नहीं थी, न ही वहाँ के मंदिर ऐसे भव्य थे जैसे हमारे दक्षिण भारत में होते हैं। पीकिंग की वास्तुकला के लिए ये तीन विशेषण ही मेरे मस्तिष्क में आये—सुंदर, गरिमामय और रमणीय। किन्तु उसमें भारतीय वास्तुकला की वह उदात्तता और भव्यता नहीं थी, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि उसमें मध्य युग की यूरोपीय स्थापत्य की-सी गरिमा भी नहीं थी। चीन की वास्तुकला चीनियों की विशिष्ट भावना का द्योतन करती थी जो इसके बावजूद धरती से चिमटे हुए थे कि उनकी इमारतों की छतें कुछ आकाश की ओर प्रवृत्त थीं और उनकी संस्कृति में बौद्ध धर्म का एक हल्का-सा पुट भी था।

पीकिंग में एक ही इमारत ऐसी थी जो इतनी ऊँची थी कि लगता था आकाश को छू रही है, और वह था **स्वर्ग-मंदिर**। इस रंगबिरंगे मंदिर की तीन मंज़िलें थीं, जिसकी छत सुनहरी थी और उसमें लगे टाइल नीले रंग के थे। उनका आँगन बहुत बड़ा था और उसमें संगमरमर की वेदी बनी थी जिस पर या जिसके समान किसी और वस्तु पर **स्वर्ग-पुत्र** ने चार हज़ार वर्षों तक उस एक मात्र शक्ति पर बलि चढ़ाई थी जिसके प्रति वह आस्था रखता था। यह भगवान का घर देखकर न केवल ऐन्द्रिय सुख प्राप्त होता है बल्कि उससे आत्मा की तंत्री के तार भी झनझना उठते हैं। लेकिन अब वह मंदिर नहीं रह गया था, केवल एक स्मारक था। इसका मंदिर के रूप में अंतिम बार उपयोग 1915 में हुआ था जब युवाँ शीह-काई नामक एक ग़द्दार क्रांतिकारी इसकी वेदी पर चढ़ा था और उसने एक कैमरा-मैन को साथ रखकर वहाँ बलि चढ़ाई थी। इस मंदिर में जो हेय कृत्य होते थे उन्हीं के कारण गणतांत्रिक चीन ने भगवान की पूजा को एक लोकतंत्र-विरोधी रीति बताकर समाप्त कर दिया।

इस 'साम्राज्यिक नगर' के राजप्रासादों में बाग़, मंडप, आँगन, दरबार हॉल, ज़नाने कमरे और कृत्रिम जलमार्ग थे जिन्हें देखकर हमें आगरा और दिल्ली

के मुगलकालीन महल याद आ गये। उन महलों की गोल छतें और उनमें लगे पीले टाइल, जो धूप में झिलमिलाते थे और चाँदनी में चमकते थे, उनके सौंदर्य को और भी बढ़ाते थे, और यह एक ऐसी विशेषता थी जो अकबर और शाहजहाँ भी अपने महलों ने न ला सके थे। साम्राज्यिक नगर में आपको एक दो या दर्जन भर महल नहीं मिलेंगे बल्कि वहाँ तो महलों की ऐसी भीड़-भाड़ है और वे सब एक-दूसरे से ऐसे मिलते-जुलते हैं कि फ़र्क़ करना मुश्किल हो जाता है। चीनियों को वैविध्य से नहीं बल्कि सामंजस्य से लगाव है, इसी के लिए वे प्रयत्नशील रहते हैं और यही उन्होंने जीवन तथा कला दोनों क्षेत्रों में प्राप्त भी कर लिया है और इतनी पूर्णता के साथ प्राप्त कर लिया है कि शायद ही संसार में किसी और देश ने किया हो। साम्राज्यिक नगर से सर्वथा भिन्न पीकिंग का 'राजनयिक नगर क्षेत्र' था। वहाँ हमने वास्तुकला की दर्जनों शैलियाँ देखीं जो एक-दूसरे में इस बुरी तरह गड्ड-मड्ड हो गई थीं कि बहुत भद्दी लगती थीं। डच राजदूतावास की इमारत को देखिए उसमें ठेठ डच स्थापत्य का नमूना मिलेगा, रूसी राजदूतावास को देखिए उसमें वही रूसी विद्रोहात्मक पुट दिखाई देगा लेकिन ब्रिटिश राजदूतावास के लोगों ने स्थानीय वातावरण का ध्यान रखते हुए ऐसी इमारत बनवाई थी जो सर्वथा विदेशी नहीं लगती थी।

उस वर्जित नगर के बाहर 'तीन समुद्र' थे। वे दरअसल कृत्रिम झीलें थीं जिनके किनारे बेद के छायादार वृक्ष थे अजगर मंडप थे और बड़े मनोहारी द्वीप बने हुए थे। इन्हीं द्वीपों में से किसी एक में मेरी भेंट पीकिंग में जनरलिस्सिमो के प्रतिनिधि जनरल ली त्सुँगजेन और उनकी पत्नी से हुई जो हीरे-जवाहरात सेलदी हुई थीं। वर्जित नगर से कुछ दूर ग्रीष्म प्रासाद था। यह प्रासाद वह मूल ग्रीष्म प्रासाद नहीं था जिसे1860 में अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों की फ़ौज ने नष्ट कर दिया था और कला-कृति के विनाश का यह एक ऐसा प्रतिकार-प्रेरित कृत्य था जिसे चीनी कभी नहीं भूलेंगे। यह प्रासाद चीन की राजमाता ने बनवाया था। कहा जाता है कि राजमाता ने इस प्रासाद के निर्माण के लिए छह करोड़ टाएल (चीनी सिक्का) खर्च किये थे जो वास्तव में चीनी जलसेना पर खर्च होने वाले थे। शायद उसकी दृष्टि में नौसेना का महत्त्व गौण था और उसका यह विचार बुद्धिमत्तापूर्ण था क्योंकि यदि उन्होंने नौसेना तैयार की होती तो जापानी उसे डुबो देते, लेकिन प्रासाद को उन्होंने अछूता छोड़ दिया था।

नौसेना के प्रति कुओमिंतांग का रवैया भी कुछ बहुत भिन्न नहीं था। एक भारतीय जहाज़ एच० एम० आई० एस० गोदावरी सद्भाव-यात्रा पर चीन गया। मैं और अनुजी शंघाई में उस जहाज़ पर बैठे और यांग्ट्सी नदी के रास्ते नानकिंग तक गये। वहाँ उस जहाज़ का भारी स्वागत हुआ और शाम को चीनी नौसेना

के एडमिरल ने हमारे कमांडर करमरकर के सम्मान में एक भव्य भोज का आयोजन किया। चीनी एडमिरल स्वयं कवि थे और उन्होंने वहाँ अपनी वह कविता पढ़कर सुनाई जो उन्होंने भारत तथा भारत-चीन मैत्री के सम्मान में लिखी थी। हांगचो की बनी चीनी मदिरा ने जब उन्हें गरमाया तो उन्होंने बड़े उत्साह के साथ कई बार हमारे स्वास्थ्य के लिए मदिरापान किया। बीच-बीच में संगीत का कार्यक्रम रुका तो करमरकर ने एडमिरल के वक्ष तथा पेट पर तमग़ों की क़तार देखकर यह समझा कि उन्होंने समुद्र में अनेक वीरता-कार्य किये होंगे। उसने पूछा, 'आप युद्ध के दौरान कहाँ थे?' एडमिरल ने उत्तर दिया, 'स्विटज़रलैंड में।' और बात वहीं समाप्त हो गई।

जापानियों की पीकिंग पर कुछ विशेष कृपा रही है। किसी इमारत को युद्ध में कोई नुक़सान नहीं पहुँचा, बल्कि उनके क़ब्ज़े के दौरान तो इमारतों की स्थिति कुछ सुधर गई। जापानियों ने पीकिंग के 3000 वर्ष प्राचीन काँसे, चीनी मिट्टी और हरितमणि की बहुमूल्य वस्तुओं और ताँग और सूँग वंशों के चित्रों की भी रक्षा की। लेकिन मुझे मालूम हुआ कि मुकडेन की निधियाँ, जहाँ सम्राट गर्मी के दिन बिताया करते थे और जहाँ 1890 में पीकिंग सरकार के तख़्ता उलटने के बाद राजमाता 'दौरे पर' चली गई थी। अब वहाँ से ग़ायब हो चुकी थीं।

पीकिंग एक इतिहास-प्रसिद्ध नगर है जिससे अनेक कथाएँ सम्बद्ध हैं। और अब एक और कथा का वहाँ प्रारंभ हो रहा है। पीकिंग, तिएनत्सिन और उन दोनों को मिलाने वाली रेलवे व्यवस्था पर केन्द्रीय सरकार का अधिकार था और उसको दृढ़ बनाये रखने के लिए अमरीकी जहाज़ी बेड़ा वहाँ मौजूद था लेकिन कम्युनिस्ट रोज़-बरोज़ बढ़ते ही चले आ रहे थे। पश्चिमी पर्वत-शृंखला, जिनमें मिंग वंश की समाधियाँ थीं, पहले ही से कम्युनिस्टों का अड्डा बनती जा रही थी। जब ब्रिटिश राजदूत सर होरेस सेमूर पश्चिमी पहाड़ियों के मंदिर देखने गये तो वे कुओमिंतांग अधिकारियों के परामर्श पर अपने साथ एक कम्युनिस्ट रक्षक को ले गये थे।

पीकिंग जाने के कुछ ही दिन बाद मैं कुछ महीनों की छुट्टी लेकर भारत आ गया जहाँ हमें तंपी से कुंजा का विवाह करना था। तंपी मेरा भानजा है जिसने संयुक्त राष्ट्र सचिवालय में बड़ा नाम पैदा किया था। कुंजा की शादी के बाद मैं 2 सितंबर 1946 को दिल्ली गया। यह दिन भारत के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण दिन है क्योंकि इसी दिन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारत में सरकार बनाने के लिए सहमति दे दी थी और जवाहर लाल नेहरू ने वाइसराय की कार्यकारी परिषद् के उपाध्यक्ष का पद सँभाल लिया था। अभी भारत गणराज्य नहीं बना था, बल्कि अभी तो उसे डोमिनियन पद भी नहीं मिला था लेकिन नेहरूजी

के लिए संभव ही न था कि वे सरकार में सम्मिलित हो जाएँ और उसके एक प्रभावशाली नेता न बनें। उनके व्यक्तितत्व का प्रभाव धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से प्रशासन के प्रत्येक अंग पर पड़ा। विदेशी मामलों के क्षेत्र में उनका पहला बड़ा काम न्यूयार्क में होने वाले संयुक्त राष्ट्र की महासभा के पहले अधिवेशन में भेजने के लिए एक प्रतिनिधि-मंडल का चुनाव करना था। मैं इस प्रतिनिधि-मंडल का एक सदस्य निर्वाचित हुआ जिसका विवरण मैं पिछले अध्याय के अंत में दे चुका हूँ।

जब मैं संयुक्त राष्ट्र संघ से लौट कर भारत आया तो मुझे चीन में राजदूत नियुक्त कर दिया गया। किंग जॉर्ज षष्ठ की ओर से मुझे दिये गए प्रत्यय-पत्र में लिखा था, 'हम अपने विश्वासभाजन और प्रिय, माननीय श्री कुमार पद्म शिव-शंकर मेनन के विवेक और निष्ठा में पूर्ण विश्वास और आशा रखते हुए उन्हें चीन में अपना असाधारण और पूर्णाधिकारी राजदूत नियुक्त करते हैं। श्री मेनन जिनकी प्रखर बुद्धि, निष्ठा, उद्यमशीलता और दक्षता असंदिग्ध है, इस विशेष प्रयोजन से चीन भेजे जा रहे हैं कि वे उपर्युक्त हैसियत से चीन गणराज्य में हमारा प्रतिनिधित्व करेंगे।' इस पर ऊपर 'जॉर्ज आर० आई' हस्ताक्षर थे और नीचे 'महामहिम के आदेशानुसार, जवाहर लाल नेहरू' अंकित था। मैं और आसफ़ अली जो वाशिंगटन में भारत के राजदूत नियुक्त हुए थे स्वतंत्र भारत के पहले राजदूत थे। जनवरी 1947 में जवाहर लाल नेहरू ने हमारे मार्गदर्शन के लिए एक टिप्पणी हमें भेजी। उसमें विभिन्न प्रकार की बातें लिखी थीं जैसे, राष्ट्र ध्वज और राजकीय चिह्न (भारत के पास इनमें से एक भी नहीं था), समारोहों के अवसर की वेशभूषा, राष्ट्रमंडल की सभाओं में भाग लेने का औचित्य और यह कि भोज कितने बड़े पैमाने पर किये जाएँ और उनकी विधि क्या हो। हमें आगाह किया गया था कि हम यह याद रखें कि हम 'भारतीय हैं नक़ली अंग्रेज नहीं।' पण्डितजी ने लिखा था, 'हमारे राजदूत एक महान् देश का प्रतिनिधित्व करने जा रहे हैं और उन्हें चाहिए कि वे अपने आचरण और व्यवहार से दूसरों पर यह प्रकट करें कि वे वास्तव में एक महान् देश के प्रतिनिधि हैं। लेकिन साथ ही उन्हें यह भी याद रखना चाहिए कि वे दरिद्र देश के प्रतिनिधि हैं जिसके करोड़ों लोगों पर हर समय भुखमरी का ख़तरा मँडराता रहता है। उन्हें यह बात भूलनी नहीं चाहिए और न ही कोई ऐसा कार्य करना चाहिए जो इसके प्रतिकूल हो।

पंडित जी की टिप्पणी में भारत की विदेश नीति का भी स्थूल रूप से प्रतिपादन किया गया था। मैं उस नीति की यहाँ सविस्तार चर्चा किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि इसमें गुट-निरपेक्षता, अप्रतिबद्धता या सकारात्मक तटस्थता के

बीज मौजूद थे जिन्होंने कालांतर में एक ऐसे सशक्त वृक्ष का रूप धारण कर लिया जिसकी छाया में कलहग्रस्त संसार की बाधाओं से त्रस्त होकर एशिया और अफ्रीका के अनेक राज्यों ने शरण ली थी और इसी की सहायता से संसार को बैरभाव और शत्रुता से मुक्त करने का भी प्रयास किया था। नेहरूजी ने लिखा था, 'हमारी सामान्य नीति सत्तार्थ-राजनीति के झंझट से बचने और किसी भी एक शक्ति-दल के विरूद्ध दूसरे दल में सम्मिलित न होने की है। आज ये दो प्रमुख गुट हैं एक रूसी गुट और दूसरा ऐंग्लो-अमरीकी गुट। हमें दोनों से मित्रता रखनी चाहिए लेकिन इनमें से किसी में शामिल नहीं होना चाहिए। अमरीका और रूस दोनों ही न केवल एक दूसरे पर शंका करते हैं बल्कि अन्य देशों के प्रति भी संदिग्ध रहते हैं। इससे हमारा मार्ग और भी दुर्गम बन गया है और हम पर दोनों में से हरेक यह संदेह कर सकता है कि हम दूसरे की ओर झुके हुए हैं। यह ऐसी स्थिति है जिस पर हमारा कोई वश नहीं है।

'हमारी विदेश नीति अंततः हमारी गृह नीति पर ही निर्भर होगी। और वह नीति साम्यवादी नहीं है, बल्कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की तो वह निश्चित रूप से विरोधी है। लेकिन इसके बावजूद भारत में एक धुँधली-सी वह समाजवादी समाज-पद्धति के पक्ष में लोगों की भावना बड़ी प्रबल होती जा रही है। भारत में अमरीका के प्रति अपार सद्‌भाव है और साथ ही अनेक क्षेत्रों में विशेषतः तकनीकी क्षेत्र में, उससे कुछ सहायता मिलने की भी हमें आशा है। सोवियत संघ के कार्य के प्रति और जनता में उसने जो महान् परिवर्तन किया है उसके प्रति भी यहाँ लोगों में बहुत सहानुभूति पाई जाती है। चूँकि सोवियत संघ हमारा पड़ोसी है इसलिए हमारे लिए उससे निकट मैत्री संबंध स्थापित करना अनिवार्य है। हम केवल इस कारण से रूस से शत्रुता मोल नहीं ले सकते कि हम यह जानते हैं कि ऐसा न करने से दूसरा इससे नाराज़ हो जायेगा। और न ही हम वास्तव में अमरीका से बैर रख सकते हैं।'

अपनी इसी टिप्पणी में पंडितजी ने चीन के बारे में भी कुछ सुनिश्चित बातें मुझे लिखी थीं। उन्होंने लिखा था, 'चीन में स्थिति इसलिए गंभीर है कि वहाँ गृहयुद्ध जारी है। चियाँग काई-शेक दंपति से मेरी बड़ी गहरी दोस्ती है और हम एक-दूसरे का आदर करते हैं। उत्तर-पश्चिम के कुछ प्रमुख कम्युनिस्ट नेताओं से भी मेरी मैत्री है हालाँकि मैं उनसे कभी मिला नहीं हूँ। अमरीका में प्रकाशित रिर्पोटों से भी यही ज़ाहिर होता है कि चीन में दोनों में से कोई भी पक्ष निर्दोष नहीं है। जब अमरीकी राजमर्मज्ञ, जिन्हें हर उस चीज़ से सख्त नफ़रत है जो कम्युनिस्ट है, यह कह सकते हैं तो समझ लेना चाहिए कि चीनी कम्युनिस्टों का पक्ष कमज़ोर नहीं है। चीन में हमारे राजदूत को चाहिए कि वह

चियाँग काई-शेक की सरकार के साथ निकट मैत्री संबंध स्थापित करे लेकिन साथ ही गृहयुद्ध में किसी का पक्षपात न करे। उसे चाहिए कि वह कोई ऐसी बात भी न करे जो दोनों में से किसी एक पक्ष के लिए अप्रिय हो। मैंने भी कुछ बातें ऐसी कही या लिखी हैं जिनका चीन की सरकार ने यह अर्थ लगा कर उनसे अनुचित लाभ उठाया है कि वे उत्तर-पश्चिम साम्यवादी सरकार के विरोध में कही गई हैं। मैंने इस पर खेद प्रकट किया है। यदि चीन में हमारे राजदूत को चीनी सरकार की नाराज़गी मोल लिये बिना ही उत्तर-पश्चिम के इलाक़ों में जाने का अवसर मिले तो उसे उस अवसर को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए और वहाँ के नेताओं को हमारी मैत्री और अहस्तक्षेप की सामान्य नीति से अवगत करा देना चाहिए।'

यह टिप्पणी एक ऐसे व्यक्ति के नाम लिखी गई थी जो चियाँग काई-शेक सरकार के प्रति प्रत्यायित भारत का राजदूत होकर जाने वाला था। चियाँग सरकार की भारत से मित्रता थी और उसने उसे स्वाधीन करने के लिए ब्रिटिश सरकार से अनुरोध भी किया था। इसके साथ ही यह टिप्पणी उस समय लिखी गई थी जबकि यह असंभव-सा लग रहा था कि 'कम्युनिस्ट डाकू'—चियाँग काई-शेक उन्हें हमेशा यही कहा करते थे—समस्त चीन पर अपना अधिकार कर लेंगे। इसलिए इन सब परिस्थितियों को देखते हुए उस सूझबूझ और दूरदर्शिता की प्रशंसा करनी पड़ती है जो इस टिप्पणी में परिलक्षित होती थी। दो वर्ष भी न बीते थे कि कम्युनिस्टों ने कुओमितांग सरकार का तख्ता उलट दिया और चीन में अपनी सरकार स्थापित कर ली।

जब भारत स्वतंत्र हुआ तो मैं चीन में था। मेरे जीवन का अत्यंत गौरवशाली क्षण वह था जब मैंने 15 अगस्त 1947 को अपना राष्ट्रध्वज फहराया। जब 1943 में मेरी तैनाती चुंगकिंग में हुई थी तो मैंने देखा था कि मेरे प्रथम सचिव रिचर्डसन ने एक ध्वजदंड तैयार कराया था जिस पर मुझे यूनियन जैक फहराना था। लेकिन मैंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया था। इसलिए नहीं कि मुझे यूनियन जैक से कोई बैर था बल्कि मैंने बलूचिस्तान में उसे बड़े गर्व से फहराया था। लेकिन वहाँ वह सत्ता का प्रतीक था और उसे फहराकर क़बाइलियों को यह जताना था कि एक भारतीय भी अपनी सत्ता का उतने ही कारगर ढंग से प्रयोग कर सकता है जितना कि एक अंग्रेज़। इसके विपरीत चीन में यूनियन जैक फहराने का सीधा-सच्चा अर्थ था भारत की परतंत्रता का ढिंढोरा पीटना।

बलूचिस्तान में झण्डा फहराने से हमारे कई उद्देश्य पूरे हुए। जब तक झण्डा ऊँचा रहता और राजनीतिक एजेंट वहाँ मौजूद रहता था तो मलिक हमें

चकोरों का शिकार करके उनके झुण्ड-के-झुण्ड भेजा करते थे। जब हम 1933 में बड़े दिन पर कराची गये और झण्डा नीचे उतार दिया गया तो मलिकों ने हमें चकोर भेजने बंद कर दिये। हमारे बच्चों ने सोचा कि यह तो कुछ न हुआ लिहाज़ा उन्होंने मेरी अनुपस्थिति में ही यूनियन जैक ऊपर कर दिया और नतीजा यह हुआ कि चकोर फिर आने लगे।

15 अगस्त के दिन सवेरे 8 बजे हमारा ध्वजारोहण समारोह संपन्न हुआ जिसमें राजनयिक मिशनों के अध्यक्ष और अनेक गण्यमान्य चीनी उपस्थित थे। उस समारोह के हमने कई रिहर्सल भी किये थे। अनुजी के सामने यह समस्या थी कि नानकिंग के भारतीय समाज को, जिसे संगीत से कोई विशेष लगाव नहीं था, **जन गण मन** गाना कैसे सिखाया जाए। इससे भी बढ़कर यह हुआ कि उन रिहर्सलों में झण्डा लहरा ही नहीं पाता था, जब भी उसे ऊपर चढ़ाते वह नीचे को झुक जाता था। लेकिन 15 अगस्त को जब झंडा फहराया गया तो न जाने कहाँ से हवा का एक झोंका आया और हमारा तिरंगा झंडा, जिसके बीच में धर्म का प्रतीक अशोक चक्र बना हुआ था, बड़े ज़ोर-शोर और शान के साथ लहराने लगा। उस अवसर पर अपने भाषण में मैंने कहा, 'भारत के इतिहास में यह एक ऐतिहासिक क्षण है। बल्कि मैं तो यह समझता हूँ कि इस क्षण का एशिया ही नहीं समस्त संसार के इतिहास में भी बहुत अधिक महत्त्व है। आज भारत विश्व मंच पर एक स्वाधीन राज्य के रूप में पदार्पण कर रहा है। लेकिन उसे एक ऐसी लजीली लड़की नहीं समझना चाहिए जो पहली बार मंच पर आई हो। मानव जाति के इस लंबे नाटक में वह कई बार मंच पर आ चुका है। सदियों वह मंच पर छाया रहा है, उसके दोनों हाथों में सत्य और स्वतंत्रता की मशाल रही है जिससे उसने दूर और नज़दीक के देशों को मुक्त हस्त से ज्ञान और सभ्यता का प्रकाश दिया है। कभी-कभी नियति के झोंकों ने उसे पीछे भी धकेल दिया और उसे ही क्या दुर्भाग्य की वे आँधियाँ हमारे एशियाई देशों को अक्सर झकझोरती रही हैं। लेकिन आज फिर वह मंच पर आ गया है। जवाहर लाल नेहरू ने उसे स्नेहवश 'अतीत गौरव संपन्न नारी' कहा है जो यद्यपि इस समय कुछ दुःखी है किन्तु साथ ही अपने अनुभवों के फलस्वरूप पहले से अधिक समझदार भी हो गई है। आज स्वतंत्रता की मशाल फिर उसके हाथ में है। यह वही मशाल है जिसे महात्मा गाँधी ने जलाया था। अब इसी भारत के सपूतों ने यह दृढ़ संकल्प कर लिया है कि आज़ादी की इस मशाल को कभी नहीं बुझने देंगे।'

1947 में जब भारत स्वाधीन हुआ तो उसने जो मार्ग अपनाया वह उसे उन्नति की ओर ले जा रहा था, किन्तु चीन उन्हीं दिनों विनाश के गर्त में उतरता

दिखाई दे रहा था। सच पूछिए तो जो समय मैंने नानकिंग में गुज़ारा उसे कुओ-मिंतांग के पतन और पराभव का युग कहा जा सकता है। सरकार का वास्तविक ग्रंत देखना तो मेरे भाग्य में नहीं बदा था, लेकिन जब 1948 के मध्य में मैं चीन से वापस आया तो उसका पतन पूरा हो चुका था और उसका ग्रंत अवश्यंभावी बन चुका था। यह बड़ी विचित्र बात थी कि वह चियाँग काई-शेक, जिसकी स्थल सेना कम्युनिस्टों से कहीं बड़ी थी, जिनके पास उनसे अधिक बंदूकें और मशीनगनें थीं, जिसके पास वायु सेना भी थी जो कम्युनिस्टों के पास नहीं थी, जिसका चीन के सबसे अधिक उपजाऊ क्षेत्रों और समस्त चीनी समुद्रतट पर अधिकार था, जिसे सभी बड़े देशों ने मान्यता प्रदान की थी और जिसके पीछे अमरीका की ज़बरदस्त शक्ति थी, इतना सब कुछ होते हुए भी कम्युनिस्टों से हार गया जिन्हें रूस तक की भी मान्यता या समर्थन प्राप्त न था। यह भी आश्चर्य की बात है कि स्तालिन ने 1945 में ही हॉपकिन्स से कहा था कि मुझे चीनी कम्युनिस्टों से कुछ ज़्यादा उम्मीद नहीं है और दो ही वर्ष बाद उन्होंने कम्युनिस्टों को यह परामर्श भी दिया था कि वे अपनी विजय को किसी निर्णयात्मक स्थिति तक न ले जाएँ। शायद स्तालिन यह चाहते हों कि यदि ऐसा हो गया (चीनी आगे न बढ़े) तो अमरीकी सेनाएँ अनिश्चित काल के लिए चीन में गुँथी रहेंगी। जहाँ तक चीनी कम्युनिस्टों के युद्ध-संचालन के संबंध में स्तालिन के परामर्श का संबंध है महान् चीनी जनरल लिन पियाओ का कहना है कि अगर हमने उनकी सलाह मान ली होती तो हम कभी के मर-खप गये होते।

कुओमिंतांग के इस सफ़ाये का कारण यह था कि उनके पास लड़ने के लिए कोई आदर्श नहीं था। उनकी पराजय के सैनिक कारण भी रहे होंगे जैसे, चियाँग काई-शेक ने अपनी सेना को बहुत ही व्यापक क्षेत्र में फैला दिया था, लेकिन उनके विनाश का वास्तविक कारण मनोबल का अभाव था। चीन की अर्थ-व्यवस्था ध्वस्त हो चुकी थी। कुओमिंतांग वाले जहाँ भी जाते थे मुद्रा-स्फीति अपने साथ ले जाते थे। जापानियों के चले जाने के फौरन बाद जब मैं शंघाई गया तो मैंने देखा कि चुंगकिंग के मुक़ाबिले में वहाँ चीज़ों के दाम बहुत ही कम थे। लेकिन महीने भर के ग्रंदर ही क़ीमतें चढ़नी शुरू हो गईं। चीनी सरकार ने चुंगकिंग और शंघाई के बीच दैनिक विमान सेवा स्थापित कर दी थी और उसे प्राय: अपने अधिकारियों के लिए सुरक्षित कर लिया था। ग़ैर-सरकारी यात्रियों को इस मार्ग से यात्रा करने से रोकने के लिए उन्होंने किराया 12000 चीनी डालर निश्चित कर दिये थे जो कि चुंगकिंग से कलकत्ता के किराये का दुगना था। चीनी अधिकारियों को चूंकि पर्यटन से बड़ा लगाव था इसलिए बीसियों अधिकारी विमान में बैठकर शंघाई जाते थे और वहाँ जो कुछ हाथ लगता सभी ख़रीद लेते

थे, जैसे रेशम, सोना और अमरीकी डालर। इस प्रकार शंघाई में मूल्य बढ़ने शुरू हुए और कुछ ही महीनों में उन्होंने चुंगकिंग को भी मात कर दिया। अक्तूबर 1945 में एक अमरीकी डालर 780 चीनी डालरों के बराबर था लेकिन नवंबर तक वही 1900 चीनी डालरों के बराबर हो गया। अक्तूबर में एक औंस सोने का मूल्य शंघाई में 50,000 डालर था तो चुंगकिंग में उसका नियत मूल्य 85000 डालर था। और नवंबर में तो वह बढ़कर 100,000 डालर तक पहुँच गया।

जब हम चीन गये तो निर्वाह-सूचकांक युद्ध-पूर्व स्तर से 7000 प्रतिशत अधिक था और जब हम वहाँ से आये तो वह युद्धपूर्व स्तर से 1 करोड़ 10 लाख प्रतिशत ऊपर जा चुका था। मेरा वेतन चीनी डालरों में करोड़ों तक पहुँचता था और अनुजी जब भी कुछ ख़रीदने के लिए बाज़ार जाती थीं तो दस हज़ार डालर के नोटों से अपना सूटकेस भरकर ले जाती थीं। एक बार जब हम शंघाई के होटल में गये तो मैंने एक अख़बार लिया और उसके दाम पूछे तो जवाब मिला, 'पच्चीस'। मैंने अनुजी से जो वहीं खड़ी थीं कहा, ख़ैर चलो 'अख़बार की क़ीमत तो चीन में ज़्यादा नहीं हुई।' वे हँस पड़ीं क्योंकि वे समझ गई थीं कि अख़बार बेचने वाले के 'पच्चीस' का अर्थ पच्चीस हज़ार डालर था।

1948 में चीन के एक अर्थशास्त्री ने एक ग्राफ बनाकर यह बताया कि पिछले दशक में डालर की क्रय-शक्ति किस प्रकार कम हो गई थी। 1937 में सौ डालर के नोट से दो गायें ख़रीदी जा सकती थीं, 1938 में डेढ़ गायें, 1939 में एक गाय, 1940 में एक बछड़ा, 1941 में एक सुअर, 1942 में एक मछली, 1946 में एक अंडा, 1947 में माचिसों का एक तिहाई हिस्सा और 1948 में भगवान जाने क्या मिलता होगा।

ऐसी परिस्थिति में चीनियों ने किस तरह दिन बिताए होंगे यह मेरे लिए हमेशा आश्चर्य का कारण बना रहा। नानकिंग में कई हड़तालें भी हुईं जिनमें वायुसैनिकों, अध्यापकों और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने भाग लिया और अधिक वेतन के लिए सबने मिलकर यह क़दम उठाया। शंघाई के एक अध्यापक ने अध्यापक-वर्ग की दुर्दशा की ओर अधिकारियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए एक तीन इंच लंबी कील अपनी दाहिनी कनपटी में ठोंक ली थी। विभिन्न स्थानों में चावलों पर दंगे हुए और संपन्न स्यूचवान प्रांत की राजधानी चेंग्टू में तो पुलिस को दंगाइयों पर गोली चलानी पड़ी। शंघाई में चावल पर उपद्रव हुआ और चावल विक्रेताओं ने तो अपने छोटे-से दंगे में कुछ स्वाँग का-सा पुट भी दे दिया। वे इकट्ठे होकर रेडियो स्टेशन की ओर गये जहाँ एक वृत्तकार ने उन्हें 'चावल के कीड़े' की संज्ञा दे दी थी और उन्होंने वहाँ जाकर खिड़कियों के शीशे फोड़ डाले थे। अगले दिन एक झूठमूठ की अरथी निकाली गई जिसमें

एक चावल विक्रेता का शव था जो हज़ारों डालर के नोटों को अपने हाथ में दबोचे हुए था और ऊपर एक कागज़ पर यह लिखा रखा था : 'यह सब तुम अपने साथ नहीं ले जा सकते।'

चीन के विद्यार्थी जिन्होंने वहाँ की राजनीति में हमेशा महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था अब दिन प्रतिदिन संघर्ष के लिए उतारू होते जा रहे थे। उन्होंने अपनी शिक्षा-सम्बन्धी माँगों की पूर्ति के लिए आंदोलन शुरू किया। फिर उन्होंने अपने भरण-भत्ते में वृद्धि की माँग की राष्ट्रीय बजट में शिक्षा के लिए 3 प्रतिशत की बजाय 15 प्रतिशत के लिए तथा प्राध्यापकों के वेतन 500 डालर से 800 डालर करने के लिए हो-हल्ला मचाया। मई के मध्य तक यह आन्दोलन बड़ा व्यापक हो गया और उसने कई भयंकर रूप धारण कर लिये। परिणामस्वरूप 18 मई को सरकार ने एक आपाती आज्ञप्ति जारी कर दी जिसके अनुसार सभी प्रकार के प्रदर्शनों पर प्रतिबंध लगा दिया गया और सेना को यह प्राधिकार दे दिया गया कि वे जहाँ भीड़ इकट्ठी होती देखें उसे तितर-बितर कर दें। चियाँग काई-शेक ने उस दिन एक बयान जारी किया जिसमें यह घोषणा की कि 'स्पष्टतः इस प्रकार के आंदोलनों से कम्युनिस्टों को प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन मिलता रहा है' और यह भी कि ग़ैरजिम्मेदार आंदोलनकारियों के विरुद्ध सख्त कार्रवाई की जायेगी। लेकिन जो कार्रवाई की गई उसका ठीक उलटा प्रभाव हुआ। नानकिंग में विभिन्न विश्वविद्यालयों के लगभग 3000 विद्यार्थियों ने एक जुलूस निकाला और हमने देखा कि वह शांतिपूर्ण था, लेकिन पुलिस ने बड़ी निर्दयता से उन्हें तितर-बितर कर दिया और उसमें अनेक विद्यार्थी घायल हो गये। पीकिंग और शंघाई में भी ऐसी ही घटनाएँ घटीं। फलस्वरूप कई विश्वविद्यालयों के छात्रों ने हड़ताल कर दी, यहाँ तक कि जिनलिंग कॉलेज की छात्राओं ने भी जहाँ मालती और मालिनी पढ़ रही थीं, उनकी सहानुभूति में हड़ताल कर दी।

धीरे-धीरे विद्यार्थियों की माँगों का रूप बदल गया। अब उन्होंने माँग की कि 18 मई की आपाती आज्ञप्ति वापस ली जाए, नागरिक स्वतंत्रता का आदर किया जाए, गृहयुद्ध बंद किया जाए और भ्रष्ट अधिकारियों को न केवल दण्ड दिया जाए बल्कि उनकी संपत्ति जब्त कर ली जाए। कार्यकारी परिषद् के बाहर एक पोस्टर पर ये शब्द अंकित थे :

धरती रोती आसमान आँसू बरसाता
जनता भूखी और यहाँ शासक मुटियाता

साथ ही **येनचिंग यूनिवर्सिटी न्यूज़** में एक कविता भी प्रकाशित हुई जिसमें चियाँग काई-शेक की 'लोकतंत्रात्मक सरकार' के प्रति विद्यार्थियों का दृष्टिकोण व्यक्त किया गया था :

लोकतंत्र की कहानी

लोकतंत्र ।
जीवन का कड़वा घूंट, एक निर्मम अनुभव ।
उदाहरणार्थ यह चीन
और यह 'जनता का राज'
जहाँ वे कहते हैं—
तुम जनता हो, हमें राजा मानो
हमारे हर वाक्य को, रे मूर्ख
कर्तव्य जानो
तुम वर्षा-धूप में हल चलाते हो,
हम तुम्हारा अनाज जमा करते हैं,
खत्तियाँ बनाते हैं ।
तुम जान खपाकर वस्त्र बुनते हो,
हम उसे बेचते हैं
लाभ कमाते हैं ।
तुम एक-एक ईंट चिनकर
महल बनाते हो
हम रहने के लिए
शान से चले आते हैं ।
हर युवक, हर सबल
हमारी सेवा के लिए बाध्य है ।
कंधे पर बंदूक रख कर
हमारे लिए लड़ना और मरना—
उसका एक मात्र साध्य है ।
व्यापारी स्वतंत्र है ।
क्रय विक्रय करना उनका
अपना अधिकार है
किन्तु हमें भेजना होता
'देश प्रेम का उपहार' है ।
विद्वान महान् हैं ।

उनके स्वच्छ मस्तिष्क
मणिक के समान हैं ।
दफ़्तरी शब्दजाल उन्हें मूर्ख नहीं बना सकता ।
किंतु अवसर आता है तो—
हम झपट लेते हैं,
और देश-भक्ति के एक दो लेक्चर—
झाड़ देते हैं ।
और मोटी खाल के मजदूरों !
कठोर और सक्षम शरीर में तुम
मात्र 'जीवित मशीन' हो ।
तुम्हारे माथे का पसीना
मुझे गाय की याद दिलाता है ।
मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हुँ,
तुम्हें खाता हूँ ।
तुम्हें नंगा करके पीटता हूँ,
मन को बहलाता हूँ ।
किन्तु यदि मेरे आदेश का
विरोध करोगे ?
तो तुम कम्युनिस्ट हो
निश्चय ही मरोगे ।

जनता को सबसे अधिक क्रोध इस बात पर आता था कि मुट्ठी भर लोग तो ऐश्वर्य और विलासिता का जीवन व्यतीत कर रहे थे जबकि आम लोग घास-फूस और पेड़ों की छालों से अपने पेट भरते थे । काले बाज़ार के व्यापारियों, धोखे धड़ी से पैसे बनाने वालों और जमाख़ोरों का बोलबाला था, लेकिन भ्रष्टाचार केवल किसी वर्ग-विशेष तक ही सीमित न रह गया था । ऊपर के लोग न सिर्फ़ इसके शिकार थे बल्कि इसकी शुरूआत उन्हीं ने की थी । चियाँग काई-शेक के बारे में सामान्य धारणा यह थी कि व्यक्तिगत रूप से वे भ्रष्ट नहीं हैं लेकिन जिन लोगों से वे घिरे हुए थे वे आचार-व्यवहार में नैतिकता पर विश्वास न रखते थे । मुझे शंघाई में किसी ने बताया कि एक चीनी कंपनी ने जिसका कर्त्ताधर्ता मदाम चियाँग का भाई टी० वी० सूंग था, कई प्रमुख कंपनियाँ ख़रीद ली थीं जिनमें कैथे मैन्शन्स और मैट्रोपोल होटल भी शामिल था जिसके मालिक सैसून थे । शंघाई की एक जानी-मानी व्यापार संस्था के मैनेजर स्ट्रिकलैण्ड ने मुझे बताया कि चियाँग काई-शेक के बहनोई डॉ० एच० एच० कुंग ने उनके मकान के

साढ़े सात करोड़ डालर लगा दिये थे जबकि वे उसके केवल तीन करोड़ ही माँग रहे थे। **द सेंट्रल डेली न्यूज़** ने यह रहस्योद्घाटन किया कि मार्च 1946 से फरवरी 1947 तक व्यापारियों को जो कुल विदेशी मुद्रा जारी की गई थी उसका 87 प्रतिशत भाग फ़ूचुंग और यॉंग्ट्सी विकास निगमों पर लग गया जिनके मालिक कुंग और सूंग परिवार थे। इस बात को लेकर वहाँ सनसनी फैल गई और दूसरे दिन **सेंट्रल डेली न्यूज़** को यह भूल-सुधार प्रकाशित करना पड़ा कि कल के समाचार में दशमलव बिन्दु छूट गया था, निगमों को जो वास्तविक राशि दी गई है वह कुल राशि का 87 प्रतिशत न होकर 8·7 प्रतिशत थी। लेकिन जनता ने तो इस समाचार के मूल अंश पर ही विश्वास किया और **शुन पाओ** ने अपने संपादकीय लेख में यह माँग की कि सेंट्रल बैंक ऑफ़ चाइना को उन सभी फ़र्मों की पूरी सूची प्रकाशित कर देनी चाहिए जिनको विदेशी मुद्रा दी गई है और प्रत्येक फ़र्म को जो भी राशि दी गई है उसका भी उल्लेख करना चाहिए।

जनमत के दबाव में आकर चीनी सरकार ने एक आदेश जारी किया जिसमें उन पूंजीपतियों से कहा गया कि वे विदेशों में अपनी आस्तियों का ब्यौरा तत्काल सरकार को दें अन्यथा उनको कठोर-से-कठोर दंड दिया जायेगा। लेकिन इस आदेश पर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि पूंजीपतियों के एक छोटे-से समूह ने जिनकी संयुक्त राज्य अमरीका में अपार संपत्ति थी यह प्रकट किया कि वे क़ानून की पकड़ से बाहर हैं। उन्होंने अपनी सारी संपत्ति पहले ही चीनियों या विदेशियों के नाम हस्तांतरित कर दी थी जो बाहर रहते थे और विदेशी बैंकों ने अपने ग्राहकों के खातों के बारे में कुछ भी बताने में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी थी। डॉ० एच० एच० कुंग ने जो दस वर्ष तक वित्त मंत्री रह चुके थे और जिन्होंने उस अवधि में अपार धन एकत्रित कर लिया था, जब यह ऐलान किया कि अमरीकी बैंकों में उनके नाम केवल 30 हज़ार अमरीकी डालर जमा हैं तो लोगों को बड़ी हँसी आई! जनता के कोप से बचने के लिए टी० वी० सूंग ने युद्ध के कारण हुई विधवाओं और अनाथों की राहत के लिए 3 खरब चीनी डालर राज्य को दानस्वरूप देने की घोषणा की। इस राशि से उनके शेयरों का मूल्य प्रकट होता था जो उन्होंने यॉंग्ट्सी-विकास-निगम में ले रखे थे। निगम की हर जगह घोर आलोचना हुई और डॉ० सूंग ने यह दान देकर न केवल अपने को बल्कि निगम को भी सरकारी जाँच-पड़ताल के ख़तरे से बचा लिया और अपनी 'दानशीलता' के लिए सभी से वाहवाही प्राप्त की। वहाँ के समाचारपत्र **चाइना-प्रेस** ने विशेष रूप से उनके इस व्यवहार की सराहना की और लिखा, 'यह दान डॉ० सूंग की उस देशभक्ति और निस्स्वार्थता का परिचायक है जो उन्होंने हर उस अवसर पर प्रदर्शित की है जब राष्ट्र के सामने कोई

संकट आया है।' इस कृत्य के फलस्वरूप डॉ० सूंग ने दुबारा सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और वे क्वांतुंग के गवर्नर नियुक्त हो गए।

1947 में कम्युनिस्टों को कई मोर्चों पर सैनिक विजय प्राप्त हुई। कुओमिंतांग के यद्यपि पैर उखड़ चुके थे तो भी उसने अपने अनुयायियों का मनोबल बढ़ाने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने दिया। मार्च 1947 में जब येनान उनके हाथ आया तो उन्होंने बग़लें बजा-बजा कर उसका प्रचार किया। हालाँकि सैनिक दृष्टि से यह 'कूट नगर' एक गोली का मुहताज था, फिर वह कोई राजधानी तो थी नहीं अलबत्ता कम्युनिस्टों की छिपने की जगह थी। उनके लिए तो येनान को ख़ाली करना उनकी सामान्य रणनीति का ही एक अंग था जिसका प्रयोग उन्होंने बड़े कारगर ढंग से जापानियों के विरुद्ध किया था और अब वे उसी रणनीति को कुओमिंतांग पर आज़मा रहे थे। माओ त्से-तुंग ने एक बार कम्युनिस्ट सेना की रणनीति की व्याख्या इस प्रकार की थी :

जब शत्रु आगे बढ़ता है,
हम पीछे हट जाते हैं।
वह रुकता है,
तो हम घात लगाते हैं।
और वह कतराता है
तो हम आक्रमण करते हैं।
वह पीछे हटता है,
तो हम पीछा करते हैं।

येनान की पराजय से युद्ध का ज्वार न रुक सका, बल्कि 1947 के मध्य तक आते-आते तो यही ज्वार कम्युनिस्टों के लिए हितकर बन गया। होनान में कम्युनिस्टों ने अनयांग पर घेरा डाले रखा और नगर के बाहर स्थित हवाई अड्डे पर अधिकार करने में वे सफल भी हो गए। शेंसी में उन्होंने सियान से 25 मील दूर उत्तर-पूर्व में स्थित नगर सान युआँ पर क़ब्ज़ा कर लिया। शांसी में सरकार ने प्रांत की राजधानी ताइयुवाँ पर पड़े दबाव को कम करने के लिए विमान द्वारा कुमक भेजी और शांटुंग में तो सरकार ने बड़े मार्के का काम यह किया कि अपनी सशक्त 74 वीं डिविज़न पर बमबारी करके अपने ही लोगों को सख़्त ज़ख़्मी किया। मंचूरिया में कम्युनिस्टों ने और अधिक सेनाएँ भेजनी शुरू कर दीं जिसका आरंभिक उद्देश्य तो चाँगचुन आने-जाने वाली रेलवे लाइन को तोड़ना था और वास्तविक लक्ष्य था चाँगचुन पर ही अधिकार करना। जुलाई

में वे उस नगर के आस-पास पहुँच गए और सेपिंगकाई में भयंकर युद्ध छिड़ गया। सेपिंगकाई मुकडन-चाँगचुन रेलवे का सामरिक महत्त्व का नगर था जिस पर कई बार कम्युनिस्टों का अधिकार हुआ और फिर वह सरकार के क़ब्ज़े में आ गया लेकिन अंततः वह कम्युनिस्टों के हाथों में चला गया।

1947 का पतझड़ शुरू होते-होते कम्युनिस्ट यांग्ट्सी क्षेत्र में दक्षिण की ओर बढ़ने लगे—यहाँ तक कि शंघाई-नानकिंग रेलवे लाइन भी खतरे में पड़ गई। इस सिलसिले में मुझे कम्युनिस्टों से कुछ व्यक्तिगत द्वेष भी रहा क्योंकि हमने रेल और सड़क के मार्ग से ही कन्फ़्यूसियस के जन्मस्थान चुफु जाने की योजना बनाई थी लेकिन राष्ट्रीय सुरक्षा मंत्रालय ने हमें सूचना दी कि चूँकि वहाँ कम्युनिस्ट घुस आए हैं इसलिए आप लोगों का वहाँ जाना ख़तरे से खाली नहीं है। यह जानकर मुझे बड़ी निराशा हुई क्योंकि अगर मैं कन्फ़्यूसियस-मंदिर की तीर्थयात्रा कर पाता तो मैं अपने राजनयिक साथियों से कुछ ऊपर उठ जाता क्योंकि यह विचार किसी और के मन में उभरा ही नहीं था। कन्फ़्यूसियस का ही एक वंशज जो उनकी 77वीं पीढ़ी में था, हमारे साथ वहाँ जाने वाला था। उसका नाम कुंग तेह चिएन था और वह जन-राजनीतिक परिषद् का सदस्य था। कुंग अपने पुरखों का रिश्ता पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व में जाकर सीधा कन्फ़्यूसियस से जोड़ देता था और यह एक ऐसा वीरतापूर्ण कृत्य था जो एक चीनी ही कर सकता है।

कम्युनिस्ट मोर्चे का निकटतम स्थान जहाँ तक मैं जा पाया था त्सिनान था। वहाँ पहुँचकर हमने महसूस किया जैसे हम युद्ध-परिधि में प्रविष्ट हो गये हैं। सारे शहर में सिवाय सैनिकों, खुफ़िया तहख़ानों और मोर्चाबंदियों के कुछ दिखाई नहीं देता था। प्राचीर के बाहर 8 मीटर चौड़ी और 6 मीटर गहरी एक विशाल खाई खोदी जा रही थी। किसी ने मुझे बताया कि उस खाई का उद्देश्य मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालना है, उसके बन जाने से वहाँ 80 हज़ार नागरिकों को अपनी सुरक्षा का निश्चय हो जायेगा। त्सिनान से रेलें कई दिशाओं को जाती थीं—उत्तर में तिएनत्सिन को, पूर्व में त्सिंगताओ को, दक्षिण में सुचोव और नानकिंग को और पश्चिम में काइफ़ेंग और सियान को। लेकिन इनमें से कोई भी शाखा ऐसी न थी जो पूरी तरह चालू हो, कोई कुछ दूर तक जाती थी और कोई कुछ दूर तक। कम्युनिस्टों ने जगह-जगह उसे तोड़ दिया था। यातायात का प्रमुख साधन वायु-सेवा थी जो न केवल यात्रियों को बल्कि हर प्रकार का सामान भी ले जाती थी, यहाँ तक कि कोयला भी हवाई जहाज़ से भेजा जाता था जिसकी त्सिनान में भारी कमी थी क्योंकि कोयले की अधिकांश खानों पर कम्युनिस्टों का क़ब्ज़ा था। वास्तव में कम्युनिस्टों के-झुंड-के-झुंड त्सिनान से बीस मील की

परिधि में घूमते फिर रहे थे। हम ज़्यादा-से-ज़्यादा दस मील अन्दर तक गये क्योंकि वहाँ हमें ड्रैगन्स टेल विहार देखना था जो एक रमणीक स्थल है। वहाँ बड़ी ऊँची-ऊँची और बड़े अनोखे आकार की चट्टानें हैं जो लाल रंग के मैपिल वृक्षों से ढँकी हुई हैं। हमारे आगे-पीछे सशस्त्र लारियाँ थीं और प्रत्येक पहाड़ी की चोटी पर पहरे की मीनारें बनी हुई थीं जिन्हें देखकर हमें यह महसूस हुआ मानो हम इपी के फ़क़ीर के समय के वज़ीरिस्तान में टहल रहे हैं। वहाँ के प्रांतीय अधिकारियों ने हमारी सुरक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रखा। जहाँ हम जाते सशस्त्र संतरी हमारे पीछे-पीछे चलते थे और उस समय भी हमारे ऊपर पहरा देते थे जब हम शौच के लिए बैठते थे।

अमरीका बड़ी दुविधा की स्थिति में था। एक ओर तो कम्युनिस्टों की विजय का तूफ़ान उठ रहा था और दूसरी ओर कुओमिंतांग के भ्रष्टाचार का समुद्र ठाठें मार रहा था। जनरल वेडेमेयर 1947 की गर्मियों में तथ्यों की जाँच के लिए चीन गये और उन्होंने वहाँ की स्थिति देखकर जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये वे बड़े निराशाजनक थे। सितम्बर में अपनी वापसी के पहले जो बयान उन्होंने जारी किया उसमें कुछ स्पष्टवादिता से काम लिया गया था। चीन में जो 'उदासीनता और आलस्य' विद्यमान था उसकी उन्होंने घोर निन्दा की, 'अनेक चीनियों की पराजयवादी हीन प्रवृत्ति', 'विदेशी प्रभावों को दोषी ठहराने और बाहर से सहायता की आशा करने की प्रवृत्ति,' 'अक्षम तथा भ्रष्ट अधिकारियों की उपस्थिति जो उस समय सरकार के बड़े ज़िम्मेदार ओहदों पर पर थे' और 'जिनके व्यवहार के पीछे लोभ या अकर्मण्यता या दोनों की प्रेरणा रहती थी' और 'तत्काल उग्र और दूरव्यापी राजनीतिक तथा आर्थिक सुधारों की आवश्यकता' की निन्दा की। उन्होंने कहा, 'खोई हुई मान्यताओं या खोये हुए अधिकार की पुन: प्राप्ति के लिए प्रेरणादायी मार्गदर्शन तथा नैतिक और आध्यात्मिक पुनरुत्थान की आवश्यकता है जो दरअसल चीन के अंदर से ही उभर सकता है।'

चीनियों ने एक मित्र की चेतावनियों पर तो ध्यान दिया नहीं, उलटे वे उस मित्र और उसके देश के विरोधी बन गये क्योंकि उसने उन्हें सबके सामने लज्जित किया था। मंत्रिमंडल के कुछ सदस्यों ने तो यहाँ तक कहा कि अमरीका ने युद्ध के दौरान और उसके समाप्त होने के बाद जो ग़लतियाँ की हैं उन्हीं के कारण चीनी जनता की स्थिति शोचनीय हो गई है। उदाहरण के लिये यह कहा गया कि भूतपूर्व राष्ट्रपति रूज़वेल्ट को 'क्या अधिकार था कि उन्होंने चीन की हानि का विचार किये बिना उस निरर्थक याल्टा क़रार पर हस्ताक्षर कर दिये और न केवल अपने को बल्कि सारे संसार को धोखा दिया ?' उनकी राय थी कि याल्टा क़रार के कारण ही मंचूरिया की यह हालत हुई है। प्रधान मंत्री जनरल चाँग चुन

ने एक वक्तव्य दिया जिससे उनके क्रोध और चिड़चिड़ेपन की अभिव्यक्ति हुई थी। उन्होंने शिकायत करते हुए कहा, 'जनरल वेडमेयर ने उन लोगों की अपेक्षा जो सरकार में थे, बाहर के लोगों पर अधिक ध्यान दिया। बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं जिनकी उन्हें बिल्कुल जानकारी है ही नहीं। बहुत-सी समस्याओं पर उन्होंने गंभीरतापूर्वक चर्चा भी नहीं की और उन्हें यह भी समझ लेना चाहिए कि उनके वक्तव्य के कारण चीन की गृह नीति में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा।'

इस अवज्ञा-नीति के बावजूद अमरीकी सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँची कि उसके लिए कुओमिंतांग का समर्थन करने के सिवाय कोई चारा नहीं है। अमरीकी परामर्शदाता-मंडल ने यह घोषणा की कि वे चीन की पैदल सेना के प्रशिक्षण में सहायता देना चाहते हैं और उन्होंने एक टोह-दल ताइवान भेजा। ताइवान ही को प्रशिक्षण-केन्द्र बनाया गया था। तब तक अमरीकी परामर्श-मंडल का काम परामर्श देने तक सीमित था और वे परामर्श भी केवल तकनीकी मामलों पर ही देते थे। उन्होंने हर उस बात से बचने की कोशिश की जिससे यह संदेह हो कि वे गृहयुद्ध में किसी पक्ष-विशेष का समर्थन कर रहे हैं। अब स्थिति यह थी कि अमरीका चीनियों के एक दल-विशेष को दूसरे से लड़ने के लिए प्रशिक्षित करने वाला था।

कुछ सप्ताह के बाद जनरल मार्शल ने घोषणा की कि अमरीकी सरकार चीन की सरकार को वित्तीय सहायता भी देगी। जब उनसे सहायता की राशि बताने का आग्रह किया गया तो उन्होंने कहा कि ऋण की राशि लगभग 30 करोड़ अमरीकी डालर होगी। यह सुनकर लोगों को घोर निराशा हुई। चीन के वित्त मंत्री ने कहा कि यदि ऋण ही देना है तो चीन की आवश्यकता को देखते हुए वह 3 अरब होना चाहिए। सरकारी क्षेत्रों में इस ऋण को 'ऊँट के मुँह में जीरा' और 'सूखे में एक बूंद' की संज्ञाएँ दी गईं। बल्कि डॉ० सन फ़ो तो इससे भी आगे बढ़े और उन्होंने कहा कि अमरीका की 'विश्वसनीय' मित्रता नहीं है और चीन को चाहिए कि हम अपनी मुक्ति के लिए स्वयं प्रयत्नशील हो। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि वेडेमेयर की राष्ट्रपति ट्रूमैन को दी गई रिपोर्ट के परिणाम जान लेने के बाद 'चीन को अब यह देखना होगा कि हमारे लिए अमरीका का पक्ष लेना हितकर होगा या रूस से मैत्री करना।'

शंघाई से प्रकाशित **ईवनिंग पोस्ट** और अमरीका के समाचार पत्र **मर्करी** ने लिखा कि डॉ० सन फ़ो ने चीन को नीलाम पर चढ़ा दिया है और अमरीका और रूस में से जो भी अधिक बोली लगायेगा वह उसे अपनी ओर ले जा सकेगा। साथ ही डॉक्टर फ़ो की यह नीति धौंस-धमकी देकर बोली बढ़वाने की भी मालूम होती है।'

बोली बढ़वाने की कोई आवश्यकता प्रत्यक्षत: थी नहीं क्योंकि अमरीका तो कुओमिंतांग की सहायता के लिए तैयार बैठा था। बुलिट चीन गया और उसने यह अभियान चला दिया जिसका नारा था 'चीन को स्तालिन के पंजे से बचाओ'। उसने चियाँग काई-शेक की प्रशंसा की और कहा कि उन जैसे बुद्धिमान और दूरदर्शी शासक इतिहास में इक्के-दुक्के ही होंगे। अमरीकी सशस्त्र सेना-समिति के सदस्य भी चीन गये और उन्होंने बड़ी गंभीरता से यह मत प्रकट किया, 'चीन की राष्ट्रीय सरकार पर जिन भ्रष्टाचारों का आरोप लगाया गया है या जो वास्तव में चीन में विद्यमान हैं भी उनके बावजूद अमरीका के लिए श्रेयस्कर यही है कि वह चीन में स्वतन्त्र सरकार का समर्थन करे—चाहे वैसा करना अनैतिक ही क्यों न हो। उसके लिए शत्रुओं की सरकार का समर्थन उचित नहीं है--चाहे वह कितनी ही शुद्ध और नैतिक हो क्योंकि उस पर कम्युनिस्टों का नियंत्रण है।' और इसी सिद्धान्त के अनुसार अमरीकी सरकार ने चीन में कुओमिंतांग की रक्षा के लिए अरबों डालर लुटाए। इसी सिद्धान्त का पालन कोरिया, वियतनाम और मध्यपूर्व में किया गया और इसके परिणाम बड़े निराशाजनक निकले। लेकिन टूटी की बूटी मिलना दुर्लभ है, कुओमिंतांग की बीमारी ऐसी घातक थी कि डालर उसका इलाज नहीं कर सकते थे।

ऐसी परिस्थिति में मुझे कोरिया विषयक संयुक्त राष्ट्र के कमीशन का सदस्य बनाकर साऊल भेजा गया। वहाँ के अपने अनुभवों का उल्लेख मैं बाद के किसी अध्याय में करूँगा। 1948 के आरम्भ में कोरिया से नानकिंग लौटकर आया ही था कि मुझे भारत सरकार का विदेश सचिव नियुक्त कर दिया गया। चीन से विदा होने के पहले जब मैं राष्ट्रपति चियाँग काई-शेक से मिलने गया तो उन्होंने मुझे बताया कि साम्यवाद केवल चीन के लिए ही नहीं समस्त एशिया के लिए एक भारी खतरा बन गया है।

मदाम चियाँग ने मुझे, मेरी पत्नी को और हमारी पुत्रियों मालती और मालिनी को दोपहर के खाने पर आमंत्रित किया। मदाम उस समय भी वैसी ही आकर्षक और वाचाल थीं। उन्होंने मालिनी से उसके भावी विवाह के बारे में छेड़छाड़ की, फिर 21 वर्ष पहले अपने विवाह की बातें कीं और हमें छोटे-छोटे उपहार दिये जिनमें एक उपहार पंडितजी और उनकी पुत्री इंदिरा के लिए भी था। मैंने भी उन्हें अपनी पुस्तक **दिल्ली चुंगकिंग** की एक प्रति भेंट की। मदाम चियाँग ने हमें कई छोटी-मोटी घटनाएँ भी सुनाईं, जिनमें से एक ऐसी थी जिस का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। उनकी चर्चिल से पहली मुलाक़ात 1943 में क़ाहिरा सम्मेलन में हुई थी जिसमें ये बातें हुईं—

चर्चिल : आप मुझे पसंद नहीं करती हैं ना ?

मदाम चियाँग : भला आपने यह कैसे समझ लिया ?

चर्चिल : इसलिए कि बहुत सी समस्याएँ ऐसी हैं जिन पर हम एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं।

मदाम : जैसे ?

चर्चिल : जैसे आप अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास रखती हैं, जबकि मैं राष्ट्रीयता का समर्थक हूँ।

मदाम : अच्छा तो आप राष्ट्रवादी हैं ? क्या मैं यह बात अमरीकी समाचार पत्रों में प्रकाशित करवा दूं ?

चर्चिल : जी नहीं, यह बात प्रकाशन के लिए नहीं कही गई है।

मदाम : अच्छा और क्या ?

चर्चिल : दूसरा उदाहरण है भारत का। आपके ख़याल में भारत एक राष्ट्र है, लेकिन मैं उसे एक महाद्वीप मानता हूँ (इसके बाद चर्चिल ने भारत की विभिन्न जातियों, भाषाओं, धर्मों और उनकी परस्पर असंगतियों पर एक लंबा-चौड़ा भाषण दिया।)

मदाम : क्या आप अमरीका को भी एक राष्ट्र समझते हैं ?

चर्चिल : बिल्कुल।

मदाम : लेकिन जो कुछ आपने भारत के बारे में कहा है वह तो अमरीका पर भी लागू होता है और विशेषकर सौ वर्ष पुराने अमरीका पर तो बिल्कुल ही सही बैठता है।

चर्चिल : लेकिन सौ वर्ष पहले ना, अब तो नहीं ? मैं आपसे सच कहता हूँ कि भारत न तो राष्ट्र है और न ही कभी होगा।

मदाम : यदि उसे स्वाधीन कर दिया जाए तो भारत अमरीका ही जैसा महान् और शक्तिशाली राष्ट्र बन जायेगा।

मदाम चियाँग ने हमें बताया कि जब चर्चिल उनसे विदा लेने गए तो उन दोनों में ये बातें हुई :

चर्चिल : अच्छा तो अब बताइये कि आपका मेरे बारे में क्या विचार है ?

मदाम : क्या सच-सच बता दूं ?

चर्चिल : जी हाँ।

मदाम : लेकिन आप नाराज़ तो नहीं होंगे ?

चर्चिल : नहीं साहब, आप कहिये तो।

मदाम : मैं इस नतीजे पर पहुँची हूँ कि आप गरजते ज़्यादा हैं बरसते कम।

नानकिंग में अपने अंतिम कुछ दिनों में हम अनेक विदाई पार्टियों में व्यस्त रहे। हमने भी चीनियों और अन्य विदेशी मित्रों को एक विशाल विदाई पार्टी

दी। मैंने उस अवसर का लाभ उठाते हुए कुछ तैलचित्र भी चीन की सरकार को उपहारस्वरूप दिये जो भारत सरकार ने भेजे थे। इन चित्रों को चीन की सरकार की ओर से वहाँ के विदेश मंत्री वाँग शीह-चिएह ने स्वीकार किया जो स्वयं बड़े कला-पारखी थे और जिनका अपना चित्र-संग्रह भी बड़ा असाधारण था। हमारी विदाई पार्टी बहुत सफल रही। अगर मेरे कार्यालय के अधिकारी मुझसे भारत सरकार का अद्यतन परिपत्र न छिपाए रखते जिसमें यह निषेध किया गया था कि सरकारी आयोजनों में मदिरा पान न कराया जाए तो शायद वह इतनी सफल न रहती।

चीन में अपने प्रवास के अंतिम दिनों में हमारे साथ बड़ा मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया गया। विशेषकर इस बात का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा कि मदाम सुन यात-सेन खुद हमें छोड़ने हवाई अड्डे तक आईं। पहले तो वे सुबह वहाँ पहुँचीं लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि विमान की रवानगी छह घण्टे देर से होगी तो शाम को फिर वहाँ आईं। उनका यह अनुग्रह-प्रदर्शन हमें इसलिए और भी भाया कि वह बिलकुल अप्रत्याशित और असाधारण था। वर्षों से वे कार्य-निवृत्ति का जीवन बिता रही थीं। चीन में उस समय जो कुछ हो रहा था उससे वे संतुष्ट नहीं थीं, विशेषत: वह सब इसलिए भी उन्हें कष्टकर लग रहा था कि वह उनके पति की योजनाओं के अनुकूल न था। यही कारण था कि जो सरकारी अधिकारी और विदेशी राजनयिक हवा का रुख़ देखकर अपना दृष्टिकोण बनाते या बदलते हैं वे उनसे सम्पर्क नहीं रखते थे।

जब मैंने विमान से मदाम सुन यात-सेन को वापस जाते हुए देखा तो मेरे मन में यह विचार पैदा हुआ कि यह स्त्री, यह छायाकृति जिसके पीछे एक लौ झिलमिला रही है अपने स्वत: आरोपित एकान्तवास से निकलकर बाहर आ जाए तो अपने देशवासियों की क़िस्मत बदल सकती है और उन्हें एक ऐसे मध्यम मार्ग से उस स्थान को ले जा सकती है जहाँ न कोई सैद्धान्तिक मतभेद है, न कोई और कलह। यही वह स्थान था जहाँ ले जाने का उनके पति ने वचन दिया था, लेकिन अफ़सोस कि वह मार्ग या वह गंतव्य निरंतर दूर होता जा रहा है। 'गौरवशाली मध्यपंथी राज्य' अब 'मध्यम मार्ग' पर चलने की स्थिति में नहीं था जिस पर वह बड़ी गौरवशालिता से दो हज़ार वर्ष से अधिक तक चलता रहा था। दक्षिण पंथ की विलासिता ने उसे चरम वामपंथ पर धकेल दिया था। वह समय गुज़र चुका था जब मदाम सुन यात-सेन या उनके पति के 'तीन जन-सिद्धांत' चीन की रक्षा कर सकते थे। अब तो चीन को बंदूक और तलवार और कार्ल मार्क्स की आत्मा के ज़रिये ही बचाया जा सकता था जो माओ त्से-तुंग के रूप में प्रकट हो चुकी थी।

जापान

००

1947 के अन्त में हम कुछ दिनों के लिए जापान गये। रामाराव जो उस समय टोकियो में हमारे राजदूत थे और उनकी सुन्दर तथा गुणी पुत्री शांता ने हर संभव प्रयत्न किया कि हमें वहाँ कोई कठिनाई न हो और हम वहाँ की हर ज़रूरी चीज देख सकें। उन्हीं के सहयोग का यह फल था कि हम जापान का ग्रामीण प्रदेश भी देख सके और टोकियो-योकोहामा तथा ओसाका-कोब का इलाक़ा भी हमने देख लिया जहाँ भयंकर बमबारी हुई थी और सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। क्योटो के आसपास जो भी दर्शनीय स्थान या ऐतिहासिक स्मारक थे उनमें से अधिकतर हमने देखे। हम जापानी होटलों में ठहरे, जापानी खाने हमने खाये जो हर दृष्टि से पूरे थे: उनमें कच्ची मछलियों का स्वाद हमने लिया और गीशा लड़कियों की उपस्थिति का भी। हमने वहाँ प्राचीन शैली का नाटक काबुकी भी देखा जिसे देखकर हमें अनुभव हुआ कि जापानी अपनी परंपरा के कैसे अंधभक्त होते हैं। हमने ताकाराज़ुका महिला नाट्य-दल भी देखा जो गीति नाट्य का ही एक पाश्चात्यकृत रूप था। उससे पता चलता था कि जापानी लोग अनुकरण की कला में कितने प्रवीण हैं।

टोकियो पहुँचने के दूसरे दिन जब मैं और अनुजी एक आम सड़क पर टहल रहे थे तो हमने जापानी पुरुषों को चलते हुए देखा। वे हमें चीनियों की तुलना में बड़े गहन-गंभीर और शांत लगे। उनकी स्त्रियाँ रंग-बिरंगे किमोनो पहने हुए अपने मोटे-ताज़े बच्चों के साथ चली जा रही थीं। जब हमने उनकी तुलना आधुनिक चीनी महिलाओं की एक जैसी नीली पोशाक से की तो वह उनकी रंग-बिरंगी वेशभूषा हमें बहुत ही भिन्न और सुखद मालूम दी। यकायक एक सिपाही ने हमें रोका। कुछ देर तो हलचल-सी मची फिर एकदम एक अजीब ख़ामोशी छा गई। पैदल यात्री इधर-उधर भागे, सिपाहियों ने सीटियाँ बजाई और सहसा सारा यातायात ठप होकर रह गया। हम बड़े असमंजस में पड़े कि आख़िर माजरा क्या है। कहीं ऐसा तो नहीं कि सम्राट अपने आकस्मिक दौरे पर टोकियो आये हों? या कहीं कोई झटका तो नहीं आया जो आने वाले भूचाल का सूचक हो? फिर कोई सौ से ऊपर आदमी एक शानदार इमारत के सामने दो-दो की पंक्ति बनाकर खड़े हो गये और उनके बीच से एक बूढ़ा जनरल, जो नौजवान-सा लग रहा था, तेज़ी से लेकिन नपे-तुले क़दमों से चलता हुआ उस विशाल इमारत में

विलीन हो गया। यह जनरल मैक आर्थर थे जो अपने दफ़्तर में आये थे। मुझे मालूम हुआ कि यह रस्म वर्ष में 364 दिन और एक दिन में चार बार दोहराई जाती है, केवल बड़ा दिन ऐसा था जबकि मैक आर्थर अपने कार्यालय में नहीं आते थे।

अंग्रेज़ी के सस्ते उपन्यासों में एक शब्द अक्सर देखा गया है जो इतना घिसा-पिटा प्रयोग है कि उसे पढ़कर मुझे बड़ी झुँझलाहट होती है, और वह है 'अज्ञेय पूर्ववासी (The Inscrutable Oriental), लेकिन इस झुँझलाहट के बावजूद मुझे कोई और शब्द ऐसा नहीं मिल रहा जिसके द्वारा उन लोगों के चेहरे के भाव व्यक्त करूँ जो उस समय मैक आर्थर की एक झलक देखने के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। आख़िर वे वहाँ क्यों आये थे ? क्या केवल कुतूहलवश ? या अन्य शब्दों में उनका वहाँ एकत्र होना वीर-पूजा का द्योतक था। एक ऐसे वीर विजेता की पूजा जिन्होंने ऐसे कारनामे कर दिखाये थे जो उनके अपने देश के नायक भी न कर सके थे जिन पर उस समय युद्ध-अपराधी होने के जुर्म में मुक़दमा चलाया जा रहा था ? या उनकी मैक आर्थर को नमस्कार करने की इच्छा उनकी कृतज्ञता की परिचायक थी ? एक ऐसे राष्ट्र के प्रतिनिधि के प्रति कृतज्ञता जो उनके साथ इतनी उदारता का व्यवहार कर रहा था जिसकी उन्होंने कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी ? या एक विचार जो बहुत ही दूषित था यह भी मन में आया कि कहीं वे जनरल को मूर्ख तो नहीं बना रहे थे ?

इस घटना के दूसरे दिन मैं जनरल से ही मिला। मुझे और अनुजी को मैक आर्थर दंपति के साथ दोपहर के खाने पर आमंत्रित किया गया और यह अपनी जगह एक सम्मान था जो हमें दिया गया। रामाराव ने हमें पहले ही बता दिया था कि भोज किस प्रकार का होगा और वहाँ क्या कुछ होगा। मैक आर्थर के साथ अनौपचारिक भोजन के साथ भी कुछ औपचारिकता का पालन अनिवार्य था ताकि लोग यह न भूल बैठें कि वे संसार के एक महान् व्यक्ति से मिल रहे हैं। श्रीमती मैक आर्थर ने बड़ी सहृदयता से हमारा स्वागत किया और हमारे साथ इधर-उधर की साधारण बातचीत करती रहीं। ठीक आधा घण्टे बाद जनरल तशरीफ़ लाये, उन्होंने अपनी पत्नी का चुंबन लिया और हमसे हाथ मिलाते हुए कहा, 'मैं आपको जापान का आतिथ्य प्रस्तुत करता हूँ'। वे ऐसे शब्द थे कि यदि कोई और इनका प्रयोग करता तो उसकी धृष्टता समझी जाती, लेकिन मैक आर्थर जैसे व्यक्ति के मुँह से ये बिल्कुल स्वाभाविक लगे। उसके बाद हम लंच के लिए अंदर गये। वहाँ जो जनरल ने बोलना शुरू किया तो धाराप्रवाह बोलते रहे और उनके उस स्वगत भाषण में कहीं-कहीं तो ऐसी वक्तृता थी कि शायद ही मैंने थ्येटर के बाहर कभी सुनी हो। एक घण्टे तक लगातार वे बोलते रहे और

इस बीच सिवाय इसके कि कभी उनकी पत्नी ने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिला दिया होगा या कहीं प्रशंसात्मक ढंग से मुस्करा दी होंगी और कोई बात बीच में न हुई। एक या दो बार जब वे चीन के बारे में अपने विचार व्यक्त कर रहे थे जहाँ मैं अभी चार वर्ष बिता कर आया था तो मैंने साहस बटोर कर एकाध बात कहने की या प्रश्न पूछने की चेष्टा की लेकिन उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया और उनकी इस उपेक्षा पर मुझे अपनी मूर्खता का वैसा ही अहसास हुआ जैसे किसी प्रवचन के दौरान कोई स्कूली बच्चा हिचकी लेने पर करता है। कभी उनके भाषण से उनके चिंतन-मनन, कहीं उनकी निश्चयात्मकता, कभी स्मरण-शीलता और अन्यत्र भविष्यवाणी प्रकट होती थी। वे बोलते गये और अपने भाषण के दौरान आधुनिक घटनाओं को इतिहास के आवरण में ढँकते गये और हमें उनका भाषण सुनकर यह विश्वास होता गया कि वे इतिहास के स्रष्टा भी हैं और उसके सफल द्रष्टा भी। हमें लगा कि हम एक ऐसे व्यक्ति की बातें सुन रहे हैं जिसे अपने ऊपर पूर्ण विश्वास है, जो केवल अपना मत ही प्रकट नहीं कर रहा बल्कि हरेक विषय पर उसके अपने दृढ़ विश्वास हैं और ऐसे व्यक्ति को यदि अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अवसर दे दिया जाए तो वह न केवल संसार को संकटापन्न स्थिति से उबार सकता है बल्कि उसका पूर्णतया पुनगर्ठन भी कर सकता है।

यह क़िस्सा मशहूर है कि जब मैक आर्थर से पूछा गया कि आपके प्रमुख परामर्शदाता कौन हैं तो उन्होंने उत्तर दिया, 'जूलियस सीज़र और जॉर्ज वाशिंग-टन।' इन्हीं में वे ईसामसीह का नाम भी जोड़ सकते थे। जापान में अपनी उपलब्धियों के संदर्भ में मैक आर्थर ने हमें बताया कि इतिहास में पहली बार 'सर्मन ऑफ़ द माउण्ट' के सिद्धान्तों को मानव समस्याओं पर चरितार्थ करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उनका पूरा भाषण सुनकर हम न केवल उस पर मुग्ध हुए और उसका आनंद हमें मिला बल्कि कुछ चकित भी हुए। हमें यह भी एहसास था कि हम ऐसे व्यक्ति के साथ भोजन कर रहे हैं जो अपना भाग्य-विधाता स्वयं है।

जापानियों को न केवल उन्हें अपना भाग्य-विधाता बनाने में संतोष था बल्कि ऐसा करने के लिए वे बड़े लालायित भी थे। उन्होंने देखा था कि जापान पर अमरीका बड़े असाधारण ढंग से अपना अधिकार जमाए जा रहा था। मैक आर्थर ने उस आधिपत्य को हमारे सम्मुख सैनिक अधिकार या राजनीतिक आवश्यकता के रूप में नहीं बल्कि एक आध्यात्मिक उद्देश्य के रूप में न्यायोचित ठहराया। जापान में अमरीकियों की चंचल वृत्ति, उनका यौवन, उल्लास, निष्क-पटता, आदर्शवाद और उग्रता सभी अपनी चरम सीमा पर थे। और मैक आर्थर

उन सभी विशेषताओं के संमिश्रण थे। उन्होंने मुझे बताया कि इतिहास के अन्य विजेताओं की भाँति मैं क़ानून और व्यवस्था मात्र से संतुष्ट नहीं हो सकता, मैं तो जीवन के मूलभूत विषयों पर, चाहे वे भौतिक हों अथवा आध्यात्मिक, अपना ध्यान केन्द्रित कर रहा हूँ। भौतिक क्षेत्र में रोटी, कपड़ा और सफ़ाई की समस्याओं पर पहले की अपेक्षा कहीं अधिक ध्यान दिया जा रहा है। जापान में किसी विदेशी को चावल, मछली या कच्चे फल खरीदने की अनुमति नहीं थी—वे तो ब्रिटिश राजदूत की पत्नी लेडी गैसकाइन के शब्दों में 'प्रिय जापानवासियों' के लिए ही सुरक्षित हैं। अमरीका सरकार जापान पर 10 लाख डालर प्रतिदिन के हिसाब से खर्च कर रही थी और अमरीकी विशेषज्ञ जापान की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का गहन अध्ययन कर रहे थे। परिणामस्वरूप न वहाँ भुखमरी थी और न ही कुपोषण और टोकियों में वयस्कों तथा बच्चों की मृत्यु-दर न्यूयार्क की तुलना में कम थी। वास्तव में अमरीका जापान में ऐसी उदारता और परोपकारिता दर्शा रहा था कि एक ईर्ष्यालु चीनी ने कहा कि यदि चीन ने भी अमरीका के साथ न लड़कर, अमरीका के विरुद्ध लड़ाई की होती तो शायद उसकी स्थिति बेहतर होती।

मैक आर्थर का सबसे बड़ा दावा यह नहीं था कि उन्होंने जापान को भौतिक दृष्टि से लाभ पहुँचाया, बल्कि यह था कि उन्होंने उसका नैतिक पुनरुत्थान किया। उनका यह भी दावा था कि उन्होंने लोकतांत्रिक सरकार के मार्ग में जो भारी बाधाएँ थीं उन्हें दूर किया। उन्होंने लोक-सेवाओं का परिष्कार किया और जिन लोगों को उससे क्षति पहुँची उनमें यौनेज़ावा भी थे जिन्हें हम 1930–40 में भारत में जापानी कांसुल-जनरल के रूप में जानते थे। उन्होंने ज़इबत्सू की शक्ति को कम किया। ज़इबत्सू जर्मनी के क्रप्स और कुओमितांग चीन के सूँग-कुंग गुट के समन्वय से मिलता-जुलता था। उन्होंने ट्रेड यूनियनों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया, उन्होंने भूमि सुधार किये और शिंटोवाद को राज्य धर्म के रूप में समाप्त किया। यहाँ तक कि उन्होंने सम्राट का दर्जा भी ईश्वर से घटाकर मनुष्य का कर दिया। और ये सब परिवर्तन जापानियों पर ज़बरदस्ती नहीं लादे गये थे बल्कि इनके कार्यान्वय में उन्हें जापानियों का पूरा-पूरा सहयोग मिला था। मैक आर्थर से जापानी इतने प्रभावित हुए थे कि उनमें से कुछ ने तो यह इच्छा भी प्रकट की थी कि अमरीका का क़ब्ज़ा समाप्त होने के बाद भी मैक आर्थर शोगुन (सेनापति) के रूप में जापान में ही रहें।

मुझे संदेह था कि यह विचित्र राजनीतिक आध्यात्मिक पुनर्निर्माण अधिक समय तक नहीं चल पायेगा क्योंकि न तो इसकी जड़ें ही गहरी थीं और न ही उसके बाह्य लक्षणों का कोई महत्त्व दिखाई देता था; बल्कि कोई यह भी समझ

सकता था कि एक ऐसे सर्वोच्च सेनाध्यक्ष का—जिसके पास निःसीम शक्ति है और जो जादूगर की तरह अपनी टोपी में से ऐसी आज्ञप्तियाँ निकाल रहा है जिनसे जापान की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रणाली के मूलभूत सिद्धांत प्रभावित हो रहे हैं, उनके देश में रहना उनके लिए एक अच्छी शिक्षा का काम दे रहा है क्योंकि उस देश को जो कुछ ही दिन पहले सैनिक शासन में रह चुका था यही सिखाया गया था कि सत्ता के प्रति निष्ठा से बड़ा और कोई गुण नहीं होता। यही कारण था कि आधिपत्य अधिकारियों के प्रति सामान्यतः और मैक आर्थर के प्रति विशेषतः जापानियों का जो दृष्टिकोण था वह सत्ता के उसी सम्मान का प्रतीक था जो प्रत्येक जापानी की रग-रग में बसा हुआ है। सत्ता के प्रति इस आदर-भाव से शायद यह प्रकट होता था कि उन लोगों को यह आशा है कि जापानी आधिपत्य सेनाओं के साथ जितना सहयोग करेंगे उतनी ही जल्दी वे सेनाएँ वहाँ से चली जायेंगी।

जापान से आने के फ़ौरन बाद ही मुझे संयुक्त राष्ट्र कोरिया आयोग में भारत का प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया गया। जापान और कोरिया में वास्तव में आकाश-पाताल का अंतर था। इसके साथ ही जापानियों के जनरल मैक आर्थर के प्रति और कोरियाइयों के जनरल हॉज के प्रति दृष्टिकोणों में भी बड़ा भारी अंतर था। जापानी सैनिक आधिपत्य को आँख मीच कर और कान दबाकर स्वीकार ही नहीं कर चुके थे बल्कि उनमें उसके प्रति सम्मान का भाव भी विद्यमान था। लेकिन कोरिया की जनता में आधिपत्य सेनाओं के प्रति न सिर्फ क्षोभ था बल्कि वह तो हर प्रकार से उसके विरुद्ध विद्रोह करने पर उतारू थी। जापान में मैक आर्थर को क्या सभासद, क्या विद्वान और क्या सैनिक सभी अपना हितैषी और रक्षक मानते थे। और उधर कोरिया में हॉज का यह हाल था कि सभी उसे अपना शत्रु समझते थे और हर व्यक्ति उसकी नुक्ताचीनी करता था। दूसरे शब्दों में हॉज की बुराई कोरिया वालों की रुचि का विषय था। और मैं यह निष्कर्ष निकालने पर मजबूर हो गया कि जापानियों की मैक आर्थर-पूजा की अपेक्षा कोरिया में हॉज की आलोचना और उसका विरोध लोकतंत्र का अधिक स्वस्थ लक्षण है।

अभी हम जापान में ही थे जब वहाँ के युद्ध अपराधियों पर मुक़दमा चल रहा था जिनमें एडमिरल तोजो भी थे। हमने उस दौरान युद्ध अपराध न्यायाधिकरण की कार्यवाही भी देखी। टोकियो में रहने वाले विदेशियों के लिए उस मुक़दमे में वही आकर्षण था जो किसी भी सामाजिक घटना में हो सकता था। असंख्य मर्द और औरतें यह सोचे-समझे बिना ही वहाँ एकत्रित होते थे कि वहाँ मानव जीवन और अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून से सम्बन्धित मामलों पर बहस हो रही

है। जापानी अभियुक्त दुःखांतिका के पात्रों की-सी उदासीन गरिमा का प्रदर्शन कर रहे थे। उनमें विशेष रूप से प्रभावशाली व्यक्तित्व एडमिरल तोजो का था जिन्होंने जिरह के समय सरकारी वकील के छक्के छुड़ा दिये थे। न उनके पास कुछ छिपाने को था और न ही कोई ऐसी बात थी जिसे वे बदल कर पेश करते, यहाँ तक कि उनके मुँह से एक शब्द भी ऐसा नहीं निकला जिससे खेद प्रकट होता हो। उन्होंने पर्ल हार्बर-कांड की तथा प्रतिरक्षा के लिए बाध्य होकर जापान ने जो भी क़दम उठाए थे उन सबकी पूरी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ली। मुक़दमे के पहले ही तोजो का मनोबल क्षीण हो चुका था, इसलिए नहीं कि उन्होंने युद्ध किया था बल्कि इसलिए कि वे युद्ध में जीत नहीं पाये थे। इसके अलावा वे यह भी नहीं जानते थे कि आत्महत्या करने में कैसे सफलता मिल सकती है। लेकिन अब वे जापान के नायक बन चुके थे।

मुक़दमे में जो कुछ हुआ वह सब वे पहले ही से जानते थे। न्यायाधिकरण में एक भारतीय न्यायाधीश जस्टिस पॉल भी थे जिनका निर्णय बड़ा अभूतपूर्व था। अपने साथी न्यायाधीशों से उनका मतभेद था। उनका मत यह था कि तोजो पर जो आरोप लगाये गये थे वे सिद्ध नहीं हो पाये थे। जापानी उनके इस निर्णय से बहुत प्रभावित हुए और जनरल इसागाकी नामक एक अभियुक्त ने जिसे मृत्यु-दंड दिया गया था, एक कविता भी लिखी थी जिसका शीर्षक था 'मृत्यु-गीत' :

उस न्यायालय में
जिसके कटघरे में
पिछले कुछ वर्ष मैंने बिताये हैं
मेरे लिए यह प्रलेख
बहुत ही प्यारा, अत्यन्त बहुमूल्य है
एक महान् आत्मा का आलेख
जब मैंने इसे पढ़ा
तो लगा कि—
प्रकाश की एक किरण है
जो युग के काले चेहरे पर मुस्करा रही है
शायद यह आने वाली शताब्दी में
मुस्कराती ही रहेगी।
मैंने उसे प्रत्यक्ष,
इन्हीं आँखों से देख लिया।
मैं कितना ख़ुशनसीब हूँ।

यह देखकर मुझे बड़ा संतोष हुआ कि जो मत जस्टिस पॉल का था उसी का अनुमोदन लार्ड हैंकी ने अपनी पुस्तक **पॉलिटिक्स, ट्रायल्स एण्ड एरर्स** में किया। मैक आर्थर की सबसे महान् उपलब्धि यह थी कि उन्होंने जापान के सम्राट की दिव्यता समाप्त करके उसे ईश्वर से मनुष्य में परिणत कर दिया था। इसी को देखकर मेरे मन में यह प्रश्न उठा था कि क्या ऐसा करके उन्होंने साम्राज्यिक संस्था को निर्बल बनाने के बजाय और शक्तिशाली नहीं बना दिया? दिव्यता समाप्त करके क्या उन्होंने उसे आधुनिकता के प्रभा-मंडल से दीप्त नहीं कर दिया? यह युग नास्तिकता और अनीश्वरवाद का युग है, यहाँ अवतारधारी राजाओं का भी वही हश्र होता जो ईश्वर या देवताओं का हुआ है। लेकिन राजा तो हाड़-मांस का जीवित, चलता-फिरता जीव है, उसका अंत इतने जल्दी संभव नहीं था। जिस समय हम जापान में थे सम्राट हिरोशिमा के दौरे पर आये। सम्राट को अपने बीच देखकर हिरोशिमा-वासी फूले नहीं समा रहे थे। वे परमाणु बम के कारण हुए अपने विध्वंस का नाता सम्राट से नहीं जोड़ते थे। जापानियों की दृष्टि में तो सम्राट न केवल उनका नायक था, न केवल राष्ट्र की भावना का प्रतीक था बल्कि छब्बीस सौ वर्ष के अर्ध-पौराणिक इतिहास का भी प्रतीक था। हमारे एक जापानी मित्र ने हमें एक निजी भोज दिया जिसमें हमारे मेज़बानों ने बड़ी भावुकता के साथ एक गीत सुनाया जो दो हज़ार वर्ष पुराना गीत था और हमें बताया कि अब मैक आर्थर ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया है। 'यदि मैं अपने सम्राट के लिए समुद्र में प्राण न्यौछावर करूँगा तो लहरें मेरी लाश को किनारे पर पहुँचा देंगी, यदि मैं अपने सम्राट के लिए पृथ्वी पर जान दूंगा तो मेरी क़ब्र पर फूल उग आयेंगे, इसलिए मेरी तो बस यही एक मात्र अभिलाषा है कि मैं अपने सम्राट के साथ रहूँ—चाहे जीवित होऊँ या मृत।' इस गीत को सुनकर मुझे विश्वास हो गया कि जनरल मैक आर्थर की आज्ञप्तियों के भुला दिये जाने के सदियों बाद भी यह गीत जापानियों की ज़बान पर रहेगा।

कोरिया

००

जब मैं टोकियो से लौट कर नानकिंग आ रहा था तो मुझे भारत सरकार का एक तार मिला जिसमें मुझे हिदायत की गई थी कि मैं संयुक्त राष्ट्र कोरिया आयोग में भारत के प्रतिनिधि के रूप में तत्काल साऊल पहुँचूं। यह काम था तो दिलचस्प लेकिन साथ ही बड़ा कष्टसाध्य भी निकला। दिलचस्प इसलिए कि उसके माध्यम से हमें अमरीका और रूस की आपसी तनातनी को निकट से देखने का अवसर मिला जो युद्ध के बाद संसार की चिंता का प्रमुख कारण थी। और कष्टसाध्य इसलिए कि उस तनातनी के रहते कोई भी व्यक्ति, चाहे उसकी कितनी ही प्रबल इच्छा क्यों न रही हो, कोरिया के पक्ष का समर्थन करने में अपने आप को असमर्थ पाता था।

संयुक्त राष्ट्र आयोग की सदस्यता के लिए मेरी केवल एक ही योग्यता थी और वह यह कि मैं उसके पास ही मौजूद था। कोरिया के बारे में मेरी जानकारी शून्य थी। न मैं उसके इतिहास से परिचित था, न वहाँ की राजनीति का मुझे कोई ज्ञान था। मैं तो बस इतना जानता था कि कोरिया के संदर्भ में एक एशियाई राज्य ने यह दिखा दिया था कि वह भी दूसरे देशों की भाँति पूरी तरह साम्राज्यवादी बन सकता है। मैंने कोरिया पर अनेक पुस्तकें एकत्र कीं और जो कुछ समय मेरे पास था उसमें कोरिया के बारे में भरसक अधिक-से-अधिक जानकारी प्राप्त करली।

कोरिया के इतिहास ने मुझे बहुत आकृष्ट किया। यह देश ईसा से एक हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। 1112 ई० पू० में की-त्ज़े नामक एक चीनी शरणार्थी ने अपने ही नाम से एक वंश-परंपरा स्थापित की और वह चीन के विनम्र आचार तथा रीति-रिवाज भी अपने साथ ले गया। की-त्ज़े वंश 116 ई० पू० तक क़ायम रहा और उसके बाद 'तीन राज्य' (The three kingdoms) की स्थापना हुई जिसमें सबसे अधिक प्रख्यात सिला वंश था जो अन्य दो वंशों से अधिक दिनों तक रहा और जिसने 670 से 935 ईसवी तक संयुक्त कोरिया पर शासन किया। उसके बाद कोरयू वंश का राज्य स्थापित हुआ जिसमें बौद्ध मत को बड़ा प्रश्रय मिला और बौद्ध मठ ज्ञान और संस्कृति के केन्द्र बन गये। 1382 में कोरयू सरकार का तख्ता यी वंश ने उलट दिया जिसका रुझान सांस्कृतिक

दृष्टि से, बल्कि उससे भी अधिक राजनीतिक दृष्टि से, अपने विशाल पड़ौसी चीन की ओर था। इस वंश का शासन बीसवीं शताब्दी तक रहा। इस प्रकार तीन हजार वर्षों के इतिहास में कोरिया में केवल तीन वंशों का शासन रहा और इसी अवधि में कोरिया की अपनी सभ्यता का विकास हुआ। कोरिया का विकास वास्तव में इतने आश्रित रूप में हुआ और बाह्य आक्रमण और आंतरिक क्रांति से वह ऐसा मुक्त रहा कि उन्नीसवीं शताब्दी में उसे 'वैरागी राज्य' की संज्ञा दे दी गई।

उन्नीसवीं सदी के अंत में सहसा विश्व के शक्तिशाली राज्य वहाँ घुस आये। 1876 में जापान ने उसे व्यापार-संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया और 1882 में संयुक्त राज्य अमरीका ने उस पर अपना प्रभाव जमा लिया। उसके बाद तो संधियों का ताँता बंध गया और उसे जर्मनी, रूस, फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन सभी के साथ समझौते करने पड़े। जब चीन ने ये परिवर्तन देखे तो वह कुछ घबराया और उसने कोरिया पर अपना कब्ज़ा मज़बूत करने की कोशिश की। चीन पर उस समय मांचुओं का राज्य था जो पतनोन्मुख थे और इसीलिए वे अपने उद्देश्य में सफल न हो सके। बल्कि उसके कारण ही जापान को एक ऐसा बहाना मिल गया कि वह कोरियाई स्वाधीनता का रक्षक बन बैठा। 1895 में जबकि चीन और जापान का युद्ध समाप्त हो गया तो कोरिया पर चीन का अधिराज्यत्व समाप्त हो गया और जापान उसका रक्षक बन गया। इस प्रदेश में जापान के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर रूस को चिंता हुई और उसने मंचूरिया तथा अन्य स्थानों पर जवाबी चालें चलीं जिनके परिणामस्वरूप 1905 में रूस और जापान में लड़ाई छिड़ गई। इस लड़ाई में जापान ने कोरिया की स्वाधीनता को अपने प्रमुख उद्देश्यों में से एक बताया। इस युद्ध में रूस की निश्चित हार हुई और पोर्ट्समाउथ संधि के द्वारा—जो संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति के सत्प्रयासों से सम्पन्न हुई थी—जापान कोरिया पर अपनी राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक गिरफ़्त क़ायम करने में सफल हो गया। कोरिया पर अपना अधिकार करने के बाद भी जापान कोरियाई स्वाधीनता के प्रति अपनी झूठी सहानुभूति दर्शाता रहा लेकिन चूँकि उस समय उसे संसार के सबसे शक्तिशाली देश ग्रेट ब्रिटेन का संरक्षण प्राप्त था, इसलिए 1910 में उसने सभी प्रकार के आडंबर से मुक्त होकर कोरिया को अपने राज्य में मिला लिया। और उसके बाद तो उसने जी भर कर कोरिया का विकास किया और साथ ही उसका भरपूर शोषण भी।

दूसरा महायुद्ध छिड़ने से ऐसा महसूस हुआ कि कोरिया की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त हो गया है। 1 दिसम्बर 1943 को क़ाहिरा-सम्मेलन में चीन, ग्रेट

ब्रिटेन और अमरीका ने घोषणा की कि कोरिया को स्वाधीन होने का पूर्ण अधिकार है। घोषणा में कहा गया कि 'उपर्युक्त चार बड़ी शक्तियों को कोरिया की जनता की पराधीनता का एहसास है और उनका दृढ़ विश्वास है कि कुछ ही समय में कोरिया स्वाधीन हो जायेगा।' बाद में सोवियत संघ भी इस घोषणा से सहमत हो गया।

सोवियत संघ के द्वितीय विश्व-युद्ध में शामिल होने के बाद यह तय कर लिया गया कि सोवियत संघ जापानियों के समर्पित क्षेत्र को 38 वीं समानांतर रेखा के उत्तर तक ले जाए और अमरीका दक्षिण की ओर। उस समय तो कोरिया के विभाजन को केवल एक साधारण सैनिक युक्ति मात्र समझा गया था। किसी को यह शक भी न हो सकता था कि 38 वीं समानांतर रेखा सोवियत और अमरीकी प्रदेशों की सीमारेखा में परिणत हो जायेगी।

अमरीका और सोवियत संघ दोनों ने बार-बार यह प्रयत्न किया कि कोरियाई समस्या का कोई मिला-जुला समाधान ढूंढ निकालें। दिसम्बर 1945 में मास्को सम्मेलन में यह तय पाया कि एक अस्थायी कोरियाई सरकार की स्थापना के उद्देश्य से एक अमरीकी सोवियत कमीशन नियुक्त किया जाए जो चीन, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत संघ और अमरीका के साथ उक्त चारों शक्तियों की न्यासधारिता के लिए वार्ता करे और इस न्यासधारिता की अवधि पाँच वर्ष से अधिक न हो। यह 'न्यासधारिता' शब्द ही अधिकांश कोरियावासियों के लिए अभिशाप से कम न था। क्या 1905 में जापान 'न्यासधारी' के रूप में ही कोरिया में दाखिल नहीं हुआ था? दक्षिण कोरिया में न्यासधारिता के विरोध में जो आंदोलन चला सोवियत संघ ने उसका विरोध किया क्योंकि वह समझता था उस आंदोलन की प्रेरणा अमरीका ने दी है। अमरीकी-सोवियत संयुक्त कमीशन की बैठक 1946 में हुई जिसमें बहस हुई, झगड़े हुए और सभा स्थगित हो गई। फिर 1947 में उसका अधिवेशन हुआ और वही प्रक्रिया फिर दुहराई गई। सितंबर 1947 में जब अमरीका सोवियत संघ से किसी प्रकार के प्रत्यक्ष समझौते की संभावना से निराश हो गया तो उसने कोरियाई स्वाधीनता की सम्पूर्ण समस्या संयुक्त राष्ट्र की महासभा के समक्ष ले जाकर प्रस्तुत कर दी। महासभा में भी सोवियत संघ और अमरीका ने परस्पर विरोधी रुख अपनाया। सोवियत संघ का कहना था कि वह और अमरीका दोनों 1 जनवरी 1948 तक अपनी-अपनी सेनाएँ वापस हटा लें और कोरियावासियों को अपने भाग्य निर्णय का अवसर दें। अमरीका का तर्क यह था कि सेनाओं की वापसी कोरियाई स्वाधीनता की स्थापना की सामान्य योजना का एक अंश होना चाहिए और यह कार्य संयुक्त राष्ट्र की देखरेख में संपन्न होना चाहिए। महासभा

ने इस योजना का अनुमोदन कर दिया और उसके निष्पादन के लिए संयुक्त राष्ट्र ने एक आयोग नियुक्त कर दिया जिसमें ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, चीन, एल सेल्वाडोर, फ्रांस, भारत, फ़िलिपीन, सीरिया और यूक्रेन के प्रतिनिधि सम्मिलित किए गए। लेकिन यूक्रेन ने उस आयोग में शामिल होने से इन्कार कर दिया।

साऊल पहुँचने पर आयोग के सदस्यों का बड़ा भव्य स्वागत हुआ जो मैं कभी न भूल सकूँगा। हालाँकि बर्फ़बारी हो रही थी लेकिन हवाई अड्डे से शहर तक के बारह मील लंबे रास्ते पर उल्लसित जन-समूह पंक्तिबद्ध खड़ा उस भयंकर सर्दी में घंटों से हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। उनके हाथों में कोरियाई झंडे लहरा रहे थे और वे हमारे स्वागत में नारे लगा रहे थे। बहुत-से उनमें ऐसे थे जो मीलों पैदल चलकर गाँवों से वहाँ आये थे, कुछ बीस-पच्चीस मील तक बस में बैठ कर वहाँ पहुँचे थे या बैलगाड़ियों और घोड़ागाड़ियों में यात्रा करके आये थे। हर तरफ पोस्टर लगे हुए थे जिन पर लिखा था : **संयुक्त राष्ट्र ज़िंदाबाद ! संयुक्त राष्ट्र कोरिया आयोग का स्वागत है !** और **कोरियाई स्वाधीनता के बिना विश्वशांति की स्थापना असंभव है !**

संयुक्त राष्ट्र आयोग के नियमानुसार हमें यह हिदायत दी गई थी कि हम सारे कोरिया का दौरा कर सकते हैं, वहाँ प्रेक्षण-कार्य कर सकते हैं और सलाह-मशविरा कर सकते हैं और इस संभावना पर विचार कर सकते हैं कि राष्ट्रीय विधान सभा और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के उद्देश्य से किस प्रकार चुनाव किए जाएँ। सैनिक कमानों और उत्तर तथा दक्षिण कोरिया के सिविल प्राधिकारियों से सरकार का कार्यभार यही विधान सभा और राष्ट्रीय सरकार सँभालने वाली थी। हमें जब भी अवसर मिला हमने यह बात स्पष्ट कर दी कि हमारा सम्बन्ध सारे कोरिया से है, उसके किसी भाग विशेष से नहीं। इसीलिए हमने हर संभव प्रयत्न किया कि हमें उत्तर तथा दक्षिण कोरिया के प्राधिकारियों का सहयोग प्राप्त हो। कमीशन ने मुझे प्राधिकार दिया कि मैं उत्तर कोरिया में सोवियत सेनाओं के कमान अफ़सर से तथा दक्षिण कोरिया में अमरीकी सेनाओं के कमान अफ़सर से औपचारिक भेंट कर सकता हूँ। अतः मैंने उसी प्राधिकार के अनुसार दोनों कमान अफ़सरों को पत्र लिखे। सोवियत जनरल ने मेरे पत्र का तो कोई उत्तर नहीं दिया लेकिन ग्रोमिको ने महासभा में यह वक्तव्य दिया कि संयुक्त राष्ट्र आयोग के प्रति सोवियत सरकार का दृष्टिकोण नकारात्मक है। इसीलिए कोरिया के उस भाग में, जहाँ सोवियत संघ का अधिकार था, आयोग महासभा के द्वारा सौंपा गया काम पूरा न कर सका।

लेकिन आयोग ने यह निर्णय किया कि वह दक्षिण कोरिया में स्थिति का अध्ययन करेगा। यह तो स्पष्ट ही था कि कोरिया की जनता जो एक अर्से से

स्वाधीनता के लिए लालायित थी उसकी प्राप्ति में किसी प्रकार का विलंब सहना न चाहेगी। संयुक्त राष्ट्र संघ में सम्मिलित राज्यों में शायद ही कोई ऐसा हो जो निरंतर और इतने लंबे समय तक स्वतंत्र रहा हो जितना कोरिया रहा था। इतिहास साक्षी है कि कोरिया में अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ने की भी क्षमता है। हमें याद आया कि किस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के अंत में कोरिया ने जापानी साम्राज्यवाद के प्रवर्त्तक हिदेयोशी को न केवल परास्त किया था बल्कि उसे और सारे जापानियों को एक ऐसा पाठ पढ़ाया था कि तीन सौ वर्ष तक वे उसे न भूल सके थे। बीसवीं सदी के प्रारंभ में जाकर कहीं जापान ने दुबारा कोरिया पर आक्रमण करने का साहस किया था। उस निराशामय युग में भी स्वतन्त्रता-दीप बिल्कुल बुझ नहीं गया था। जनता के हृदय में वह अब भी झिलमिला रहा था। स्वतंत्रता के इसी दिये को कोरिया के नेताओं ने आसपास और दूर के देशों में भी पहुँचाया था और उसे चीन और अमरीका जैसे देशों में जलाये भी रखा था। कभी-कभी ऐसा भी हुआ—जैसे 1919 में हुआ था—कि स्वाधीनता की यही लौ भड़क कर एक भयंकर ज्वाला बन गई। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि उस समय अहिंसा का प्रकाश जिसके लिए गांधीजी जिये भी और अंत मेंन्योछावर भी हो गए, कोरिया में भी पहुँच चुका था। 1919 के महान् विप्लव में समूचे कोरिया के प्रदर्शनकारियों को यह परामर्श दिया गया था :

> कुछ भी करो
> जापानियों का अपमान न करो
> न उन पर पत्थर फेंको
> और न ही मुक्कों का प्रहार करो
> क्योंकि ये काम वहशियों के हैं।

और यही वे शब्द थे जो हमें महात्मा गाँधी के उपदेशों का स्मरण कराते हैं।

यदि कोरियाई लोग स्वाधीनता के लिए दृढ़संकल्प थे तो उनका उतना ही आग्रह अपनी एकता के लिए भी था। कोरिया राष्ट्र की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सजातीयता थी। वे एक ही वंश के थे, एक ही भाषा बोलते थे और अपनी परम्पराओं पर समान रूप से गर्व करते थे। एक प्रतिष्ठित कोरियाई ने, जो हमारे समक्ष प्रस्तुत हुए थे, हमें बताया था कि अभी कुछ दिन पहले तक 'उत्तर कोरिया' और 'दक्षिण कोरिया' या 'उत्तर कोरियाई' और 'दक्षिण कोरियाई' ऐसे शब्द थे जिन्हें कोई जानता तक न था। कोरिया के भाग्य में

एकता से रहना बदा था। न तो उत्तर कोरिया दक्षिण कोरिया के बिना रह सकता था और न ही दक्षिण कोरिया उत्तर कोरिया के बिना जीवित रह सकता था। यदि दक्षिण कोरिया में खेती होती थी तो उत्तर कोरिया में उद्योग धंधे चलते थे। दक्षिण यदि एशिया का अन्नदाता था तो उत्तर उसकी शक्ति का भंडार था। दक्षिण में धान उगता था तो उत्तर में लोहा, कोयला इमारती लकड़ी और जलविद्युत शक्ति का अक्षय भंडार था। यही कारण है कि कोरिया आर्थिक, राजनीतिक या ऐतिहासिक सभी दृष्टियों से अविभाज्य था। प्रत्येक कोरिया-वासी के हृदय में—चाहे वह उत्तर में रहता हो या दक्षिण में—एकता के लिए यही उत्कंठा विद्यमान थी। 15 जनवरी 1948 को साऊल स्टैडियम में मेरे भाषण पर दो लाख श्रोताओं ने जो करतल-ध्वनि की थी वह मुझे कभी नहीं भूलेगी। अपने भाषण में कोरिया की एकता बनाये रखने की आवश्यकता पर बल देते हुए मैंने कहा था, 'जिन्हें ईश्वर ने एकता के सूत्र में बाँध दिया है उन्हें कोई शक्ति अलग नहीं कर सकती।'

जब हम लोग कोरिया पहुँचे तो वहाँ का राजनीतिक जीवन जितना उत्तेजक था उतना ही अस्त-व्यस्त भी। वहाँ लगभग 400 दल थे जिनके राजनीतिक सिद्धांतों में बहुत ही साधारण अंतर था। इन विभिन्न दलों के नेताओं में जो एक दिन एक-दूसरे के साथी होते थे और अगले दिन एक-दूसरे के घोर विरोधी या शत्रु बन जाते थे, आपस में व्यक्तिगत बैर भाव रहता था। इसके साथ ही उनमें वामपंथ से दक्षिणपंथ और दक्षिण पंथ से वामपंथ की ओर प्रवृत्त होने की भी अपूर्व क्षमता थी।

कोरिया में उस समय तीन प्रमुख राजनीतिक नेता थे—सिंगमैन री, किम कू और किम कुई-सिक। वे सभी उम्र में साठ से ऊपर थे और उनमें से हरेक ने अपनी मातृभूमि की सराहनीय सेवा की थी। लेकिन उन तीनों में परस्पर बैर-भाव था जिसका परिणाम यह हुआ कि मेरे कोरिया से लौटने के कुछ ही दिन बाद किम कू की हत्या कर दी गई। किम कू ने अपने यौवन-काल में कुछ बड़े मार्के के काम किये थे। उसने बिना किसी हथियार के कैप्टन त्सुचिदा का गला घोंट दिया था। इस जापानी सैनिक अधिकारी त्सुचिदा ने ही कोरिया की अंतिम सम्राज्ञी की हत्या की थी। इस किम कू ने ही 1932 में शंघाई के एक पार्क में बम फेंका था जिससे जापानी सेनाध्यक्ष की जान गई थी, जापानी एडमिरल की एक आँख और जापानी जनरल की एक टाँग जाती रही थी। किम कुई-सिक उससे भिन्न स्वभाव का था। वह बड़ा अध्ययनशील और मनस्वी तथा प्रकांड विद्वान था, न उसकी प्रवृत्ति वामपंथ की ओर थी और न ही दक्षिण पंथ की ओर। वह मध्यम मार्गी नेता और कोरिया की स्वाधीनता तथा उसकी

एकता ही उसके लक्ष्य थे।

इस त्रिमूर्ति में सबसे अधिक प्रख्यात सिगमैन री थे। वही व्यक्ति ऐसे थे जिनके नाम की दक्षिण कोरिया में कुछ लोग तो माला जपते थे और कुछ उनकी भर्त्सना करते थे। उनकी आयु, विद्वत्ता, सामाजिक लोकप्रियता, राष्ट्रपति विलसन से उनकी मैत्री और कोरियाई स्वतन्त्रता के लिए उनके आजीवन सतत प्रयास ऐसे लक्षण थे जिनके कारण वे कोरिया के उसी प्रकार राष्ट्रीय नेता बन सकते थे जिस प्रकार भारत में नेहरूजी जिनकी देश के राजनीतिक जीवन में हर दृष्टि से प्रमुख स्थिति थी। लेकिन जब दक्षिणपंथ और वामपंथ का सहसा संघर्ष छिड़ा, जिसका गर्हित प्रतीक 38वीं समानांतर रेखा थी, तो री ने दक्षिण पंथ अपनाया। वे देखने में सौम्य और शिष्ट थे, साथ ही विश्वास में दृढ़ भी, उनकी तुलना जूलियस सीज़र से की जा सकती है जिसने अपने बारे में कहा था, 'मैं ध्रुवतारे की भाँति अटल हूँ'। अमरीकी सैनिक प्राधिकारियों और कम्युनिस्टों के प्रति उनका दृष्टिकोण भी सीज़र जैसा ही था। उनके यहाँ वामपंथियों उदारतावादियों, उनके साथियों और अन्य मूर्खों के लिए कोई जगह नहीं थी। इसी प्रकार के लोगों से निपटने के लिए उसने दक्षिण कोरिया में वैसा ही एक पुलिस राज्य स्थापित किया था जैसा कि किम इल-सुंग ने ग़ैर-कम्युनिस्टों को समाप्त करने के लिए उत्तर कोरिया में क़ायम किया था। दक्षिण कोरिया में बंदी प्रत्यक्षीकरण नाम की कोई चीज नहीं थी और बिना वारंट के गिरफ़्तारी के जापानी क़ानून अब भी वहाँ प्रचलित थे। हमने देखा कि कई दृष्टियों से दक्षिण कोरिया की सरकार उत्तर कोरिया की सरकार की तरह ही एकदलीय थी।

हमने हरेक कोरियावासी की—चाहे वह उत्तर का हो या दक्षिण का—जन्मजात एकता की भावना को जगाया और एक समय तो ऐसा भी आया जब हमें लगा कि हमारी अपील का कुछ-कुछ प्रभाव उत्तर कोरिया पर भी हो रहा है। चुनाँचे उत्तर कोरिया सरकार ने हमें पानी पी-पीकर कोसना शुरू किया और हमें इन शब्दों में याद किया : 'अमरीकी डालर के भाड़े के टट्टू', 'अमरीकी साम्राज्यवादियों के गुर्गे जो कोरिया को अमरीका का एक उपनिवेश बनाने पर तुले हुए हैं', और 'दलाल जो कोरिया और ऐसे ही छोटे राष्ट्रों को झूठे-सच्चे बहाने बनाकर बेच देना चाहते हैं और ऐसा करके न सिर्फ अमरीका की जेबें भरना चाहते हैं बल्कि अपना उल्लू भी सीधा कर रहे हैं।' दक्षिण कोरिया के भी कुछ नेता ऐसे थे जिन्होंने हम पर गालियों की बौछार की। अन्तर केवल इतना था कि उनका उलाहना कुछ और कारणों से था। वास्तविकता यह थी कि कोरिया बड़ी-बड़ी शक्तियों के परस्पर संघर्ष में उलझ गया था और उन दोनों पर नियन्त्रण रखना हमारी सामर्थ्य से बाहर था। इन विभिन्न दिशाओं में बहने

वाली धाराओं के संघर्ष में कोरिया का एक हिस्सा तो वामपंथी बन गया और दूसरा दक्षिणपंथी। हमने यह कोशिश की कि एक ऐसा मध्यम मार्ग निकाला जाए जिस पर इस लड़खड़ाती नौका के दोनों टुकड़े मिल कर एक हो जाएँ और वह फिर उसी शान से चलने लगे जिससे सदियों तक चलती रही थी। लेकिन हम इसमें सफल न हो सके।

मैं कमीशन के महामंत्री विक्टर हू के साथ न्यूयॉर्क गया और वहाँ जाकर मैंने अपनी रिपोर्ट महासभा की अंतरिम समिति के सम्मुख प्रस्तुत की। हमारा आयोग इस बात पर एकमत था कि दक्षिण कोरिया में स्थापित एक पृथक् सरकार को राष्ट्रीय सरकार नहीं कहा जा सकता। इसलिए वहाँ राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए चुनाव करना बेकार है। अलबत्ता यदि विचार-विमर्श की दृष्टि से चुनाव कराया जाए तो उससे कुछ लाभ हो सकता है। मैंने विश्व के शक्तिशाली देशों से इन शब्दों में अपील की :

> यदि कोरिया की समस्या को केवल कोरिया तक ही सीमित करके केवल एक ही मानदण्ड की सहायता से उसका समाधान ढूँढा जाए—अर्थात् समस्त कोरियाई जनता का कल्याण—तो उससे संयुक्त राष्ट्र न केवल 'वैरागी राष्ट्र' कोरिया की, जो अनायास ही शक्तिशाली देशों के पारस्परिक संघर्ष में फँसा दिया गया है, तीन करोड़ जनता का उपकार करेगा, बल्कि उससे शक्तिशाली देशों की भी—जिन पर समस्या का अंतिम समाधान निर्भर है—संसार में बहुत प्रतिष्ठा बढ़ जायेगी। एशिया के उन बड़े राज्यों में तो विशेषतया उसकी ख्याति और भी फैलेगी जो आयोग के सदस्य हैं और जो संसार की आधी से ज़्यादा जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। अभी हाल ही की बात है कि इनमें से तीन राज्य, जिनमें अंतिम मेरा अपना देश है, स्वतन्त्र हुए हैं और मैं भारतीय तथा संयुक्त राष्ट्र आयोग के अध्यक्ष होने के नाते यह आशा करता हूँ कि यह समिति कोई ऐसा हल सुझायेगी जो शीघ्र ही एक और संपूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न एशियाई गणराज्य—कोरिया—की स्थापना में सहायक होगा।

मैंने अपनी अपील में एक चेतावनी भी दी थी। यदि कोरिया की एकता बहाल न की गई, और यदि कोरिया में दो प्रभुराज्यों की स्थापना हो गई तो वे दोनों सरकारें आपस में टकरायेंगी और उसका परिणाम भयंकर होगा। मैंने संयुक्त राष्ट्र को आगाह किया कि 'कोरिया तो ध्वस्त होगा ही लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उसका ध्वंस एशिया और फिर समस्त संसार में महाप्रलय का सूत्रपात सिद्ध होगा।' दो वर्ष ही बीते होंगे कि मेरी यह दुःखद भविष्यवाणी लगभग पूरी हो गई।

कोरिया के विभाजन का पहला औपचारिक क़दम संयुक्त राज्य अमरीका ने उठाया था। मेरी रिपोर्ट पेश करने के शीघ्र ही बाद उसने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें दक्षिण कोरिया में एक पृथक् प्रभुराज्य की स्थापना की माँग की गई और उसे 'कोरियाई गणराज्य' की संज्ञा दी गई। दूसरी ओर उसी की प्रतिक्रिया यह हुई कि उत्तर कोरिया में 'कोरियाई जन गणराज्य' स्थापित हो गया जिसने समस्त कोरिया को अपने अधिकार-क्षेत्र में लेने का दावा किया। अमरीका सरकार ने संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों पर बहुत दबाव डाला और उसका यह प्रस्ताव भारी बहुमत से स्वीकृत हो गया। उस प्रस्ताव के विरोधी केवल दो देश ही थे—एक कनाडा और दूसरा आस्ट्रेलिया। मतदान के साथ भारत ने सहसा अपना विचार बदल दिया। आयोग में उसने राष्ट्र मंडल के अपने दो साथियों का साथ छोड़ कर अमरीका का समर्थन किया और प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया।

भारत की यह जो काया-पलट हुई—और वह भी मेरी उपस्थिति में जिसने दक्षिण कोरिया में प्रभुराज्य की स्थापना के प्रस्ताव की निन्दा की थी—उसे लेकर बहुत बातें बनीं। कुछ प्रेक्षकों ने तो यहाँ तक कह दिया कि भारत की इस नीति-परिवर्तन का सीधा-सच्चा अर्थ यह है कि इस विषय पर मेरा भारत सरकार से घोर मतभेद है और यही कारण था कि मेरा आयोग से फ़ौरन ही स्थानांतरण कर दिया गया। यद्यपि वास्तविकता यह थी कि विदेश सचिव के रूप में मेरी नियुक्ति का निर्णय बहुत पहले किया जा चुका था।

जिन परिस्थितियों में भारत ने अपना मत दिया, वे भी बड़ी विचित्र थीं। डॉ० पी० पी० पिल्लै संयुक्त राष्ट्र में हमारे स्थायी प्रतिनिधि थे जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का बहुत अनुभव था क्योंकि वही पहले भारतीय थे जो राष्ट्र संघ के सचिवालय में पहुँचे थे। उन्होंने अनुभव किया कि संयुक्त राष्ट्र में अधिकतर सदस्यों का मत अमरीकी प्रस्ताव के पक्ष में है इसलिए उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि भारत के लिए उसका विरोध करना न केवल व्यर्थ होगा बल्कि हानिकर भी हो सकता है। हालाँकि मैं पिल्लै के निष्कर्ष का बड़ा आदर करता था लेकिन उनका तर्क मुझे प्रभावित न कर सका। क्या भारत ने यह कहने में सदा गर्व का अनुभव नहीं किया था कि समय-साधना और सिद्धान्त में वह हमेशा सिद्धांत को महत्त्व देगा? लेकिन मैंने उनका विरोध भी नहीं किया। अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने के बाद मैंने महासभा की कार्रवाई में कोई सक्रिय भाग नहीं लिया और मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मेरी इस उदासीनता का आधार भावुकता थी।

कोरियाई बड़े मिलनसार थे और उनमें हमारे बहुत से मित्र बन गये थे जिनमें

सबसे घनिष्ठ मित्र मारियन मोह थी जो कोरिया की प्रमुख कवयित्री थी। मैंने उसके साथ घण्टों गरमागरम बहस की थी, राजनीति पर नहीं—क्योंकि राजनीति पर तो हम दोनों में घोर मतभेद था—बल्कि ऐसे हल्के-फुल्के और बुनियादी विषयों पर जैसे सूर्य, चन्द्रमा, तारे, प्रेम, दुःख और सुख। एक दिन जब हम एक समारोह की अनंत व्याख्यानमाला से ऊब गये तो मैं और विक्टर हू वहाँ से खिसक आये और बिना किसी को बताये मारियन के घर पहुँच गये जहाँ हमने उसके और कैथरिन यिन के साथ शाम गुज़ारी। कोई आधी रात का समय होगा कि मारियन के नीचे के दरवाज़े पर बड़े ज़ोर की धड़धड़ हुई। वह नीचे उतर कर आई कि आखिर मामला क्या है। वहाँ देखा तो मेरा सचिव के० जी० नायर जो सामान्यतः बड़ा शांत और स्थिर-स्वभाव का आदमी था बड़ा घबराया हुआ और गुस्से में भरा खड़ा था। उसके साथ पुलिस के कई सिपाही थे जो दो घण्टे से हमें ढूंढ़ रहे थे। उन दिनों कम्युनिस्टों का बड़ा ज़ोर था और अधिकारियों को यह संदेह हुआ कि कहीं किसी ने संयुक्त राष्ट्र आयोग के अध्यक्ष और महामंत्री का अपहरण न कर लिया हो।

मारियन न केवल कवयित्री थी बल्कि देशभक्त भी थी। उसका दृष्टिकोण बड़ा सीधा था। उसके लिए दक्षिण कोरिया ही वास्तविक कोरिया था, उत्तर कोरिया तो उसकी दृष्टि में उसी तरह विपथन की परिणति मात्र था जैसे एडिनावर की दृष्टि में पूर्व जर्मनी था। उसका मत था कि दक्षिण कोरिया में सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य की स्थापना का समर्थन उनके देश की एकता का समर्थन था और उसका विरोध उनके देश के साथ विश्वासघात के समान था। मारियन ने अपनी सारी आशाओं के सूत्र मुझसे जोड़ रखे थे, बल्कि उसने कुछ कविताएँ भी मुझे संबोधन करके लिखी थीं जिनमें मुझे 'कोरिया का रक्षक' कहा था। ऐसी परिस्थितियों में यदि मेरे ही देश ने प्रस्ताव के विरोध में मत दिया होता तो उस बेचारी का दिल टूट जाता और कोरिया वापस आने पर मैं उसे मुँह दिखाने योग्य न रह पाता। इसीलिए परिस्थितियों ने जो भी रूप धारण किया, उसमें मैंने कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

मेरी नौकरी के दौरान शायद यह पहला अवसर था जबकि मैंने दिमाग़ से बढ़कर दिल से काम लिया था। अब मैं यह सोचकर अपने को सांत्वना दे लेता हूँ कि मेरे किसी व्यवहार का या मेरी किसी उदासीनता का कोई बुरा फल नहीं निकला। कुछ ही समय में भारत फिर रास्ते पर आ गया और उसने अमरीकी प्रस्ताव का समर्थन करने के बावजूद न तो 'कोरियाई गणराज्य' को मान्यता दी और न ही उत्तर कोरिया में स्थापित 'कोरियाई जन गणराज्य को माना क्योंकि वह कोई ऐसी बात नहीं करना चाहता था जो कोरिया के अस्वाभाविक विभाजन

को बनाए रखे। भारत ने उन दोनों गुटों के बीच मध्यस्थता का कार्य सँभाला और मुख्यतः उसी के प्रयत्नों का यह फल हुआ कि 1953 के मध्य में उस युद्ध की इति हो गई जो तीन वर्ष से चल रहा था और कोरिया में शान्ति स्थापित हो गई।

मारियन बेचारी पर बड़ी बुरी बीती। मेरे साथ अपनी मित्रता की उसे भारी क़ीमत अदा करनी पड़ी। जब उत्तर कोरियाइयों ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण किया तब मैं दिल्ली में था। मारियन ने उस हमले के फ़ौरन बाद संयुक्त राष्ट्र आयोग में मेरे उत्तराधिकारी अनूपसिंह के ज़रिये मुझे अभिवादन-संदेश भेजा। उस संदेश में उसने मुझे लिखा कि शायद यह मेरा अन्तिम संदेश है। और कुछ ही दिन बाद मैंने अख़बार में यह ख़बर देखी कि मारियन को गोली मार दी गई। लेकिन यह बात ग़लत निकली क्योंकि एक मिशनरी महिला को मारियन समझ कर गोली मार दी गई थी। मारिया को साऊल छोड़ना पड़ा और वह छिपी-छिपी गाँव-गाँव भटकती रही कि किसी तरह कम्युनिस्टों के प्रकोप से बच जाए जिन्होंने दक्षिण कोरिया पर अधिकार कर लिया था और मारियन का नाम-निशान मिटाने का निश्चय कर लिया था। उसी ज़माने में जब वह इधर-उधर घूमती फिर रही थी ऐसे भी वक़्त आये जब कई-कई दिन तक उसे भूखा रहना पड़ा—यहाँ तक कि भूख से परेशान होकर उसे अपनी सबसे अधिक बहुमूल्य वस्तु घड़ी बेचनी पड़ गई जो मैंने उसे उपहार में दी थी। उन कुछ हफ़्तों की घोर विपत्तियों ने उसे समय से पहले बूढ़ा कर दिया लेकिन उसमें कोई झुँझलाहट या चिड़चिड़ापन नहीं आने पाया। आज भी वह उतनी ही सौम्य और आकर्षक लगती है।

महात्मा गाँधी के दुःखद निधन का समाचार मुझे कोरिया में ही मिला। उस विपदा की घड़ी में कोरियाई मित्रों ने हमारे साथ जिस सहानुभूति का प्रदर्शन किया वह मेरे लिए अविस्मरणीय है। उन्होंने हर तरह से हमें यह कहकर तसल्ली दी कि महात्माजी का निधन केवल हमारी ही क्षति नहीं, उनकी अपनी भी भारी क्षति है। दूसरे भारतीय जिनका नाम कोरिया में बड़े आदर और श्रद्धा से लिया जाता था—रवीन्द्र नाथ ठाकुर थे। सुदुर-पूर्व की अपनी यात्रा के दौरान गुरुदेव ने कोरिया की जनता को जो संदेश दिया था वह बहुतों को कण्ठस्थ था और उनमें से कई ने मुझे सुनाया भी था :

> समृद्धि के उस युग में जब एशिया की महत्ता दूर-दूर तक मानी जाती थी कोरिया ही एक ऐसा देश था जिसके पास शांति, प्रगति और

एकता का वह दीप था जिसने अपने प्रकाश से समस्त पूर्व को जगमगा दिया था। ईश्वर करे वही दीप फिर अपना शाश्वत प्रकाश संसार में फैलाये।

संयुक्त राष्ट्र आयोग के हम सभी सदस्यों ने उस दीप को फिर से जलाने का भरसक प्रयास किया लेकिन शीत युद्ध के भयंकर झोंकों ने उसे जलने न दिया।

पुनः नई दिल्ली

०○

कोरिया से लौटकर जब मैं नानकिंग आया तो मुझे भारत सरकार का विदेश सचिव नियुक्त कर दिया गया। जिस समय मैं चीन में था तब मेरी अनुपस्थिति में यहाँ भारत में बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घट रही थीं। पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत और बलूचिस्तान जहाँ मैंने अपने जीवन के सबसे अधिक सुख के दिन बिताये थे अब विदेशी क्षेत्र में चले गए थे। पाँच नदियों का प्रदेश पंजाब अब वैसा नहीं रह गया था क्योंकि उसकी तीन नदियाँ पाकिस्तान में चली गई थीं और दो भारत में रह गई थीं। बंगाल का भी विभाजन हो गया था। लॉर्ड कर्ज़न की आत्मा उस (बंगभंग) दृश्य को देखकर कितनी प्रसन्न हुई होगी। 1905 में लॉर्ड कर्ज़न ने बंगाल का विभाजन किया था। उस समय बंगाल में बिहार और उड़ीसा भी शामिल थे और वह इतना विस्तृत क्षेत्र था कि उस पर योग्यतापूर्वक शासन करना संभव नहीं रह गया था। लेकिन कर्ज़न ने यह तो नहीं किया कि बिहार और उड़ीसा को बंगाल से अलग करते, उन्होंने तो यह किया कि पूर्वी बंगाल को उससे अलग करके असम में मिला दिया। बंगालियों ने इस विभाजन को अपना घोर अपमान समझा और एक आन्दोलन शुरू कर दिया जिसने देशव्यापी रूप धारण कर लिया। नतीज़ा यह हुआ कि छह वर्ष बाद वह विभाजन रद्द कर दिया गया। इस निर्णय की घोषणा स्वयं किंग जॉर्ज पंचम ने अपने दरबार में की। यह दरबार ब्रिटिश सम्राट का भारत में पहला और अंतिम दरबार था। 1947 में बंगाल के फिर दो टुकड़े हो गये जिसमें से आधा तो पाकिस्तान में चला गया और आधा भारत में रह गया।

भारत-विभाजन के साथ ही पाकिस्तान के लाखों लोग भारत आए और इसी तरह लाखों यहाँ से पाकिस्तान गए और इस आवाजाही के कारण बहुत रक्तपात हुआ। हिन्दू अपना अहिंसा का धर्म भूल गए और मुसलमानों ने तो अपने ही हितों के प्रति आँखें मूंद लीं—कि हमारे ही समधर्मी 4 करोड़ मुसलमानों को यहीं हिन्दुओं के साथ रहना है—और दोनों ने खूब खून की होली खेली। यह सब रक्तपात और विनाश भारत की स्वतंत्रता का मूल्य था जो यहाँ के देशवासियों ने चुकाया। सितम्बर 1946 में ब्रिटेन ने सत्ता हमेशा के लिए भारतवासियों के हाथों में दे दी, अगस्त 1947 में भारत का एक डोमिनियन बन गया

और जनवरी 1950 में उसने एक गणराज्य का रूप धारण कर लिया। भारत आकार में तो सिकुड़ गया लेकिन उसकी प्रतिष्ठा बहुत अधिक फैल गई।

1947 के उत्तरार्ध में भारत में जो कुछ हुआ उसे एक प्रकार की क्रांति ही कहना चाहिए। फिर भी जब मैं लौटकर स्वदेश आया तो पहला प्रभाव जो मुझ पर पड़ा वह यह था कि यहाँ सारा कार्य-व्यापार सामान्य ढंग से हो रहा है। यह सही है कि विभाजन के फलस्वरूप इसे कुछ उथल-पुथल का सामना करना पड़ा था और साथ ही इसका अंग-भंग भी हो गया था लेकिन यहाँ का शासनतंत्र यथापूर्व चल रहा था। विधान सभा के सदस्य उसी प्रकार जोशीले भाषण दे रहे थे, जज लोग क़ानून की रक्षा में व्यस्त थे और भारतीय सिविल सेवा क़ानून और व्यवस्था बनाये रखने का काम कर रही थी। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि विधान मंडल, कार्य-पालिका और न्यायपालिका तीनों अपने काम सुचारू ढंग से चला रही थीं। और इसका श्रेय ब्रिटिश सरकार को दिया जाना चाहिए जिसने भारत में एक उत्कृष्ट कोटि का प्रशासनिक ढाँचा स्थापित कर दिया था। 1947 में भा० सि० से० को एक विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ा जबकि मनुष्य के निम्नतम तथा उदात्ततम दोनों ही प्रकार के भावों का विस्फोट हुआ। लेकिन उसने डटकर स्थिति का मुक़ाबिला किया और शांति स्थापित की। यह इस दृष्टि से और भी प्रशंसनीय है कि भा० सि० से०—जिसे लॉयड जॉर्ज ने 'सरकार की फ़ौलादी काठी, कहा था और जिसमें अंग्रेज़ों का बाहुल्य था और 1939 तक इस सेवा में 759 यूरोपीय और 540 भारतीय हुआ करते थे—अब लगभग पूरी तरह भारतीयों के हाथों में आ चुकी थी। भा० सि० से० के इने गिने सदस्यों को छोड़कर शेष सभी सदस्य विभाजन के समय भारत छोड़कर चले गए, अधिकांश मुस्लिम सदस्य पाकिस्तान चले गये बस मुट्ठी भर सदस्य ऐसे बच रहे थे जिन पर प्रशासन और पूरे देश की प्रतिष्ठा की रक्षा करने का दायित्व आ पड़ा था।

जब अंग्रेज़ यहाँ से गये तो विभाजित भारत की एकता भी खतरे में थी। लगभग 560 रियासतें ऐसी थीं जिनका भविष्य अनिश्चित था। उनको स्वतंत्रता थी कि वे चाहें तो भारत में रहें, चाहें तो पाकिस्तान से मिल जाएँ या स्वतन्त्र रहें। कश्मीर की कहानी तो सर्व-विख्यात है जहाँ का शासक कोई निर्णय करने में असफल रहा था। कुछ वैसी ही कहानी हैदराबाद की है जहाँ कुछ समय तक सरकार में रज़ाकारों का प्रभुत्व रहा और उन्होंने तो 'चलो दिल्ली' का नारा भी लगा दिया। लेकिन जहाँ तक तिरुवांकुर की रियासत का प्रश्न है वहाँ की ऊटपटाँग बातें इतनी मशहूर नहीं है। उसने, सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर की दीवानी में अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी, पाकिस्तान के साथ राज-

नयिक संबंध स्थापित कर लिये, यहाँ तक कि कराची में तिरुवांकुर का एक राजदूत भी नियुक्त कर दिया गया। उस समय तो ऐसा लग रहा था जैसे भारत फिर अनेक खंडों में विभक्त हो जायेगा। लेकिन तत्कालीन गृह मंत्री सरदार वल्लभ भाई पटेल ने, जो वास्तव में लौह पुरुष थे, नरेशों को इस तरह साधा कि यह ख़तरा टल गया। इस महान् कार्य में उन्हें अपने कार्यनिष्ठ और योग्य अधिकारियों की सहायता प्राप्त हुई। उनमें से एक थे वी० पी० मेनन जिन्होंने इस नाटकीय घटना का वर्णन अपनी पुस्तक **द इंटिग्रेशन ऑफ द इंडियन स्टेट्स** में किया है। पुस्तक की भाषा में नाटकीयता का क़तई कोई पुट नहीं है और यही कारण है कि वह बहुत प्रभावशाली बन गई है।

भारत की क्रांति रूस या चीन की क्रांति की अपेक्षा शांतिपूर्ण थी और यही उसकी विशेषता भी थी। यहाँ हिंसा का प्रयोग तो हुआ लेकिन वह रूस और चीन की तुलना में बहुत ही साधारण और नगण्य था और उस पर भी बहुत जल्दी क़ाबू पा लिया गया था। समाज-व्यवस्था या प्रशासनिक व्यवस्था को भंग करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था लेकिन फिर भी एक नई भावना अँगड़ाई ले रही थी जिसका प्रभाव वाइसरीगल लॉज तक पहुँच रहा था। ब्रिटिश गवर्नर जनरलों में लॉर्ड माउण्टबैटन अंतिम थे, वे औरों से भिन्न थे। उनमें और लॉर्ड लिनलिथगो में, जो 1936 से 1943 तक भारत के वाइसराय और गवर्नर-जनरल रहे थे, जितना भारी अंतर था उतना शायद ही किसी और में रहा होगा। लॉर्ड लिनलिथगो का शरीर भारी था, तिहरी ठोड़ी थी और उनमें एक ऐसी शान थी जो ओढ़ी हुई मालूम होती थी। वे एक दम तोड़ते हुए साम्राज्यवाद के प्रतीक थे जो लगता था अपनी उम्र पूरी कर चुका है और जिसका अब कोई उद्देश्य शेष नहीं रहा है जिसके लिए वह जीवित रहे। जब लॉर्ड लिनलिथगो ने 1943 में भारत से सदा के लिए विदा ली तो वैटमैन ने जो उस समय कार्यवाहक विदेश सचिव थे मुझे पत्र में लिखा कि उन्हें छोड़ने के लिए एक चपरासी तक भी हवाई अड्डे पर नहीं गया। उनका कहना था कि एक ऐसे व्यक्ति के साथ, जो उथल-पुथल से भरपूर सात वर्षों की लम्बी अवधि तक भारत का वाइसराय रहा था, कुछ बेहतर व्यवहार होना चाहिए था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत में बहुत कम लोग ऐसे थे जिन्हें लॉर्ड लिनलिथगो के जाने का दुःख हुआ हो। भारत में दूसरा कोई वाइसराय ऐसा नहीं रहा जिसे यहाँ की समस्याओं का इतना अच्छी तरह ज्ञान हो जितना लॉर्ड लिनलिथगो को था। कृषि तथा श्रम-संबंधी रॉयल कमीशनों के वे अध्यक्ष रह चुके थे। उन जैसा परिश्रमी भी कोई और वाइसराय नहीं रहा और न, लॉर्ड कर्जन को छोड़कर, दूसरा कोई वाइसराय ऐसा था जिसने उनसे अधिक टिप्पणियां

लिखी हों या मसौदे तैयार किये हों। इन सबके अलावा कोई वाइसराय ऐसा भी नहीं हुआ था जिसने उनकी तरह भारत को स्वशासन या सुशासन की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया हो। अब वह समय आ गया था जब स्वशासन की माँग के बदले सुशासन स्वीकार नहीं किया जा सकता था, बल्कि यों कहना चाहिये कि स्वशासन के बिना सुशासन संभव ही नहीं था। यही कारण था कि जब लिनलिथगो भारत से गये तो यहाँ राजनीति तथा प्रशासन दोनों ही दृष्टियों से अव्यवस्था फैल चुकी थी। राजनीतिक अव्यवस्था के लिए तो शायद सारा दोष लिनलिथगो को नहीं दिया जा सकता क्योंकि वे बेचारे तो एक निरंकुश स्वामी के सेवक थे जो यह महसूस करता था, और जिसने यह कहा भी था, कि मुझे इसलिए सम्राट का प्रधान मंत्री नहीं बनाया गया है कि मैं ब्रिटिश साम्राज्य की इतिश्री का सूत्रधार बनूं। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि भारत के प्रशासनिक विध्वंस के लिए प्रत्यक्ष रूप से लिनलिथगो ही उत्तरदायी थे। उनकी अयोग्यता और मूर्खता का सबसे भोंड़ा रूप उस समय उजागर हुआ जब बंगाल में अकाल पड़ा और वे उस पर नियंत्रण नहीं कर पाये—यह ऐसा अकाल था जिसे पौरुषेय कहा जा सकता है, और जिसमें कोई तीस लाख आदमी मर गये थे। लेकिन जब लॉर्ड वेवल ने यहाँ का वाइसराय पद सँभाला तो स्थिति में परिवर्तन आना शुरू हो गया। सेना को अकाल-नियंत्रण के काम में जुटाकर उसे पूरा किया गया और राजनीतिक गतिरोध समाप्त करने के लिए सबसे पहले क़दम उठाए गये। महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरू और कांग्रेस के अन्य नेता रिहाकर दिये गये। लॉर्ड वैवल के बाद लॉर्ड माउण्टबैटन आये। वे उम्र में उनसे छोटे थे किन्तु उनका व्यक्तित्व अधिक गत्यात्मक था। उनकी सहायता के लिए उनसे भी अधिक गतिशीला उनकी पत्नी थीं—और उन्होंने ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया था कि भारत की स्वतंत्रता की तारीख़ सरकाकर दो-चार महीने और पहले की कर दी जाए। वे चंद महीने भारत के लिए भारी महत्त्व के थे क्योंकि इन्हीं के दौरान देशी रियासतों और अन्य स्थानों के प्रतिक्रियावादी तत्व कुछ अधिक सबल बन सकते थे और अपने साथियों से समर्थन प्राप्त करके कुछ उपद्रव कर सकते थे। अगस्त 1947 में भारत के अंतिम ब्रिटिश वाइसराय लॉर्ड माउण्टबैटन भारतीय डोमिनियन के पहले गवर्नर-जनरल बने। अभी साल भर भी न बीता होगा कि उन्हीं की जगह एक भारतीय गवर्नर-जनरल ने ले ली और तीन वर्ष पूरे होने के पहले ही भारत एक गणराज्य बन गया। लेकिन यह संक्रमण इतने शांत और निर्विघ्न ढंग से हुआ कि राज्य के जहाज़ ने कोई झटका तक महसूस नहीं किया। इसका कारण कुछ तो यह था कि यद्यपि इस जहाज़ के चालक अशक्त हो चुके थे पर ये सभी सिद्धहस्त और विशेषकर इस कारण से भी

कि अब इसे एक प्रख्यात नौचालक जवाहरलाल नेहरू मिल गये थे।

लेकिन राज्य के जहाज़ को चलाकर स्वाधीनता सागर में ले जाना एक बात थी और उस सागर में पहुँचकर यात्रा करना दूसरी। संसार यही सोच रहा था कि जवाहर लाल नेहरू, जो कल तक एक आंदोलनकर्ता थे, सृष्टा राजमर्मज्ञ के रूप में कैसे लगेंगे। 1945 में कैरो ने मुझे बताया था कि बाजपेयीजी ने जो संयुक्त राज्य अमरीका में भारत के एजेंट-जनरल थे नेहरूजी के बारे में एक मज़ेदार विशेषण गढ़ लिया था। वे उन्हें 'भारतीय राजनीति का हैमलेट' कहते थे और भारत सरकार ने उन्हें प्रोत्साहन दिया था कि वे नेहरू को अमरीकी जनता के सामने उसी रूप में, यानी एक उदारचेता किन्तु प्रभावहीन व्यक्ति के रूप में, प्रस्तुत करें। ऐसी स्थिति में संसार को यह संदेह था कि भला यह उदारचेता व्यक्ति अपने देश की पैंतीस करोड़ जनता की अनेक समस्याओं को कारगर ढंग से कैसे हल कर पायेगा?

जवाहरलाल नेहरू ने स्वाधीनता-सागर की उत्ताल तरंगों पर जब अपनी नौका चलाई तो वह दृश्य ऐसा हृदयग्राही था कि कोई भी देश उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। और उसी दृश्य को देखने के लिए दिल्ली में एक नया क़बीला आकर एकत्र हो गया जो राजनयिकों का क़बीला था। ये राजनयिक प्रतिनिधि संसार के सभी भागों से आये थे। उनमें पाँचो महाद्वीपों के लोग सम्मिलित थे—सभी देशों के चाहे छोटे हों या बड़े, चीन से चिली और स्वीडन से स्याम तक के प्रतिनिधि यहाँ जमा हो गये थे। सदियाँ गुज़रीं लेकिन वे कभी भारत में दिखाई नहीं दिये थे। ऐसा नहीं कि भारत उन्हें जानता ही न था। भवभूति-रचित मालती-माधव में—जो आठ सौ वर्ष पहले लिखी गई थी—राजनयिक का बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है:

बहि: सर्वाकारप्रवण रमणीयं व्यवहरन्
पराम्यूहस्थाना न्यपि तनुतराणि स्थगयति।
जनं विद्वानेक: सकल मतिसंधाय कपटे
स्तटस्थ: स्वानर्थान्घटयति च मौनं च भजते॥*

* 'सच्चा कूटनीतिज्ञ (राजनयिक) वही है जो बाह्यत: अपना व्यवहार और कार्य-व्यापार बड़े रमणीय और सौम्य ढंग से संपन्न करता है किन्तु दूसरे व्यक्तियों के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रहस्य भी ऐसी दृढ़ता से अपने अंदर छिपा लेता है कि किसी को उसका लेशमात्र भी आभास न हो सके, इस प्रकार वह बाह्यत: अपने नीति-संबंधी विषयों के प्रति बड़ा उदासीन और तटस्थ रहता है और अपना मुंह बन्द रखता है।'

भवभूति के बाद से अब तक राजनयिक शिष्टाचार बहुत अधिक विकसित हो चुका है और उसे संहिताबद्ध कर दिया गया है। जब भारत स्वाधीन हुआ और दिल्ली में राजनयिकों का ताँता बँध गया तो हमारी समझ में यह न आया कि आखिर इन लोगों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाये और इनके प्रति किस प्रकार का सौजन्य दर्शाया जाये। मुझे याद है कि एक दिन सवेरे दिल्ली में तुर्की राजदूतावास के परामर्शदाता ने मेरे पास आकर यह शिकायत की कि उनके राजदूत का अपमान हुआ है। उससे एक दिन पहले ही जवाहर लाल नेहरू ने नवागंतुक तुर्की राजदूत और स्वीडन के मंत्री तथा उनकी पत्नी को अपने यहाँ डिनर पर बुलाया था। स्वीडनी मंत्री की पत्नी श्रीमती जारिंग प्रधान मंत्री के दाहिनी ओर बिठाई गई और स्वीडनी मंत्री तथा तुर्की के राजदूत को सत्कारिणी इंदिरा गाँधी के क्रमश: दाहिनी तथा बायीं ओर बिठाया गया। जिस व्यक्ति ने भोज की व्यवस्था की थी उसके विचार में स्वीडनी मंत्री को उनकी पत्नी के सामने बिठाना उचित न था। तुर्की के परामर्शदाता का ख़याल था कि तुर्की के राजदूत की अपेक्षा स्वीडनी मंत्री को प्राथमिकता देकर तुर्की का जानबूझकर अपमान किया गया है और यदि यही घटना भारत के अतिरिक्त किसी और देश में घटी होती तो हमारे राजदूत भोजन के कमरे से बाहर चले जाते, लेकिन चूंकि तुर्की में भारत के प्रति अपार श्रद्धा और समादर का भाव है इसलिए उन्होंने ऐसा नहीं किया। मैंने यह मामला प्रधान मंत्री के सामने प्रस्तुत किया। उन्होंने तुर्की के राजदूत को एक बड़ा सुन्दर पत्र लिखा जिसमें अन्य बातों के अलावा उन्होंने लिखा, 'हम में अधिकतर लोग ऐसे हैं जिन्हें अपने अब तक के जीवन में नयाचार या प्राथमिकता-क्रम की कोई जानकारी नहीं रही क्योंकि हमारे जीवन का अधिकांश भाग जेल में बीता है और उन्हें आश्वासन दिया कि जो व्यवहार हुआ उसमें किसी प्रकार की अशिष्टता अभीष्ट नहीं थी।'

एक बार यह प्रश्न भी बड़े उग्र रूप में उभर कर आया कि किसी राजदूत को किस सीमा तक राजनयिक उन्मुक्ति दी जा सकती है। किसी देश-विशेष में प्रत्यायित एक राजदूत स्वदेश जाते हुए भारत में उतरा, उसके पास कोई आधा दर्जन पैकेज थे जो इतने भारी थे कि उन पर संदेह हुआ। और खोलने पर पता चला कि उनमें पंद्रह लाख रुपये की मालियत का सोना है। भारत में चोरी-छिपे सोना लाना एक भारी अपराध है, इसलिए हमारे पास इसके सिवाय कोई चारा न था कि सोना जब्त कर लें और राजदूत को न्यायालय के सुपुर्द कर दें। हमारा मत यह था कि राजनयिक उन्मुक्ति का लाभ इन मामलों में नहीं उठाया जा सकता, विशेषकर वह उन राजदूतों को तो दी ही नहीं जा सकती जो यात्रा कर रहे हों। नतीजा यह हुआ कि उस राजदूत को वहाँ की सरकार ने नौकरी

से बरख़ास्त कर दिया। फिर वहाँ के राज्याध्यक्ष ने हमारे राष्ट्रपति से व्यक्तिगत रूप से अपील की और यह तय हो गया कि उसे दण्ड दिये बिना भारत से जाने की अनुमति दे दी जाए बशर्ते कि वह न्यायालय में अपना अपराध स्वीकार कर ले और अपने सह-अभियुक्तों की दोष-सिद्धि में सहायता दे।

कभी-कभी हमें ऐसी-ऐसी स्थितियों से निपटना पड़ता था जो बहुत गंभीर तो नहीं होती थीं, लेकिन होती बड़ी मज़ेदार थीं। एक मिशन के अध्यक्ष ने मुझे सूचना दी कि किसी शक्तिशाली राष्ट्र विशेष के गुप्त एजेंट उनके पीछे लगे हुए हैं, लिहाज़ा हमने उनकी सुरक्षा के लिए विशेष पुलिस की व्यवस्था कर दी। एक दिन शाम को नयाचार-प्रमुख को फ़ोन पर किसी ने बड़े घबराहट के स्वर में यह सूचना दी कि उसके राजदूत को ज़हर दे दिया गया है। जब जाँच-पड़ताल की तो मालूम हुआ कि राजदूत को अतिसार हो गया था। एक और अजीब शिकायत जो विदेश कार्यालय में आई यह थी कि कोई व्यक्ति किसी राजदूतावास के परामर्शदाता की सुन्दर पत्नी के कमरे में घुस गया, उसने उनकी अलमारी खोली और उनके जाँघिये के फाड़ कर चिथड़े कर दिये। इस मामले की भी विधिवत् जाँच-पड़ताल कराई गई और पता चला कि वह व्यक्ति और कोई नहीं, उस महिला का एक प्रशंसक था जिसे उन्होंने झिड़क दिया था और जिसने आवेश में आकर उनसे यह बदला लिया कि उनका जाँघिया फाड़ डाला। इस प्रकार की घटनाओं से यही मालूम होता था कि राजनयिक हों या उनकी पत्नियाँ, सब होते तो मानव ही हैं।

मुझे यह देखकर बड़ी हँसी आती थी कि राजनयिक कोर की सदस्य कुछ महिलाएँ अक्सर प्रधान मंत्री के इर्द-गिर्द मँडराया करती थीं। और उनमें से एक तो ऐसी थी कि उन्हें शान्ति से बैठने ही न देती थीं। कोई भी पार्टी हो वे उन्हें जा घेरतीं और किसी भी विषय पर लगतीं बातें बनाने। और दूसरी राजनयिकों की पत्नियाँ बेचारी खड़ी गुस्से या नाराजगी से उनकी ओर देखती रहती थीं। प्रधान मंत्री इतने निष्ठुर भी न थे कि सहसा उन्हें छोड़ कर अलग हो जाते, और अंत में वे किसी-न-किसी प्रकार पीछा छुड़ा कर वहाँ से हटते तो वह महिला उदास हो जाती और रुआँसी होकर उनका फिर अनुसरण करतीं। उन्हें यह दुःख होता था कि अब पंडितजी को किसी ऐसी स्त्री से बातें करनी पड़ेंगी जो उनकी अपेक्षा कम दिलचस्प होगी।

सोवियत संघ तथा पश्चिमी राष्ट्रों के अपने-अपने प्रतिनिधि नई दिल्ली में थे। वे दोनों ही इस तलाश में रहते थे कि कब भारत का झुकाव एक ओर या दूसरी ओर होता है। पंडितजी ने शुरू से ही यह बात स्पष्ट कर दी थी कि भारत किसी भी गुट के साथ अपना संबंध नहीं जोड़ेगा। 7 सितंबर 1946 को, जब

उन्हें अंतरिम राष्ट्रीय सरकार बनाये हुए अभी केवल छह दिन ही हुए थे, उन्होंने अपने पहले प्रसारण में विदेश मंत्री की हैसियत से कहा था :

> हमारा विचार है कि जहाँ तक संभव होगा हम अपने आपको गुटों की सत्तार्थ राजनीति से अलग रखेंगे क्योंकि इन्हीं गुटों ने, और उनसे संबद्ध शक्तियों ने, विश्व-युद्ध कराये हैं और ये ही अब फिर हमें विनाश के गढ़े में धकेल सकते हैं और इस बार होने वाली तबाही पहले से कहीं व्यापक और भयंकर हो सकती है...... । यह सच है कि संसार में विभिन्न देशों में एक-दूसरे के प्रति शत्रुता भी है, घृणा भी है और आंतरिक अंतर्विरोध भी किन्तु फिर भी यह विश्व अनिवार्य रूप से और अधिक निकट सहयोग तथा एक विश्व राष्ट्रमंडल के संगठन की ओर अग्रसर है। इसी एक विश्व के निर्माण के लिए स्वतंत्र भारत प्रयत्नशील रहेगा...... । हम संयुक्त राज्य अमरीका की जनता का अभिनंदन करते हैं जिन्हें प्रारब्ध ने अंतर्राष्ट्रीय मामलों में एक प्रमुख भूमिका प्रदान की है...... । हम आधुनिक संसार के उस दूसरे महान् राष्ट्र सोवियत संघ का भी अभिनंदन करते हैं जिसका विश्व के राजनीतिक स्वरूप-निर्धारण में बड़ा दायित्व है।

नेहरूजी जानते थे कि भारत के लिए सभी शक्ति-समूहों से अलग रहना आसान नहीं है और यदि हमने ऐसा किया तो उसका यह परिणाम भी हो सकता है कि दोनों ही गुट उसके प्रति शंकित हो जाएँ या संभव है कि विरोध भी करें। शुरू में हमारा जो अनुभव रहा उसने इस भय की पुष्टि कर दी। पहले छह-सात वर्ष तक तो सोवियत संघ यह समझता रहा कि भारत एक ऐसा राज्य है जो नाम से तो स्वतंत्र है किन्तु वास्तव में उस पर पश्चिम का आधिपत्य है और विशेषत: आर्थिक क्षेत्र में तो वह उसके अधीन है ही। जब श्रीमती पंडित मास्को में भारत की राजदूत नियुक्त हुईं तो उन्हें बड़ा इत्मीनान हुआ क्योंकि 1946 में संयुक्त राष्ट्र को भेजे गये भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व उन्होंने ही किया था और वे प्रधान मंत्री की बहन भी थीं। लेकिन यह सब होते हुए भी सोवियत संघ में वे भारत के प्रति कोई विशेष सद्भावना न जगा सकीं। उनके बाद डॉ० राधाकृष्णन वहाँ गये जिनको लोगों ने अधिक स्नेह और सम्मान दिया और उन्हें स्तालिन से वैयक्तिक भेंट का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। फिर भी भारत और सोवियत संघ का एक-दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार रहा जैसे उन दो परिचित व्यक्तियों में होता है जो एक-दूसरे के प्रति सशंक हों और विनम्रता का व्यवहार करते हुए भी एक-दूसरे के मित्र न बन पायें। यही कारण है कि उनमें न तो कोई सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ और न ही कोई व्यापार, हाँ कभी-कभार कोई वस्तु-विनिमय क़रार भले ही हो गया हो।

एक ओर तो यह था कि सोवियत संघ का रवैया भारत के प्रति उदासीनता का रहा और दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमरीका भी कभी तो अपना प्रेम भारत पर उँडेलता था और कभी ऐंठ जाता था। जब उसे यह आशा होती कि भारत अमरीका के साम्यवाद-विरोधी विश्व अभियान में उसका मित्र रहेगा तब तो उसकी बाछें खिल जातीं और जब उसकी इस आशा पर पानी फिर जाता तो उसका वही प्रेम झुँझलाहट और घृणा में बदल जाता। यह बड़ी अजीब बात थी कि वही अमरीका जो सैंकड़ों वर्षों से सभी प्रकार के उलझाने वाले समझौतों से बचता आया था आज भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को समझने से इनकार कर रहा था।

राष्ट्रपति आइज़नहावर में भारत की नीति को समझने की सहज क्षमता थी। उन्होंने एक बार यह घोषणा भी की थी कि तटस्थता से उन देशों का तात्पर्य जो हाल ही में स्वाधीन हुए हैं यह नहीं है कि वे सत्-असत् या न्याय-अन्याय के बीच तटस्थ रहेंगे, इसीलिए तटस्थता की नीति अमरीका के हितों के विरुद्ध नहीं। राष्ट्रपति की इस घोषणा से कराची, तेहरान और अमरीका के अन्य मित्र देशों की राजधानियों के राजनयिक क्षेत्रों में खलबली मच गई और दूसरे ही दिन जॉन फ़ॉस्टर डलेस ने अपने अध्यक्ष के वक्तव्य का खंडन करते हुए कहा कि तटस्थता 'अदूरदर्शिता और अनैतिकता' की प्रतीक हैं। लेकिन राष्ट्रपति कैनेडी और जॉनसन के विवेकपूर्ण नेतृत्व में अमरीका अपने इस दृष्टिकोण से बहुत आगे जा चुका है।

कोरिया-युद्ध भारत की विदेश नीति की अग्निपरीक्षा सिद्ध हुआ। 1950 में युद्ध छिड़ा और भारत ने संयुक्त राष्ट्र आयोग के जाँच-परिणामों से सहमति प्रकट की कि आक्रमण वास्तव में उत्तर कोरिया की सेना ने दक्षिण कोरिया पर किया था और उसने महासभा के उस प्रस्ताव का समर्थन भी किया जिसमें उत्तर कोरिया को आक्रांता घोषित किया गया था। भारत में अमरीकी राजदूत लॉय हैण्डरसन ने बाजपेयीजी से कहा था, 'मैं इसी दिन की तो प्रतीक्षा कर रहा था।' उन्होंने भारत के अपने पक्ष में समर्थन का यह अर्थ लगाया कि साम्यवाद और प्रति-साम्यवाद तथा रूस और अमरीका की भव्य प्रतिद्वन्द्विता में भारत प्रति-साम्यवाद और अमरीका के साथ आ गया है। भारत की शुरू से ही यह कोशिश रही थी कि कोरिया की समस्या का सैनिक समाधान नहीं बल्कि राजनीतिक समाधान ढूंढ़ा जाए। पहले तो उत्तर कोरियाई सेना सीधी दक्षिण कोरिया पर चढ़ती चली आई और लगा कि समूचा कोरिया अब उनके क़ब्ज़े में आया। लेकिन इतने में ही मैक आर्थर इंचोन पहुँच गये और उसका यह परिणाम हुआ कि दक्षिण कोरिया से हमलावरों को खदेड़ दिया गया। वही ऐसा उपयुक्त अवसर था जबकि सैनिक कार्रवाई समाप्त कर दी जाती और समझौते की सूरत निकाली जाती

और भारत ने कहा भी कि ऐसा कर देना चाहिए। लेकिन मैक आर्थर अपनी विजय के नशे में चूर थे, उन्होंने न केवल संयुक्त राष्ट्र के समादेश का अतिक्रमण किया जिसमें उन्हें सिर्फ़ यह प्राधिकार दिया गया था कि वे सैनिक कार्रवाई के द्वारा दक्षिण कोरिया से आक्रामकों को बाहर निकाल दें, बल्कि 38 वीं समानांतर रेखा पार करके उत्तर कोरिया में घुसने की भी धमकी दी। उसी समय चीन ने भी स्पष्ट रूप से बता दिया कि यदि ऐसा हुआ तो हमारे लिए सिवाय हस्तक्षेप के कोई विकल्प नहीं रह जायेगा। एक दिन चाउ एन-लाई ने आधी रात को जाकर पणिक्कर को जगाया जो उस समय पीकिंग में हमारे राजदूत थे और उन्हें गंभीरता से अपने इस निर्णय की सूचना दी। चूंकि उस ज़माने में चीन और पश्चिम के बीच संबंध बनाए रखने का एक मात्र कारगर माध्यम भारत ही था इसलिए उसने उतनी ही गंभीरता के साथ यह चेतावनी ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका तक पहुँचा दी। लेकिन पश्चिमी राष्ट्र और विशेषकर अमरीका ऐसी धौंस-धमकी कहाँ सुनते थे। उन्होंने समझा कि चीन महज़ हम पर धौंस जमा रहा है। उनका विचार था कि चीन ऐसी मूर्खता कभी नहीं कर सकता कि संयुक्त राष्ट्र और 15 बड़ी शक्तियों को चुनौती दे दे जिनका नेतृत्व संयुक्त राज्य अमरीका के हाथ में है और जो कोरिया से लड़ाई कर रही हैं। इसलिए मैक आर्थर उत्तर कोरिया को अपने अधीन करने की योजनाओं में व्यस्त रहे। शुरू-शुरू में तो सब कुछ ठीक ही लगा, उनकी सेनाएँ येल नदी तक पहुँच गई जो कोरिया और चीन के बीच सीमा-रेखा है। उन्होंने अपने जवानों से कहा, 'क्रिसमस हम घर जाकर मनाएँगे।' इतने ही में चीनियों का एक ज़बरदस्त रेला आया जिसने मैक आर्थर की फ़ौजों को धकेल कर 38वीं समानांतर रेखा के उस पार पहुँचा दिया और उस लड़ाई में अमरीकी सैनिक भारी संख्या में हताहत हुए। चीनियों का अमरीकियों को खदेड़ना था कि अमरीका में चिल्ल-पों होने लगी और यह ख़तरा भी महसूस होने लगा कि कहीं अमरीका परमाणु बम का प्रयोग न कर बैठे। उसी समय राष्ट्र-मंडलीय प्रधान मंत्रियों का सम्मेलन हो रहा था जिसमें भारत ने कनाडा के साथ मिलकर यह प्रस्ताव रखा कि कोरिया के झगड़े का निपटारा कुछ खास शर्तों पर करने का प्रयत्न करना चाहिए जिसमें उसे चीन की सहमति प्राप्त हो गई थी। लेकिन अमरीका को तो सिर्फ़ इसमें दिलचस्पी थी कि किसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र चीन को आक्रामक घोषित कर दे, कोरिया में बढ़ती हुई शत्रुता को समाप्त करने से उन्हें कोई सरोकार नहीं था। और अपने इस प्रयत्न में वह सफल भी हो गया और उसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध दो वर्ष तक और जारी रहा और सुदूर-पूर्व में तनाव कम करने का जो एक अवसर मिला था वह हमेशा के लिए हाथ से जाता रहा।

जहाँ तक चीन और कोरिया का संबंध है, भारत ऐसी नीति अपनाने की स्थिति में था जो पहले के सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त हो। अलबत्ता तिब्बत के संबंध में स्थिति कुछ भिन्न थी। भारत को ब्रिटिश सरकार ने यह वचन दिया था कि वह तिब्बत की स्वाधीनता का समर्थन करेगी बशर्ते कि उस पर चीन का अधिराजत्व बना रहे। एक प्रकार से स्वाधीन भारत को यह आश्वासन दाय के रूप में मिला था। लेकिन परिस्थितियाँ बहुत बदल चुकी थीं। जब तक चीन कमज़ोर रहा—और 1911 की क्रांति के बाद से वह गृहयुद्ध में गुंथा रहा था—तिब्बत के लिए यह संभव था कि अपनी स्वाधीनता के लिए ज़ोर दे और भारत के लिए यह संभव था कि वह उसका समर्थन करता रहे। लेकिन अब चीन में सदियों के बाद पहली बार एक सबल सरकार स्थापित हो चुकी थी, जिसके कारण अब भारत के लिए यह संभव नहीं रह गया था कि वह चीन के विरुद्ध तिब्बत की स्वाधीनता का समर्थन उतनी ही निर्भीकता से करे जैसा अब तक करता आया था। इसलिए जब 1959 में चीन ने तिब्बत पर हमला किया तो भारत अधिक-से-अधिक यही कर सकता था कि शक्ति के प्रयोग का विरोध करे और इस बात पर ज़ोर दे कि तिब्बत की स्वायतत्ता को मान्यता दी जाए।

तिब्बत में आये संकट के संबंध में कोई नीति अपनाते समय भारत सरकार को न केवल परिस्थिति की व्यावहारिक संभावनाओं पर विचार करना था बल्कि अपनी नीति के दूरव्यापी परिणामों को भी ध्यान में रखना था। आधुनिक इतिहास में यह पहला अवसर था जबकि भारत स्वतन्त्र चीन से आँखें मिला रहा था और इन दोनों देशों के लिए इस बात का बड़ा महत्त्व था कि उनके संबंधों की शुरुआत ग़लत ढंग से न हो। दोनों ही के लिए यह सौभाग्य की बात थी। वे हज़ारों वर्ष मैत्री के सूत्र में बँधे रहे थे और उसकी स्मृति आज भी उनके मस्तिष्क में ताज़ा थी। उनकी इस मित्रता में उस समय व्यवधान आया जब ब्रिटेन का भारत पर आधिपत्य स्थापित हुआ था और चीन पर कई विदेशी शक्तियों ने अधिकार कर लिया था। डॉ० सुन यात-सेन ने कहा था कि यदि भारत एक उपनिवेश है तो चीन एक अति-उपनिवेश है, सभी देशों का उपनिवेश। अब दोनों देशों ने विदेशी जुआ उतार फेंका था और वे अपनी प्राचीन मैत्री को दुबारा स्थापित करने के लिए स्वतंत्र थे। यदि ये दोनों पड़ौसी एक दूसरे के प्रति सशंक होकर और अविश्वास के साथ मैत्री की अपनी नई यात्रा प्रारंभ करते तो उसका अवश्यंभावी परिणाम यही होता कि वे अपनी आगामी पीढ़ियों के लिए मनमुटाव की एक स्थायी विरासत छोड़ जाते जैसे कि फ्रांस और जर्मनी दोनों पड़ौसियों में पैदा हो गई थी और सदियों जारी रही और जिसने सैकड़ों वर्षों तक यूरोप के इतिहास को कलुषित कर दिया। हमने इसी संदर्भ में तिब्बत

की समस्या को सुलझाने का निश्चय किया किन्तु बाद में हुई घटनाओं ने हमारे उस निर्णय के औचित्य के बारे में संदेह पैदा कर दिये।

इधर हमारे पड़ौस में नेपाल में भी तूफ़ान आया हुआ था। जब भारत स्वाधीन हो गया तो भला नेपाल उस स्वतंत्रता के प्रभाव से कैसे वंचित रहता ! सौ से अधिक वर्ष हो चुके थे नेपाल पर राणा वंश का राज्य था। ये राणा वंश-परंपरा की दृष्टि से वहाँ के प्रधान मंत्री थे जिन्होंने राजा का बिल्कुल अस्तित्व ही समाप्त कर दिया था और नेपाल की समस्त शक्ति और संपत्ति पर अपना अधिकार कर लिया था। वहाँ की उस स्थिति के विरुद्ध जनता में आंदोलन होना स्वाभाविक ही था और राजा ने जो राणाओं के जुए तले कराह रहा था शासन की बागडोर सँभाल ली। एक दिन सवेरे सी० पी० एन० सिंह ने जो काठमाँडू में हमारे राजदूत थे, मुझे फ़ोन पर बताया कि नेपाल के महाराजा अपने परिवार सहित हमारे राजदूतावास में आये थे और उन्होंने भारत से शरण माँगी थी। हमने उन्हें अपने यहाँ शरण देने का निश्चय किया और उनसे कहा फ़िलहाल आप हमारे राजदूतावास में ठहरें और बाद में आपको भारत बुला लिया जायेगा। राणा महाराजा के इस व्यवहार पर बड़े कुपित हुए और चूँकि वे किसी-न-किसी प्रकार अपना शासन जारी रखना चाहते थे इसलिए उन्होंने महाराजा को अपदस्थ कर दिया और उसके पोते को, जो अभी दूध पीता बच्चा ही था, उनका उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। उनकी इस चाल का सीधा-सच्चा मतलब यह था कि अब वे कम-से-कम बीस-पच्चीस वर्ष तक अपना शासन निर्भीक रूप से चला सकेंगे। शुरू शुरू में तो ब्रिटिश सरकार उस बाल राजा को मान्यता देने की ओर प्रवृत्त रही, लेकिन जब उसने देखा कि भारत इसके सख्त खिलाफ़ है तो उसने अपनी नीति बदली। इस प्रकार राणाओं का प्रभुत्व समाप्त हुआ और नेपाल की जनता लोकतंत्र का आस्वादन करने लगी। उसे इसका गुमान भी न था कि अभी कुछ ही समय में उन्हें राणाओं का नहीं शाही निरंकुशता का भी मज़ा चखना पड़ेगा जिसे 'आधारभूत लोकतंत्र' के नाम से उन पर लादा गया था।

मेरा उद्देश्य यहाँ उन बहुविध समस्याओं का सारांश देना नहीं है जिनका विदेश कार्यालय को उस अवधि में सामना करना पड़ा जब मैं विदेश सचिव था। विदेश कार्यालय मूलत: पूर्व उदाहरणों के बल पर ही कार्य करता है और हमारी यह स्थिति थी कि हमारे सामने कोई मिसाल नहीं थी जिसका हम सहारा लेते

क्योंकि स्वाधीनता से पहले भारत की अपनी कोई विदेश नीति थी ही नहीं। हमारे यहाँ तो ऐतिहासिक अनुसंधान का भी कोई अनुभाग नहीं था। बाद में चलकर मैंने ही एक अनुभाग की स्थापना की थी और डॉ जकरिया नाम के एक प्रतिभाशाली व्यक्ति को उसका अध्यक्ष बनाया था। इसलिए हमारी विदेशनीति का सारा दरोमदार एक अकेले व्यक्ति के अंतर्ज्ञान पर था और वह व्यक्ति भारत के विदेश मंत्री तथा प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू थे। सौभाग्य की बात है कि उस व्यक्ति का सहज बोध या अंतर्ज्ञान उनके अपने गहन ज्ञान पर आधारित था और उन्हें यह ज्ञान अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के गहरे अध्ययन और उन पर चिंतन-मनन के द्वारा प्राप्त हुआ था। अपने दीर्घकालीन बंदी जीवन में, जबकि परिस्थिति ने उन्हें और कुछ करने से बाज़ रखा था, वे अपना समय इन्हीं विषयों पर लगाते थे। उनका ज्ञान थोथा ज्ञान नहीं था, बल्कि उसमें बुद्धि का सामंजस्य भी था और वह बुद्धि उन्होंने अपने गुरु महात्मा गाँधी के चरणों में बैठकर प्राप्त की थी। उन्होंने गाँधीजी से बहुत कुछ सीखा था किन्तु वे उनके सामने दीन बन कर और सब कुछ ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं कर लेते थे बल्कि बड़ी सतर्कता और बुद्धिमत्ता से सब कुछ सुनते थे और प्रायः जो कुछ सुनते थे उस पर आलोचनात्मक दृष्टि भी डालते थे।

यह तो सच है कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का मार्ग-दर्शन करने के लिए पहले के कोई उदाहरण मौजूद नहीं थे, लेकिन उसके पास एक निश्चित परंपरा अवश्य थी जिसके प्रतीक महात्मा गाँधी थे। और यह महान् परंपरा थी अहिंसा की। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारत ने हमेशा ही अहिंसा का पालन किया था, लेकिन यह तथ्य है कि वह गौतम बुद्ध के समय से, जिन्हें हुए 2500 वर्ष बीत गये, एक रुपहले स्रोत की भाँति प्रवाहित चली जाती थी। उसे अक्सर कलुषित भी किया गया लेकिन उसकी मूल पवित्रता हमेशा बनी रही। गाँधीजी ने इस पहाड़ी सोते को एक गरिमामयी सरिता में परिणत कर दिया था जो अपने दार्शनिक तटों को तोड़कर बाहर आ गई थी, जिसने भारत की राजनीति की बंजर भूमि को सींचा था और करोड़ों लोगों के मस्तिष्कों को प्रभावित किया था। वास्तव में भारत की स्वतंत्रता का मूलाधार अहिंसा ही थी और भारत की स्वतंत्रता के बाद हमारे सामने जो सबसे बड़ा प्रश्न था वह यही कि अहिंसा के सिद्धांत को अंतर्राष्ट्रीय जीवन की व्यावहारिक समस्याओं पर किस तरह लागू किया जाए। क्या अहिंसा जो भारत की स्वतन्त्रता का मूल मंत्र थी विश्व शांति का भी मूल मंत्र बन सकती थी ?

लेकिन जब पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण किया तो सभी ने यह अनुभव किया कि अहिंसा की अपनी सीमाएँ भी हैं और उसका सभी स्थितियों में पालन

नहीं किया जा सकता। सीमाप्रांत के क़बाइलियों का एक गिरोह, जिसे पाकिस्तान सरकार का समर्थन और सहायता प्राप्त थी, कश्मीर की रमणीय घाटी में घुस आया और लूट-मार, बलात्कार, दंगे-फ़िसाद और रक्तपात करता हुआ वह श्रीनगर की तरफ बढ़ता गया। वहाँ के महाराजा ने, जो अब तक दुविधा में थे, जब भारत के साथ कश्मीर का विलय किया और आक्रामकों का मुक़ाबिला करके उन्हें भगाने के लिए भारत सरकार की सहायता माँगी तो भारत सरकार ने यह निष्कर्ष निकाला कि अगर श्रीनगर को बचाना है तो इसके सिवाय कोई चारा नहीं कि हवाई जहाज़ से भारतीय सेनाएँ कश्मीर भेजी जाएँ, हमलावरों का मुक़ाबिला किया जाए और उन्हें वहाँ से खदेड़ दिया जाए। तब तक अहिंसा के अवतार महात्मा गाँधी जीवित थे। नेहरूजी के सामने एक अप्रत्याशित और भयंकर परिस्थिति उपस्थित हो गई थी और वे उसी पर चर्चा करने गाँधीजी के पास गये। उन्होंने सारी स्थिति गाँधीजी को समझाई और यह भी उन्हें बताया कि सरकार क्या क़दम उठाने वाली है। गाँधीजी ने उनकी कार्रवाई का अनुमोदन कर दिया। लेकिन दंगाइयों को श्रीनगर से निकालने के बाद भारत सरकार ने लड़ाई बन्द कर दी और वह मामला संयुक्त राष्ट्र में ले जाया गया।

कश्मीर की इस अप्रत्याशित घटना ने यह साबित कर दिया कि निकट या दूर भविष्य में ऐसी स्थिति फिर आ सकती है जबकि ताक़त का जवाब ताक़त ही से देना पड़ेगा। गाँधीजी के कुछ अनुयायी ऐसे थे जो आवश्यकता पड़ने पर हिंसा का प्रयोग करने के विरोधी नहीं थे। सरदार पटेल गाँधीजी के कट्टर अनुयायी और नेहरूजी के सबसे सबल सहयोगियों में से थे। मंत्रिमंडल की विदेश समिति की एक बैठक हो रही थी जिसके सदस्य सरदार पटेल भी थे और वहाँ कोरिया के युद्ध पर विचार-विनिमय हो रहा था। टोकियो-स्थित भारतीय राजदूत के० के० चेट्टूर ने हमें उसी समय एक पत्र भेजा था जिसमें कोरिया के युद्ध और वहाँ अंधाधुंध बमबारी से हुए विनाश का बड़ा सजीव चित्रण किया गया था। नेहरू जी ने जब यह पत्र पढ़ा तो वे भावाभिभूत हो उठे और साथ ही उन्हें क्रोध भी आ गया। जब पत्र समाप्त हुआ तो सरदार पटेल ने आहिस्ता से पूछा, 'यह पत्र किसने लिखा है, क्या वह कोई जैन है ?'

1950 में एक अवसर और ऐसा आया जबकि मंत्रिमंडल की विदेश समिति में गोआ की समस्या पर विचार-विमर्श हो रहा था। कई प्रस्ताव रखे गये जिनमें कहा गया कि गोआ की पुर्तगाली सरकार पर आर्थिक दबाव डाला जाए। हमने उन प्रस्तावों की व्यावहारिकता और उनके संभाव्य परिणामों पर सविस्तार चर्चा की। राजाजी ने उन प्रस्तावों का विरोध किया। उनका मत था कि सभी गोआवासी हमारे भाई बंद हैं और हमें ऐसा कोई क़दम नहीं उठाना चाहिए

जिससे उन्हें कष्ट हो। उन्होंने सुझाव दिया कि हमें गोआ के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करके उस पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। यह बहस दो घण्टे तक चलती रही। सरदार पटेल ने ज़ाहिर किया जैसे उन्हें इस मामले में कोई दिलचस्पी है ही नहीं। बहुत देर तक वे अपनी आँखें बंद किये बैठे रहे और लगा कि ऊँघ रहे हैं फिर सहसा वे जाग उठे और बोले, 'क्या चलें विजय प्राप्त करने ? सिर्फ़ दो घण्टे का काम है।' नेहरूजी ने इस सुझाव का घोर विरोध करते हुए कहा कि यदि हमने जिनका अहिंसा में विश्वास है, हिंसा के द्वारा गोआ पर अधिकार किया तो यह एक बुरी मिसाल होगी। इसके अलावा ऐसा करने से बहुत-सी अंतर्राष्ट्रीय उलझनें पैदा हो जायेंगी। भारत में रहने वाले फ्रांसीसियों के संबंध में हमने जिस सहनशीलता से काम लिया है क्या हमें उससे लाभ नहीं हुआ ? मैं समझता हूँ हमारी वही नीति गोआ के बारे में भी होनी चाहिए। सरदार पटेल ने अपनी बात पर ज़ोर नहीं दिया और चुपचाप बाहर चले गये। बाद में सुना है उन्होंने अपने किसी मित्र से कहा कि जवाहरलाल नेहरू न केवल महात्मा गाँधी के राजनीतिक उत्तराधिकारी बनते जा रहे हैं बल्कि स्वयं को गौतम बुद्ध का वंशज भी साबित कर रहे हैं।

निस्संदेह नेहरूजी राजनीतिज्ञ थे कोई पैग़म्बर नहीं। 1962 में वे अहिंसा का मार्ग छोड़ देने पर बाध्य हो गये और उन्हें थोड़ी-सी शक्ति का प्रयोग करके गोआ को भारत में मिलाना पड़ गया। लेकिन जैसा कि सरदार पटेल ने कहा था यह दो घण्टे का नहीं उससे कहीं ज़्यादा का काम निकला।

विदेश सचिव के रूप में मेरा अधिकांश समय विदेश सेवा के संगठन में लग जाता था। हमने अपना कार्य किन्हीं बँधे-टिके सिद्धान्तों के अनुसार शुरू नहीं किया। प्रधान मंत्री ने तो अभी यह भी निश्चय नहीं किया था कि हमारी विदेश सेवा वृत्तिक-सेवा होगी जैसी कि यूनाइटेड किंग्डम में होती है या हमारे राजदूत इत्यादि जनता में से भर्ती किये जायेंगे जैसा कि संयुक्त राज्य में होता है। शुरू-शुरू में तो नेहरूजी अमरीकी पद्धति का अनुसरण करना चाहते थे लेकिन दो-एक मामलों में चूँकि उन्हें बड़ा कटु अनुभव हुआ इसलिए अंत में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रिटिश पद्धति ही भारत के लिए अधिक निरापद और उपयुक्त रहेगी।

हमने प्रारंभ में भारतीय सिविल सेवा के लगभग तीन दर्जन अधिकारियों को विदेश सेवा के लिए चुना। वे सिविल सेवा के चुने हुए सदस्य थे और उसकी आधारशिला थे। हम कुछ और लोगों को भी चुन सकते थे लेकिन हमारा ख़याल था कि भारत की आंतरिक आवश्यकताएँ बाह्य आवश्यकताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मेरे और बाजपेयीजी के अतिरिक्त दो व्यक्ति और ऐसे थे जिन्हें बाहर के देशों का कुछ अनुभव था। इनमें से एक तो एच० एस० मलिक थे जो ब्रिटिश शासन-

काल में न्यूयार्क में हमारे कांसुल-जनरल थे और बाद में फ्रांस में हमारे राजदूत बना बना दिये गये थे, और दूसरे थे पी० ए० मेनन जो आजकल बॉन में हमारे राजदूत हैं और किसी समय वाशिंगटन में हमारे एजेंट-जनरल के सचिव भी रह चुके हैं।

हमने प्रारंभ ही से यह निश्चय कर लिया था कि विदेश सेवा में जो भर्ती होगी वह खुली प्रतियोगिता के द्वारा की जायेगी। लेकिन हमें शुरू-शुरू में कुछ अधिक वायु वाले उम्मीदवार भी चुनने पड़े। हमने उनमें से कुछ तो भारतीय स्थल सेना, नौ सेना और वायु सेना से चुने और कुछ अन्य व्यवसायों में से। कुल मिलाकर सशस्त्र सेनाओं में से लिये गये अधिकारी विदेश सेवा के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए।

विदेश सचिव की हैसियत से मैंने विदेश सेवा के हर उस सदस्य से व्यक्तिगत संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया जिससे मेरा संपर्क हुआ। नई दिल्ली से बाहर जाते समय मैंने विदेश सेवा के प्रत्येक सदस्य को एक पत्र लिखा जिसमें उसे यह परामर्श दिया कि वह किस प्रकार से व्यवहार करे। मैंने उन्हें स्मरण कराया कि हेरल्ड निकलसन ने अपनी पुस्तक **डिप्लोमेसी** में जितने गुण गिनवाये हैं उनमें सबसे पहला और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गुण है ईमानदारी—मन, वचन और कर्म तीनों में निष्ठा और ईमानदारी का व्यवहार। मैंने ख़ास तौर से उन्हें कुछ कमज़ोरियों के बारे में आगाह किया जैसे मौक़े-बे-मौक़े बोलने की प्रवृत्ति। मैंने अक्सर इस बात पर ग़ौर किया है कि हम भारतीय स्वभाव से वाचाल होते हैं और हमारी इसी वाचालता का परिणाम यह है कि विदेशी सरकारों तथा विदेशी समाचारपत्रों के जो प्रतिनिधि भारत में हैं वे हर बात का रहस्य चुटकियों में जान लेते हैं, यहाँ तक कि गुप्त-से-गुप्त बात भी वे ले उड़ते हैं क्योंकि हमारी यह आदत है कि हम विदेशियों के सामने भी उनका ज़िक्र करने से नहीं झिझकते। प्राय: ऐसा करने का उद्देश्य कोई शरारत नहीं होता, बल्कि सिर्फ़ शेख़ी बघारना होता है, यह ज़ाहिर करना कि हम भी सब कुछ जानते हैं। लेकिन उद्देश्य चाहे कुछ भी हो, इस प्रकार की बिना सोची-समझी बातों का नतीजा कभी-कभी बहुत ही हानिकर हो जाता है। एक बार पंडितजी ने भी संसद में स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि राजनयिक का काम यह है अपने कानों को खुला लेकिन मुँह को बँद रखे। ऐसा उन्हें इसलिए कहना पड़ा कि हमारे कुछ राजनयिकों ने अँधाधुँध बातें करने की प्रवृत्ति अपना ली थी जिससे वे बड़े क्रुद्ध हुए थे।

दूसरी जिस कमज़ोरी की ओर मैंने संकेत किया और अपने तरुण मित्रों को आगाह किया वह थी आडंबर। राजनयिकों के लिए तो यह वास्तव में एक व्यावसायिक जोखिम से कम नहीं है। हमारे यहाँ तो राजदूत का पदनाम—असाधारण राजदूत और पूर्णाधिकारी मंत्री ही इतना लंबा-चौड़ा और रौबदार है कि

किसी को भी इस पर गर्व हो सकता है। फिर राजदूत को जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की उन्मुक्तियाँ दी जाती हैं वे अन्य किसी व्यक्ति को नहीं दी जातीं, साथ ही जिस देश में वह राजदूत है वहाँ की सरकार और जनता भी उसे हाथों-हाथ लेती है। इसलिए यदि कोई विनम्र व्यक्ति भी अपने को प्रतिष्ठित समझने लगे और उसके कारण कुछ अहम्मन्य भी हो जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मुझे सोवियत संघ में नोवोग्रोद की एक बूढ़ी महिला की अक्सर याद आ जाती है जिन्होंने मुझे देखकर मेरे दुभाषिए से पूछा था, 'वालिया, यह व्यक्ति कौन है ?' और वालिया ने उत्तर दिया था, 'अरे आप इन्हें नहीं जानतीं, परम श्रेष्ठ सोवियत संघ में भारत के राजदूत हैं।' वालिया ने यह समझा था कि वृद्धा इस बात से बहुत प्रभावित होंगी, लेकिन उन्होंने घबराकर कहा, 'वह तो ठीक है। मैं समझ गई कि यह राजदूत हैं, लेकिन यह आखिर करते क्या हैं ?' और यह एक ऐसा प्रश्न था जो मैं अपने ही अंतःकरण की तुष्टि के लिए अक्सर खुद से भी पूछा करता था।

जिस वर्ष मैं विदेश सचिव के पद से अलग हुआ, मेरे प्रतिभाशाली पुत्र शंकरन ने उसी वर्ष विदेश सेवा में प्रवेश किया। तब से तब तक ग्यारह वर्ष बीत चुके हैं। मैं तो अब सेवा-निवृत्त हो चुका हूँ और वह धीरे-धीरे राजनयिक सीढ़ी पर चढ़ता जा रहा है और अब वह हमारे लंदन-स्थित हाई कमीशन में प्रथम सचिव के पद पर है। तत्कालीन हाइ कमिश्नर चागला ने मुझे जब पत्र लिखा जिसमें कहा कि 'तुम्हारा बेटा 'यथा पिता तथा पुत्र' की कहावत चरितार्थ कर रहा है और मेरा विश्वास है कि तुम्हारी कमी को पूरा करके वह तुमसे बाज़ी ले जायेगा।' तो मेरे हर्ष का पारावार न रहा। मुझे विश्वास है कि अपने उन्नति-मार्ग में उसे अपनी पत्नी ललिता से पूरी सहायता मिलेगी क्योंकि वह भी अपनी पीढ़ी की बहुत ही प्रतिभा-सम्पन्न और योग्य लड़की है। मेरे परिवार की परम्परा मेरी दूसरी पुत्री कुंजा भी आगे बढ़ा रही है। वह तंपी को ब्याही गई है जो संयुक्त राष्ट्र सचिवालय के एक सदस्य हैं। बाल साहित्य की लेखिका के रूप में उसने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है। दूसरी पुत्री जो इस परंपरा को बनाये रखेगी मालिनी है जो कंबोडिया में हमारे राजदूत पी० एन० मेनन की पत्नी है। यह दिन-प्रति दिन अपनी माँ पर ही जा रही है और भौतिक तथा आध्यात्मिक कर्त्तव्यों में बड़ा सुंदर सामंजस्य पैदा कर रही है। इस पीढ़ी के बाद यह परम्परा हमारी नातिन भारती जारी रखेगी। वह एक लाजवंती बहू है जो अपने पति गोपिनाथ की पहली नियुक्ति में उनके साथ जेनेवा गई है।

मास्को

००

विदेश सचिव के पद पर कार्य करते हुए मुझे चार वर्ष से अधिक हो चुके थे और 1952 अभी आधा ही बीता था कि मैं उससे ऊब गया। मेरी सेहत अब जवाब देने लगी थी। रीढ़ की हड्डी की पुरानी शिकायत अब फिर मुझे परेशान करने लगी थी और घण्टों दफ़्तर में कुर्सी पर बैठे रहने से स्थिति और भी बिगड़ती जा रही थी। इसके अलावा अब हमारी आर्थिक स्थिति भी कुछ डाँवाडोल थी। दिल्ली में जो हमारा मकान था वह मेहमानों के लिए हमेशा खुला रहता था। हमारे दोनों जुड़वाँ बच्चे यूरोप में थे और जुड़वाँ बच्चियों की तभी शादी हुई थी। एक गोविन्दन नायर को ब्याही गई थी जो एक होनहार वकील थे और कुछ ही समय में उन्नति करके भारत के एक उच्च न्यायालय के सबसे कम उम्र के जज बन गये और दूसरी बेटी का विवाह पी० एन० मेनन से हुआ था जो विदेश सेवा के होनहार अधिकारी थे। इन सब बातों पर बहुत ख़र्च होता था और हम बैंक से धड़ाधड़ पैसे क़र्ज़ लेते जाते थे। विदुर में हमारी जो जायदाद थी उसे हमने एक लाख रुपये में बेच दिया था लेकिन वह रक़म बस इतनी ही थी कि उससे हम बैंक का क़र्ज़ चुका पाये थे।

जब 1952 में एक दिन बाजपेयीजी ने मुझे बुलाया और कहा कि मैं सोच रहा हूँ कि आपका नाम फ्रांस में राजदूत के लिए प्रधान मंत्री को सुझाऊँ। उन्होंने यह समझा होगा कि ऐसा करके वे मुझ पर कोई एहसान कर रहे हैं, लेकिन मैंने वहीं उनसे कह दिया, 'जी नहीं, पेरिस जाने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। फ्रांसीसी लोग अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के बारे में इतने जागरूक हैं कि हर उस व्यक्ति को गिरी निगाह से देखते हैं जो धाराप्रवाह फ्रेंच न बोल सकता हो।' बाजपेयीजी मेरे इस उत्तर से बड़े निराश हुए और कहने लगे, 'बस तो फिर दूसरी जगह जो ख़ाली है वह मास्को है।' 'हाँ, मास्को आप मुझे भेज सकते हैं।' मैंने कहा। बाजपेयीजी को मेरी सहमति पर बड़ा आश्चर्य हुआ; उन्हें ऐसा लगा मानो मैं काला पानी जाने के लिए सहमत हो गया हूँ।

निश्चय ही बाजपेयीजी ने हमारी बातचीत का हवाला प्रधान मंत्री के सामने भी दिया होगा क्योंकि दो-तीन दिन बाद नेहरूजी मेरे कमरे में आये और यों ही कहने लगे कि मैं आपको मास्को भेजने का विचार कर रहा हूँ। और मैंने उनसे भी यही कहा कि मैं सहर्ष वहाँ जाने के लिए तैयार हूँ।

8 सितम्बर 1952 को हम मास्को के लिए रवाना हुए। स्टेशन पर हमें छोड़ने अनेक मित्र आये थे और उनमें इंदिरा गाँधी को देखकर तो मुझे विशेष प्रसन्नता हुई थी। मैं हमेशा से ही उनका एक मौन प्रशंसक रहा हूँ और मैं समझता हूँ वे भी मेरे इस स्नेह को मन-ही-मन महसूस करती होंगी। जब रेल छूटने ही वाली थी तो उन्होंने कहा, 'अगर मैं किसी दिन मास्को में आपके यहाँ आ धमकूँ तो ख़याल न कीजिएगा।' और उन्होंने जो कहा था कर दिखाया। जब वे वहाँ पहुँची तो उन्हीं के साथ हम लोग पहली बार सोवियत संघ में दूर-दूर तक घूमे और हमने तिब्लिसी, सोची और ताशक़ंद देखा।

लेकिन स्टेशन पर एक व्यक्ति की अनुपस्थिति मुझे बहुत खली। भारत-स्थित सोवियत राजदूत के० वी० नोविकोव मेरे बड़े अच्छे मित्र थे लेकिन न जाने क्यों उन्होंने यह ज़रूरी न समझा कि उन्हीं के देश में नियुक्त राजदूत को छोड़ने जाया जाये। उनके इस व्यवहार से पता चलता है कि उस समय भारत और रूस के सम्बन्ध कितने लिये-दिये रहे होंगे।

हम लोगों ने लंदन से लेनिनग्राड तक सोवियत जहाज़ **बेलोस्त्रोव** में यात्रा की। बंबई से लंदन तक **कार्फू** जहाज़ में सफ़र कर चुकने के बाद **बेलोस्त्रोव** हमें कुछ जँचा नहीं। वैसे वह जहाज था बड़ा ख़ूबसूरत, सोवियत संघ ने अपनी पसंद पर उसे फ़िनलैण्ड में बनवाया था और फिनलैंड वालों ने वह क्षतिपूर्ति के रूप में सोवियत सरकार को दिया था। लेकिन न तो वहाँ भोजन अच्छा मिलता था और न ही वहाँ की सेवा संतोषजनक थी। जब पहले दिन हमारे नाश्ते में कैवियर पेश किया गया तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। वैसे मैं कैवियर का शौक़ीन हूँ लेकिन उसे मानता एक विलासिता की वस्तु हूँ। वह तो ऐसी चीज़ है कि कोई बढ़िया भोज हो रहा हो जहाँ गिने-चुने मित्र हों और वहाँ उसे वोदका के साथ खाया जाए। जहाँ तक नाश्ते का प्रश्न है वह मुझे बिल्कुल नहीं भाया। मुझे तो उसी ब्रिटिश परंपरा की आदत थी जिसमें नाश्ते में सुअर का मांस और अंडे खाये जाते हैं। कार्फू में हर चार-पांच यात्रियों पर एक बड़ा ख़ुशपोश और चुस्त वेटर तैनात था और **बेलोस्त्रोव** का यह हाल था कि डाइनिंग रूम में कोई पचास यात्रियों को खाना खिलाने के लिए सिर्फ़ एक अधेड़ उम्र की स्त्री नौकर थी। उस वृद्धा की परिश्रमशीलता देखकर तो मेरे मन में उसके प्रति प्रशंसा-भाव जगा लेकिन यह देखकर मुझे तरस आया कि एक भाव-शून्य मुखाकृति लिये वह अकेली उन सभी यात्रियों की सेवा-टहल करती फिर रही है। वह पहला अवसर था जब मुझे रबोता (कार्य) शब्द के महत्त्व का अनुभव हुआ। यह एक ऐसा शब्द था जिससे सोवियत संघ का कोई भी नागरिक बच नहीं सकता था क्योंकि सोवियत संघ के संविधान में लिखा है कि 'जो हाथ-पैर नहीं हिलाता उसे खाने को भी नहीं मिलेगा।'

बाल्टिक सागर में हमारी समुद्र-यात्रा बड़ी कष्टकर और असुविधाजनक रही। वैसे तो बिस्के की खाड़ी में भी समुद्र में तूफ़ान आ रहे थे लेकिन यहाँ तो स्थिति और भी गंभीर थी। मुझे और अनुजी दोनों ही को उलटियाँ हुई और हम बुरी तरह थक गये। एक दिन सवेरे कोई साढ़े दस बजे हमने घण्टी बजाई और एक-एक प्याली चाय मँगाई। स्ट्युवर्ड ने उत्तर दिया, 'रसोई 1 बजे तक बंद है।' 'तो क्या हमें थोड़ा गरम पानी मिल सकता है ?' हमने पूछा। 'रसोई 1 बजे तक बंद है,' उसने दुबारा कहा और बाहर चला गया। लेकिन 1961 में जबकि रूस में ख्रुश्चोव का दौरदौरा था, मैं मास्को में अपना कार्यकाल पूरा करके लौटा तो लेनिनग्राड से लंदन तक की मेरी समुद्रयात्रा पहले से बिल्कुल भिन्न रही। इस बार जहाज़ में कई स्त्री वेटर थीं जो बड़ी साफ़-सुथरी वर्दी पहने हुए थीं और वे उसी तरह यात्रियों का ख़याल रख रही थीं जिस तरह पी एण्ड ओ* में रखा जाता था।

बेलोस्त्रोव में जो दूसरे यात्री थे उनमें एक तो श्रीमती ग्रे थीं जो मास्को-स्थित ब्रिटिश मंत्री की पत्नी थीं, दो अंग्रेज़ स्त्रियाँ थीं जो किसी शतरंज प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए मास्को जा रही थीं, बहुत-सी रूसी स्त्रियाँ थीं जो लगातार बोले जा रही थीं और जो कई वर्ष विदेश में रहकर अब अपने घर वापस आ रही थीं, और कोई दस-बारह धर्मपरायण न्यूज़ीलैण्डवासी थे जो शांति-प्रतिनिधि-मंडल के रूप में मास्को जा रहे थे। जब वे लोग लेनिनग्राद पहुँचे तो वहाँ उनका शानदार स्वागत हुआ और उन्हें गुलदस्ते भेंट किये गये जिन्हें पाकर वे बहुत प्रसन्न हुए। लेकिन जब सीमा-शुल्क अधिकारियों ने आग्रह किया कि आप अपने बक्स खोलिए ताकि हम एक-एक चीज़ देख सकें तो उनका पारा एकदम चढ़ गया और उन्होंने वे गुलदस्ते फेंक दिये और कहा, 'मेहमानों के साथ व्यवहार करने का यह कोई तरीक़ा नहीं है।'

प्रकाश कौल जो द्वितीय सचिव और रूसी भाषा का एक अच्छा विद्यार्थी था, मुझे लेनिनग्राद में मिला। हालांकि हमें वहाँ सिर्फ तीन-चार घण्टे ही ठहरना था और उसके बाद मास्को के लिए रेल पकड़नी थी फिर भी वह हमें एस्टोरिया के सबसे महँगे सुइट में ले गया और वहाँ उसने हमारे लिए बड़े क़ीमती डिनर का आर्डर दे दिया। न जाने उसने ऐसा इसलिए किया कि वह भारत के राजदूत की शान-शौकत का रूसियों पर रौब जमाना चाहता था या इसलिए कि ऐसा करके वह राजदूत पर यह प्रभाव डालना चाहता था कि रूस का जीवन स्तर इतना ऊँचा है इसलिए उसी के आधार पर उसके विदेश भत्ते में वृद्धि कर दी जाए। बहर हाल हम रात को 10 बजे लेनिनग्राद से रेड ऐरो में रवाना हुए और दूसरे दिन सुबह मास्को पहुँच गये।

* पेनिनसुलर एण्ड ओरियंटल (स्टीमशिप लाइन)।

मास्को पहुँचकर हम पर जो पहला प्रभाव पड़ा वह तो बहुत ही निराशाजनक था। अभी अक्तूबर पूरा नहीं गुज़रा था लेकिन सर्दी आ गई थी। पतझड़ शुरू हो गया था और सड़कें गीली और कीचड़ से भरी थीं। हालाँकि गंदेविया जो वहाँ मंत्री-परामर्शदाता थे और उनकी सुंदर पत्नी ने राजदूतावास की इमारत को सुख-सुविधापूर्ण बनाने का हर संभव प्रयत्न किया था, लेकिन न जाने क्यों मुझे वहाँ बड़ी घुटन-सी महसूस हुई। न तो इमारत के बाहर कोई बग़ीचा था और न ही आसपास कोई प्राकृतिक दृश्य दिखाई देता था, दूसरे उसमें सिर्फ़ दो स्नानागार थे और मेहमान को मेरे ड्रेसिंग रूम में से होकर स्नानागार जाना पड़ता था। शयन-कक्ष इतना लंबा, अलंकृत और मनहूस था कि मुझे ऐसा लगा जैसे हमें मरने के बाद प्रदर्शन के लिए रख दिया गया हो। वहाँ एक बहुत बड़ी अलमारी भी रखी थी जिसके बारे में गंदेविया ने मुझे बताया कि मोरोज़ोव—जो एक करोड़पति था और जिसने वह मकान बनवाया था—अपनी रखेलों को अपनी पत्नी से छिपाकर उसी अलमारी में बिठा दिया करता था। मैं नहीं जानता कि मेरे पूर्ववर्ती राजदूत डॉ० राधाकृष्णन उस मकान में दो वर्ष तक कैसे रह लिये थे। लेकिन वे तो एक दार्शनिक थे और जब वे उपनिषदों का अनुवाद कर रहे थे—और मास्को में उनका प्रमुख कार्य यही था भी—तब तो वे उसमें इतने तल्लीन थे कि दुनिया में क्या हो रहा है इसका उन्हें ख़याल भी नहीं आता था।

वहाँ आसपास जो वातावरण था वह भी मेरे मन के विषाद को दूर नहीं कर सकता था, बल्कि उससे तो हमारा एकांत-भय बढ़ता ही जाता था। 1952 में यह स्थिति थी कि राजनयिक केवल मास्को की सीमा में बँध कर रह गये थे। तीस क़िलोमीटर के व्यास से बाहर जाने की उन्हें अनुमति नहीं थी और इस सीमित इलाक़े में भी वे केवल तीन बड़ी-बड़ी सड़कों पर ही आ-जा सकते थे। यदि कोई तिबिलसी, लेनिनग्राद या स्तालिनग्राद जाना चाहता तो उसे अनुमति लेनी होती थी और इन तीन के अलावा किसी और शहर में या किसी गणराज्य में जाने की उसे अनुमति नहीं दी जाती थी। हर रोज़ **प्रावदा** और **इज़्वेस्तिया** में सोवियत संघ की असामान्य प्रगति का विवरण छपता रहता था, और विशेषकर उसके सीमावर्ती क्षेत्रों की प्रगति का उल्लेख रहता था, लेकिन चूँकि उन क्षेत्रों में किसी को जाने की और अपनी आँखों से सब कुछ देखने की अनुमति नहीं दी जाती थी इसलिए ये बातें किसी भी राजनयिक के गले नहीं उतरती थीं। विजयलक्ष्मी पंडित ने, जो रूस में हमारी पहली राजदूत थीं, मध्य एशियाई गणराज्य देखने की प्रबल इच्छा प्रकट की थी। बहुत दिन तक तो कोई उत्तर उन्हें दिया ही नहीं गया, और अंत में जब जवाब आया तो उसमें लिखा था कि मध्य एशिया में जो

होटलें हैं वे इस योग्य नहीं हैं कि आप वहाँ जाकर ठहर सकें। एक ओर तो यह प्रतिबंध और दूसरी ओर यह कि जब दो-एक सप्ताह बाद दो भारतीय कम्युनिस्ट—जांबेकर-दम्पति—वहाँ पहुँचे तो उन्हें एक विशेष विमान दे दिया गया और कहा गया कि आप जहाँ चाहें जा सकते हैं और जो कुछ चाहें देख सकते हैं।

सामाजिक दृष्टि से तो रूसियों और विदेशियों में कोई सम्पर्क था ही नहीं। कभी कोई रूसी किसी विदेशी राजनयिक को न तो अपने यहाँ आमंत्रित करता था और न ही कभी राजनयिक के यहाँ जाने का कष्ट करता था। जिस दिन मैंने अपने प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत किये और वहाँ के नयाचार-प्रमुख कुलज़ेंकोव को दोपहर के खाने पर आमंत्रित किया तो उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया और यह असाधारण परिवर्तन देखकर गंदेविया को ऐसा आश्चर्य हुआ कि उसने सोचा इस बात की तो भारत सरकार को सूचना देनी चाहिए। ब्रिटिश राजदूत गैसकॉइन ने मुझे बताया कि एक बार उनकी पत्नी ने अपनी भलमनसाहत और नेकी में आकर विदेश-कार्यालय के अधिकारियों के बच्चों को क्रिसमस पार्टी में बुलाना चाहा। उनकी इस इच्छा की सूचना विदेश कार्यालय को दी गई। नतीजा यह हुआ कि ग्रोमिको ने गैसकॉइन को बुलाया और कहा कि मैं अपनी ज़िम्मेदारी पर सोवियत सरकार को इस बात की अनुमति प्रदान करने का परामर्श नहीं दे सकता कि वह रूसी बालकों को किसी ब्रिटिश राजनयिक के घर जाने दे।

वहाँ के विदेश कार्यालय में भारत से सम्बद्ध विभाग के अध्यक्ष अब नोविकोव थे। मैंने उनका ध्यान **ग्रेट सोवियत एन्साइक्लोपीडिया** में महात्मा गाँधी के बारे में अंकित निंदापूर्ण टिप्पणी की ओर आकृष्ट किया। उक्त पुस्तक में गाँधीजी के बारे में कहा गया था, 'एक प्रतिक्रियावादी, जाति का बनिया जिसने जनता के साथ ग़द्दारी की और उसके विरुद्ध साम्राज्यवादियों की सहायता की; साधुओं की नक़्क़ाली की, लोगों पर यह ज़ाहिर किया कि वह भारत की स्वाधीनता का समर्थक है और अंग्रेज़ों का शत्रु है—और धार्मिक विद्वेषों का अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए व्यापक पैमाने पर लाभ उठाया।' मैं समझता था कि चूंकि नोविकोव पाँच वर्ष तक भारत में रह चुके हैं इसलिए वे हमारी जनता की भावनाओं का ख़याल करेंगे, लेकिन उन्होंने बड़ी उदासीनता दिखाई और हमारे प्रति किसी प्रकार की भी सहानुभूति प्रकट नहीं की। उलटे उन्होंने यह तर्क दिया कि जितनी निंदापूर्ण टिप्पणियाँ सोवियत पुस्तकों या समाचारपत्रों में गाँधी के बारे में प्रकाशित हुई हैं, उनसे कुछ बढ़कर ही लेनिन और स्तालिन के बारे में भारत में छपी हैं। इस पर मैंने उन्हें बताया कि दोनों में बहुत बड़ा अंतर है: भारत सरकार का वहाँ की पुस्तकों या पत्रिकाओं पर कोई नियन्त्रण नहीं है जबकि सभी सोवियत प्रकाशन या तो सोवियत सरकार के अपने होते हैं या उसकी नीति का

पालन करते हैं। नोविकोव ने उत्तर दिया कि सोवियत संघ में भी विद्वान अपनी ही दृष्टि से अनुसंधान करते हैं और ऐतिहासिक व्यक्तियों के संबंध में वे अपने ही निष्कर्ष भी निकालते हैं और उन पर सोवियत सरकार का कोई अंकुश नहीं होता। यह एक ऐसा कथन था जिस पर मैंने संदेह प्रकट किया। लेकिन मैंने आगे बहस करना निरर्थक समझा। बस हम तो यही सोचकर सन्तुष्ट हो गये कि सम्भव है कोई ऐसा भी दिन आये जब सोवियत सरकार अपने आप ही हमारे नेताओं—गाँधीजी और नेहरूजी—के बारे में अपनी राय बदल दे। और वह दिन जल्दी ही आ गया।

5 मार्च 1953 को स्तालिन का निधन हो गया। अभी पंद्रह दिन ही हुए थे जब मैंने उनसे भेंट की थी। उनकी मृत्यु के साथ ही एक युग समाप्त हो गया। मैंने अपनी पुस्तक द **फ़्लाइंग ट्रॉइका** में बाद के दशक की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन किया है—जैसे बेरिया का अंत जो स्तालिनवादी पद्धति के अंतर्गत किसी से पिण्ड छुड़ाने का अंतिम दृष्टांत था, स्तालिन का अवमान और ऐतिहासिक बीसवीं कांग्रेस जिसने मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों में कुछ संशोधन किये थे और उन्हें आधुनिक युग की वास्तविकताओं के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया था। मैंने बताया है कि एक ओर तो इस परिवर्तन का प्रभाव पोलैण्ड पर क्या पड़ा जहाँ विद्रोह हो गया था और हंगरी पर क्या हुआ जहाँ क्रांति आ गई थी और दूसरी ओर उसका प्रभाव चीन पर क्या हुआ जिसने अंत में अपने को उसी प्रकार प्रतिक्रांति का नेता बना लिया जिस प्रकार इग्नेशस लोयोला ने यूरोप में स्वयं को प्रति-सुधार आंदोलन का नेता बना लिया था और यह दावा किया था कि वही धर्म का सच्चा व्याख्याता है और वही विधर्मियों का उन्मूलन करने वाला भी है। मैंने अपनी पुस्तक में बताया है कि बीसवीं कांग्रेस के फलस्वरूप ख्रुश्चोव के जीवन में कैसा महान् परिवर्तन आया था। उन्होंने पार्टी के चरमपंथियों को चुन-चुन कर निकाल बाहर किया और अंततः देश के सच्चे नेता के रूप में उभर कर आ गये। मैंने वहाँ पूर्व और पश्चिम और विशेषकर सोवियत संघ और अमरीका के संबंधों में आने वाले उलट-फेर का भी उल्लेख किया है जिसका एक उदाहरण यह है कि 1960 में ख्रुश्चोव अमरीका गये थे। लेकिन दुर्भाग्य देखिए कि उसके कुछ ही समय बाद यू० —2 की घटना घटी और तदंनतर इन दो बड़ी शक्तियों के बीच संबंध फिर बिगड़ते चले गये। लेकिन जब कैनेडी अमरीका के राष्ट्रपति चुने गये तो इन दोनों देशों के संबंध फिर सुधरने लगे थे।

इस पुस्तक में मैं उन नाटकीय घटनाओं का उल्लेख नहीं करूँगा। मैं तो बस

उन पर एक विहग दृष्टि डालूँगा क्योंकि उन्होंने सोवियत संघ में हमारे अपने जीवन और कार्य पर भी प्रभाव डाला था और शीत युद्ध के प्रति हमारा दृष्टिकोण भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका था।

उधर स्तालिन की आँखें बंद हुई और इधर सोवियत संघ के वातावरण में एक जादूई परिवर्तन आ गया। इस परिवर्तन का जो चित्रण मैंने फ़्लाइंग ट्रॉइका में कर दिया है उससे बेहतर मेरे लिए संभव नहीं : 'लगा जैसे कि किसी दमघोंट और उमस भरे कमरे में सहसा कोई वातायन खोल दिया गया हो। आगामी तीन वर्ष के दौरान और भी कई खिड़कियाँ खोल दी गई थीं। 1956 में पतझड़ का मौसम आते-आते एक ऐसा तूफ़ान उठा जिसने साम्यवाद की बुनियादें हिला कर रख दीं और उसका एक बाहरी हिस्सा—हंगरी—तो बिल्कुल ही उड़ गया। बस उसके बाद खिड़कियाँ फिर बंद कर दी गईं, लेकिन उतनी कस कर नहीं जैसे पहले बंद होती थीं, हाँ, वातायन, अब भी खुला ही रहा। कुछ व्यक्ति जैसे मोलोतोव, मालेंकोव और कगानोविच जो एक मामूली-सा झोंका भी सहन नहीं कर सकते थे और जिन्होंने इस परिवर्तन पर आपत्ति की थी, उन्हें सोवियत संघ छोड़ने या कहीं दूरस्थ स्थानों पर जाने के लिए बाध्य होना पड़ा। लेकिन इनके विपरीत ख़ुश्चोव ताज़ी हवा के शौक़ीन थे, बल्कि कभी-कभी तो वे इस विशाल संसार के खुले स्थानों में स्वच्छंद भ्रमण का भी आनंद लेते थे। लेकिन इस सबके बावजूद वे इस बात से भी चिंतित थे कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का यह प्रवाह अपने साथ कोई विषैले कीटाणु सोवियत संघ में न ले आये और यहाँ की जनता को कोई रोग न लगा दे। कभी उन्हें पूरब से आने वाली हवा परेशान करती तो कभी पश्चिम से बहने वाली हवा चिंतित कर देती थी और वे दोनों पर ही सतर्क दृष्टि रखते थे।

सोवियत नीति में बड़े उलट-फेर होते रहे और एक बार नहीं अनेक बार ख़ुश्चोव को ट्रॉइका का रुख पीछे की ओर मोड़ना पड़ा था, लेकिन सामान्यत: वह आगे ही बढ़ती गई है और उसने आंतरिक तथा बाह्य तनाव कम करने में सहायता दी है। इस नीति-परिवर्तन का सबसे पहले राजनयिकों को लाभ पहुँचा। अब हमें मास्को से 30 किलोमीटर व्यास की सीमा में बंद नहीं रखा गया। अब कृष्ण सागर तट, तैलयुक्त कैस्पियन सागर, मध्य एशियाई गणराज्य जिनका बड़ा भारी प्रचार किया जाता था और साइबेरिया जिसका नाम सुनकर लोग डरते थे, हमारे लिए वर्जित स्थान नहीं रह गये थे। मैं खुद आर्कटिक समुद्रतट पर स्थित मुरमांस्क से दक्षिण में क्रीमिया तक और पश्चिम में सिस्क से लेकर पूर्व में बैकल झील और ऐलमाता तक गया था और मैंने अपनी इन यात्राओं का वर्णन अपनी पुस्तक **रशियन पैनोरमा** में किया है। यात्रा की परिस्थितियाँ भी अब अधिक

सुखद हो गई थीं। स्तालिन के युग में हर यात्री को—चाहे वह कहीं भी जाए—अपना पानी का फ़्लैस्क और टाइलट पेपर अपने साथ ले जाना पड़ता था। लेकिन अब ये सभी सुविधाएँ यात्रियों के लिए सुलभ कर दी गई थीं, बल्कि प्रमुख वायु-सेवाओं में तो सत्कारिणियाँ भी रखी जाने लगी थीं। सोवियत संघ ही संसार का वह देश था जहाँ वाणिज्यिक यात्रा के लिए जेट विमानों का बहुत अधिक प्रयोग होता था। और इससे वहाँ की वायु-यात्रा पर बड़ा ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा था। उदाहरण के लिए ताशक़ंद जाने वाला विमान अब तीन घण्टे लेता है, जबकि 1953 में जब मैं और इंदिरा गाँधी वहाँ गये थे तो 13 घण्टे में पहुँचे थे। यहाँ तक कि दिल्ली की भी दूरी अब मास्को से केवल छह घण्टे की रह गई है और 15 अगस्त 1958 में तो भारत और सोवियत संघ के बीच एक सप्ताह में दो बार चलने वाली विमान सेवा भी प्रारंभ कर दी गई थी। जब मैं मास्को गया था तो किसी भी विदेशी हवाई कंपनी को वहाँ आने की अनुमति नहीं थी। 1958 तक आते-आते अनेक विदेशी हवाई कंपनियों को जैसे एस० ए० एस०, एयर फ्रांस, के० एल० एम०, सबीना, फिनेयर, बी० ई० ए० और ए० आई० आई० को मास्को आने तथा वहाँ से जाने की अनुमति दे दी गई। दिल्ली और मास्को के बीच सीधी विमान सेवा के उद्घाटन के अवसर पर हमने मार्शल ज़ोवेरेंको को जो एयरोफ्लोट के अध्यक्ष थे, एक डिनर पर आमंत्रित किया जिसमें भाषण देते हुए उन्होंने सोवियत हवाई कंपनियों के आकस्मिक विस्तार की तुलना उस तेज़ी से की जिससे शैंपेन बोतल से निकल कर बाहर आती थी। हमारे बटलर गोपालन ने उसी समय एक बोतल खोली और मार्शल ने उसी से फ़ायदा उठा लिया।

सोवियत सरकार के साथ हमारे सरकारी संबंध भी पहले से अधिक सुखद हो गये। स्तालिन के युग में विदेश कार्यालय के किसी अधिकारी से बात करना ऐसा ही था जैसे कि किसी दीवार से बात कर ली। चाहे आप अपना दृष्टिकोण कितने ही स्पष्ट स्वर में और तत्परता के साथ उनके सामने प्रस्तुत करें उनका केवल एक ही उत्तर होता कि मैं अपनी सरकार को इसकी सूचना दे दूँगा या ज़्यादा-से-ज़्यादा वह यह करता कि **प्रावदा** में, जो वहाँ की पार्टी का अख़बार है, जो भी मत प्रकाशित होता बस उसी को दोहरा देता। किसी वैयक्तिक, निजी या अनौपचारिक व्यवहार की तो वहाँ कोई संभावना ही नहीं थी। 1953 के बाद से सोवियत राजनयिकों में कुछ मानववादी तत्व आ गये हैं। नये प्रकार के राज-नयिकों के एक ख़ास प्रतिनिधि वी० वी० कुज़नेत्सोव थे। उनके साथ हम किसी भी विषय पर व्यक्तिगत स्तर पर बातचीत कर सकते थे और वे भी यदाकदा अपनी व्यक्तिगत राय देने में संकोच नहीं करते थे। एक आसानी हमें यह भी थी कि वे अंग्रेज़ी जानते थे। लेकिन स्तालिन के समय में यदि कोई व्यक्ति अंग्रेज़ी

जानता भी था तो उसका प्रयोग नहीं करता था। मास्को पहुँचने के फ़ौरन ही बाद मैं जनरल रासख़िन से मिलने गया जो दक्षिण-पूर्व एशिया अनुभाग के अध्यक्ष थे। युद्ध के दौरान वे चुंगकिंग में सोवियत सैनिक अताशे रहे थे और मुझे मालूम था कि वे अंग्रेज़ी बोल लेते हैं। लेकिन मास्को में उन्होंने एक दुभाषिया बुलाया और उसकी सहायता से मेरे साथ बातचीत करने लगे। कुज़नेत्सोव न केवल यह कि अंग्रेज़ी बोल सकते थे बल्कि वे तो अंग्रेज़ी में मज़ाक़ भी कर लिया करते थे। जब जवाहर लाल नेहरू सोवियत संघ गये तो उनकी यात्रा के दौरान वे ही उनके साथ रहे थे। सिफ़ेरोपोल से याल्टा तक के सौ किलोमीटर लंबे मार्ग पर दोनों ओर लोग हाथों में फूल लिये खड़े थे और वे फूल उस कार में फेंकते जिसमें प्रधान मंत्री और इंदिरा जा रहे थे। कुज़नेत्सोव उन दोनों के साथ बैठे ताकि फूलों के उन प्रहारों से अतिथियों को बचा सकें और इसी बचाने में गुलाब के काँटों से उनकी उँगलियों में चोट लग गई और ख़ून बहने लगा। उन्होंने कहा, 'आज मैंने भारत-रूसी-मैत्री के लिए थोड़ा ख़ून बहाया है।'

सामाजिक दृष्टि से भी विदेशियों के साथ रूसियों के संबंध अब बेहतर हो गये। अब भी वे हमें घर बुलाने में तो झिझकते थे, संभवतया इसलिए कि उनके यहाँ वे सब सुविधाएँ नहीं थीं जो राजनयिकों को उपलब्ध होती हैं, अलबत्ता सरकारी तौर पर वे आतिथ्य-सत्कार दिल खोल कर करने लगे थे। अब तो क्रेमलिन भी दर्शकों के लिए खोल दिया गया था और उसके जगमगाते हुए गियोरगीवस्की हॉल में अब पार्टियाँ हुआ करती थीं जिनमें राजनयिकों को बुलाया जाता था। अब रूसी लोग विदेशियों से बात करते समय या विदेशियों के घर जाते हुए डरते नहीं थे। लेखक, अभिनेता, कलाकार, यहाँ तक कि बेलेरिना (नर्तकी) भी सहर्ष हमारे घर आया करती थी। उनकी ख़ातिर करने में भी हमें आनंद आता था क्योंकि वे हमारे यहाँ आकर बिल्कुल बेतकल्लुफ़ हो जाते थे। मेज़ पर खाने-पीने के तौर-तरीक़ों के प्रति उनका अधिक आग्रह नहीं था, वे यह भी नहीं देखते थे कि आप खाते समय मुँह थोड़ा खोल रहे हैं या बहुत अधिक, या अपना खाना ज़ोर-ज़ोर से चबड़-चबड़ करते हुए खा रहे हैं। रूसी सत्कारिणियाँ भारतीय सत्कारिणियों की तरह आप से बार-बार खाने का आग्रह करती थीं और अगर आप किसी चीज़ को नहीं खा रहे हैं तो वे बार-बार पूछती थीं और आपको उसे न खाने के लिए दलील देनी पड़ती थी। रूसी अतिथि खाने की मेज़ पर बातों की फुलझड़ी छोड़ने की कभी कोशिश नहीं करते थे, अलबत्ता उनसे आप बातें जी खोलकर कर सकते थे क्योंकि वे बेचारे बड़े सीधे-साधे मिलनसार और सरल प्रकृति के थे। स्त्रियों में तो सामान्यत: बच्चे ही वार्तालाप का विषय बन जाते थे। बीमारी भी एक आम विषय होता था और जैसा कि हमारे यहाँ भारत में

होता है लोग अपनी बीमारियों का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म ब्यौरा भी देने में हिचकिचाते नहीं थे। पार्टी चाहे औपचारिक हो या अनौपचारिक, टोस्ट असंख्य हुआ करते थे। मैंने जो सोवियत संघ में कुछ टोस्ट प्रस्तुत किये और वहाँ भाषण दिये उन्हें भारत सरकार ने एक पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित किया था जिसका नाम था **द फ्रेंडशिप ऑफ ग्रेट पीपुल्स** और यही नाम उस सोवियत फ़िल्म का भी था जो ख्रुश्चोव और बुलगानिन की 1955 की भारत यात्रा के अवसर पर बनाई गई थी।

एक प्रकार से देखा जाए तो रूसियों के लिए डिनर पार्टी का आयोजन हमारे लिए एक अग्नि परीक्षा ही होती थी। अंतिम क्षण तक यह अनुमान करना कठिन होता था कि आमंत्रित अतिथियों में कितने आयेंगे और कितने नहीं आयेंगे। आर० एस० वी० पी०* का उन लोगों के लिए उतना ही महत्त्व था जितना हमारे बचपन में कोट्टयम में हुआ करता था। मुझे याद है कि एक बार मेरे पिता के पास कोट्टयम के बिशप का एक निमंत्रण-पत्र आया जिस पर यही रहस्यमय अक्षर आर० एस० वी० पी० अंकित थे। उस समय हममें से कोई भी उनका अर्थ नहीं जानता था। कुछ लोगों ने तो समझा कि यह उस प्रेस के मालिक का नाम होगा जहाँ से कार्ड छपे हैं यानी राव साहब वेलु पिल्लै। दूसरे समझते थे कि इन अक्षरों के द्वारा उन खानों के नाम बताये गए हैं जो वहाँ खिलाये जायेंगे, यानी रसम, साँभर, वडाइ, पायसम। रूसी आर० एस० वी० पी० की ओर ध्यान ही नहीं देते थे और हमें एक विशेष अधिकारी को इसी काम पर लगाना पड़ता था कि वह फ़ोन पर बार-बार उनसे मालूम करे कि वे आ रहे हैं या नहीं। मेरे सचिव अल्फ्रेड गान्साल्व्ज़ को बार-बार खानों की योजना बदलनी पड़ती थी और फिर भी यह होता था कि कुछ मेहमान जो निमंत्रण स्वीकार कर लेते थे पार्टी में नहीं आते थे। निमंत्रण-पत्रों के प्रति उनका यह अभद्र आचरण देखकर कभी-कभी बड़ा ग़ुस्सा भी आता था। लेकिन एक बार पार्टी शुरू होने के बाद हमारा सारा ग़ुस्सा ठण्डा पड़ जाता था क्योंकि अतिथि के रूप में रूसी बड़े मिलनसार और बेतकल्लुफ़ होते हैं।

स्तालिन के निधन के बाद तटस्थ और गुट-निरपेक्ष राज्यों और विशेषतः भारत के प्रति सोवियत संघ की नीति में एक नया मोड़ आया। सोवित संघ ने स्वतंत्र भारत को एक ऐसे राज्य के रूप में मान्यता देना शुरू कर दिया जिसका

* रिपांदे सिल वू प्ले—'कृपया उत्तर दें'—का फ्रांसीसी रूप जो प्रायः निमंत्रण-पत्रों के बाईं ओर लिखा रहता है।

अंतर्राष्ट्रीय मामलों में बड़ा महत्त्व था। भारत के ही शान्ति सूत्र का यह परिणाम था कि कोरिया में शांति स्थापित हो सकी। इण्डो-चीन से संबद्ध जेनेवा सम्मेलन में भी भारत ने परोक्ष रूप से एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही और भारत को ही संयुक्त राष्ट्र हिन्द चीन आयोग की अध्यक्षता सौंपी गई थी।

स्तालिन के समय भारत को एक ऐसा राज्य माना जाता था जो बाह्यत: तो स्वाधीन था किन्तु वास्तव में वह लुटेरे पश्चिमी साम्राज्यवादियों के रथ में बँधा हुआ था जिसने अब अपना चोला बदल लिया था। उस समय सोवियत समाचारपत्र भारतीय जनता की दरिद्रता, दीन-हीनता और अज्ञान का ढिंढोरा पीटते थे और यह बताते थे कि भारत की अर्थव्यवस्था किस हद तक पश्चिम के हाथों में है। लेकिन अब उन्हीं अख़बारों में यह लिखा जाने लगा कि भारत ने स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद कितनी प्रगति कर ली है और वह अपने आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए किस प्रकार प्रयत्नशील है। स्तालिन के जीवन-काल में कुछ सोवियत चित्रकार भारत आये और उन्होंने भारतीय जीवन के विषादमय पहलुओं का बड़ा मार्मिक चित्रण किया। लेकिन जो चित्रकार 1955 में भारत गए उन्होंने भारत की संस्कृति के रूप-रंग, चमक-दमक तथा रोमांस आदि का प्रभाव ग्रहण किया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारत और सोवियत संघ के बीच संपर्क तेज़ी से बढ़ने लगा और सांस्कृतिक शिष्टमंडलों का तो दोनों ओर ताँता-सा बँध गया।

स्तालिन के ज़माने में जवाहरलाल नेहरू का नाम शायद ही कभी अखबारों में आता होगा और उनका कोई वक्तव्य तो शायद कभी छपा ही नहीं था। और अब तो सोवियत संघ में उनका नाम बच्चे-बच्चे की ज़बान पर था और उनकी आत्मकथा का रूसी भाषा में अनुवाद भी हो गया था। जब सभी आवश्यक तैयारियाँ पूरी हो गईं तो सोवियत सरकार ने नेहरूजी को सोवियत संघ आने का निमंत्रण भेजा। वे जून 1955 में वहाँ गये और लगभग तीन सप्ताह रहे। जैसा शानदार स्वागत उनका सोवियत संघ में हुआ शायद ही किसी का हुआ होगा। लगा जैसे कोई बाँध सहसा फट पड़ा हो और वर्षों से शृङ्खला में बँधी जनता के अवरुद्ध भावों का प्रवाह अबाध गति से उस व्यक्ति की ओर मुड़ गया हो जिसे वे न केवल अपने ही देश का मुक्तिदाता समझते थे बल्कि जिसे सोवियत संघ का मित्र और शांति का अग्रदूत भी मानते थे। नेहरूजी की उस तीन सप्ताह की सोवियत संघ की यात्रा में मैं हर वक़्त उनके साथ रहा था और उन उत्तेजनापूर्ण दिनों के एक-एक क्षण की स्मृति आज भी मेरे मस्तिष्क में ताज़ा है। जून मास का वह दिन मुझे याद है जबकि धूप निकली हुई थी, तीसरे पहर का समय था और दूर-दूर तक ऐसा लगता था जैसे मास्को की सारी जनता हाथों में फूल लिए हुए

नेहरूजी का स्वागत करने के लिए सड़कों पर निकल आई हो। मुझे हवाई अड्डे का वह दृश्य भी याद है जहाँ अध्यक्ष-मंडल के सभी सदस्य और अनेक मंत्री तथा उच्चाधिकारी उपस्थित थे और जनता की अपार भीड़ जो नेहरूजी के दर्शन के लिए लालायित थी, पुलिस का घेरा तोड़ कर उनकी ओर दौड़ पड़ी थी और प्रतिष्ठित राजनयिकगण उस उत्साह को देख कर दंग रह गये थे। मुझे स्वान लेक भी याद है जो नेहरूजी के सम्मान में बोलशाइ थ्येटर में किया गया था, यही अवसर था जबकि भारत के राष्ट्रगीत की न केवल धुन बजाई गई थी बल्कि पहली और अंतिम बार लगभग 500 प्रसिद्ध गायकों ने बड़े ज़ोर-शोर से उसे गाया भी था। चतुर्दिक जगमगाते वातावरण में क्रेमलिन में जो ज़बरदस्त भोज दिया गया था, वह भी मुझे भूला नहीं है, वही पहला मौक़ा था जबकि क्रेमलिन का प्रयोग इस प्रयोजन के लिए किया गया था। राजदूतावास का वह स्वागत-समारोह भी अविस्मरणीय था जिसमें ख्रुश्चोव ने मेरे निजी सचिव शंकर के बच्चे को गोद में उठाया और वह ख्रुश्चोव के मसे से खिलवाड़ करता रहा था और उसी बच्चे ने बुलगानिन की गोद में जाने से इन्कार कर दिया था जिस पर ख्रुश्चोव ने कहा था, 'बच्चे को आदमी की अच्छी पहचान है।' स्तालिनग्राद की वह फैक्टरी भी मुझे भूली नहीं है जहाँ मज़दूर नेहरूजी को देखने के लिए ऐसे उत्सुक थे कि उन्होंने फैक्टरी में प्रवेश के सभी द्वार रोक लिये थे और नेहरूजी तथा उनके साथी अंदर नहीं जा सके थे। हम तिब्लिसी भी गये थे जहाँ एक तरुण उत्साही पूरे एक किलोमीटर तक नेहरूजी की कार के साथ-साथ दौड़ा था और उसने इंदिरा गाँधी को एक गुलदस्ता भेंट किया था, उसके इसी कारनामे के कारण उसके साथियों ने उसे सिंह की उपाधि दी थी और उसे अपने कंधों पर चढ़ा लिया था। क्रीमिया में सिंफरोपोल से आर्तेक तक की हमारी यात्रा भी स्मरणीय थी जिसमें सारी सड़क फूलों से ऐसी ढँकी हुई थी कि सिंफ़रोपोल के मेयर की कार वापसी पर फिसलने लगी थी। मध्य एशिया में भी नेहरूजी की कार पर इतने फूल बरसाये गए थे कि हर कुछ फ़र्लांग चलकर उसे रुकना पड़ता था और उस पर गुलाब फेंके जाते थे। और इन सब घटनाओं से बढ़कर मुझे उस सभा की याद आती है जो मास्को के डायनेमो स्टैडियम में हुई थी जिसमें एक लाख रूसी नेहरूजी का भाषण सुनने के लिए एकत्र हुए थे। एक विदेशी संवाददाता ने नेहरूजी से पूछा, 'क्या यह सब पूर्व-नियोजित नहीं था?' पंडितजी ने उत्तर दिया, 'शायद, लेकिन लोगों के हृदय तो नियोजित नहीं किए जा सकते?'

नवंबर 1955 में ख्रुश्चोव और बुल्गानिन भारत आये। यहाँ उनका वैसा ही भव्य स्वागत हुआ जैसा नेहरूजी का सोवियत संघ में हुआ था। उन्होंने अपने प्रति जनता का जो अपार उत्साह देखा उससे वे बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने

भारत के लिए कई ऐसी बातें कहीं जिनका यहाँ की जनता के दिलों पर बड़ा गहरा असर हुआ। इस संबंध में सिर्फ़ एक मिसाल ही काफी है : किसी भी यूरोपीय देश की सरकार के वे पहले नेता थे जिन्होंने भारतवासियों को उन्हीं की तरह हाथ जोड़ कर नमस्कार किया था। इसी सिलसिले में मुझे अपना 1940 का एक अनुभव याद आया जब मैं भरतपुर के दीवान के पद पर नियुक्त होने वाला था। कार्यवाहक राजनीतिक सचिव हैनकाक ने मुझे कुछ परामर्श दिये थे, जिनमें से एक यह था : आपको पूरी तरह एक ब्रिटिश के रूप में व्यवहार करना चाहिये और बजाय इसके कि आप महाराजा के सामने हाथ जोड़ कर नमस्ते करें आप उससे हाथ मिलाइयेगा। यह एक ऐसा मशविरा था जिस पर महाराज से पहली मुलाक़ात में तो मैंने अमल किया, लेकिन बाद में कभी नहीं किया।

लेकिन बुल्गानिन और ख्रुश्चोव ने और भी कई बातें ऐसी कहीं जो लोगों को बहुत भाईं। उन्होंने अपनी नीति स्पष्ट रूप से बताई जिससे भारत सरकार और सोवियत सरकार की आपसी मित्रता बहुत सुदृढ़ हुई। उन लोगों ने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया कि भारत को अपने रास्ते पर चलने का पूरा-पूरा अधिकार है और सोवियत सरकार का कभी यह उद्देश्य नहीं रहा कि वह अपनी प्रणाली भारत पर थोपे। उन्होंने भारत सरकार के अध्यक्ष नेहरूजी को एशिया के गण्यमान्य राजनेताओं में से एक माना और उनके नेतृत्व में भारत ने जो उन्नति की है उसकी तुलना उस 'ज़बरदस्त जल-प्रवाह से की जो मानो सभी प्रकार के बंधन तोड़ कर आगे बढ़ रहा हो।' ख्रुश्चोव ने अपने अनेक भाषणों में गाँधीजी को भारत को स्वाधीनता दिलाने वाली एक महान् ऐतिहासिक विभूति के नाम से याद किया और इस प्रकार उन्होंने **ग्रेट सोवियत एन्साइक्लोपीडिया** में गाँधी जी के बारे में प्रकाशित निन्दापूर्ण अवतरण को बदलवाने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। कश्मीर को लेकर भारत और पाकिस्तान में जो विवाद चल रहा था उसमें सोवियत सरकार अब तक निष्पक्ष रही थी। लेकिन अब उसने भारत सरकार के पक्ष में मत दिया और कश्मीर को भारत के ही एक राज्य के रूप में मान्यता दी। इसके विपरीत डलेस ने गोआ को एक 'पुर्तगाली प्रांत' के रूप में मान्यता देने का प्रयत्न करके रूस का विरोध किया।

सुदूर भारत की यात्रा से प्रसन्न और प्रफुल्ल लौटने पर बुल्गानिन और ख्रुश्चोव दोनों बीसवीं कांग्रेस की तैयारी में जुट गये। इस कांग्रेस के महत्त्व और उसकी सारी विशेषताओं की सविस्तार चर्चा मैं **'द फ्लाइंग ट्रॉइका'** में कर चुका हूँ। कांग्रेस समाप्त होने के फ़ौरन बाद लक्सेमबर्ग के मंत्री रेने ब्लूम जो एक प्रति-

ष्ठित रूसी विद्वान थे और बहुत लंबे अर्से से सोवियत संघ में रह रहे थे, मेरे घर आये और उन्होंने कहा, 'कांग्रेस की सफलता पर मैं आपको बधाई देता हूँ।' मैंने पूछा, 'यह बधाई मुझे क्यों ? आखिर मैंने उसमें क्या लिखा ?' ब्लूम ने कहा, 'इसलिए कि भारत ही वह देश है जिसने ख्रुश्चोव की आँखें खोली हैं। जब वे और बुल्गानिन भारत गये हैं तभी तो उन्हें इस सत्य का पता चला कि प्रकाश पूर्व से ही आता है।' निश्चय ही ब्लूम अतिशयोक्ति से काम ले रहे थे, फिर भी ख्रुश्चोव पर इस बात का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा कि भारत समाजवादी पद्धति के समाज के निर्माण में प्रयत्नशील है—चाहे उसका समाजवाद मार्क्सवादी समाजवाद से भिन्न ही क्यों न हो। दूसरे वे इस बात से भी जरूर प्रभावित हुए होंगे कि भारत ने न केवल हिंसा के प्रयोग के बिना, बल्कि हिंसा का परित्याग करके स्वाधीनता प्राप्त की है, राजाओं को समाप्त किये बिना रियासतों का अंत किया है और देश को एकताबद्ध किया है। इस प्रकार भारत के इस दृष्टांत को देखकर ख्रुश्चोव इस निष्कर्ष पर पहुँचे होंगे कि समाज को बदलने के लिए हिंसा की आवश्यकता नहीं है और अलग-अलग मार्गों पर चलकर भी समाजवाद तक पहुँचा जा सकता है।

लेकिन अहिंसा के इस सिद्धांत ने आग लगा दी और कुछ ही समय बीता था कि दो कम्युनिस्ट देश—एक पोलैण्ड और दूसरा हंगरी—इसकी लपेट में आ गये। मैं इन दोनों ही देशों में भारत का राजदूत था। 'समाजवाद के विभिन्न मार्ग' के सिद्धान्त से पोलैण्ड इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपनी अलग खिचड़ी पकानी शुरू कर दी और जहाँ तक हंगरी का प्रश्न है, वह तो कम्युनिस्टों के हाथों से जाता ही रहा। मैं क्रांति के पहले, क्रांति के दौरान और उसके बाद कई बार वारसा और बुडापेस्ट गया और वहाँ की घटनाओं का मुझ पर बड़ा जबरदस्त प्रभाव पड़ा जिसका वर्णन मैंने अपनी पुस्तकों **रशियन पैरोनमा** और. **द फ्लाइंग ट्रॉइका** में किया है। वहाँ जो क्रांति हुई उसे सोवियत संघ ने प्रति-क्रांति कहा और आज भी कहता है, और बड़ी निर्ममता के साथ उसे कुचल दिया। कालांतर में ख्रुश्चोव ने अपनी अपार मेधा और सूझ-बूझ से हंगरी और पोलैण्ड को फिर अपनी ओर कर लिया। उन्होंने इन देशों में कुछ गरमी और कुछ नरमी की नीति अपनाई : राजनीतिक क्षेत्र में तो उन्होने गरमी से काम लिया और आर्थिक क्षेत्र में कुछ नरमी बरती।

उधर चीन ने भी पर निकालने शुरू किये और अपना रास्ता अलग बना लिया और जैसे-जैसे समय बीतता गया चीन और रूस के मतभेद बढ़ते गये और

अब तो उन्होंने फैलकर एक खाई का रूप धारण कर लिया है। पार्टी के चरमपंथी नेताओं ने पोलैण्ड और हंगरी की भयंकर घटनाओं के लिए तथा साम्यवादी एकाधिपत्य के विनाश के लिए ख्रुश्चोव को ज़िम्मेदार ठहराया। उस समय ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि ख्रुश्चोव का अपना पद ख़तरे में पड़ गया था और उनके लिए इसके अलावा चारा ही नहीं था कि वे दबकर अपना काम निकाल लें। बल्कि 1957 में क्रेमलिन में आयोजित नव वर्ष समारोह में तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि 'हम सभी अब स्तालिनवादी हैं।'

लेकिन अध्यक्ष-मंडल में जो असल स्तालिनवादी थे वे थे मोलोतोव, मालेकोंव और कगानोविच जो अभी तक ख्रुश्चोव के ख़ून के प्यासे थे। ख्रुश्चोव ने भी पैंतरा बदला और पार्टी की केन्द्रीय समिति में उन तीनों को पार्टी-विरोधी साबित करके उन्हें अध्यक्ष-मंडल और केन्द्रीय समिति दोनों ही से निकाल बाहर किया। इन तीन का जाना था कि बुलगानिन के भी पैर उखड़ गए और अन्त में उन्हें निकाल दिया गया।

ख्रुश्चोव की इस विजय पर मैं बहुत प्रसन्न हुआ क्योंकि मैं समझता था कि उनका जीतना सोवियत संघ और संसार दोनों ही के लिए हितकर होगा। उनका सबसे बड़ा गुण यह था कि वे संसार को अपनी दृष्टि से देखते थे। उन्होंने किसी वस्तु को मार्क्सवादी, एंगेल्सवादी या लेनिनवादी चश्मे से नहीं देखा, और स्तालिनवादी दृष्टि का तो उनसे दूर का भी वास्ता नहीं था। इसमें संदेह नहीं कि वे एक निष्ठावान मार्क्सवादी थे लेकिन वे जानते थे कि आज के अणुयुग में युद्ध और शांति की समस्या को मार्क्स की आँखों से देखना ऐसा ही है जैसे अधेड़ उम्र का कोई आदमी जिसकी दूर की नज़र कमज़ोर पड़ रही हो, ऐसी ऐनक लगा ले जो उसे पास की चीज़ें देखने के लिए युवावस्था में बताई गई थी। क्लाज़विट्ज़ ने कहा है कि, 'युद्ध एक राजनीतिक कार्यमात्र नहीं है, बल्कि यह तो वास्तव में एक राजनीतिक अस्त्र भी है, यह तो राजनीतिक आदान-प्रदान को जारी रखने या उसे अन्य तरीक़ों से पूरा करने का नाम है।' लेकिन आज स्थिति यह है कि वे अन्य तरीक़े उनका इस्तेमाल करने वाले देश के लिए भी उतने ही विनाशकारी हो सकते हैं जितने उस देश के लिए जिसके विरुद्ध उनका प्रयोग किया जाये। यही कारण था कि बीसवीं कांग्रेस में ख्रुश्चोव ने बड़े साहस से काम लिया और मार्क्स की इस उक्ति में कि युद्ध अवश्यंभावी है, संशोधन किया। मैकमिलन ने ख्रुश्चोव के बारे में ठीक ही कहा था कि वे पहले कम्युनिस्ट हैं जिन्होंने यह अच्छी तरह समझ लिया है कि मार्क्स अणु युग से पहले का आदमी था।

ख्रुश्चोव इसलिए भी युद्ध के विरोधी थे कि वे जानते थे कि युद्ध उनकी उन योजनाओं के लिए भी घातक होता जो उन्होंने अपने देश की जनता का जीवन-

स्तर सुधारने के लिए बनाई थीं। अब तक के अन्य कम्युनिस्ट नेताओं के विपरीत उनका मस्तिष्क बड़ा सुलझा हुआ था। वे न केवल साफ़-साफ़ देख रहे थे बल्कि बड़ी स्पष्टवादिता से स्वीकार भी करते थे कि सोवियत जनता का जीवन-स्तर पाश्चात्य देशों की तुलना में अभी बहुत पीछे है। उनकी सबसे प्रबल इच्छा यही थी कि सोवियत संघ जितने जल्दी हो सके न सिर्फ़ पश्चिम की बराबरी करले बल्कि उससे आगे निकल जाए। ख्रुश्चोव जितनी अच्छी तरह सोवियत जनता से परिचित थे, स्तालिन नहीं थे। वे तो जनता से बिल्कुल अलग-थलग रहते थे और ख्रुश्चोव को मज़दूरों और किसानों के बीच पहुँचकर बहुत आनन्द आता था। वे मज़दूर-किसान उनकी भाषा समझते थे क्योंकि वह उन्हीं की अपनी भाषा थी— सीधी, स्वाभाविक और कभी-कभी अनगढ़ और परुष। किन्तु वह थी बड़ी सजीव और चित्रात्मक और सबसे बड़ी विशेषता उस भाषा में यह थी कि वह सैद्धान्तिक शब्दजाल से सर्वथा मुक्त होती थी। और प्राय: ऐसा भी होता था कि यदि जनता का भाग्य सँवारने की उनकी योजनाएँ पुराने मार्क्सवादी फार्मूलों के अनुरूप न होती थीं तो बड़े साहस के साथ उन फार्मूलों की भी उपेक्षा कर देते थे।

लेकिन यही जन-नेता एक उच्च कोटि के राजमर्मज्ञ भी थे यद्यपि वे कुछ क्रोधी स्वभाव के थे। वे एक ऐसे व्यक्ति की मिसाल थे जिसे कोई नियमित शिक्षा नहीं मिली थी और न ही वह 17 वर्ष की आयु तक क ख ग ही पढ़ पाये थे। लेकिन वही व्यक्ति आज ऑक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिज तथा येल और हारवर्ड के के निकले हुए नेताओं से टक्कर लेता था। मैंने देखा है कि वे घण्टों नेहरूजी के साथ गंभीर विषयों पर बातों में व्यस्त रहे हैं और मैंने यह भी महसूस किया है कि यह व्यक्ति कितना एकाग्रचित्त, विनम्र और तर्क के धरातल पर कितना युक्ति-युक्त हो सकता है। **लंदन टाइम्स** ने ख्रुश्चोव की इंग्लैण्ड यात्रा की समाप्ति पर कहा था कि 'ख्रुश्चोव अपने मत के समर्थन में तथ्य और आँकड़ों का प्रयोग करते हैं और उदात्त से उदात्त प्रसंग से उपहास्य पर आने और उपहास्य से उदात्त तक जाने की उनमें वही सहज क्षमता है जो चर्चिल में थी।'

वस्तुत: ख्रुश्चोव की यथार्थ शक्ति उनकी प्रखर बुद्धि अथवा असीम सूझबूझ तक ही सीमित नहीं थी बल्कि उनकी शक्ति का स्रोत वह युग था जिसमें वे रह रहे थे और साथ ही वह लोकप्रियता थी जो दूसरे किसी कम्युनिस्ट नेता को नसीब नहीं हुई। क्योंकि वे असल में उसी देश के प्रतिनिधि थे जिसका वे नेतृत्व कर रहे थे। आज के युग में या निकट भविष्य में यह कल्पना करना असंभव है कि कोई स्तालिन सोवियत संघ का नेतृत्व कर सकता है। डॉयट्सचर ने ठीक ही कहा था कि स्तालिन ने ख़ुद ही स्तालिनवाद को बेकार बना दिया था। जब स्तालिन ने रूस का नेतृत्व सँभाला तो वह देश निरक्षर, अज्ञान एवं अंधविश्वासग्रस्त और

पादरियों से घिरा हुआ था और जब स्तालिन की मृत्यु हुई तो वही रूस सुशिक्षित हो चुका था, समस्त देश में उद्योगों का जाल बिछ चुका था और उसमें अपूर्व आत्मविश्वास पैदा हो चुका था। विगत हज़ारों वर्षों से रूस यूरोप के साथ दौड़ लगा रहा है—एक ऐसी दौड़ जिसमें वह कभी-कभी यूरोप के बराबर भी आ गया है लेकिन कोई-न-कोई घटना ऐसी हुई है कि फिर पीछे रह गया है जैसे पुनरुत्थान, औद्योगिक क्रांति और परमाणु बम का आविष्कार। रूस यद्यपि दूसरे महायुद्ध में अमरीका का मित्र था, फिर भी अमरीका ने परमाणु बम के रहस्य उसे बताने से इंकार कर दिया था। लिहाजा रूस ने अपनी गति फिर तेज़ कर दी और वह दिन आ गया जब रूस ने भी परमाणु बम और हाइड्रोजन बम बनाना शुरू कर दिया और रूस ने पहला भू-उपग्रह छोड़कर तो यह भी बता दिया कि विज्ञान की कुछ शाखाओं में—जैसे रॉकेट विद्या में—उसने अमरीका को पीछे छोड़ दिया है। अब यह भी स्पष्ट हो चुका है कि रूस के पास वह 'अंतिम अस्त्र'—अंतर्राष्ट्रीय प्रक्षेपणास्त्र—भी मौजूद है। अब वह कुछ ही मिनटों में अमरीका के किसी भी स्थान पर पहुँच सकता है। अब कोई डलेस उसे 'विराट गतिशील प्रतिकार' की धमकी नहीं दे सकता। इस प्रकार अंतरिक्ष में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को मात देकर और पृथ्वी पर अपने विरोधियों को हटाकर ख्रुश्चोव एक विजेता के विश्वास के साथ पश्चिम से तनाव कम करने की अपनी नीति पर लौट आये। वे 1959 के पतझड़ में अमरीका गये और वहाँ उन्होंने अपने अक्खड़ व्यक्तित्व की छाप न केवल अमरीकी जनता पर बल्कि आइज़न-हावर पर भी डाली जिन्होंने उनके बारे में कहा, 'वे एक असाधारण और गत्यात्मक व्यक्तित्व से संपन्न हैं।' इसके बाद आइज़न हावर सोवियत संघ की यात्रा पर आने वाले थे और कई शिखर सम्मेलन भी होने वाले थे जिनमें से पहला 1960 के वसंत में पेरिस में हुआ था। लेकिन इसी बीच यू-2 की घटना घटी और फलस्वरूप इन दोनों बड़ी शक्तियों ने एक बार फिर शीत युद्ध का रवैया अपना लिया।

जब अमरीका में केनेडी राष्ट्रपति बने तो यह आशा बँधी कि अब अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के ऊमस-भरे वातावरण में एक ताज़ी हवा का झोंका आयेगा और यह हवा उस हवा से भिन्न होगी जो उस समय चलती थी जब अमरीका की नीति का नियंता डलेस था—चाहे वह जीवित हो या मृत।

केनेडी राष्ट्रपति तो बन गये लेकिन उन्हें अपने पूर्ववर्ती शासक से जो विरासत मिली वह ऐसी थी जिसने लाओस में वहाँ की वैध सरकार का—जिसके अध्यक्ष तटस्थतावादी राजमर्मज्ञ सुवाना फूमा थे—तख्ता पलट दिया था और क्यूबा को अमरीका के असफल आक्रमण का निशाना बनाया था। ख्रुश्चोव और

कैनेडी दोनों ने इस बात का ध्यान रखा कि इन घटनाओं से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को कोई अपूरणीय क्षति न पहुँचे। और इसी प्रयोजन से जून 1961 के पहले सप्ताह में ख्रुश्चोव और कैनेडी की मुलाक़ात की व्यवस्था की गई थी। यह बैठक शुरू होने ही वाली थी कि मैं हमेशा के लिए मास्को छोड़ कर स्वदेश लौट आया।

सोवियत संघ में हमारे प्रवास के अंतिम दो-तीन महीनेबड़ी हड़बड़ी में बीते। 9 वर्ष उस देश में बिताने के बाद वापसी पर सामान आदि बाँधने की जो उलझन होती, वह तो थी ही, लेकिन उसके अलावा हमें मास्को, वारसा और बुडापेस्ट के सभी मिशन-अध्यक्षों से विदा लेने जाना पड़ा और बहुत-से लोगों का आतिथ्य भी स्वीकार करना पड़ा था। मास्को में राजनयिक कोर के वरिष्ठ सदस्य सोहलमैन ने हमें जो विदाई भोज दिया उसमें सभी मिशनों के अध्यक्ष सम्मिलित हुए—यहाँ तक कि उन देशों के प्रतिनिधि भी उसमें आये जिनके साथ भारत के राजनयिक संबंध नहीं थे, जैसे पूर्व जर्मनी और उत्तर कोरिया के। प्रधान मंत्री ने मेरे कार्य की संसद में बड़ी प्रशंसा की और 'उच्च कोटि की विशिष्ट सेवा के लिए मुझे **पद्म भूषण** की उपाधि प्रदान की गई। मास्को विश्वविद्यालय ने मुझे 'डॉक्टरेट ऑफ़ हिस्टारिकल साइंसेज़' की सम्मानार्थ उपाधि दी। मुझे पता चला कि विश्वविद्यालय ने ज़ारशाही या कम्युनिस्ट शासन में इस प्रकार का सम्मान कभी किसी राजनयिक को नहीं दिया था मेरे सम्मान में जो विदाई भोज दिया गया था उसकी अध्यक्षता प्रथम उपप्रधान मंत्री मिकोयान ने की क्योंकि ख्रुश्चोव उस समय वहाँ नहीं थे। श्रीमती ख्रुश्चोव ने अनुजी को अपने घर आमंत्रित किया जो मास्को नदी के किनारे स्थित था। इस अवसर पर उन्होंने अध्यक्ष-मंडल के सदस्यों और उच्च सिविल और सैनिक अधिकारियों की पत्नियों को भी आमंत्रित किया था।

हमारे एक रूसी मित्र ने टोस्ट प्रस्तुत करते हुए कहा, 'मास्को के श्रेष्ठतम राजनयिक और इनके पति मि० मेनन के लिए।' और अनुजी इस अभिवादन के पूर्णतः योग्य थीं। उनकी सादगी और शांतिप्रियता के कारण रूसी जीवन के हरेक क्षेत्र में उनके अनेक मित्र बन गये थे। बच्चों के थ्येटर में **रामायण** और पुश्किन थ्येटर में **मृच्छकटिक** पर आधारित **व्हाइट लोटस** के निर्माण में अनुजी ने सहायता की थी। उन्होंने प्रख्यात आर्मीनियाई गीतकार बाल सन्यान से भी **शकुंतला** के गीति-नाट्य-रूप में निर्माण के बारे में घण्टों बातचीत की थी और **नल-दमयन्ती** के निर्माण के सम्बन्ध में लुनाचास्की स्कूल ऑफ़ ड्रामेटिक आर्ट के अध्यापक वरकूत से भी विचार-विनिमय किया था। इस प्रकार वहाँ के अनेक

गीतकारों, अभिनेताओं और नर्तकियों से उनका सम्पर्क स्थापित हो गया था। यह सम्पर्क स्थापित करने में उन्हें रूसी भाषा की जानकारी से बहुत सहायता मिली। उन्होंने जितने उत्साह से रूसी भाषा सीखी थी उतने उत्साह से उन्होंने हैदराबाद में उर्दू, पेशावर में पुश्तो और चुँगकिंग में चीनी भी नहीं सीखी थी। इस प्रकार हमारा जो संयुक्त सरकारी जीवन लगभग चालीस वर्ष पहले कावेरी के किनारे शुरू हुआ था वह अनेक उतार-चढ़ाव और उलट-फेर के बाद वोल्गा के किनारे समाप्त हुआ। जहाँ कहीं भी हम रहे, चाहे वह हैदराबाद की देशी रियासत हो या खूंख्वार पठानों का सीमाप्रांत, श्रीलंका का ग्राम्य वातावरण हो या भारत की राजधानी दिल्ली, चाहे युद्धक्षत चीन हो या युद्धोत्तर रूस—अनुजी हर जगह खुश रहीं, उनकी उपस्थिति मात्र ही सहज मैत्रीपूर्ण वातावरण बनाने के लिए पर्याप्त थी और उसी का प्रताप था कि स्तालिनवादी राजनयिकों की कठोरता तक समाप्त हो जाती थी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनयिक की पत्नी अपने पति के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। वह उसका जीवन बना भी सकती है, बिगाड़ भी सकती है। सामान्यतया भारतीय महिलाओं में एक स्वाभाविक संतुलन, गरिमा और संवेदनशीलता होती है जिसके कारण वे राजनयिकों की आदर्श पत्नियाँ बन जाती हैं। लेकिन वे सब एक ही साँचे में नहीं बनी होतीं। जब मैं वहाँ था तब मास्को में हमारे राजदूतावास में जो विभिन्न प्रकार की भारतीय स्त्रियाँ देखने में आईं वे भी अद्‌भुत थीं। उनमें रोक्षी गंदेविया थीं जो हमारे मंत्री-परामर्शदाता की पत्नी थीं, जितनी चौड़ी उनकी हड्डी थी उतना ही बड़ा उनका दिल भी था और जहाँ भी वे जाती थीं अपनी प्रफुल्लता की छाया उनके साथ रहती थी; कमला रत्नम् थीं जो एक विदुषी थीं और विद्वानों की संगति में ही आनंद-लाभ करती थीं; सुनील राय की सुयोग्य पत्नी मोहना थीं जिन्होंने पोलैण्ड में भारत की प्रतिष्ठा स्थापित करने में उतना ही योगदान दिया था जितना उनके पति ने; तान्या थीं जो उतनी ही उदार थीं जितना उनका वंश क्योंकि उनकी रगों में विभिन्न जातियों का रक्त प्रवाहित था; कुंजी और सरस्वती थीं (श्रीमती थान और श्रीमती वैद्यनाथन) जो तापघर में विकसित फूलों की तरह थीं, उनका लालन-पालन बड़े रूढ़िपंथी परिवारों में हुआ था लेकिन फिर भी वे बड़े धैर्य के साथ राजनयिक कोर के रूढ़िमुक्त जीवन को सहन करती थीं और यद्यपि स्वयं शाकाहारी थीं किन्तु अपने मांसाहारी अतिथियों के लिए सामिष भोजन तैयार करने में संकोच नहीं करती थीं; अमीना थीं जिनकी विनोद शीलता और भाषाओं पर—विशेषकर रूसी भाषा पर—अधिकार ऐसे गुण थे जो आहुजा के लिए ही हितकर नहीं थे बल्कि व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए

और राजदूतावास केलिए भी बड़े लाभकारी थे। ब्रिगेडियर नानावटी की पत्नी शारदा थीं और ब्रिगेडियर बुतालिया की पत्नी गीता थीं—दोनों ही उच्च कोटि की सत्कारिणी थीं जिनकी सैनिक अताशे और उनकी पत्नियाँ ही मांग नहीं करती थीं बल्कि राजनयिक कोर के अन्य सदस्यों में भी जिनकी बड़ी पूछ थी; और फिर मीरा टॉमस अब्राहम की पत्नी थीं जो एकांतप्रिय थीं, अलग-अलग रहती थीं और बड़ी चिंतनशील थीं; अंधाधुँध मित्र बनाना उनकेवस का काम नहीं था लेकिन जो भी उनके मित्र बन जाते, उन पर मुग्ध रहते थे; शीला पुरुषोत्तम थीं जो सुशील, उत्सुक और स्नेहशील थीं; शैला थीं जो रामसाठे की बड़ी ही सुन्दर और मुखर पत्नी थीं और जो मेरे नानकिंग, दिल्ली और मास्को के जीवन में एक कड़ी थीं और के० पी० पी० पिल्लै की मिलनसार और आकर्षक पत्नी देवी थीं जो मेरे साथ नानकिंग, दिल्ली और मास्को में रहे थे और जिन्होंने निजी सचिव के रूप में बड़ी निष्ठा से मेरी सेवा की थी।

भारतीय महिलाओं में साहित्यिक रुचि-सम्पन्न एवं अध्ययनशील महिलाएं बहुत कम मिलेंगी। लेकिन एक ऐसी अभूतपूर्व महिला मेरे सम्पर्क में ज़रूर आई थीं जिनका नाम मैं यहाँ नहीं बताऊँगा। वे बड़ी विद्वान थीं और उन्हें अपनी विद्वत्ता का एहसास भी था। वे बड़ी अच्छी भाषाविज्ञानी और एक सफल लेखिका थीं, उन्हें जितना ख़याल दूसरों को सुधारने का रहा था उससे कुछ अधिक चिन्ता आत्मसुधार की लगी रहती थी। उन्हें यही विचार सताता रहता था कि भारत और उस देश के बीच जहाँ उनके पति काम कर रहे हैं, मैत्री बढ़ाना जितना उनके पति का काम है उतना ही उनका अपना भी। वे बड़ी परिश्रमी, संयत और व्यवस्थित थीं और काम से कभी न थकती थीं, अपने से ज्येष्ठ लोगों के प्रति उनमें आदर-भाव और अपने से छोटों के प्रति तिरस्कार का भाव था, वे ठेठ भारतीय महिला थीं जो इतनी दबदबे वाली थीं कि उन्हें स्त्री न बन कर पुरुष की योनि धारण करनी चाहिए थी और उन्हें स्वयं इस बात का दुःख भी था कि वे पुरुष क्यों न बनीं। परिणाम यह हुआ कि स्त्री-सुलभ विशेषताओं से हटकर जब उन्होंने कुछ और बनना चाहा तो वे स्त्री भी न रह सकीं। जब कभी मैं उन्हें और अनुजी को एक साथ देखता था मुझे 'मेरी और मार्था' की बाइबिल की कहानी याद आ जाती थी और मैं अपने आपसे कहा करता था कि अनुजी ने मेरी की ही भाँति अपना पूरक ढूँढ लिया है। और हमारे सभी मित्र—क्या भारतीय और क्या विदेशी—सब यही सोचा करते थे।

पुनः केरल

००

जैसा कि आप देख चुके हैं मेरी जन्म कुण्डली बनाने वाले ज्योतिषी-कवि पंतलम् कृष्ण वारियर की यह भविष्यवाणी सच्ची साबित हुई कि मेरे भाग्य में 'अन्य देशवासम्' बदा है। चवालीस वर्ष पहले मैंने अपने विद्यार्थी-काल में केरल छोड़ा था और मद्रास गया था और अब चार महाद्वीपों में घूम-फिरकर फिर केरल वापस आगया और यहाँ ओट्टपालम नामक छोटे-से-क़स्बे में आकर बस गया हूँ। बंगलौर में भी—जो पेन्शनरों का स्वर्ग है—हमारा मकान है, और कोडाइकनाल में भी जो 7500 फुट की ऊँचाई पर स्थित एक स्वास्थ्यकर पहाड़ी स्थान है। लेकिन केरल का निमंत्रण ऐसा था जिसे स्वीकार करने का लोभसंवरण करना हमारे लिए संभव नहीं था। यदि ओट्टपालम में न रहते तो दूसरा विकल्प हमारे सामने कोट्टयम था जहाँ मेरा जन्म और लालन-पालन हुआ था। लेकिन इस सदी के प्रारंभ के कोट्टयम में और आज के कोट्टयम में ज़मीन-आसमान का अंतर है। इसका अनुभव मुझे तब हुआ जब मैं कुछ वर्ष पहले वहाँ एक सार्वजनिक पुस्तकालय का शिलान्यास करने के लिए गया था। यह एक भव्य चार मंज़िला भवन था जिस पर तीन लाख रुपये खर्च होने वाले थे। यह पुस्तकालय उस जगह बनाया गया है जहाँ मेरे स्कूल के ज़माने में पारिया स्त्रियाँ चार चक्रम (2 आने) प्रति गट्ठर के हिसाब से घास बेचा करती थीं और कभी-कभी शाम का अँधेरा होने के बाद खुद को भी 8 चक्रम में बेच दिया करती थीं। अब कोट्टयम बहुत बड़ा क़स्बा बन गया है और पहले से कहीं अधिक समृद्ध भी हो गया है। उसमें जिस तरह मकानों की भरमार है उसी तरह जनता की भी अपार भीड़ है। वहाँ अब असंख्य दुकानें हैं, अनगिनत कारें हैं और उपभोक्ता वस्तुओं की रेलपेल है। जिधर देखो धूल ही धूल है, लोगों के पास अनाप-शनाप पैसा है और उसी तरह ग़रीबी है कि सब तरफ़ फैली हुई है। यदि कोट्टयम की तुलना ओट्टपालम से की जाए तो ऐसा मालूम होता है जैसे वह शहर पीटरपैन की तरह बिल्कुल बढ़ा ही नहीं है। वह एक ऐसा शहर है जहाँ इस बीसवीं सदी में भी बिजली एक अद्भुत चीज मानी जाती है और टेलीफ़ोन तो एक सर्वथा दुर्लभ वस्तु ही है। वहाँ मोटर कारों की संख्या बहुत थोड़ी है और मोटर-साइकलें तो हैं ही नहीं वहाँ के धनी सामंतों ने अब अपनी वह अकड़-फूं छोड़ दी है और ग़रीब भी उनसे कोई द्वेष नहीं करते

हैं। वहाँ यह स्थिति है कि एकमात्र उद्योगपति ई० पी० ब्रदर्स को ही एक आश्चर्य समझा जाता है हालाँकि वे उद्योगपति कम और परोपकारी अधिक हैं। वहाँ के पशु भी यह समझते हैं कि जितना अधिकार सड़कों पर चलने का मनुष्यों को है उतना ही उन्हें भी है। वहाँ नदी एक ओर से घूमती हुई शहर में दाखिल होती है और बल खाती हुई दूसरी ओर से बाहर निकल जाती है। और वहाँ के मकानों का तो यह हाल है कि वे दूर-दूर तक फैले हुए मैदानों में धब्बे-से दिखाई देते हैं। कहना चाहिए कि यहाँ मनुष्य ने प्रकृति को निकाल बाहर नहीं किया है। इसीलिए हमने ओट्टपालम को पसंद किया, लेकिन मुझे यह भी स्वीकार करना चाहिए कि कोट्टयम में न रहने के विचार से हमें बड़ी ठेस भी पहुँची थी क्योंकि मैंने अपने जीवन के पहले पंद्रह वर्ष सुख-चैन के साथ वहीं बिताये थे। लेकिन अब भी मेरा यही विचार है कि ज्योंही किरायेदार हमारा मकान खाली कर देगा हम अपना कुछ समय कोट्टयम में और कुछ ओट्टपालम में रहकर गुज़ारा करेंगे। लेकिन हमारा किरायेदार वर्षों से वहाँ नाममात्र के किराये पर रहता आया है और उसका कहना है कि जब तक लॉर्ड अय्यप्पन मुझे गोपिविलास छोड़ने के लिए नहीं कहेंगे, मैं मकान ख़ाली नहीं करूँगा और उन्हें वह हर साल सावरीमाला जाकर न जाने क्या पट्टी पढ़ा आता है कि वे उससे मकान छोड़ने के लिए कहते ही नहीं।

जब हम वापस भारत आये तो 1961 का पतझड़ शुरू हो चुका था। ज्योंही मैं आया मुझे पहले इलाहाबाद और फिर केरल विश्वविद्यालय का कुलपति-पद स्वीकार करने के लिए आमंत्रित किया गया। लेकिन मैं राजनय के क्षेत्र से एकदम शिक्षा के क्षेत्र में कूदने से ज़रा घबराया। दूसरे उस समय मेरे हाथ में दो पुस्तकें थीं जो मैं रूस के बारे में लिख रहा था और जिन्हें मैं पूरा करना चाहता था। उधर अनुजी भी अफ़सरी के ओहदों से अब उक्ता गई थीं। उनकी तो बस एकमात्र इच्छा यह थी कि अपने जीवन की संध्या अपने पैतृक स्थान में शांतिपूर्वक बिताई जाए। हालाँकि ओट्टपालम में उनकी ज़िन्दगी वैसी शांतिपूर्ण नहीं रही जैसी वे चाहती थीं क्योंकि केरल की विभिन्न सरकारों—कांग्रेस, कम्युनिस्ट और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी—ने काश्तकारी विधान पास करने के लिए जो प्रयत्न किये उनके कारण अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। हमारे अपने काश्तकार तो बिल्कुल देवता थे, उन्होंने इस बात का कभी फ़ायदा नहीं उठाया कि हम दूरवासी ज़मींदार हैं और वे हमेशा हमारा किराया देते रहे। यहीं कारण था कि हमने हाल ही में अपनी धान की अधिकांश ज़मीनें उन्हीं के हाथों बेच दीं और हमें अपनी ज़मीनें उन्हें देकर बड़ी प्रसन्नता हुई और साथ ही गर्व भी, लेकिन इस प्रसन्नता में थोड़ा पुट खेद का भी था क्योंकि ये ज़मीनें जो विगत

पचास वर्ष से हमारी थीं, हमने कौड़ियों के मोल बेच दीं। मैं अपने काश्तकारों की गरिमा, विनम्रता और स्वाभिमान से बड़ा प्रभावित हुआ। वे अपढ़ थे, नंगे जिस्म रहते थे और अब तक उनकी गणना अछूतों में की जाती थी, लेकिन आज उन्हीं ने एक ऐसे दस्तावेज़ पर अपने हस्ताक्षर किये थे जिसने उन्हें वह रेखा पार करने की अनुमति दे दी थी जो एक समय उनके लिए दुर्निवार थी, आज वे काश्तकार से भूमि के स्वामी बन गए थे।

इन सारे सौदों को निपटाने में जो कष्ट हुआ वह अनुजी ने ही झेला, मैंने तो उनमें बस एक उदासीन व्यक्ति की तरह दिलचस्पी ली। मैं अपना अधिकांश समय लिखने-पढ़ने में बिताता रहा। मेरी पुस्तक **रशियन पैनोरमा** 1962 में प्रकाशित हुई और **द फ़्लाइंग ट्रॉइका** 1963 में और अब मेरी यह आत्मकथा आपके हाथों में है। इस पुस्तक के लिखे जाने का श्रेय मेरे परम मित्र आर० ई० हॉकिन्स को है जो बम्बई में ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस के मैनेजर हैं और 1957 में दो-चार दिन के लिए मेरे साथ मास्को में ठहरे थे। उन्होंने मुझे अपनी आत्म-कथा लिखने की प्रेरणा दी। उन्होंने मुझे बताया कि एक वयोवृद्ध भारतीय राजनीतिज्ञ अपनी आत्मकथा छपवाने के लिए मेरे पीछे पड़ा हुआ है। उस भले आदमी ने अपने सभी भाषणों और लेखों की कतरनें सँभाल कर रखी हुई थीं और यह समझ रहा था कि उन्हें एकत्र करके एक ऐसी किताब बन जायेगी जो प्रकाशित हो सकती है। हॉकिन्स ने बड़े खेद के साथ यह बताया कि भारतीयों की लिखी हुई बहुत कम आत्मकथाएँ अब तक प्रकाश में आई हैं। और शायद यही कारण था कि प्रूस्त* ने कहा था कि अच्छा जीवन बिताना आसान है किन्तु एक अच्छी जीवनी लिखना बहुत कठिन है।

मेरी यह जीवनी अच्छी है या नहीं, मैं नहीं कह सकता लेकिन मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मेरी पहली पुस्तकों को सभी ने अच्छा बताया है। **रशियन पैनोरमा** का बड़े उत्साह और गर्मजोशी से स्वागत किया गया और उसका पहला संस्करण प्रकाशित होने के कुछ महीनों के अंदर ही बिक गया। ओलेफ़ कैरो ने रॉयल एशियन सोसाइटी की पत्रिका में उसकी बड़ी सुन्दर समीक्षा की और कहा कि यह पुस्तक किंगलेक† की **इयोथन** और आल्डस हक्सले‡ की **जेस्टिंग पाइलेट** की टक्कर की है। कैरो की यह उदारता निश्चय ही उनके अपने पुराने सहयोगी के प्रति पक्षपात से प्रेरित रही होगी। मैंने उन्हें एक पत्र लिखा जिसमें यही बात कही थी। लेकिन उन्होंने उत्तर में लिखा

---

* मार्सेल प्रूस्त, फ्रांसीसी उपन्यासकार (1754—1826)

† क्रीमियाई युद्ध-इयोथन के अंग्रेज इतिहासकार (1809—1891)

‡ अंग्रेज उपन्यासकार तथा निबंधकार (1894—)।

कि नहीं ऐसा नहीं है, 'वस्तुत: पुस्तक में कोई अंश भी नीरस या बोझिल नहीं है। शुरू से आखिर तक ऐसा लगता है जैसे वह एस्किलस की लहरों की भाँति मुस्करा रही है। शायद आप श्रेण्य यूनानी भाषा से परिचित नहीं हैं, लेकिन उसका अनुवाद यह है 'समुद्र का असीम हास।'

द फ़्लाइंग ट्रॉइका में सोवियत संघ की आंतरिक तथा अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं का उल्लेख किया गया है। उसका प्रकाशन भी 1962–63 में इंग्लैंड और भारत दोनों स्थानों पर हुआ था। उसको भी भारत में हाथों-हाथ लिया गया। अब तक मुझे उसकी दो समीक्षाएँ मिली हैं जो इंग्लैण्ड में हुई थीं। एक तो सर रॉबर्ट ब्रूस लोखार्ट की **ग्लासगो हेरल्ड** में की गई समीक्षा है जिसमें कहा गया है कि 'वह सोवियत संघ पर हाल में लिखी सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में से है।' दूसरी समीक्षा जो बहुत ही दिलचस्प है **टाइम्स लिटररी सप्लिमेण्ट** में छपी थी। उसमें पुस्तक की आलोचना भी की गई है और साथ ही उसका गुणगान भी। उसमें समीक्षक मेरे कुछ निष्कर्षों से तो सहमत है, कुछ से उसका मतभेद है और अंत में उसने मेरी प्रशंसा की है। 'यह पुस्तक लिखकर श्री मेनन ने अपने देश की राजनयिक सेवा में चार चाँद लगा दिए हैं।' लेकिन साथ ही समीक्षक ने मुझ पर यह आरोप भी लगाया है कि मेरे 'पूर्वाग्रह बड़े प्रबल' हैं। हॉकिन्स ने मुझे लिखा, 'न जाने तुम पर 'प्रबल पूर्वाग्रहों' का आरोप क्यों लगाया गया है?' मैंने उन्हें जवाब दिया कि यह बात मेरी भी समझ में नहीं आई कि जब एक ओर मेरी 'प्रखर बुद्धि' की सराहना की गई है तो दूसरी ओर यह 'प्रबल पूर्वाग्रह' मेरे सिर क्यों मढ़ दिये गये?

('यद्यपि उनमें पूर्वाग्रह प्रबल हैं किन्तु वे एक प्रखर बुद्धि प्रेक्षक हैं जिन्होंने इस पुस्तक में गृह नीति तथा अंतर्राष्ट्रीय नीति दोनों ही क्षेत्रों में नि:स्तालिनीकरण की प्रक्रिया का बड़ा सजीव चित्रण किया है।')

टाइम्स लिटररी सप्लिमेण्ट में जो टीका-टिप्पणी हुई उससे मुझे कुछ आत्मालोचन की प्रेरणा मिली, हालाँकि यह एक ऐसा काम था जो मैंने शायद ही कभी किया हो। क्या वास्तव में मेरे पूर्वाग्रह बड़े प्रबल हैं? मैं समझता हूँ ऐसा नहीं है। यदि मेरे समीक्षक ने इस शब्द का प्रयोग बहुवचन में न करके एक वचन में किया होता तो शायद वह ठीक हो भी सकता था। निस्संदेह मेरे मन में एक व्यक्ति के विरुद्ध, जिसका नाम जॉन फ़ॉस्टर डलेस था, न केवल प्रबल पूर्वाग्रह रहा है बल्कि उसके नाम ही से मुझे चिढ़ थी। उसके दंभजन्य निर्णयों ने मुझे हमेशा भयभीत किया है। मेरा खयाल है कि हर व्यक्ति को किसी-न-किसी वस्तु से अरुचि होती है और उस अरुचि का संबंध उसके अपने स्वभाव से होता है। अपनी युवावस्था में मेरा प्रिय लेखक अनातोले फ्रांस था। उसके

उपन्यासों से मैंने यह निष्कर्ष निकाला था---और यही निष्कर्ष न्यू टेस्टामेंट से भी निकलता है---कि संसार का सबसे बड़ा पाप धर्माभिमान है। अनातोले फ्रांस का एबि जेरोम कोइनार जो उनके श्रेष्ठ उपन्यास **एट द साइन ग्रॉफ़ द रिएन चिदौके** का ही नहीं विश्व के कथा-साहित्य का एक अत्यन्त प्रिय पात्र है, प्राय: सभी दस आज्ञाओं का उल्लंघन करता है लेकिन फिर भी पाठक का प्रेम-पात्र बना रहता है क्योंकि वह धर्माभिमान के पाप से सर्वथा मुक्त है और मानवमात्र से प्रेम करता है। मैं समझता हूँ कि ऐसा शायद ही कोई और व्यक्ति हो जिसने दशादेशों का उतनी निष्ठा से पालन किया हो जितनी निष्ठा से डलेस ने किया था। लेकिन इसके बावजूद बहैसियत एक इन्सान के और राजमर्मज्ञ के मुझे उसके इसी धर्माभिमान के कारण उससे घृणा रही है। राजमर्मज्ञ के रूप में डलेस का जो रिकार्ड रहा है उस पर मेरे समीक्षक ने कुछ नहीं कहा। समीक्षा में कहा गया है 'डलेस बौद्धिक और स्वाभाविक दृष्टि से सहअस्तित्ववाद की नीति की कल्पना नहीं कर सके थे और युद्धोत्तर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सम्पूर्ण रिकार्ड में उस व्यक्ति के साथ यही सबसे दु:खद दुर्घटना हुई थी।'

और यह भी उतनी ही दु:खद दुर्घटना थी कि जे० एफ० केनेडी—जो स्वभाव में जे० एफ० डलेस से इतने भिन्न थे, जो बड़े हँसमुख, प्रफुल्लचित्त, तरुण और मिलनसार थे, जिनमें आत्मविश्वास और दृढ़ता थी लेकिन साथ ही समय के साथ अपने में परिवर्तन करने की अद्भुत क्षमता थी—एक हत्यारे की गोली का शिकार हो गये। और केनेडी को मरे अभी एक वर्ष भी न हुआ था कि जवाहरलाल नेहरू भी इस मंच से उठ गये। उनकी मृत्यु न केवल राजमर्मज्ञों और राजनीतिज्ञों के लिए बल्कि उन सभी स्त्री-पुरुषों के लिए महान् क्षति होगी जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की बढ़ती के बावजूद लोक कार्यों के संपादन में सौम्यता की तलाश करते हैं।

मैं सेवा-निवृत्त तो हो गया लेकिन मेरी व्यस्तता पहले से कम न हुई। अब भी मैं वर्ष में दो चार महीने संघ लोक सेवा आयोग में आई० एफ़० एस० और आई० ए० एस० के उम्मीदवारों का चुनाव करने के लिए बैठता हूँ। 1961 में मैंने केरल विश्वविद्यालय में रामास्वामी मुदालियार व्याख्यान दिये और 1962 में दिल्ली में सरदार पटेल व्याख्यान दिये, मुझे बड़ौदा विश्वविद्यालय में सायाजी राव स्मारक व्याख्यान और भारतीय अंतर्राष्ट्रीय विषय संस्थान में सरोजिनी नायडू स्मारक व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया था। मैं भारत सरकार की ओर से एक सद्भाव यात्रा पर श्रीलंका भी गया था जहाँ मैंने 'एशिया में जीवन के बदलते हुए मान' विषय पर कई व्याख्यान दिये थे।

मेरी व्यस्तता का यह हाल है कि केरल में भी मुझे चैन से नहीं बैठने दिया

जाता। स्कूलों और कॉलिजों में तो भाषण देने के लिए मुझे बुलाया ही जाता है, लेकिन शताब्दी-समारोहों, रजत जयंती और स्वर्ण जयंती उत्सवों की अध्यक्षता करना तो एक प्रकार से मेरा व्यवसाय ही बन गया है। तिरुअनंतपुरम में तिरुवांकुर के महाराजा की (हरिजनों की) मंदिर-प्रवेश-घोषणा की रजत जयंती और नायर सर्विस सोसाइटी की स्वर्ण जयंती के अवसर पर मैंने ही अध्यक्षता की थी; और अनुजी ने पंतलम में निन्यानवे वर्षीय संस्थापक मन्नथ पद्मनाभन की मूर्ति के अनावरण-समारोह की अध्यक्षता की थी। मैं ही ओट्टपालम में टैगोर जन्म शताब्दी और स्वामी विवेकानन्द की जन्मशताब्दी के अवसर पर अध्यक्ष बनाया गया था। तिरुअनंतपुरम में जी० परमेश्वरन पिल्लै की जन्मशताब्दी और गवर्नमेंट हाइ स्कूल कण्णनूर के जहाँ सौ वर्ष पूर्व सर शंकरन ने शिक्षा प्राप्त की थी, शताब्दी-समारोह के अवसरों पर भी मैं ही अध्यक्ष रहा था। कण्णनूर के रमणीय समुद्रतट पर मैंने के० रामकृष्ण पिल्लै का एक निर्जन समाधि-प्रस्तर देखा। पिल्लै एक ऐसे व्यक्ति थे जिनका स्मरण हमें स्वतंत्रता के सेनानी के रूप में करना चाहिए। इस सदी के आरम्भ में उन्होंने एक समाचारपत्र में तिरुवांकुर के निरंकुश दीवान की काली करतूतों का भण्डाफोड़ किया था और उसी कारण से उन्हें राज्य से निकाल दिया गया था। फिर उन्होंने अपना बाक़ी जीवन अपनी पत्नी बी० कल्याणी अम्मा के साथ कण्णनूर में ही बिताया था। उनकी मृत्यु के बाद भी उनकी पत्नी ने तिरुवांकुर में क़दम नहीं रखा; अलबत्ता जब भारत स्वतंत्र हो गया और स्वेच्छाचारिता का शासन भी समाप्त हो गया तब वे वहाँ गईं। स्वतंत्रता के इनसे भी बड़े सेनानी जी० परमेश्वरन पिल्लै थे जिन्होंने तिरुवांकुर के दीवान के स्वेच्छाचारितापूर्ण कार्यों के विरुद्ध 1880 में आवाज़ उठाई थी और निष्कासन-आदेश जारी होने के पहले ही वे अपने आप मद्रास चले गये थे। मद्रास में उन्होंने **स्टैण्डर्ड** के संपादक और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मंत्री के रूप में बड़ी ख्याति प्राप्त की। यहाँ तक कि उनका नाम महात्मा गाँधी तक पहुँचा और उन्होंने उनके कार्य की बड़ी प्रशंसा की और वे हमारे राष्ट्रीय नेताओं की अगली पाँत में आने ही वाले थे कि काल-कवलित हो गये।

इन विद्रोहियों के उल्लेख से यह नहीं समझना चाहिए कि तिरुवांकुर एक प्रतिक्रियावादी रियासत थी या यह कि उसके शासक अत्याचारी थे; बल्कि इसके विपरीत तिरुवांकुर भारत की देशी रियासतों में सबसे अधिक प्रबुद्ध और प्रगतिशील रियासत मानी जाती थी और उसके शासक श्री मार्तण्ड वर्मा से लेकर चित्तिरा तिरुनाल तक सभी बड़े कर्त्तव्यपरायण राजा थे जिन्होंने अपनी प्रजा के कल्याण के लिए हमेशा सब कुछ किया। वर्तमान महाराजा की तो हमेशा एक ऐसे व्यक्ति के रूप में याद बनी रहेगी जिसने भारत

सरकार के अस्पृश्यता का अंत करने से बहुत पहले तिरुवांकुर के मंदिर अछूतों सहित सभी वर्णों के हिन्दुओं के लिए खोल दिये थे। जब मैं मास्को में राजदूत था तो वे अपनी माताजी के साथ सोवियत संघ भी आये थे। उनकी माता बड़ी सुन्दर, विनम्र और जीवंत महिला थीं जिनकी तुलना बड़ी आसानी से मदाम चियांग काई-शेक से की जा सकती थी। दोनों में बस यही अंतर था कि मदाम चियांग एक ऐसे देश की विभूति थीं जहाँ शताब्दियों तक स्त्री परतंत्रता में जकड़ी रही थी जबकि तिरुवांकुर की राजमाता हमारी मातृकुलीय प्रथा का एक प्रामाणिक दृष्टांत थीं। कुछ यही विशेषताएँ उनकी बड़ी बहन में भी थीं जिन्होंने वर्तमान महाराजा की अल्पवयस्कता के दौरान बड़ी बुद्धिमत्ता और सूझबूझ के साथ राज्य का शासन चलाया था। महाराजा और उनकी माँ का सोवियत नेताओं के मस्तिष्क पर उतना ही सौम्य प्रभाव पड़ा जितना भारत के वाइसरायों पर पड़ा करता था।

मैं सेवा-निवृत्ति के बाद पहले साल भर भ्रमण में व्यस्त रहा और अंत में फिर एक बार रूस गया। एयर-इंडिया ने दिल्ली और मास्को के बीच चलने वाली अपनी पहली बूइंग उड़ान के अवसर पर हमें अपना अतिथि बनाया। चीन के भारत पर आक्रमण की खबर मैंने रूस में ही सुनी। पहले तो मुझे विश्वास ही न आया क्योंकि मैंने इसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी कि चीन भारत पर आक्रमण कर सकता है। मैं समझता था कि सीमा पर एकाध झड़प तो हो सकती है लेकिन बाक़ायदा हमले की तो कोई संभावना ही नहीं थी। इस अप्रत्याशित घटना के फ़ौरन बाद चीन ने रूस पर भी अपने ज़बानी हमले बढ़ा दिये। उसने ख़ुश्चोव पर आरोप लगाया कि उन्होंने क्यूबा-संकट के दौरान कायरता दिखाई है और 'समर्पणवाद' का सहारा लिया है। भारत पर चीन का हमला और क्यूबा का संकट दोनों एक ही समय में हुए थे। अब यह बात दिन-बदिन स्पष्ट होती जा रही थी कि अब तक चीन और रूस का जो झगड़ा सैद्धांतिक स्तर पर और चोरी-छिपे चल रहा था उसकी जड़ें वास्तव में बहुत गहरी हैं और उसके कारण ऐतिहासिक तथा प्रादेशिक ही नहीं बल्कि जाति वादी भी हैं।

चीन के दोनों ही पड़ौसियों ने उसके इस व्यवहार से सबक़ लिया है। सोवियत संघ ने तो उससे यह सीखा है कि राष्ट्रीय अहं के प्रदर्शन में सामान्य सिद्धांत बाधक नहीं होते जिस पर उसे एक अर्से से संदेह तो था लेकिन जिसे वह मानता नहीं था। और भारत ने उससे यह शिक्षा ली है कि पंचशील के सिद्धांतों का समर्थन, चाहे उसके पीछे दो हजार वर्ष की मैत्री भी क्यों न हो, इस बात की गारंटी नहीं है कि आक्रमण नहीं हो सकता। लेकिन यह बात ऐसी है जिसका भारत को कभी एहसास ही नहीं हुआ था।

सेवा-निवृत्ति के बाद जब मैं 1961 में भारत वापस आया तो यह देखकर मुझे बड़ा दु:ख हुआ कि चीन के साथ हमारे संबंध बिगड़ते जा रहे हैं। दोनों सरकारों के बीच जो पत्रव्यवहार हो रहा था उसकी भाषा दिन-प्रतिदिन कड़ी ही नहीं विषाक्त होती जा रही थी। हमारे यहाँ का सचिवालय कठोर शब्दावली ही नहीं, अशिष्ट शब्दों के प्रयोग में भी चीनियों से होड़ लगा रहा था। संक्षेप में और हल्के स्वर में बात कहने की जो कला हमें अंग्रेज सिखा गये थे और जिसके बारे में मशहूर है कि 'मधुर वचन ते जात मिट उत्तम जन अभिमान' वह हम भूल चुके थे। मीठी और नम्र भाषा के प्रयोग की कला में नेहरूजी भी अपना सानी नहीं रखते थे और जब मैं विदेशसचिव था, तब मैंने भी यह भाषा सीखने की कोशिश की थी। और जब हमारा चीन के साथ होने वाला पत्राचार प्रकाशित हो गया तब तो भारतीय जनता चीनियों को अपना शत्रु ही समझने लगी। यह देखकर तो मुझे बड़ी चिंता हुई क्योंकि यह कोई अच्छा शकुन न था। मैंने पंडित जी को उस चेतावनी का स्मरण कराया जो एक बार उन्होंने ही दी थी कि किसी भी राष्ट्र को हताश नहीं होना चाहिए। मैंने उन्हें वे शब्द भी याद दिलाये जो उन्होंने 1927 में अपनी सोवियत संघ की यात्रा से लौटकर कहे थे कि 'भारत और रूस जैसे दो देशों के बीच या तो मित्रता रह सकती है या शत्रुता; उदासीनता तो रह ही नहीं सकती।' यह ऐसी बुद्धिमत्तापूर्ण उक्ति थी जो चीन पर भी चरितार्थ होती थी। चूंकि सीमा के प्रश्न को लेकर हममें और चीन में मनमुटाव हो गया था इसलिए उसी के प्रतीक-स्वरूप हमने कुछ वर्ष पूर्व ही चीन से अपने राजदूत को वापस बुला लिया था और वहाँ के राजदूतावास का प्रभारी एक अवर अधिकारी को बना दिया था; चीन ने भी कुछ वर्ष बाद अपने राजदूत को वापस बुला लिया था। मैं चाहता था कि भारत के राजदूत के रूप में चीन जाऊँ और वहाँ जाकर यह कोशिश करूँ कि यह झगड़ा जो विनाश की ओर जा रहा है किसी प्रकार समाप्त हो जाए। लेकिन प्रधान मंत्री का विचार था कि उस नाजुक समय में किसी राजदूत की नियुक्ति एक ऐसा निर्णय होगा जो हमारे लिए कठिन है क्योंकि भारत में आम चुनाव होने वाले हैं और हम तब तक ऐसी कार्रवाई नहीं कर सकते जब तक कि चीन स्वयं कोई मैत्रीपूर्ण संकेत न दे। चुनाव भी हो गये लेकिन स्थिति वैसी ही रही। दोनों देशों के बीच पत्रव्यवहार होता रहा और गर्मी बदस्तूर बढ़ती गई और परस्पर दोषारोपण ने अंततः यह रूप धारण कर लिया कि बातचीत निरर्थक साबित हो गई और चीनियों ने 1962 के सितंबर में भारत की सीमा पर आक्रमण कर दिया।

ख्रुश्चोव ने एक बार मुझसे कहा था कि सीमा-विषयक झगड़ों में सबसे बड़ा खतरा यह होता है कि दोनों ही देश उसे राष्ट्रीय हित की समस्या न समझ कर

राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की समस्या बना देते हैं चाहे उनसे उनके किसी भौतिक हित का साधन होता हो या न होता हो। ईरान के साथ रूस का ऐसा ही सरहद का झगड़ा था जो सैकड़ों वर्ष तक चलता रहा, लेकिन ख्रुश्चोव ने मुझे बताया कि ज्योंही उनके हाथ में सत्ता आई उन्होंने सबसे पहले उसे निपटाया बल्कि उस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने कुछ ऐसा इलाक़ा भी ईरान को दे दिया जो वास्तव में रूस का ही था। मुझे भी डर था कि हमारा चीन के साथ सरहद का झगड़ा सैकड़ों वर्ष तक नहीं तो बहुत अर्से तक तो चलेगा ही लेकिन इसकी तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि यह विवाद युद्ध का रूप धारण कर लेगा।

मेरे मन में ये विचार उठे थे कि भारत और चीन के बीच कभी युद्ध नहीं होगा या यदि हम कोई ऐसी कार्रवाई करते या चीन को कुछ रिआयत दे देते तो शायद 1962 की दारुण घटनाएँ न घटतीं, लेकिन ऐसा सोचना महज़ मेरी ना-समझी थी। मैं समझता हूँ कि ऐतिहासिक अनिवार्यता भी कोई चीज़ तो है ही चाहे वह मार्क्सवादी अनिवार्यता न हो। पॉल वैलरी ने कहा है कि 'इतिहास एक अत्यंत विकट मनगढ़ंत घटनाक्रम है जो मानव मस्तिष्क ने तैयार किया है। उसके गुण-धर्म सर्वविदित हैं। वह लोगों को स्वप्नों के संसार में पहुँचा देता है, उन्हें मदोन्मत्त कर देता है। उनमें झूठी स्मृतियाँ जगाता है, उनके प्रभावों को बढ़ाकर पेश करता है, पुराने घावों को खुला रखता है, अवकाश के क्षणों में उन्हें सताता है, उनमें अहम्मन्यता या उपद्रव की भावना जगाता है और विभिन्न राष्ट्रों में कटुता, दंभ और अहंकार उत्पन्न करता है।' और यही शब्द वर्तमान चीन पर कितने सही उतरते हैं!

वैसे सेवा-निवृत्त होने के बाद हमारा मुख्यालय ओट्टपालम ही है लेकिन हमारा खासा वक़्त दूसरी जगहों पर गुजरता रहा। मुझे अपने फुफेरे भाइयों से हमेशा बड़ा लगाव रहा है। मैं हफ़्तों भासि के साथ बंगलौर में, सरसू के साथ दिल्ली में और राजन के साथ बंबई में रहा हूँ। ओट्टपालम में भी जब मैं अपने पिता के भतीजे पद्मनाभन और गोविन्दन कुट्टि के साथ रहता हूँ तो मेरे दिन बड़े मज़े में बीतते हैं। हमारे ये रिश्तेदार पचास साल पहले हमारे साथ कोट्टयम में रहा करते थे और जब कभी हमारी माँ पिताजी से छिपाकर हमें कोई पकवान या और चीज़ देती थीं तो ये भाई कभी हमसे न जलते थे। एक और रिश्तेदार जिनके साथ रहने में मुझे मज़ा आता है, मेरे ममेरे भाई दामोदरन हैं जो मुझसे थोड़े बड़े हैं। उन्हें ज़िंदगी में अगर किसी चीज़ का शौक़ रहा है तो वह है संगीत और उसी के पीछे उन्होंने अपनी ज़िन्दगी तबाह करली है। वे कोट्टयम में हमारे साथ ही एक स्कूल में पढ़ते थे और हम उन्हें बिल्कुल निकम्मा समझते थे क्योंकि जहाँ कोई भाँड कहीं आसपास आया और वे पढ़ाई छोड़कर चल दिये उसके पीछे।

आखिरकार गोपि भाई को उन पर तरस आया और उन्होंने सस्य-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण करने उन्हें नागपुर भेज दिया। वहाँ जाकर वे सुधर गये और कुछ ही समय में वे कृषि-निर्देशक के पद पर पहुँच गये। पहले उनकी नियुक्ति मध्य प्रदेश में हुई, फिर केरल में और उसके बाद हैदराबाद में वे इसी पद पर रहे। लेकिन संगीत से उनका पीछा नहीं छूटा और संगीत के मामले में वे किसी की न सुनते थे और बहुत सख्ती करते थे। उनका यह आग्रह था कि परिवार के सभी सदस्य, जिनमें उनके बेटे भी शामिल थे, गाना या बजाना सीखें—चाहे उनकी उस विषय में कोई रुचि हो या न हो। उनकी पतिव्रता पत्नी वीणा-वादन में प्रवीण हैं, उनकी बच्चियाँ जो बड़ी प्यारी हैं गाना और नाचना जानती हैं। उनके घर जाकर मैंने हमेशा यह महसूस किया है कि अपने ही घर आ गया हूँ।

संबंधियों की बात तो और है लेकिन जहाँ तक मित्रों का संबंध है मैं **दिल्ली-चुगंकिंग** में यह स्वीकार कर चुका हूँ कि 'अधिकांश पुरुषों और सभी अनाकर्षक स्त्रियों की संगति में बैठकर मैं बहुत ज़्यादा बोर होता हूँ हालाँकि मैं इसे ज़ाहिर नहीं करता।' अब मेरे लिए नित-नये मित्र बनाते रहना या अपने असंख्य परिचितों को मित्रों की श्रेणी में लाना संभव नहीं है और न ही अब मुझमें इतनी सामर्थ्य है। मैं तो एक पुरानी चीनी कहावत में विश्वास रखता हूँ, 'कपड़े नये अच्छे लेकिन दोस्त पुराने अच्छे।' अब भी जिन मित्रों के साथ बैठकर मुझे अत्यधिक आनंद आता है वे वही हैं जो स्कूल या कॉलिज के जमाने से मेरे साथी रहे हैं और जिनमें से कुछ का उल्लेख मैंने इस पुस्तक में किया है।

बाद में जो मित्र मैंने बनाये उनमें सबसे बूढ़े हैं हामिद अली और उनकी पत्नी। जैसा कि उन्होंने मुझे हाल ही में एक पत्र में लिखा था वे दोनों 160 वर्ष के हैं और इतने सुसंस्कृत और विनम्र हैं कि मुझे संसार में कहीं और ऐसे लोग देखने को नहीं मिले। हम उन्हें भाई जी और आपा के नाम से पुकारते हैं। वे लुप्तप्राय युग के सौम्य अवशेष हैं और रमणीय वार्तालाप या पत्राचार की कला में निपुण हैं। यह कला लुप्त तो नहीं हुई है लेकिन अब धीरे-धीरे लुप्त-सी हो रही है। हमारी दूसरी मित्र जो हमें बड़े सुंदर पत्र लिखती हैं और जिनकी शैली में प्राचीन लालित्य का पुट रहता है, देविका रानी हैं जो भारतीय फ़िल्म अभिनेत्रियों में अग्रगण्य रही हैं। उन्होंने स्वेतोस्लाव रोरिख से शादी की थी जो एक मेधावी चित्रकार हैं। रोरिख मूलत: रूसी हैं लेकिन उन्होंने अपने पिता ही की तरह, जो स्वयं भी एक प्रख्यात दार्शनिक और चित्रकार थे, भारत को अपना घर बना लिया है। उसके भी बाद की हमारी दोस्ती जिसे अभी सिर्फ़ बीस वर्ष हुए हैं गोदावरमा राजा से है जो महाराजा तिरुवांकुर के बहनोई हैं। उनका मस्तिष्क नित-नये विचारों का अक्षय स्रोत है। पर्यटन में उनकी स्वाभाविक रुचि

है, खेलकूद पर वे जान देते हैं जिसके विकास में उनका योगदान अन्यतम है और स्वातंत्र्य-भावना उनकी आत्मा को सदा गरमाये रखती है। गोदावरमा राजा में आज भी एक विद्यार्थी की-सी जिज्ञासा और ज्ञान-पिपासा है और केरल के विद्यार्थियों के वे आराध्य हैं।

उनके भी बाद के मेरे मित्रों में जहाँगीर पटेल ऐसे हैं जिन्हें मैं नहीं भुला सकता। मेरी उनसे पहली भेंट नानकिंग में हुई थी जब वे तीस-पैंतीस वर्ष के थे और बड़े हृष्ट-पुष्ट थे। उस समय तो वे कुँआरे ही थे लेकिन दो-चार वर्ष बाद जब मेरी मुलाक़ात फिर हुई तो मैंने देखा कि उनकी शादी हो चुकी है और वे कुछ घबराये-लजाये से लग रहे हैं। अब वे अपनी सुंदर स्पेनी पत्नी सोफ़ी के साथ बंबई के एक ख़ूबसूरत फ़्लैट में रहते हैं और इस आपाधापी के युग में भी बड़ा शांत और सुखकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनके जीवन की कुल पूँजी कुछ अच्छे मित्र, थोड़ी सी अच्छी किताबें और गिने-चुने सुंदर चित्र हैं—गिने-चुने इसलिए कि जहाँगीर किसी वस्तु की संख्या को इतना महत्त्व नहीं देते जितना उसके गुण को देते हैं। उनके मकान में जाकर मुझे कभी बेगानगी का एहसास नहीं हुआ, मेरे लिए वह हमेशा अपना ही घर रहा है। उनके यहाँ की यह तसवीर मेरी स्मृति में अक्सर रेंगती रहती है कि जहाँगीर शीर्षासन कर रहे हैं और सोफ़ी बड़ी एकाग्रता से घड़ी देख रही हैं। मेरा विचार है कि एक सफल व्यापारी होते हुए भी जो वे संसार को हमेशा विनोदी और हल्के-फुल्के दृष्टिकोण से देखते हैं उसका कारण उनकी यही दैनिक मुद्रा है।

अंग्रेज़ दोस्तों से अब मेरा संपर्क टूट गया है। ओलेफ़ कैरो और हरबर्ट टॉमसन दो ही ऐसे हैं जिनसे मेरी मैत्री अब भी बरक़रार है। कभी-कभी क्राइस्ट चर्च के अपने पुराने ट्यूटरों की भी चिट्ठी मेरे पास आ जाती है जिनमें कीथ फ़ीलिंग और जे० सी० मास्टरमैन साहब हैं। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई जब मास्टर मैन साहब ने कुछ दिन हुए मुझे यह लिखा कि ऑल सोल्स ने आपको फ़ेलो न चुनकर भारी ग़लती की थी।

भारत में मेरे अंग्रेज़ मित्रों में सबसे प्रमुख हैं आर० ई० हॉकिन्स जो ऑक्स-फ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस के मैनेजर हैं। जब तक मेरा उनसे परिचय न हुआ था, मैं यह नहीं जानता था कि लेखक और प्रकाशक के बीच सहयोग का क्या महत्त्व होता है या वह कितना उपयोगी हो सकता है। हम उन्हें स्नेह से 'हॉक' कहते हैं। उनकी रुचि बड़ी परिष्कृत है और उन्होंने मुझे कई शाब्दिक संकटों से बचाया है। अंग्रेज़ी में बहुत से ऐसे शब्द हैं जो आम बोलचाल में प्रयोग में आते हैं किन्तु उन्हें सुसंस्कृत नहीं माना जाता और हॉक ही के परामर्श पर मैंने उन शब्दों का प्रयोग इस पुस्तक में नहीं किया है। यद्यपि मेरी इच्छा तो बहुत थी लेकिन मजबूरन

मैंने उस ऐतिहासिक पत्र का भी प्रयोग नहीं किया जो ऐसे ही अशोभन शब्दों से भरा हुआ था। यह पत्र यूक्रेन के कोसैक्स ने तुर्की के सुल्तान को लिखा था और जिसकी एक प्रति ख्रुश्चोव ने मुझे दी थी और जिसके आधार पर रेपिन नामक चित्रकार ने एक प्रसिद्ध चित्र भी बनाया था। फिर भी मैंने दो-चार ऐसी भारतीय उपमाएँ पुस्तक में रहने दी हैं जिन पर हॉक ने तो नाक-भौं सिकोड़ी थी लेकिन मैंने उनकी बात मानने से इन्कार कर दिया। हॉक अपने अनेक सुसंस्कृत देश-वासियों की तरह नीरस परिहास में विश्वास रखते हैं और उनका आचरण तथा तौर-तरीक़े बहुत ही सीधे और निरभिमान हैं और अत्युक्ति की प्रवृत्ति तो उन्हें छू तक नहीं गई। ऐसी ग़लती शायद उन्होंने एक बार ही की है जब हमारे विवाह की इकतालीसवीं वर्षगाँठ के अवसर पर उन्होंने हमें यह तार भेजा था : **मेरे 'प्रिय लेखक' के लिए बधाई।**

अब तक मेरा जीवन दु:खों और विपत्तियों से मुक्त रहा था, लेकिन अब भाग्य ने मुझे अपना दूसरा रूप भी दिखाया। जब तक मेरे लड़के कुमार का विवाह सति से न हो गया तब तक उसका स्वास्थ्य घर भर के लिए चिन्ता का कारण बना रहा। सति एक सुन्दर और सुशील लड़की है। मेरे बड़े भाई गोपि का, जो मेरे लिए सिर्फ़ एक भाई ही नहीं और भी कुछ थे, देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु पर उनके बीसियों मित्र और सम्बन्धी जिनमें ग़रीब भी थे और अमीर भी, और ऐसे भी थे जिनकी ज़िन्दगी सँवारने में उनका हाथ था, ख़ून के आँसू रोये। अनुजी के भाई का जो इकलौते ही थे, स्वर्गवास हो गया और इन सबसे बढ़कर जो मुसीबत का पहाड़ हम पर टूटा वह यह था कि हमारी सबसे बड़ी लड़की के पति का अचानक हृदय की गति बंद हो जाने के कारण देहान्त हो गया। हमारी सभी बच्चियों के घर बस गये हैं और वे सुखी विवाहित जीवन बिता रही हैं, लेकिन जितनी सुखी अम्मिणी थी उतनी कोई नहीं हो सकती। उसने तो अपने पति के साथ पूर्ण तादात्म्य कर लिया था और वे दोनों शारीरिक दृष्टि से दो होते हुए भी बिल्कुल एक हो गये थे। लेकिन वही पति जो उसका सर्वस्व था जब यों सहसा उसे छोड़ गया तो उसका जीवन अंधकारमय हो गया, उसकी वह दशा देखकर बड़ा दु:ख होता था। लेकिन सौभाग्य की बात कि उन्हीं दिनों हम लौट कर भारत आगये और हमने उसे सांत्वना दी और उसे उस विपदा को झेलने में सहायता की।

अब तो मृत्यु ने मेरे समकालीन साथियों को भी एक-एक करके उठाना शुरू कर दिया है। एक ही सप्ताह में मेरे दो मित्र इस संसार से चल बसे जो 1921 में मेरे साथ ही साथ भारतीय सिविल सेवा में प्रविष्ट हुए थे। इनमें से एक थे एस० एस० पी० अय्यर जो उन्नति करके हाई कोर्ट के जज बन गये थे; बड़े सुन्दर वक्ता

थे और बड़े अच्छे लेखक भी। और दूसरे थे सुकुमार सेन जिन्होंने सूडान सरकार के अधीन एक कार्य इतनी योग्यता और कुशलता से सम्पन्न किया था कि खरतूम में एक सड़क का नाम उन्हीं के नाम पर रख दिया गया है। उन दोनों की मृत्यु दिल्ली के सफ़दरजंग अस्पताल में हुई और जब मुझे उसकी सूचना मिली तो मेरी यह हालत थी कि मृत्यु की नाशकारी दृष्टि खुद मुझ पर भी लगी हुई थी।

मार्च 1963 की बात है कि मैं भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली के मुख्य हाल में 'प्रशासन : कल और आज' पर एक व्याख्यान देने के लिए जा रहा था कि वहाँ के मार्बल फ़र्श पर मेरा पैर फिसल गया, मैं गिरा और मेरे कूल्हे की हड्डी टूट गई। फलस्वरूप मैं चार महीने तक अस्पताल में पड़ा रहा जहाँ एक प्रख्यात शल्यचिकित्सक प्रो० दुराइस्वामी ने एक बड़ा ऑपरेशन किया और मुझे चलने-फिरने योग्य कर दिया। अब मैं बेंत के सहारे चल-फिर तो लेता हूँ लेकिन शरीर में वह शक्ति फिर भी न आ सकी जो हड्डी टूटने के पहले मुझमें थी। इसे विडंबना नहीं तो क्या कहा जाए कि मेरे वही पैर—जिनके सहारे मैंने संसार के सबसे अधिक असभ्य, दुर्गम और वन्य प्रदेशों को पार किया था, जो हिमालय, कराकोरम और पामीर पर्वत से गुज़रते हुए मध्य एशिया तक गये थे, और जिन्होंने मास्को के नौ वर्ष वहाँ की भयंकर सर्दी और बर्फ़बारी में गुज़ारे थे, वही पैर दिल्ली नगर की नज़ाकत को जो इतना सभ्य और उन्नत था बर्दाश्त न कर सके।

मेरी इस घटना पर यह कहावत कितनी सही उतरती है कि 'घमंड का सिर नीचा होता है'! मुझे अपने स्वास्थ्य पर बड़ा गर्व था। मैं समझा करता था कि 65 वर्ष की आयु में भी मैं अपने पुत्रों से अधिक स्वस्थ और चुस्त हूँ जो अभी 40 की लपेट में ही थे। मुझे कमर में और फेफड़ों में कभी-कभी तकलीफ़ रहती थी लेकिन मैं हर साल क्रीमिया और काला सागर तथा अपने रूसी डाक्टरों की बताई हुई खान-पान, तथा कसरत-सम्बन्धी कुछ हिदायतों पर अमल करके अपनी उस बीमारी से मुक्ति पा चुका था। यह कसरत जो मुझे बताई गई थी मैं रोज़ सुबह बड़े नियमित रूप से किया करता था। और कभी-कभी तो रेल में हमारे साथी मुसाफ़िर मुझे वह व्यायाम करते देखकर हँसते भी थे। ओट्टपालम में जब यही चीज़ मैं अपने पोते-नातियों के सामने करता था तो वे भी देखा-देखी वैसा ही करते थे। हँसते-खेलते और आमोद-प्रमोद में मग्न, उन्हीं के साथ मैं ओट्ट-पालम के ग्राम्य क्षेत्र में, धान के खेतों में और नदी के किनारे दूर-दूर तक टहलने भी जाया करता था। लेकिन यह सब कुछ अब मेरे लिए भूली-बिसरी बातें हो गई हैं क्योंकि अब मैं छड़ी के सहारे चलता हूँ और वास्तव में फूंक-फूंक कर क़दम रखता हूँ :

मेरे बहुत से साथी और समकालीन अब गैर-सरकारी क्षेत्र में नौकरी कर रहे हैं और बड़ी लंबी-चौड़ी रक़में वेतन के रूप में कमा रहे हैं। लेकिन मुझे तो इस छोटे से क़स्बे ओट्टपालम का शांतिमय और निस्तब्ध वातावरण ज़्यादा पसंद है जहाँ मैं अपनी इच्छानुसार जो चाहूँ कर सकता हूँ और जो न चाहूँ उससे बचा भी रह सकता हूँ। यहाँ मुझे लिखने-पढ़ने की आज़ादी है, न यहाँ टेलीफ़ोन मेरे लिए बाधक है और न कॉकटेल पार्टियाँ मुझे परेशान करती हैं। यहाँ मैं भारतपुड़ा के दृश्य का आनंद लाभ कर सकता हूँ—यह नदी जो आम तौर पर बड़ी शांत और अविचलित भाव से बहती है लेकिन बारिश के दिनों में जब यह कुपित होती है तो ऐसी उच्छृङ्खल हो जाती है कि अपने किनारे तोड़कर बह निकलती है और जब इसका पारा उतरता है और वर्षा समाप्त हो जाती है तो यह फिर अपने किये-कराये पर लज्जित होकर अपने असली रूप में सिकुड़ जाती है और मुस्कराने लगती है। यहाँ मुझे अपनी मिर्च की बेलें रोज़ कुछ ऊँची और बढ़ती दिखाई देती हैं, छालियों के पेड़ रोज़-बरोज़ ऊँचे होते दीखते हैं और वे नारियल के दरख़्त, जिन पर विगत चालीस वर्ष तक जबकि हम मलाबार से बाहर रहे थे किसी ने ध्यान न दिया था, एक बार ही उर्वरक डालने पर ऐसा लगता है जैसे अब फल देने लगेंगे। और यही वह जगह है जहाँ मुझे हर वक़्त अपने एक या अधिक बच्चे या पोते-नाती का साथ मिल जाता है। मेरे पोते-नातियों की कुल संख्या 17 है और अब तो हमारे परपोते-परनाती भी हो गये हैं।

मैं सोचा करता हूँ कि हमारे पोतों-नातियों का जीवन अपने पूर्वजों से कितना भिन्न होगा। उनके प्रपितामह (मेरे पिता) का जन्म 1850 में ओट्टपालम में हुआ था और प्रमातामह (अनुजी के पिता) का जन्म सात वर्ष बाद यानी ग़दर के वर्ष में वहीं पर हुआ था और उनके दादा-नाना को मलाबार पर टीपू सुल्तान का हमला जो 18वीं सदी के अंत में हुआ था, अच्छी तरह याद था। वास्तव में जो सौ-पचास नायर परिवार इस प्रदेश में आकर बस गये थे उनके परिवार उन तीन-चार परिवारों में से थे जो उस आक्रमण में बच रहे थे, बाक़ी सब या तो इधर-उधर बिखर गये थे या उन्हें मुसलमान बना लिया गया था। ओट्टपालम की सीमा पर एक स्थान है जिसका नाम बंगलो हिल है जहाँ टीपू सुल्तान ने एक बंगला बनवाया था जहाँ वह मलाबार-आक्रमण के दौरान कुछ दिन तक रहा था। वह पहाड़ी जहाँ से इठलाती-बल खाती भारतपुड़ा नदी का, पालघाट गार्ज का और पश्चिमी घाटों की पर्वत-श्रेणी का बड़ा ही मनोरम दृश्य दिखाई देता है, अब हमारी ही सम्पत्ति है।

टीपू सुल्तान के हमले के बाद के सौ-डेढ़ सौ वर्ष की अवधि में केरल के दूसरे शहरों में तो भारी परिवर्तन हुए लेकिन ओट्टपालम वैसा ही रहा। वहाँ अगर कुछ

तब्दीली आई भी तो बहुत मामूली-सी। लेकिन परिवर्तन तो अवश्यंभावी है, वह तो आकर रहता है चाहे थोड़ा हो या बहुत, देर से आए या सवेर से। वहाँ पिछले कुछ वर्षों में जो संस्थाएँ उभर कर आई हैं उनमें ये हैं: एक कॉलेज, एक कॉन्वेण्ट, एक माचिस फ़ैक्टरी, एक मिशन अस्पताल, बिजली जो अक्सर ग़ायब हो जाती है, पानी-सप्लाई जो अब तक घरों में नहीं पहुँची है, एक क्लालब, एक महिलालय, एन० ई० एस० ब्लाक, एक लायंस क्लब और कम्युनिस्ट पार्टी की एक शाखा भी जिसके किसी सदस्य ने एक सम्मानित कांग्रेसी सदस्य को विधान सभा के चुनावों के दौरान मारा-पीटा था। इन परिवर्तनों से हमें आशा तो बँधती है लेकिन साथ ही भय भी बढ़ता है क्योंकि अन्य स्थानों का हमारा यही अनुभव है कि जब परिवर्तन केवल परिवर्तन के लिए ही लाया जाता है तो उसका क्या दुष्परिणाम निकलता है। लेकिन यह भी सच है कि अगर परिवर्तन आने ही न दिया जाए तो वह भी उतना ही विनाशकारी सिद्ध होता है। हम सिवाय इसके क्या कर सकते हैं कि होने वाले परिवर्तन पर नज़र रखें और यदि सम्भव हो तो उसकी गति और दिशा-निर्धारण में भी दिलचस्पी लें ताकि हमारे बच्चे और बच्चों के बच्चे अधिक सुखमय जीवन बिता सकें। सुखमय जीवन में तो भीड़ और उत्तेजना भी होती है लेकिन वह उतना न तो भरा-पूरा होता है और न ही उतना शांत और सौम्य क्योंकि उसमें इतनी आपाधापी और खींचतान रहती है कि मनुष्य को अवकाश नहीं मिलता।

अरस्तू ने एक बार काम, खेल और अवकाश में अंतर बताया था। काम की परिभाषा तो उन्होंने यह की थी कि वह तो इन्सान किसी अन्य उद्देश्य के लिए करता है, खेल काम की ही प्रतिक्रिया होती है, और अवकाश को उन्होंने इन दोनों से उच्चतर तथा भव्यतर माना था क्योंकि इसके दौरान मनुष्य अपने समय का जो उपयोग करता है उसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता।

मेरे अनेक समकालीनों ने चाहे वे ब्रिटिश हों या भारतीय मुझसे अधिक काम करके तथा मेरे मुक़ाबिले में ज्यादा खेलकर नाम कमाया है और उनमें कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने आराम भी मुझसे अधिक उठाया है और ठीक उसी तरह उठाया है जैसा कि अरस्तू ने बताया था। लेकिन मैं भी जब अपने बीते हुए दिनों पर दृष्टिपात करता हूँ तो उनमें भी मेरे वही अवकाश के क्षण प्रमुख दिखाई देते हैं। मैंने भी फ़ुर्सत और अवकाश को बड़ा महत्त्व दिया है। स्कूली विद्यार्थी के रूप में मैंने अपने अवकाश के क्षणों में अपनी भाभियों को कविता में पत्र लिखे थे। ऑक्सफ़ोर्ड में पढ़ते समय जो अवकाश मुझे मिलता था वह मैंने स्किडा, हेलविलिन और बेन लोमोंड की पहाड़ियों पर चढ़कर घूमने-फिरने में बिताया था। पूर्व अफ्रीका में भारतवासियों की स्थिति की जांच-पड़ताल से जो फ़ुर्सत मुझे मिलती थी उसमें मैं

विक्टोरिया झील में नावें चलाकर आनंद उठाता था और रिफ़्ट घाटी तथा सेरेंगेटी मैदानों में कार में घूमता था। श्रीलंका में मुझे जब भी अवकाश मिलता, मैं बैलगाड़ी में बैठकर कटरगाम के प्राचीन मंदिर में जाया करता था और रात के समय एडम शिखर पर चढ़कर उसे सूर्योदय के समय देखा करता था। उस समय वह शिखर ऐसा लगता था जैसे एक भीमकाय राक्षस मैदानों पर अपनी विशाल छाया डाल रहा है। जब दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान मुझे अवकाश मिला था तो मैं प्राचीन तीर्थयात्रियों के मार्ग पर कहीं पैदल और कहीं घोड़े या टट्टू पर सवार होकर भारत से चीन गया था, अपनी उस ऐतिहासिक यात्रा के दौरान मैंने स्त्री-पुरुषों के सौंदर्य और उनकी विलक्षणताएँ देखीं और प्रकृति की गरिमा और उच्छृङ्खलता का अवलोकन किया और उस अनुभव को लिखता रहा। मास्को में अपनी राजनयिक व्यस्तता और क्रियाकलाप से मिले अवकाश के क्षणों को मैंने वोलगा में जल-यात्रा में बिताया या आर्मीनिया, साइबेरिया, कैस्पियन सागर के किनारे स्थित बाकू या आर्कटिक सागर के तट पर स्थित मुरमांस्क जाकर बिताया था। जब कभी किसी समारोह से या किसी व्यर्थ की कॉकटेल पार्टी से दिल उकताता या उलझन होती तब भी मैं सोकोलनिकी पार्क या सेरेब्रेनी बोर की खोहों में चला जाता था जहाँ या तो मैं टहलता रहता था, या फिर किसी झाड़ी के साये में बैठकर आसपास का दृश्य निहारा करता था। अनुजी की अवकाश की घड़ियाँ ईश्वर के ध्यान में बीतती थीं, वे सुबह-शाम चाहे कोई काम हो या न हो, चाहे घर में हों या बाहर ध्यानादि में बिताया करती थीं। सिविल सेवकों, प्रशासकों और राजनयिकों तथा ओट्टपालम के पेंशनरों की भावी पीढ़ियों को निश्चय ही काम तथा खेल के लिए अधिक समय भी मिलेगा और सुविधाएँ भी, लेकिन अवकाश शायद कम ही मिलेगा।

उपसंहार

००

मैंने 1964 में यह पुस्तक समाप्त की और इसे मूल प्रकाशक (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) को सौंप दिया। उसके बाद साथ में एक पत्नी और एक छड़ी लेकर में विश्व-भ्रमण के लिए चल दिया। पत्नी की ही भाँति छड़ी भी मेरा एक अभिन्न अंग बन गई है क्योंकि जबसे मेरी टाँग टूटी है मेरा छड़ी के बिना चलना सम्भव नहीं रहा। यह हमारा सौभाग्य था कि हमारे बच्चे संसार के ऐसे प्रमुख स्थानों में थे जहाँ हमें जाना था : कुंजा न्यूयार्क में थी, मालिनी सान फ्रांसिस्को में और हमारी पोती भारती जेनेवा में थी। अपनी उस यात्रा में हमने अधिकांश समय अमरीका में ही बिताया, इसलिए नहीं कि हमारी पुत्रियाँ वहाँ थीं बल्कि उसका कारण यह था कि पहले जब कभी मैं वहाँ गया सरकारी काम से गया और मुझे वहाँ ठहरने के लिए बहुत कम समय मिला था, दूसरे अनुजी पहले कभी अमरीका गई ही न थीं।

अमरीका में उस समय राष्ट्रपति के चुनाव की धूम थी। चुनाव में वहाँ जो हंगामा होता है उस पर तभी विश्वास किया जा सकता है जबकि आप उसे देखें। एडलाइ स्टीवेंसन ने कहा था, 'अमरीकी चुनाव की सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि इसे जीतने के लिए आपको यह सिद्ध करना आवश्यक नहीं है कि आप उसे जीतने के योग्य थे भी या नहीं।'

गोल्ड वाटर जैसे घोर प्रतिक्रियावादी व्यक्ति के रिपब्लिकन उम्मीदवार के रूप में नामन से सर्वत्र बड़ी चिंता थी, लेकिन जब उनके प्रतिद्वन्द्वी डेमोक्रेटिक नेता लिंडन जॉनसन ने उन्हें परास्त कर दिया तो जनता को संतोष हुआ। परंतु वियतनाम के सम्बन्ध में जॉनसन ने जो नीति अपनाई उसे देखकर लोगों ने सोचा कि शायद रिपब्लिकन और डेमोक्रेटों में उतना ही अन्तर होगा जितना साँप-नाथ और नागनाथ में।

अमरीका के अलावा जिन स्थानों को हम पहली बार या दूसरी बार गये वे थे--थाइलैंड, हांगकांग, जापान, हवाई, मैक्सिको, लंदन, जर्मनी, स्विट्ज़रलैंड और यूगोस्लाविया। और अपनी यात्रा के अंत में हम एक मास के लिए सोवियत संघ भी गये जहाँ हम अधिकतर निज़नाया एरिआंडा में रहे जो क्रीमिया का एक बड़ा सुन्दर स्वास्थ्य-स्थल है।

वापसी में हमने एक मास अपने पुत्र के साथ इस्लामाबाद में बिताया जहाँ वह हमारे हाइ कमीशन में काउंसलर था। मैं पेशावर के आसपास उन पुराने स्थानों पर भी गया जहाँ हमने अपने जीवन के कुछ सुखदतम वर्ष बिताये थे। लेकिन यह उस ज़माने की बात है जब भारत का विभाजन नहीं हुआ था और पाकिस्तान मुहम्मद अली जिन्ना के शब्दों में 'एक आलसी स्कूली लड़के का स्वप्न मात्र' था। हमें अपने पुराने मित्रों से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई; उनमें तब भी वही स्नेह, मैत्री भाव और निष्ठा मौजूद थी जो पहले रही थी। लेकिन दुर्भाग्य से कुछ ही मित्र हमें मिल सके क्योंकि पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत से आने के बाद इन तीस वर्षों में हमारे अनेक मित्रों की मृत्यु हो चुकी थी। यह अनुभव करके भी हमें प्रसन्नता हुई कि पाकिस्तान के सामान्य नागरिक के मन में भारतीयों के प्रति कोई कटुता नहीं है, बल्कि कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें आज भी अपनी जन्मभूमि की याद सताती है।

वहाँ मैंने महसूस किया कि भारत का विभाजन कितने कृत्रिम ढंग से हुआ है। लेकिन पाकिस्तान के सरकार-नियंत्रित समाचारपत्रों को पढ़ने से यह लगता था कि विभाजन की यही कृत्रिमता उस सरकार के भारत के प्रति द्वेषभाव को जारी रखेगी क्योंकि भारत-विरोध ही एक ऐसा भाव है जिस पर एक ऐसे देश की बुनियाद रखी जा सकती है जिसकी सत्ता भारत से सर्वथा भिन्न हो। 1953 में स्तालिन ने मुझसे कहा था, 'धर्म के आधार पर किसी राज्य की स्थापना करने का विचार कितना दक़ियानूसी है।' चाहे पाकिस्तान इस मत को माने या न माने कि उसकी स्थापना दक़ियानूसी विचार पर आधारित है लेकिन वह भी यह तो अनुभव कर ही रहा है कि उसकी सत्ता प्रभावहीन सिद्ध हुई है क्योंकि समानधर्मी होने के बावजूद पूर्व पाकिस्तान इस बात के लिए तैयार नहीं है कि पश्चिम पाकिस्तान का उस पर आधिपत्य स्थापित हो जाए या उसकी विशिष्ट बंगला संस्कृति को नष्ट कर दिया जाए। पूर्व पाकिस्तानी इसके बावजूद कि पाकिस्तान रेडियो ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों पर प्रतिबंध लगा दिया है—अपनी बंगला-संस्कृति पर गर्व करते हैं। इसलिए पाकिस्तान के सामने यह खतरा हमेशा मँडराता रहेगा और पूर्व पाकिस्तान रूपी भेड़िया—जो हर समय उसे खा जाने के लिए तैयार है—सदा उसके दरवाज़े के बाहर खड़ा रहेगा। केवल कुछ विक्षिप्त भारतवासियों को छोड़कर शेष सभी यह मानते हैं कि पाकिस्तान का अस्तित्व अब एक निर्विवाद सत्य बन चुका है और उसको समाप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अब तो केवल यह आशा की जा सकती है कि भारत के सात करोड़ निवासियों का जीवन सुनिश्चित बनाने के लिए दोनों देश एक-दूसरे के निकट आयें और हम बजाय इसके कि एक-दूसरे से अपनी रक्षा के

लिए व्यर्थ का खर्च बढ़ायें, दोनों मिलकर यह प्रयत्न करें कि हमारे जीवन-स्तर ऊँचे हों। जहाँ तक चीन का सम्बन्ध है, ऐसा लगता है कि उसने तो इस प्रकार के हितकर विकास को रोकने का निश्चय कर लिया है और पाकिस्तान को अपना मित्र बना लिया है इसलिए नहीं कि उन दोनों में कोई साम्य है बल्कि जैसा कि जवाहर लाल नेहरू ने कहा है 'पाकिस्तान चीन के शत्रु का शत्रु है इसलिए चीन का मित्र बन गया है'।

सेवा-निवृत्ति के बाद के जीवन की जो कल्पना मैंने की थी—कि एक ग्रामीण वातावरण में सुख-शांति से रहूँगा—वह साकार न हो सकी। मैंने यह फ़ैसला कर लिया था कि निवृत्ति के बाद कोई नौकरी नहीं करूँगा और मैं उस फ़ैसले पर अब तक क़ायम भी रहा हूँ। लेकिन फिर भी मैंने कई अवैतनिक कार्य स्वीकार कर लिये हैं। मैंने ये काम ले तो लिये लेकिन अक्सर उन पर मुझे हँसी भी आती है और अपनी धृष्टता पर आश्चर्य भी होता है। गणित के नाम से मुझे हमेशा कँपकँपी छूटती थी, और सांख्यिकी तो मुझे एक आँख न भाई, लेकिन फिर भी मैं भारतीय सांख्यिकी संस्थान का अध्यक्ष बना हुआ हूँ। रूसी भाषा में यदि मुझे चार-छह वाक्य बोलने पड़ें तो उनमें व्याकरण या मुहावरे की दो-चार भद्दी भूलें ज़रूर होंगी, लेकिन इसके बावजूद मैं भारतीय रूसी भाषा संस्थान का अध्यक्ष हूँ। भैरवी और कल्याणी रागों में क्या भेद है मैं नहीं जानता, लेकिन फिर भी मैं संगीत-नाटक अकादेमी का उपाध्यक्ष हूँ जिसकी अध्यक्ष प्रधान मंत्री हैं। मैंने अपनी नातिन अम्मु से, जो ग्यारह वर्ष की है, कम ही फ़िल्में देखी होंगी, लेकिन केन्द्रीय फ़िल्म-पुरस्कार-बोर्ड का मैं अध्यक्ष हूँ।

शायद एक ही काम ऐसा है जो मैंने ले लिया है और जिसके लिए कुछ योग्यता रखने का मैं दावा कर सकता हूँ और वह है भारत-रूसी सांस्कृतिक संस्था की अध्यक्षता। उस हैसियत में मैं वह कार्य संपन्न कर सकता हूँ जिसमें मेरी सेवा-काल के अंतिम नौ वर्ष व्यतीत हुए थे। मैं भारत में सोवियत राजदूतावास और कांसुलावासों तथा सांस्कृतिक केन्द्रों से निकट संपर्क रखता हूँ। लेकिन मैं यह सावधानी बरतता हूँ कि नई दिल्ली के उत्तेजक राजनयिक जीवन से यथासंभव बचा रहूँ और केवल उतने ही विदेशी राजनयिकों से मेलजोल रखूँ जितनों से संबंध रखना मेरे लिए संभव है। अब उस आलस्यपूर्ण सामाजिक जीवन की मुझे बिल्कुल इच्छा नहीं है जो राजनयिक जीवन के लिए घातक होता है। एक कॉकटेल पार्टी से दूसरी में जाना, जो बिल्कुल पहली जैसी ही है, या हर सप्ताह और कभी-कभी रोज़ प्रायः एक ही प्रकार के लोगों से मिलना मेरे लिए शारीरिक दृष्टि से भी बड़ा कष्टकर था। आजकल कहा जाता है कि राजनयिक चाहे दिमाग़ का कुछ कमज़ोर क्यों न हो लेकिन पैरों का मज़बूत होना चाहिए, लेकिन

जब से मेरी टाँग ज़ख्मी हुई है मैं इस शर्त पर भी पूरा नहीं उतरता। ऐसे लोगों के लिए जो मुझसे भी अधिक भावुक हैं निस्सार सामाजिक जीवन भी एक प्रकार की आध्यात्मिक यातना है। डैग हैमरशल्ड ने अपनी पुस्तक **मार्किग्स** में कहा है, 'मिलनसार होना या केवल इसलिए बातें करना क्योंकि चुप रहना हमारी परंपरा के प्रतिकूल है, एक-दूसरे के कंधे से कंधा रगड़ना ताकि दूसरों को यह भ्रम हो कि हममें बहुत अधिक निकटता और मित्रता है.........अपने को भ्रांत करना जैसे अपने आध्यात्मिक स्रोतों का किसी भी प्रकार दुरुपयोग करना... ... यह सब एक प्रकार की आध्यात्मिक मृत्यु ही है।'

मैं भारत-रूसी सांस्कृतिक संस्था के अध्यक्ष की हैसियत से सेवा-निवृत्ति के बाद भी, कई बार सोवियत संघ गया हूँ और वहाँ जाकर मैंने अपने पुराने मित्रों से दुबारा संपर्क बढ़ाया और साथ ही अपने फेफड़ों को दुबारा शक्ति दी जो कई बार के निमूनिया-प्रहार के कारण कमज़ोर हो गये थे। क्रीमिया में रहकर मैंने स्वास्थ्य-लाभ किया क्योंकि वहाँ की जलवायु संसार के अन्य स्थानों की तुलना में सबसे अधिक स्वास्थ्यकर है।

हर बार जब मैं सोवियत संघ गया मैंने यह देखा कि वह देश सतत गति से और बड़ी दृढ़ता के साथ आगे बढ़ रहा है। इस सदी के आरंभ में—जब लेनिन निर्वासित थे—उन्होंने रूस के बारे में कहा था, 'आज रूस बहुत दरिद्र और कमज़ोर है, लेकिन वह दिन दूर नहीं जब यही देश शक्तिशाली और समृद्ध बनेगा।' दूसरे महायुद्ध से यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि रूस क्रांति के बाद के तीस वर्षों में ही एक बहुत शक्तिशाली देश बन चुका है और ज्यों-ज्यों समय बीत रहा है वह समृद्ध भी बनता जा रहा है।

1952 में जब मैं मास्को गया था तब भी रूस की शक्ति असंदिग्ध थी, युद्ध से हुई अपार क्षति के बाद उसने न केवल एक महान शक्ति के रूप में अपना पुनर्निर्माण किया था बल्कि वह संसार के दो अति शक्तिशाली देशों में से एक बन गया था। लेकिन उस समय वह समृद्ध देश नहीं था। खाने की दूकानों के सामने तब भी लंबी लाइनें लगा करती थीं। ऐश्वर्य की सामग्री तो वहाँ नाम को न थीं, यहाँ तक कि जीवन की आवश्यक वस्तुएँ भी आसानी से नहीं मिल पाती थी। मकानों की तो वहाँ ऐसी कमी थी कि कभी-कभी तलाक़शुदा पति-पत्नी को एक ही कमरे में रहना पड़ता था। उस ज़माने में पुरुष-स्त्रियाँ सभी भद्दे वस्त्र पहनते थे। मास्को में अमरीकी राजदूत की पत्नी श्रीमती कर्क ने अपने यहाँ राष्ट्र दिवस-पार्टी में आमंत्रित रूसी अतिथियों के बारे में बड़े ही अभद्र ढंग से कहा था 'वे तो सबके-सब बड़े ही फूहड़ हैं।' और फिर अपनी पुत्री को लिखे एक पत्र में जो प्रकाशित भी हो गया था, उन्होंने कहा था कि रूस के उप विदेश मंत्री की पत्नी

जिन्होंने उन्हें चाय पर बुलाया था 'एक ऐसी ग्रामीण स्त्री के-से वस्त्र पहने हुए थी जो अपने पुत्र के विवाह में भाग लेने के लिए आई हो। उनका हैट बहुत ही भद्दा था जिसमें उन्होंने बड़े-बड़े गुलाब के फूल और रिबन-बो सजा रखे थे।'

लेकिन आज स्थिति बदल चुकी है और दंभी-से-दंभी व्यक्ति भी ऐसी बात नहीं कह सकता। एक समय था जब समाजवादी राज्य के बारे में प्रो॰ गॉलब्रेथ की यह उक्ति सोवियत संघ पर चरितार्थ होती थी कि वह ऐसा राज्य है जहाँ सार्वजनिक रूप से तो चमक-दमक होती है लेकिन लोगों के निजी जीवन में सब तरफ़ गंदगी ही गंदगी दिखाई देती है, इसके विपरीत एक संपन्न राज्य में—चाहे वह सार्वजनिक रूप से कितना ही गंदा हो—वहाँ लोगों के निजी जीवन में तड़क-भड़क पाई जाती है। आज भी सोवियत नागरिकों के निजी जीवन में तड़क-भड़क—यदि उससे अभिप्राय उपभोक्ता-वस्तुओं की भरमार है—नाम मात्र को भी नहीं पाई जाती है। किन्तु अब वहाँ वस्तुओं की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, उन वस्तुओं की जिनके संबंध में जॉन रस्किन के ये शब्द—जो गाँधीजी को भी बहुत पसंद थे—विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, भलमनसाहत के साथ उपयोग की जाने वाली (वस्तुएँ)।

7 नवम्बर, 1967 को मैंने देखा कि श्रीमती इंदिरा गाँधी रूस के प्रधान मंत्री कोसिगिन के साथ रेड स्क्वेयर में खड़ी महान् सैनिक परेड और नागरिकों का विराट जुलूस देख रही हैं। अक्तूबर क्रांति की स्वर्ण जयंती के अवसर पर उन्हें आमंत्रित किया गया था और एक ग़ैर-साम्यवादी सरकार की शायद वही अकेली शासनाध्यक्ष थीं जो वहाँ उपस्थित थीं। उनका वहाँ आमंत्रित किया जाना भारत और सोवियत संघ की गहरी मित्रता का प्रतीक था। लेकिन बाद में जब सोवियत संघ ने पाकिस्तान के साथ अपनी मित्रता बढ़ाई और उसके हाथों शस्त्र बेचे तो हमारे इन संबंधों में कुछ दरार पड़ गई। सोवियत संघ की नीति में यह परिवर्तन क्यों आया—इसके कारण स्पष्ट हैं। सोवियत संघ चाहता है कि पाकिस्तान को पाश्चात्य शक्तियों के प्रभाव से बचाए—उसे केन्द्रीय संधि-संगठन (CENTO) और दक्षिण पूर्व एशिया संधि-संगठन (SEATO) जैसे राजनीतिक सैनिक गठबंधनों से तथा विशेष रूप से चीन से बचाए जो सोवियत संघ के प्रति उत्तरोत्तर आक्रामक दृष्टिकोण अपना रहा है। लेकिन जब सोवियत संघ जैसे महान् मित्र ने पाकिस्तान की सैनिक शक्ति बढ़ानी शुरू की तो उस पर भारत का दुःखी होना उचित ही था। क्या वह भूल सकता है कि पाकिस्तान ने उन हथियारों का क्या इस्तेमाल किया था जो उसने अमरीका से यह स्पष्ट आश्वासन देकर प्राप्त किये थे कि वह उनका प्रयोग भारत के विरुद्ध नहीं करेगा? तत्कालीन राष्ट्रपति अय्यूब ने कहा था, "आखिर भारत वाले क्या समझते थे,

क्या वे यह चाहते थे कि मैं इन हथियारों को रूई में लपेट कर रख लेता ?' लेकिन इसके बावजूद मुझे विश्वास है कि अमरीका के मुक़ाबिले में---जिसने हमारी प्रादेशिक एकता जैसे महत्त्वपूर्ण मामलों में कभी हमसे सहमति प्रकट नहीं की और उससे भी बढ़कर चीन के मुक़ाबिले में जो खुल्लम-खुल्ला भारत का शत्रु है—यदि पाकिस्तान में सोवियत संघ का प्रभाव बढ़ता है तो वह आगे चलकर हमारे लिए हितकर ही सिद्ध होगा और हमारे विपदग्रस्त उपमहाद्वीप में शांति स्थापित करने में सहायक भी।

यद्यपि सेवा-निवृत्ति के बाद मुझे केरल में ही जम जाना चाहिए था, लेकिन मेरा अधिकांश समय दिल्ली में गुज़रता है। मैं विगत पैंतीस वर्ष से दिल्ली आता-जाता रहा हूँ लेकिन यहाँ का वातावरण इतना उत्तेजक कभी नहीं था जितना अगस्त, 1969 में रहा। दिल्ली—और दिल्ली ही नहीं समूचा भारत—एक अपूर्व राजनीतिक संकट में घिर गया था जिससे श्रीमती गाँधी न केवल सही-सलामत उबर आईं बल्कि उन्हें उस पर विजय भी प्राप्त हुई। विभिन्न दलों में जो रस्साकशी चल रही थी उसमें ग्रंततः प्रधान मंत्री के रूप में उन्होंने अपनी दृढ़ता का परिचय दिया। उन्होंने अपने एक वरिष्ठ साथी—श्री मोरारजी देसाई—को मंत्रिमंडल से हटा दिया जो वित्त मंत्री थे और जिनका विभिन्न आर्थिक नीतियों पर प्रधान मंत्री से मतभेद था। उन्होंने भारत के बड़े-बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण भी किया जो एक ऐसा क़दम है जिसे यदि ठीक ढंग से कार्यान्वित किया जाए तो वह उनके पिता के लक्ष्य---समाजवादी पद्धति के समाज की स्थापना---की राह का एक संगमील सिद्ध होगा। उन्होंने कई दाँव ऐसे चले जिनसे श्री वराह गिरि वेंकट गिरि का राष्ट्रपति के रूप में चुनाव सहज हो गया। श्री गिरि का जीवन श्रमिकों के नेतृत्व में बीता है। इस संकट के दौरान श्रीमती गाँधी ने यह दिखा दिया कि वे अपने पुरुष साथियों से कहीं बढ़कर हैं। प्रो० ए० सी० ब्रैडले* ने शेक्सपियर के नाटकों में नायकों और नायिकाओं का आधारभूत ग्रंतर स्पष्ट किया है : पुरुष चिंतन करता है और स्त्री उसे कार्य-रूप देती है। श्रीमती गाँधी ने यह बता दिया है कि वे न केवल विचार करतीं हैं बल्कि उसे कार्य-रूप भी दे सकती हैं। उन्होंने अपने विरोधियों के साथ संघर्ष में जो-जो कार्रवाई की वह ऊपर से जल्दबाज़ी से प्रेरित लगते हुए भी उनकी सोची-समझी युक्तियों का एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत करती है। उनके कुछ साथी, जो उनकी शक्ति का ठीक अनुमान नहीं लगा सके थे और जो यह समझते हुए उनका

* अंग्रेज़ी के प्रख्यात आलोचक एंड्रयू सेसिल ब्रैडले (1851—1935)।

साथ छोड़ने का विचार कर रहे थे कि विरोधी पक्ष उनसे अधिक प्रबल है, अब यह महसूस कर रहे होंगे कि :

घृणा में बदले प्यार-सा कोई क्रोध नहीं
तिरस्कृत नारी के क्षोभ-सा कोई क्षोभ नहीं

मेरे कुछ काम ऐसे हैं जिनके कारण मुझे दूर-दूर की यात्रा करनी पड़ती है और अनुजी सामान्यत: मेरे साथ रहती हैं। और इसके बावजूद कि उन्हें शिकायत है कि बार-बार उन्हें ओट्टपालम में अपना उद्यान और पोतों-नातियों को छोड़कर मेरे साथ जाना पड़ता है, वे मुझे अकेले यात्रा भी नहीं करने देती क्योंकि मेरी टांग ज़ख्मी हो चुकी है।

जब अनुजी ने मुझसे पूछा कि आखिर हमारी सेवा-निवृत्ति का फ़ायदा क्या हुआ जब हम केरल में नहीं रह सकते, तो मैंने उन्हें उत्तर दिया, 'क्या केरल भी कोई रहने की जगह है ?' और आजकल तो यह भी कहा जा सकता है कि क्या भारत—या भारत ही क्या—संसार भी कोई रहने की जगह है? जैसा कि मैं अक्सर कह चुका हूँ, केरल भारत और विश्व का ही एक लघु रूप है। सभी प्रकार के कष्ट, तनाव और असंतोष के भाव, सभी प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक और सैद्धांतिक मतभेद, जो निर्दयता से भरी इस शताब्दी के विशेष लक्षण हैं, अपने लघु रूप में केरल में विद्यमान हैं।

जब यूरोप भर में फ्रांस का दबदबा था तब यह कहा जाता था कि यदि फ्रांस को छींक आती है तो यूरोप को जुकाम हो जाता है। द गाल के समय भी—जब वे फ्रांस का वैभव पुन:स्थापित करने के लिए सचेष्ट थे—यही कहा जा सकता था कि जब द गाल छींकते हैं तो यूरोप के अन्य राजमर्मज्ञों को ज़ुकाम हो जाता है या यों कहिये कि उनके पैरों तले की ज़मीन सरक जाती है। भारत की राजनीति में केरल की भी ठीक यही स्थिति है। अंतर केवल इतना हैं कि केरल को ज़ुकाम नहीं,बुख़ार है और ऐसा कोई समय नहीं जब उसका (राजनीतिक) तापक्रम कम हो जाता हो।

इस तापक्रम पर जो लगातार बना रहता है इसलिए भी ग़ुस्सा आता है कि कोई अब तक रोग का सही निदान नहीं कर पाया। यह बीमारी सामाजिक है या राजनीतिक, साम्प्रदायिक है या सैद्धांतिक—यह कोई नहीं जान पाया। केरल में जितने राजनीतिक दल हैं शायद ही किसी और राज्य में होंगे। वहाँ के मतदाताओं को राजनीति में जितनी दिलचस्पी है शायद ही देश के किसी अन्य भाग में रहती हो और इसका कारण यह है कि केरल में साक्षरों की संख्या भारत

के अन्य राज्यों की तुलना में सबसे अधिक है। देश के किसी अन्य भाग में इतने अखबार नहीं हैं जितने केरल में। मेरे जन्म-स्थान कोट्टयम की ही मिसाल लीजिए : मेरे बचपन में वहाँ सिर्फ़ एक साप्ताहिक पत्र **मलयाल मनोरमा** था जबकि आज वहाँ से छह दैनिक समाचार पत्र निकलते हैं। केरल में राजनीतिक पार्टियाँ बहुत हैं जिनमें से कुछ तो ऐसी हैं जो साम्प्रदायिक संगठन हैं किन्तु जिन्होंने राजनीतिक आवरण धारण कर लिया है। जहाँ तक कांग्रेस का प्रश्न है उसके अंदर भी कई गुट हैं और अब तो उसमें भी एक और पार्टी बन गई है जो अपने को 'केरल कांग्रेस' कहती है। वहाँ के चार प्रमुख संप्रदाय हैं—नायर, मोप्ले, ईसाई और एज़वे, जिनमें परस्पर घोर शत्रुता है। इसके अलावा व्यक्तिवाद भी वहां आम है। एक बार नेहरूजी ने केरल की जनता से कहा था, 'आप लोग बौद्धिक अराजकतावादी हैं।'

इस कोढ़ पर एक खाज—सिद्धांत-अतिरेक—भी निकल आई है। लगभग सभी प्रकार के विशेषकर वामपक्षी सिद्धांतों ने केरल में जड़ें जमा ली हैं। साम्यवाद की सभी क़िस्में वहाँ मौजूद हैं—जैसे हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी (C. P. I.) जो सोवियत संघ द्वारा समर्थित साम्यवाद की ओर प्रवृत्त है, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (C. P. M.) जिसका झुकाव चीन की ओर है। और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी में भी एक उग्रपंथ वह है जो 'हिंसा परमोधर्म' मानकर चलता है और वे हैं नक्सलवादी।

इस प्रकार के विभिन्न तत्त्वों में से ही ई० एम० एस० नंबूद्रीपाद ने—जो बड़े योग्य और सूझबूझ वाले व्यक्ति हैं—सात दलों की सरकार बनाई थी जिनमें आपस में यदि कोई मतैक्य है तो केवल इस बात पर कि कांग्रेस को सरकार में न आने दिया जाए। उस सरकार का अब तख़्ता पलटा जा चुका है, आश्चर्य तो यह है कि ऐसा पहले ही क्यों न हो सका।

मैं अक्सर सोचा करता हूँ कि श्री नंबूद्रीपाद आख़िर एक ऐसी सरकार के अध्यक्ष बने रहना कैसे पसंद करते हैं जिसके सदस्यों का—मंत्रि-मंडलीय पद्धति के सभी सिद्धान्तों के प्रतिकूल—न केवल खुले आम एक-दूसरे से मतभेद रहता है बल्कि जो एक-दूसरे को भद्दी-से-भद्दी गालियाँ भी दे लेते हैं ? इसका कारण शायद यह हो कि श्री नंबूद्रीपाद एक उच्च कोटि के कार्यकुशल नेता हैं जो यह समझते हैं कि तब तक तो अपने साथियों के साथ निबाह करना ही चाहिए जब तक कि उनसे पीछा नहीं छूटता। लेनिन ने एक बार कहा था, 'सत्ता प्राप्त करने के लिए 'समझौता' एक आवश्यक शर्त है। आपको अपने शत्रुओं से ऐसा समझौता करना चाहिए कि उनके साथ रहने लगें और तब तक रहते रहें जब तक कि उन्हें नष्ट करने का उपयुक्त समय न आ जाए।' ई० एम० एस० लेनिन के सच्चे

अनुयायी हैं।

कुछ ही दिन हुए ई० एम० एस० नंबूद्रीपाद ने मलापुरम नामक एक अलग ज़िला जहाँ मुसलमान बहुमत में हों बनाने की मुस्लिम लीग की माँग स्वीकार कर ली। उन्होंने अपने इस निर्णय को यह कह कर न्यायोचित ठहराया कि प्रशासन की दृष्टि से ऐसा करना उनके लिए लाभकर है। लॉर्ड कर्ज़न ने बंगाल का विभाजन करते समय भी यही तर्क दिया था। इन दोनों मामलों के पीछे 'फूट डालो और राज्य करो' सिद्धान्त का अनुकरण करके मुसलमानों को खुश रखने की इच्छा ही मूल प्रेरणा रही है। यह तो हमारा सौभाग्य है कि मलाबार के मोपले इतने सजग हैं और साथ ही इतने भले हैं कि उनसे यह आशा नहीं है कि वे मलापुरम को मोपलस्तान बनने देंगे।

इसमें कोई शक नहीं कि भारत के राजनीतिज्ञों में ई० एम० एस० नंबूद्रीपाद का स्थान अन्यतम है। वे अपनी कार्यकुशलता और चारित्रिक दृढ़ता के लिए विख्यात हैं। वैयक्तिक रूप से वे स्वयं निष्कलुष हैं, किन्तु उनके विरोधियों का कहना है कि वे अपने अनुयायियों के भ्रष्टाचार पर आंखें मूंद लेते हैं। वे बड़े निष्ठावान नेता हैं और उन्होंने अपने उद्देश्यों के लिए बलिदान भी किये हैं। लेकिन इन सब विशेषताओं के बावजूद वे भद्दे-से-भद्दे राजनीतिक औचित्य की दलदल से अपने को उबार नहीं पाए हैं। इस दारुण दृश्य को देखकर उस महान् फ्रांसीसी क्रांतिकारी दाँतों की याद आती है जिसने कहा था, 'भेड़-बकरियों (मूर्खों) के समूह को शहर से दूर रखना ही बेहतर है बजाय इसके कि उन्हें मनुष्यों के मामले में दखल देने के लिए छोड़ दिया जाए।' साथ ही मुझे प्लेटो की वह चेतावनी भी याद आ रही है जिसमें उसने कहा था कि यदि बुद्धिमान और भले लोग अपने देश के मामलों में दिलचस्पी लेने से इन्कार कर देंगे तो उन्हें उसकी सज़ा भुगतनी पड़ेगी और उनके देश पर मूर्खों और बदमाशों का शासन स्थापित हो जाएगा।

केरल की परिस्थितियों से मुझे चाहे कितना ही दुःख होता हो पर फिर भी वही मेरा स्वप्न-लोक रहेगा। विश्व भर में अपने पर्यटन में मुझे कोई स्थान ऐसा नहीं मिला जहाँ इतना प्रचुर सौंदर्य हो। यहाँ तो ऐसा लगता है जैसे विधाता ने अपना पूरा कमाल दिखाया हो। धरती और सागर का, पहाड़ियों और घाटियों का, झीलों और तालों का, घने जंगलों और खिलखिलाती नदियों का और रंगबिरंगी रेत तथा लहलहाती वनस्पति का ऐसा रमणीय समन्वय मुझे अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिला। न ही कहीं मुझे कोई और स्थान दिखाई दिया जहाँ की स्त्रियां इतनी सुन्दर हों और पुरुष यहाँ से बढ़कर नैतिकता-विरोधी हों।

इस स्वप्न-लोक में मेरा एक स्वप्न-ग्राम कोट्टयम भी है जहाँ मेरे जीवन के

पहले पंद्रह वर्ष बीते थे। लेकिन सेवा-निवृत्ति के बाद मैंने इसलिए कोट्टयम में बस जाना पसंद न किया कि कहीं वहाँ की वास्तविकता मेरे स्वप्नों को भंग न कर दे। फिर भी, अभी कुछ दिन पहले तक मैं अपने घर—गोपि विलास—जाया करता था जो मेरे बचपन की मधुर स्मृतियों से भरा पड़ा है। कितना छोटा-सा हमारा परिवार था ! पिता, माता, तीन भाई और दो अच्छी-सी भाभियाँ। आज उनमें से कोई भी नहीं रहा—मृत्यु ने उन सभी को एक-एक करके हमसे छीन लिया। अभी मैं कॉलिज में ही पढ़ता था कि पिताजी का देहांत हो गया। 1923 में मेरे सबसे बड़े भाई को निमूनिया हुआ और वे जवानी में ही मर गये। माँ अस्सी वर्ष जीवित रहीं लेकिन 1941 में वे भी गुज़र गईं और 1962 में मेरे दूसरे भाई—जो मेरे लिए सिर्फ भाई ही नहीं बहुत कुछ थे—स्वर्गवासी हो गये और अब मुझे सूचना मिली है कि मेरा छोटा भाई कैंसर में मर गया। मेरी भाभियाँ भी—जो मेरे लिए बहनों से बढ़ कर थीं—सब मर चुकी हैं। लेकिन हमारा पुराना मकान अभी तक खड़ा था। बिना किसी को साथ लिये और चुपके से मैं उस मकान में जाता था, उसके कमरों और बग़ीचे में घूमता था और प्राचीन तथा मूल्यवान स्मृतियों का आनन्द लिया करता था। पिछले साल जून में अपनी दो नातिनों को साथ लेकर मैं कोट्टयम गया, चाहता था कि उन्हें उनके पितामह का मकान दिखाऊँगा। लेकिन जब अहाते में दाख़िल हुआ तो क्या देखता हूँ कि मकान ढह चुका है। गोपि विलास, जो मेरी कामनाओं का केन्द्र था, ढहा दिया गया था और उसकी जगह एक तीन-मंज़िला शानदार इमारत बन कर खड़ी हो गई है। वह जवाहरलाल भवन के एक हिस्से—बाल पुस्तकालय—के लिए बनाई गई थी। गोपि विलास क्या गिरा, मैं समझता हूँ, मेरे बचपन और लड़कपन का एक मात्र प्रतीक समाप्त हो गया। अहाते में जो हौज़ था वह भी पाट दिया गया—वह हौज़ जिसके साथ मेरे बचपन की स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। मुझे आज भी याद है कि किस तरह मेरी माँ मुझे उसमें डुबोया करती थीं, मेरे नथुने दबाती थीं, नाक बंद होने पर मैं अपने नन्हे-नन्हे हाथ-पैर फड़फड़ाता था और वह स्थिति कुछ आनंद और कुछ भय दोनों का मिला-जुला रूप होती थी।

अब उस परिवार का एक ही सदस्य शेष रह गया है जो अभी कुछ समय तक बचपन की उन बातों को याद करता रहेगा—ये बातें बीते हुए युग की, परमाणु युग से पहले की और जहाँ तक केरल का संबंध है मोटर कार के आविष्कार से भी पहले के युग की बातें हैं जो तब तक मेरी स्मृति में जीवित रहेंगी जब तक मेरा पार्थिव शरीर भी पंच तत्त्वों में विलीन नहीं हो जायेगा।

इस सदी के पहले दशक की—जिससे मेरी ये स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं—अपनी एक अलग ही शान थी। यद्यपि उसकी कुछ सीमाएँ थीं और साथ ही उसमें आत्म-

संतोष का भाव भी व्याप्त था, लेकिन यही आत्म-संतुष्टि और गरिमा दूसरे दशक में समाप्त हो गई जब पहला विश्व-युद्ध हुआ और रूस में महान् अक्तूबर क्रांति हुई। तीसरा दशक आशा और भ्रम-निवारण का काल था : इसके साथ ही सुखद भविष्य-निर्माण की आशा पैदा हुई और निराशाजन्य भ्रांतियों का भी निवारण हो गया। चौथे दशक में प्रतिशोध की भावना जाग उठी और पांचवें दशक तक आते-आते संसार में दूसरा महायुद्ध छिड़ गया जो बाद के वर्षों में अमरीका और सोवियत संघ के बीच शीत युद्ध के रूप में जारी रहा। छठा दशक फिर आशा की किरण लेकर आया। शीत युद्ध कुछ हल्का पड़ने लगा, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्रक्रिया—जो युद्ध के फलस्वरूप तीव्र हो गई थी और जिसकी परिणति भारत की स्वाधीनता के रूप में हुई थी—समस्त एशियाई अफ्रीकी देशों में फैल गई। विदेशी प्रभुत्व समाप्त हो जाने के बाद वे विघटनकारी तत्त्व जो तब तक दब-से गये थे, उन अनेक देशों में फिर खुल कर उभर आये जो अभी-अभी स्वतन्त्र हुए थे। 1960 तक आते-आते तो विघटनकारी प्रवृत्तियों ने और भी भयंकर रूप धारण कर लिया।

इस दशक में चीन एक भीमकाय राक्षस के रूप में सामने आया और उसने अपने पड़ौसियों को—जिनमें सोवियत संघ भी शामिल है—तलवार दिखानी शुरू कर दी। चीन तो अमरीका को भी 'काग़जी शेर' समझता था और जब ख्रुश्चोव ने उस पर व्यंग्य करते हुए कहा कि उस काग़जी शेर के पास अणु-दंत हैं तो चीन ने उसे 'संधिवादी मनोवृत्ति' कहकर टाल दिया। इसका कारण शायद यह था कि चीन के पास भी अणु-दंत आ गये थे। माओ त्से-तुंग ने कहा था कि यदि बुरा-से-बुरा नतीजा भी निकला और परमाणु-युद्ध छिड़ गया तो यही होगा न कि तीस करोड़ चीनी काम आ जायेंगे, लेकिन पैंतीस करोड़ फिर भी बाक़ी रहेंगे। सोवियत व्यंग्य-पत्र क्रोकोडिल ने एक व्यंग्य-चित्र बनाकर इस रवैये की खिल्ली उड़ाई थी जिसमें दिखाया गया था 'माओ त्से-तुंग एक ख़ूबसूरत चीनी गुलदान में अपना सिर डुबो रहे हैं, उस गुलदान में अणु यंत्र लगा हुआ है और वे बेतहाशा अपने हाथ-पैर मार रहे हैं और कह रहे हैं, क्या हुआ, मेरा दो तिहाई शरीर तो अभी बचा हुआ है।'

इस अवधि में संसार में हिंसा की एक लहर दौड़ गई जिसमें सबसे ज्यादा सनसनी फैलाने वाली घटना एक होनहार राष्ट्रपति जे० एफ० केनेडी और उनके भाई की जो भावी राष्ट्रपति थे और एक सच्चे और सज्जन व्यक्ति, मार्टिन ल्यूथर किंग की हत्या थी। लेकिन हिंसा पर केवल बड़ी शक्तियों का ही एकाधिकार नहीं था। फ़िलिस्तीन की पुण्य भूमि भी हिंसा के कालुष्य से न बच सकी, अफ्रीका के कुछ भाग भी इसी के शिकार हुए। यही हश्र भारत के कुछ राज्यों का

भी हुआ—वह भारत जो अहिंसावादी देश है। इन सबसे बढ़कर यह हुआ कि वियतनाम की एक पूरी पीढ़ी—जो दो विश्व-युद्ध और अनेक छोटी-मोटी लड़ाइयाँ देख चुकी थी—एक और युद्ध का शिकार हो गई और यह भयंकर युद्ध अपनी पूरी भयानकता, शूरवीरता और पाशविकता के साथ आज भी जारी है।

किन्तु उसी मनुष्य ने जिसे पृथ्वी पर अपनी ही करतूतों के कारण लज्जित होना पड़ा था चाँद पर पहुँच कर अपने कौशल का सिक्का जमा दिया। छठे दशक के प्रारंभ में मनुष्य ने उड़ कर चन्द्रमा की परिक्रमा की और उसके अंत तक वही मनुष्य चन्द्रमा में जा पहुँचा। अठारहवीं शती के रूसी वैज्ञानिक त्सियोकाल्स्की ने जिसने इस युग की घटनाओं की कल्पना करते हुए कहा था, 'मनुष्य का सबसे अच्छा पालना पृथ्वी ही है लेकिन वह हमेशा उस पालने में नहीं रह सकता।' यह अंतिम दशक एक ऐसे काल के रूप में याद रहेगा जब मनुष्य उस पालने से बाहर निकल कर सितारों की ओर उड़ा और अन्त में चाँद तक पहुँच गया।

क्या मानव अभी और भी कुछ दुनियाओं को जीतेगा और उन पर अधिकार करेगा? या परमाणु-युद्ध की भट्टी में गिरकर उसका पृथ्वी से अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा और वह एक ऐसे प्राणी के रूप में याद किया जायेगा जो जीवित रहा था, जिसने प्रेम किया था, सृजन किया था और फिर संहार भी, जो लड़ता भी था और जिसने शांति भी स्थापित की थी? यदि हमारी सभ्यता शेष रही तो उसका श्रेय उन इने-गिने लोगों को दिया जायेगा जिन्होंने संसार को शांति का और यहाँ की जनता को सद्‌भाव का संदेश दिया और इस पुनीत लक्ष्य की प्राप्ति में अपने प्राणों की आहुति दी ताकि मानवता जीवित रह सके। इन विभूतियों में अंतिम, आज से ठीक सौ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे और आज उन्हीं का शताब्दी समारोह सारे संसार में मनाया जा रहा है। आॅर्नल्ड टाॅयनबी ने कहा है, 'यदि मानव जन-संहार की मूर्खता न कर बैठे तो आने वाली पीढ़ियाँ महात्मा गांधी को ऐतिहासिक मुक्तिदाता के रूप में स्मरण करेंगी।' ऐसे महान् व्यक्ति के युग में—और उसी के देश में—जीना मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात है, लेकिन इससे बढ़कर दु:खद और दुर्भाग्य की बात मेरी पीढ़ी के जीवन में और क्या हो सकती है कि अहिंसा के उस पुजारी की इस जन्मभूमि में हिंसा की घटनाएँ घटित हों।

००

पारिभाषिक शब्दावली

अंतरिम समिति	Interim Committee
अधिराज्य	Paramount Power
अध्यात्मवाद	Spiritualism
अनुमोदन	Approval
अपरिवर्तनीय	Immutable
अभिवेदन	Representation
अपीलीय प्राधिकारी	Appellate Authority
अराजकता	Anarchy
अल्पवयस्क प्रशासन	Minority Administration
अवैध, निर्योग्य	Invalid
आक्रमण	Aggression
आचार	Custom
आदर्श वाक्य	Motto
आद्यक्षर	Initials
आधिपत्य सेनाएं	Occupation forces
आध्यात्मिक प्रेम	Platonic love
आनुवंशिक	Hereditary
आप्रवासी	Immigrant
आरक्षित	Reserved
उत्प्रवास	Emigration
उदासीनतावाद	Indifferentism
एकदलीय	Totalitarian
एकाधिपत्य	Autocracy
काश्तकारी विधान	Tenancy Legislation
किशोरावस्था	Adolescence
कृत्रिम श्वसन प्रणाली	Artificial Respiration
गंभीरता	Solemnity
गुटनिरपेक्षता	Non-alignment
जटिल	Complex

जातियाँ	Notionalities
जातिवाद	Racialism
जीववाद	Animism
टोह	Reconnoisance
डोमिनियन	Dominion
तापघर	Hot House
दंड प्रक्रिया संहिता	Criminal Procedure Code
दूरवासी ज़मींदार	Absentee Landlord
धनिकतंत्र	Pleutocracy
नयाचार-प्रमुख	Chief of Protocol
नाकाबंदी	Blockade
निराकरण	Abrogation
निष्ठा	Allegiance
न्यायपालिका	Judiciary
न्यास	Trusteeship
पण्य	Commodity
परंपरानिष्ठता	Orthodoxy
परखाधीन	Probationary
परगना	Sub-division
परम श्रेष्ठ/परम मान्य	His Excellency
परिवहन	Transportation
परिसहायक	Aid de camp
पर्यवेक्षक	Supervisor
पितृसत्तात्मक	Patriarchal
पुनरुद्धारवाद	Revivalism
पूर्ववृत्त	Antecedent
प्रक्रिया	Process
प्रतिकाष्ठा	Anticlimax
प्रतिनिधि मंडल	Delegation
प्रत्यय पत्र	Credentials
प्रत्यायित	Accredited
प्रभारी	Incharge
प्रभुत्व	Hegemony

प्रभुराज्य	Sovereign State
प्रवास	Migration
प्रांतीय स्वायत्तता	Provincial Autonomy
प्रेक्षक	Observer
बंदी प्रत्यक्षीकरण	Habeas Corpus
बहुपतित्व	Polyandry
भूमि संक्रामण अधिनियम	Land Alienation Act
महत्ता ग्रंथि	Superiority Complex
महाकांसुल	Consul General
महामहिम	His Majesty
महामान्य	His Highness
मातृकुलीय प्रथा	Matrilineal System
मातृत्व	Maternity
मातृसत्तात्मक प्रथा	Matriarchal system
मानव विज्ञानी	Anthropologist
मुख्यालय	Headquarter
राजनयिक	Diplomat
राजनीति विभाग	Political Deptt.
लोकतंत्र	Democracy
वाग्मिता	Eloquence
वादी	Plaintiff
विधायक	Legislator
विरलीकृत	Rarefied
विवर्धन	Aggrandizement
विशुद्धिवादी	Puritan
विश्वसनीय	Trusty
शारीरिक दंड	Corporal Punishment
शिष्टमंडल	Deputation
संगीत सभा	Concert
संग्राही विभाग	Omnibus Deptt.
संप्रदाय/समुदाय	Community
संसदीय पद्धति	Parliamentary System
सजातीयता	Homogeneity

समर्थक/प्रवक्ता	Protagonist
सर्वप्रभुत्व संपन्न गणराज्य	Sovereign Republic
सविनय अवज्ञा	Civil Disobedience
सहचारी	Attache
सहायक राजदूत	Charge d' Affairs
सामंतवाद	Feudalism
सुधार	Reformation
सेवानिवृत्ति	Retirement
स्वधर्मत्याग	Ribaldry
स्वराज्य	Self-Government
हिमानी	Avalanche
हीनता ग्रंथि	Inferiority Complex

●

के.पी.एस.मेनन
मलाबार
से
मास्को
तक